JÑĀNAPĪTH MOORTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ Sanskrit Grantha No 44

JAINENDRA SIDHĀNTA KOSA

VOL. 4

(श —ह)

by

Kshu. JINENDRA VARNĪ
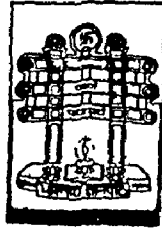
BHARATIYA JNANPITH PUBLICATION

FORTH EDITION : 1996 □ Price Rs. 120.00

BHARATIYA JNANPITH

(Founded on Phalguna Krishna 9 : Vira Sam 2470, Vikrama Sam 2000 18th Feb., 1944)

MOORTIDEVI JAINA GRANTHAMALA

FOUNDED BY

LATE SAHU SHANTI PRASAD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE MOTHER SHRIMATI MOORTIDEVI

AND

PROMOTED BY HIS BENEVOLENT WIFE

LATE SHRIMATI RAMA JAIN

IN THIS GRATHMALA CRITICALLY EDITED JAINA AGAMIC, PHILOSOPHICAL, PAURANIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRAKRIT, SANSKRIT, APABHRMSHA, HINDI, KANNADA, TAMIL ETC, ARE BEING PUBLISHED IN THE RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES ALSO BEING PUBLISHED ARE CATALOGUES OF JAINA-BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES ON ART ARCHITECTURE BY COMPETENT SCHOLARS AND ALSO POPULAR JAINA LITERATURE

General Editors : First Edition

Dr. Hiralal Jain, M. A., D. Litt.
Dr. A. N Upadhye, M. A., D. Litt.

Published by

Bharatiya Jnanpith

18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110003

Printed at · Vikas Offset, Naveen Shahdara, Delhi-110032

संकेत-सूची

अमितगति श्रावकाचार अधिकार स./श्लोक सं., प. वंशीधर शोलापुर, प्र.सं., वि.सं. १९७९
अनगारधर्मामृत अधिकार स./ श्लोक सं./पृष्ठ सं., प. खूबचन्द शोलापुर, प्र. सं., ई. १९.१९२७
आत्मानुशासन श्लोक सं.
आलापपद्धति अधिकार सं /सूत्र स /पृष्ठ सं , चौरासी मथुरा, प्र. सं., वी. नि. २४५६
आप्तपरीक्षा श्लोक सं /प्रकरण सं./पृष्ठ स , वीरसेवा मन्दिर सरसावा, प्र. स., वि. सं. २००६
आप्तमीमांसा श्लोक सं.
इष्टोपदेश/मूल या टीका श्लो.सं /पृष्ठ सं.(समाधिशतक के पीछे) पं.आशाधरजी कृत टीका, वीरसेवा मन्दिर दिल्ली
कषायपाहुड़ पुस्तक सं. भाग स /§प्रकरणस /पृष्ठसं./पंक्ति सं., दिगम्बर जैनसंघ, मथुरा,प्र सं.,वि.सं.२०००
कार्तिकेयानुप्रेक्षा/मूल या टीका गाथा स., राजचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र.स .ई.१९६०
कुरल काव्य परिच्छेद स./श्लोक सं., प. गोविन्दराज जैन शास्त्री, प्र.सं., वी.नि.सं. २४८०
क्रियाकलाप मुख्याधिकार स.-प्रकरण सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं., पन्नालाल सोनी शास्त्री आगरा,वि.सं.१९९३
क्रियाकोश श्लोक सं , पं. दौलतराम
क्षपणसार/मूल या टीका गाथा सं /पृष्ठ सं., जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
गुणभद्र श्रावकाचार श्लोक सं.
गोम्मटसार कर्मकाण्ड/मूल गाथा स./पृष्ठ सं., जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
गोम्मटसार कर्मकाण्ड/जीव तत्त्व प्रदीपिका टीका गाथा सं /पृष्ठ सं./पंक्ति सं., जैन सिद्धान्त प्रका. संस्था
गोमट्टसार जीवकाण्ड/मूल गाथा स./पृष्ठ स., जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
गोमट्टसार जीवकाण्ड/जीव तत्त्वप्रदीपिका टीका गाथा स./पृष्ठ सं./पंक्ति स.,जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था
ज्ञानार्णव अधिकार सं./दोहक सं./पृष्ठ स. राजचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र.सं. ई १९०७
ज्ञानसार श्लोक सं.
चारित्त पाहुड/मूल या टीका गाथा सं /पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र.सं., वि.सं. १९७७
चारित्रसार पृष्ठ स /पंक्ति सं., महावीर जी, प्र सं., वी.नि २४८८
जम्बूदीवपण्णत्तिसंगहो अधिकार स./गाथा स., जैन संस्कृति संरक्षण संघ, शोलापुर, वि.सं.२०१४
जैन साहित्य इतिहास खण्ड सं./पृष्ठ सं., गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वी.नि. २४८१
जैन साहित्य इतिहास/पूर्व पीठिका पृष्ठ सं. गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वी.नि. २४८१
तत्त्वानुशासन श्लोक सं., नागसेन सूरिकृत, वीर सेवा मन्दिर देहली, प्र.स., ई. १९६३
तत्त्वार्थवृत्ति अध्याय सं /सूत्र सं /पृष्ठ सं /पंक्ति सं , भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.स., ई १९४९
तत्त्वार्थसार अधिकार सं /श्लोक सं./पृष्ठ सं ,जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता, प्र.स.,ई स.१९२६
तत्त्वार्थसूत्र अध्याय सं /सूत्र सं.
तिलोयपण्णत्ति अधिकार सं /गाथा सं., जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र.स., वि.सं. १९९९
तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृष्ठ स., दि. जैन विद्वद्परिषद, सागर, ई. १९७४
त्रिलोकसार गाथा सं., जैन साहित्य बम्बई, प्र. स , १९१८
दर्शनपाहुड/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ स., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र.म , वि.सं. १९७७
दर्शनसार गाथा स., नाथूराम प्रेमी, बम्बई, प्र सं., वि. १९७४
द्रव्यसंग्रह/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., देहली, प्र.सं ई १९५३
धर्म परीक्षा श्लोक सं.
धवला पुस्तक सं /खण्ड स , भाग, सूत्र/पृष्ठ सं./पंक्ति या गाथा सं., अमरावती, प्र. सं.
नयचक्र बृहद् गाथा सं. श्रीदेवसेनाचार्यकृत, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई प्र. सं , वि. स. १९७७
नयचक्र/श्रुत भवन दीपक अधिकार सं /पृष्ठ सं., सिद्ध सागर, शोलापुर
नियमसार/मूल या टीका गाथा सं.
नियमसार/तात्पर्य वृत्ति गाथा सं./कलश सं.
न्यायदीपिका अधिकार सं./§प्रकरण स /पृष्ठ सं./पंक्ति सं. वीरसेवा मन्दिर देहली, प्र.सं. वि.सं २००१
न्यायबिन्दु/मूल या टीका श्लोक सं., चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस
न्यायविनिश्चय/मूल या टीका अधिकार स /श्लोक सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., ज्ञानपीठ बनारस
न्यायदर्शन सूत्र/मूल या टीका अध्याय सं./आह्निक/सूत्र सं./पृष्ठ सं. मुजफ्फरनगर, द्वि. सं., ई. १९३४
पंचास्तिकाय/मूल या टीका गाथा सं /पृष्ठ सं., परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, प्र.सं., वि. १९७२
पंचाध्यायी/पूर्वार्ध श्लोक सं , पं. देवकीनन्दन, प्र. सं , ई. १९३२
पंचाध्यायी/उत्तरार्ध श्लोक स., पं. देवकीनन्दन, प्र.सं. ई १९३२
पद्मनन्दि पंचविंशतिका अधिकार सं /श्लोक सं. जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र.सं., ई १९३२
पंचसंग्रह/प्राकृत अधिकार स /गाथा स., ज्ञानपीठ , बनारस प्र सं. ई. १९६०
पंचसंग्रह/संस्कृत अधिकार स./श्लोक सं , प. सं./प्रा. की टिप्पणी. प्र. सं., ई. १९६०

प.पु.…/…	पद्मपुराण सर्ग/श्लोक सं., भारतीय ज्ञानपीठ बनारस, प्र.सं., वि.सं. २०१६
प.मु.…/ ../ ..	परीक्षामुख परिच्छेद सं /सूत्र सं./पृष्ठ सं., स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी, प्र. सं.
प.प्र /मू. ../ ../ .	परमात्मप्रकाश/मूल या टीका अधिकार सं./गाथा स /पृष्ठ सं., राजचन्द्र ग्रन्थमाला, द्वि.सं., वि.सं. २०१७
पा.पु.. ./ ..	पाण्डवपुराण सर्ग स./श्लोक सं., जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र.सं., ई. १९६२
पु.सि ..	पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय श्लोक सं.
प्र सा./मू ./ .	प्रवचनसार/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ स.
प्रति.सा.…/..	प्रतिष्ठासारोद्धार अध्याय स./श्लोक स.
बा.अ.. .	बारस अणुवेक्खा गाथा स.
बो पा /मू. ../ ..	बोधपाहुड/मूल या टीका गाथा स./पृष्ठ सं. माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. सं., वि. सं. १९७७
बृ जे श .	बृहत् जैन शब्दार्णव/द्वितीय खण्ड/पृष्ठ सं., मूलचंद किशनदास कापडिया, सूरत, प्र. सं., वी.नि. २४६०
भ आ /मू. . / / ..	भगवती आराधना/मूल या टीका गाथा स /पृष्ठ स /पंक्ति स., सखाराम दोशी, सोलापुर, प्र.सं , ई. १९३५
भा.पा./मू.…/…	भाव पाहुड/मूल या टीका गाथा सं /पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र.सं., वि सं. १९७७
म.पु.…/…	महापुराण सर्ग सं /श्लोक स., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र. स., ई. १९५१
म बं.…/§…/ .	महाबन्ध पुस्तक स./§ प्रकरण सं./पृष्ठ सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं., ई. १९५१
मूला …	मूलाचार गाथा सं., अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, प्र. सं., वि. सं. १९७६
मो.पं.…	मोक्ष पंचाशिका श्लोक सं.
मो.पा /मू .. /…	मोक्ष पाहुड/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. सं., वि. सं. १९७७
मो.मा.प्र. / ./ ..	मोक्षमार्गप्रकाशक अधिकार स./पृष्ठ स /पंक्ति सं., सस्ती ग्रन्थमाला, देहली, द्वि.सं., वि. सं. २०१०
यु.अनु.…	युक्त्यनुशासन श्लोक सं . वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, प्र. सं , ई १९५१
यो.सा.अ. ./ ..	योगसार अमितगति अधिकार स /श्लोक सं., जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, ई सं. १९१८
यो सा यो.…	योगसार योगेन्दुदेव गाथा स., परमात्मप्रकाशके पीछे छपा
र.क श्रा.…	रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक सं.
र.सा.…	रयणसार गाथा सं.
रा.वा.…/ . /. ./…	राजवार्तिक अध्याय सं./सूत्र सं /पृष्ठ सं /पंक्ति सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं., वि.स. २००८
रा.वा.हिं.…/ ../..	राजवार्तिक हिन्दी अध्याय सं /पृष्ठ सं./पंक्ति सं.
ल.सा /मू.. ./…	लब्धिसार/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ स., जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था, कलकत्ता, प्र. सं.
ला.स.. /…/ ..	लाटी संहिता अधिकार स /श्लोक सं /पृष्ठ स.
लि पा /मू/…/	लिंग पाहुड/मूल या टीका गाथा सं /पृष्ठ स , माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र.सं., वि. सं. १९७७
वसु श्रा.…	वसुनन्दि श्रावकाचार गाथा सं , भारतीय ज्ञानपीठ ,बनारस, प्र. सं., वि. सं. २००७
वै.द.…/…/. ./…	वैशेषिक दर्शन/अध्याय स./आह्निक/सूत्र स /पृष्ठ सं , देहली पुस्तक भण्डार देहली, प्र सं., वि.सं. २०१७
शी.पा./मू …/…	शील पाहुड/मूल या टीका गाथा सं /पंक्ति सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र. सं., वि.स. १९७७
श्लो.वा . ./…/.. /…/…	श्लोकवार्तिक पुस्तक सं./अध्याय स./सूत्र स /वार्तिक स./पृष्ठ सं., कुन्थुसागर ग्रन्थमाला शोलापुर, प्र.सं., ई. १९४९-१९५६
ष.खं.…/।।।/…	षट्खण्डागम पुस्तक सं./खण्ड सं., भाग, सूत्र/पृष्ठ सं.
स भ.त.…/…	सप्तभङ्गीतरङ्गिनी पृष्ठ सं /पंक्ति सं , परम श्रुत प्रभावक मण्डल, द्वि.सं., वि.सं. १९७२
स.म.…/…/ ..	स्याद्वादमञ्जरी श्लोक स./पृष्ठ सं./पंक्ति स., परम श्रुत प्रभावक मण्डल, प्र. स. १९९१
स.श /मू . ./…	समाधिशतक/मूल या टीका श्लोक सं./पृष्ठ स , इष्टोपदेश युक्त, वीर सेवा मन्दिर, देहली, प्र.सं., २०२१
स.सा./मू.…/…/…	समयसार/मूल या टीका गाथा स./पृष्ठ स /पंक्ति सं., अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, देहली, प्र.सं.३१.१२.१९५८
स.सा /आ. . /क	समयसार/आत्मख्याति गाथा सं./कलश स.
स.सि.. ./…/…	सर्वार्थसिद्धि अध्याय सं /सूत्र सं./पृष्ठ सं , भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं. ई १९५५
स. स्तो .	स्वयम्भू स्तोत्र श्लोक सं , वीरसेवा मन्दिर सरसावा, प्र सं., ई. १९५१
सा.ध.…/ ..	सागार धर्मामृत अधिकार स./श्लोक सं.
सा.पा..…	सामायिक पाठ अमितगति श्लोक सं.
सि.सा.सं.…/…	सिद्धान्तसार संग्रह अध्याय स /श्लोक स., जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र. सं. ई. १९५७
सि.वि./मू.…/ ../.. /…	सिद्धि विनिश्चय/मूल या टीका प्रस्ताव सं./श्लोक स./पृष्ठ सं /पंक्ति सं ,भारतीय ज्ञानपीठ, प्र.सं.ई.१९५९
सु.र सं.…	सुभाषित रत्न सन्दोह श्लोक सं. (अमितगति), जैन प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, प्र.सं., ई. १९१७
सू.पा./मू.…/…	सूत्र पाहुड/मूल या टीका गाथा स./पृष्ठ स., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र.सं , वि.सं. १९७७
ह पु.…/…	हरिवंश पुराण सर्ग/श्लोक/स , भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र स.

नोट · भिन्न-भिन्न कोष्ठकों व रेखा चित्रोंमें प्रयुक्त संकेतोंके अर्थ मसे उस-उस स्थल पर ही दिये गये हैं।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

[भाग ४]

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

[क्षु० जिनेन्द्र वर्णी]

[श]

शंकर वेदांत—इसका अपरनाम ब्रह्माद्वैत—दे० वेदान्त/२।

शंकराचार्य—ब्राह्मण जातिके थे। हिन्दू धर्मके (विशेषत अद्वैत-वादके) महान् प्रचारक थे। गौडपादके शिष्य गोविन्दके शिष्य थे। ब्रह्माद्वैतमतके संस्थापक थे। केवल ३८ वर्षकी आयु थी। ई. ७८८ में मालाबारमें जन्म हुआ था। मृत्यु ई. ८२६।

शंकरानंद—बहुत बड़ा तार्किक व नैयायिक एक बौद्ध साधु था। कृति—अपोहसिद्धि, प्रतिबन्धसिद्धि। समय—ई. ८१० (स्याद्वाद सिद्धि। प्र. पृ. २० प. दरबारीलाल)।

शंका—१. नि. सा./ता. वृ./५ शका हि सकलमोहरागद्वेषादय'। =शंका अर्थात् सकल मोहराग द्वेषादिक (दोष)।

पं ध./उ./४८१ शका भी' साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी। =शंका, भी, साध्वस, भीति और भय ये शब्द एकार्थ वाचक है।

द. पा./प. जयचन्द/२/१० शका नाम संशयका भी है और भयका भी। और भी दे. निशंकित। २. सामान्य अतिचारका एक भेद—दे. अतिचार। ३ लघु व दीर्घ शंका विधि—दे. समिति/१/७ ४. सम्यग्दर्शनके शका अतिचार व संशय मिथ्यात्व में अन्तर—दे. सशय।

शंकाकार शिखा—Super-incumbent cone (ध /प्र ५ प्र./२८)।

शंकित—आहारका एक दोष—दे. आहार/II/४/४।

शंकित विपक्ष वृत्ति हेत्वाभास—दे व्यभिचार।

शंकुसमुच्छिन्नक—Frustrum of cone (ज प./प्र. १०८)।

शंख—१. चक्रवर्तीकी नवनिधियोंमें से एक—दे. शलाकापुरुष/२। २. प्रतिमाके १०८ उपकरणोंमेंसे एक—दे चैत्य/१/११। ३. यादव-वंशी कृष्णका २२वाँ पुत्र—दे इतिहास१०/१०; ४. लवण समुद्र में स्थित एक पर्वत—दे. लोक/५/९ ५ अपर विदेहस्थ एक क्षेत्र—दे. लोक५/२;६ आशीविष वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे. लोक/५/४।

शंख परिणाम—एक ग्रह—दे. ग्रह।

शंख रत्न—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे. लोक/५/१३।

शंख वज्र—विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

शंखवर—मध्यलोकका बारहवाँ द्वीप व सागर—दे. लोक/५/१।

शंखवर्ण—एक ग्रह—दे. ग्रह।

शंखाकार आकृति—

ज. प /प्र ८५। क्षेत्रफल—दे गणित/II/ ७/७।
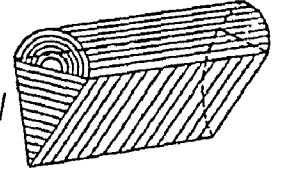
शंखावर्त योनि—दे. योनि।

शंब—ह. पु./सर्ग/श्लोक—पूर्व भव स. ७ में शृगाल (४३/११५) फिर वायुभूति ब्राह्मण (४३/१००), फिर सौधर्म स्वर्ग में देव (४३/१४६) चौथेमें मणिभद्र सेठका पुत्र (४३/१४६) फिर सौधर्म स्वर्गमें देव (४३/१५८), फिर कैटभ नामक राजपुत्र (४३/१६०) फिर पूर्व भव-में अच्युतेन्द्र (४३/२१६) वर्तमान भवमें जाम्बवती रानीसे कृष्णका पुत्र था (४८/७) वन क्रीडा करते समय वनमें पडे कुण्डोंमें से शराब पी ली (६१/४६) जिसके नशेमें द्वीपायन मुनिपर उपसर्ग किया (६१/४६-५५)। द्वारका भस्म होनेकी घटनाको जान दीक्षा ग्रहण की। (६१/६८) अन्तमें गिरनारसे मोक्ष प्राप्त किया (६५/१६-१७)।

शंबरदेव—भगवान् पार्श्वनाथका पूर्व भवका भाई था। इसने भग-वान् पर घोर उपसर्ग किया (म पु /७३/१३७) अन्तमें परम्पराका बैर छोडकर भगवान्की स्तुति की (७३/१६८) यह कमठका उत्तरका नवमाँ भव है—दे० कमठ।

शंबूक—प पु /४३/श्लोक—रावणकी बहन चन्द्रनखाका पुत्र था। सूर्यहास खड्गको सिद्ध करनेके लिए १२ वर्षका योग वंशस्थल पर्वत पर धारण किया (४५-४७) वनवासी लक्ष्मणने खड्गकी गन्धसे आश्चर्यान्वित हो, खड्गकी परखके अर्थ शम्बूक सहित बंशके बीडेको काट दिया (४६-५५) यह मरकर नरकमें गया।

शक—इसका वर्तमान नाम वैक्ट्रिया है। (म. पु /प्र. ५०)।

शकट—ध. १४/५, ६, ४१/३८/७ लोहेण बद्धणेमि-तुंब महाचक्का लोहबद्धछुहयपेरता लोणादीणं गरुअभरुव्वहणक्खमा सयडा नाम। =जिनकी धुर गाडीकी नाभि और महाचक्र लोहेसे बँधे हुए है, जिनके छुहय पर्यन्त लोहेसे बँधे हुए है, जो नमक आदि भार ढोनेमें समर्थ है वे शकट कहलाते हैं।

शकटमुखी—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर।
—दे. विद्याधर।

शक वंश—मगध देशकी राज्य वंशावलीके अनुसार यह एक छोटी सी जाति थी। इस जातिका कोई भी एकछत्र राज्य नहीं था। इस वंशमें छोटे-छोटे सरदार होते थे जो धीरे-धीरे करके भारतवर्षके किन्ही-किन्हीं भागोंपर अपना अधिकार जमा बैठे थे. जिसके कारण मौर्यवंशी विक्रमादित्यका राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था। भृत्यवंशी गौतमी पुत्र सात्कणी (शालिवाहन) ने वी. नि. ६०५ में शक संवत् प्रचलित किया था। जो पीछेसे शक सवत् कहलाने लगा। इसके सरदारोंका नाम इतिहासमें नहीं मिलता है। हाँ, आगमकारोंने उनका उल्लेख किया है जो निम्न प्रकार है—

१. पुष्यमित्र वी. नि २५५-२८५; ई. पू. २७१-२४६
२. वसुमित्र ,, ,, २८५-३१५; ,, ,, २४६-२११
३ अग्निमित्र ,, ,, ३१५-३४५; ,, ,, २११-१८१
४. गर्दभिल्ल ,, ,, ३४५-४४५; ,, ,, १८१- ८१
५. नरवाहन ,, ,, ४४५-४८५, ,, ,, ८१- ४१

(विशेष-दे. इतिहास/मगधके राज्य वंश) नरवाहन की वी. नि. ६०५ में शालिवाहन द्वारा हारनेकी संगतिके लिए भी—दे. इतिहास/३/४।

शक संवत्—दे. इतिहास/२/४,१० । कोश I / परिशिष्ट/१३ ।

शक्ति—शक्तिके भेद व लक्षण—दे. स्वभाव।

शक्तिकुमार—गुहिलोत वंशका राजा था। पाशुपत धर्मका अनुयायी था। परन्तु कुछ-कुछ जैनधर्मका भी विश्वास करता था। समय—ई. श. १०-११। (जैन साहित्य इतिहास/पृ. २५६ प्रेमी जी) (ति. प./प्र. ८ A.N. Up)

शक्ति तत्त्व—दे. शैव दर्शन।

शक्तितस्तप—दे तप।

शक्तितस्त्याग—दे त्याग।

शक्ति भूपाल—वंश वंशका राजा था। इसके राज्यमें ही पद्मनन्दीने जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिकी रचना की थी। सम्भवत. गुहिलोत वंशका शक्तिकुमार ही यह शक्ति भूपाल था। समय—ई. १० का अन्तिम चरण (ज. प/प्र. १४ A.N. Up., हीरालाल)।

शक्यप्राप्ति—न्या. सू/टी./१/१/३२/३३/२३ प्रमातु: प्रमाणानि प्रमेयाधिगमार्थानि सा शक्यप्राप्ति। =प्रमेयोंके जाननेके लिए जो प्रमाताके प्रमाण है, उसीको शक्यप्राप्ति कहते हैं।

शक्रपुरी—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर।—दे विद्याधर।

शक्रादित्य—बौद्ध मतानुयायी राजा था। इसने नालन्दामें मठ बनवाये थे। समय—ई. श. ५।

शतक— (दे. परिशिष्ट)।

शतकचूर्णि—दे. चूर्णि तथा कोश II का परिशिष्ट।

शतपदा—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे. लोक५/१३।

शतपर्वा—एक विद्या—दे. विद्या।

शतभागा—भरत क्षेत्रस्थ आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

शतभिषा—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

शतमति—म पु./स. श्लोक-ऋषभदेवके पूर्व (५/२००) भवके महाबल की पर्यायका मिथ्यादृष्टि मन्त्री था (४/१९१) नैरात्मवादी था (५/४४) मर कर नरक गया (१०/२२)।

शतमुख—भगवान् वासुपूज्यका शासक यक्ष—दे. तीर्थंकर/५।

शतह्रद—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

शतानीक—कुरुवंशी राजा था। पांचाल देशका राजा तथा जनमेजयका पुत्र था। प्रवाहण जेवलिका पिता था। समय—ई. पू. १४२०-१४००—दे इतिहास/३/३।

शतार—१. कल्पवासी देवोंका एक भेद—दे. स्वर्ग/३ । २. कल्पस्वर्गोंका ग्यारहवाँ पटल—दे स्वर्ग/५/२।

शत्रुंजय—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

शत्रु—सच्चा शत्रु मोह है—दे. मोहनीय/१/५।

शत्रुघ्न—१. ह. पु/सर्ग/श्लोक—पूर्वभव भव सं ३ में भानुदत्त सेठका पुत्र शूरदत्त था (३४/९७-९८) फिर मणिचूल नामक विद्याधर हुआ (३४/१३२-१३३) पूर्व भवमें गगदेव राजाका पुत्र सुनन्द था (३४/१४२) वर्तमान भवमें वसुदेवका पुत्र कृष्णका भाई था (३४/३)। कसके भयसे जन्मते ही किसी देवने उसको उठाकर सुदृष्टि सेठके घर पहुँचा दिया (३४/७)। दीक्षा ग्रहणकर घोर तप किया (५९/११५-१२०) अन्तमें गिरनारसे मोक्ष प्राप्त किया (६५/१६-१७)। २. प. पु./सर्ग/श्लोक सं. दशरथका पुत्र तथा रामका छोटा भाई था (२५/३५) मधुको हराकर मथुराका राज्य प्राप्त किया (७९/११६)। अन्तमें दीक्षा ग्रहण की (११९/३८)।

शनि—१. एक ग्रह—दे. ग्रह। २. इसका लोकमें अवस्थान—दे. ज्योतिषलोक।

शन्मुख—भगवान् वासुपूज्यका शासक यक्ष—दे. तीर्थंकर/५/३।

शबर—मीमांसा दर्शनमें जैमिनी सूत्रके मूल भाष्यकार शाबरभाष्यके रचयिता। समय—ई. श ४—दे. मीमासा दर्शन।

शबल—असुर भवनवासी देव—दे. असुर।

शब्द—1. शब्द सामान्यका लक्षण

स. सि./२/२०/१७८-१७९/१० शब्दयत इति शब्द। शब्दनं शब्द इति। =जो शब्द रूप होता है वह शब्द है। और शब्दन शब्द है। (रा वा./२/२०/१/१३२/३२)।

रा वा/५/२४/१/४८५/१०। शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्याययति, शप्यते येन, शपनमात्र वा शब्द.। =जो अर्थको शपति अर्थात् कहता है, जिसके द्वारा अर्थ कहा जाता है या शपन मात्र है, वह शब्द है।

ध. १/१,१,३३/२४७/७ यदा द्रव्य प्राधान्येन विवक्षित तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव सनिकृष्यते, न ततो व्यतिरिक्ता: स्पर्शादय: केचन सन्तीति एतस्या विवक्षाया कर्मसाधनत्वं शब्दस्य युज्यत इति, शब्द्यत इति शब्दः। यदा तु पर्याय. प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्ते: औदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधन शब्द. शब्दन शब्द इति। =जिस समय प्रधान रूपसे द्रव्य विवक्षित होता है उस समय इन्द्रियोंके द्वारा द्रव्यका ही ग्रहण होता है। उससे भिन्न स्पर्शादिक कोई चीज नहीं है। इस विवक्षामें शब्दके कर्मसाधनपना बन जाता है जैसे शब्द्यते अर्थात् जो ध्वनि रूप हो वह शब्द है। तथा जिस समय प्रधान रूपसे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद सिद्ध होता है अतएव उदासीन रूपसे अवस्थित भावका कथन किया जानेसे शब्द भावसाधन भी है जैसे 'शब्दनं शब्द:' अर्थात् ध्वनि रूप क्रिया धर्मको शब्द कहते है।

प. का/प्र प्र/७९ बाह्यश्रवणेन्द्रियावलम्बितो भावेन्द्रियपरिच्छेद्यो ध्वनि शब्द:। =बाह्य श्रवणेन्द्रिय द्वारा अवलम्बित, भावेन्द्रिय द्वारा जानने योग्य ऐसी जो ध्वनि वह शब्द है।

★ **कायोत्सर्गका एक अतिचार**—दे. व्युत्सर्ग/१।

२. शब्दके भेद

स. सि./५/२४/२९४-२९५/१२ शब्दो द्विविधो भाषालक्षणो विपरीतश्चेति।...अभाषात्मको द्विविध' प्रायोगिको वैस्रसिकश्चेति। प्रायोगिकश्चतुर्धा ततविततघनसौषिरभेदात्। =भाषारूप शब्द और अभाषारूप शब्द इस प्रकार शब्दोंके दो भेद है। ..अभाषात्मक शब्द दो प्रकारके है—प्रायोगिक और वैस्रसिक। ...तथा तत, वितत, घन और सौषिरके भेदसे प्रायोगिक शब्द चार प्रकार है। (रा. वा./५/२४/२-५/४८५/२१), (प. का./ता. वृ /७९/१३५/६), (द्र. सं /टी./१६/५२/२)।

ध. १३/५.५.२६/२२१/६ छव्विहो तद-विदद-घण-सुसिर-घोस-भासभेएण। =वह छह प्रकार है—तत वितत, घन, सुषिर, घोष और भाषा।

*** भाषात्मक शब्दके भेद व लक्षण**—दे भाषा।

३. अभाषात्मक शब्दोंके लक्षण

स. सि./५/२४/२९५/३ वैस्रसिको वलाहकादिप्रभव'। तत्र चर्मतननिमित्त. पुष्करभेरीदर्दुरादिप्रभवस्तत'। तन्त्रीकृतवीणासुघोषादिसमुद्भवो वितत'। तालघण्टालालनाद्यभिघातजो घन। वंशशङ्खादिनिमित्त' सौषिर। =मेघ आदिके निमित्तसे जो शब्द उत्पन्न होते है वे वैस्रसिक शब्द हैं। चमडेसे मढे हुए पुष्कर, भेरी और दर्दुरसे जो शब्द उत्पन्न होता है वह तत शब्द है। ताँत वाले वीणा और सुघोष आदिसे जो शब्द उत्पन्न होता है वह वितत है। ताल, घण्टा और लालन आदिके ताडनसे जो शब्द उत्पन्न होता है वह घन शब्द है तथा बाँसुरी और शख आदिके फूँकनेसे जो शब्द उत्पन्न होता है वह सौषिर शब्द है। (रा वा /५/२४/४-५/४८५/२७)।

ध. १३/५.५.२६/२२१/७ तत्थ तदो णाम वीणा-तिसरिआलावणिवव्वीस-खुक्खुणादिजणिदो। विततो णाम भेरी-मुदिंगपटहादिसमुब्भूदो। घणो णाम जयघटादिघणदव्वाणं सघादुट्ठाविदो। सुसिरो णाम वंस-सख-काहलादिजणिदो। घोसो णाम घस्समाणदव्वजणिदो। =वीणा, त्रिसरिक, आलापिनी, वव्वीसक और खुक्खुण आदिसे उत्पन्न हुआ शब्द तत है। भेरी, मृदग और पटह आदिसे उत्पन्न हुआ शब्द वितत है। जय घण्टा आदि ठोस द्रव्योके अभिघातसे उत्पन्न हुआ शब्द घन है। वश, शख और काहल आदिसे उत्पन्न हुआ शब्द सौषिर है। घर्षणको प्राप्त हुए द्रव्यसे उत्पन्न हुआ शब्द घोष है।

प का /ता. वृ /७९/१३५/१ ततं वीणादिकं ज्ञेयं विततं पटहादिकं। घनं तु कंसतालादि सुषिरं वंशादिकं विदु। वैस्रसिकस्तु मेघादिप्रभव। =वीणादिके शब्दको तत, ढोल आदिके शब्दको वितत, मजीरे तथा ताल आदिके शब्दको घन और बंसी आदिके शब्दको सुषिर कहते है। स्वभावसे उत्पन्न होनेवाला वैस्रसिक शब्द बादल आदिसे होता है। (द्र. स./टी./१६/५२/६)।

*** द्रव्य व भाव वचन**—दे० वचन।

*** क्रियावाची व गुणवाची आदि शब्द**—दे. नाम/३।

४. शब्दमें अनेकों धर्मोंका निर्देश

स्या. म./२२/२७०/१७ शब्देष्वपि उदात्तानुदात्तस्वरितविवृतसंवृतघोषवदघोषताल्पप्राणमहाप्राणतादयः तत्तदर्थप्रत्यायनशक्त्यादयश्चावसेया'। =पदार्थोंकी तरह शब्दोंमें भी उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, विवृत, संवृत, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण आदि पदार्थोंके ज्ञान करानेकी शक्ति आदि अनन्त धर्म पाये जाते है।

५. शब्दके संचार व श्रवण सम्बन्धी नियम

ध १३/५.५.२६/२२२/६ सद्द-पोग्गला सगुप्पत्तिपदेसादो उच्छलिय दससिदासु गच्छमाणा उक्कस्सेण जाव लोगतं ताव गच्छंति। सव्वे ण गच्छंति, थोवा चेव गच्छंति। तं जहा—सद्दपज्जाएण परिणदपदेसे अणंता पोग्गला अवट्ठाणं कुणंति। विदियागासपदेसे तत्तो अणंतगुणहीणा। तिदियागासपदेसे अणंतगुणहीणा। चउत्थागासपदेसे अणंतगुणहीणा। एवमणंतरोवणिधाए अणंतगुणहीणा होदूण गच्छंति जाव सव्वदिसासु वादवलयपेरंतं पत्ताति। परदो किण्ण गच्छंति। धम्मत्थिकायाभावादो। ण च सव्वे सद्द-पोग्गला एगसमएण चेव लोगंत गच्छंति त्ति णियमो, केसिं पि दोसमए आदिं कादूण जहण्णेण अंतोमुहुत्तकालेण लोगतपत्ती होदि त्ति उवदेसादो। एव समयं पडि सद्दपज्जाएण परिणदपोग्गलाण गमणावट्ठाणाण परूवणा कायव्वा।

ध. १३/५.५.२६/गा. ३/२२४ भासागदसमसेढिं सद्दं जदि सुणदि मिस्सय सुणदि। उस्सेढिं पुण सद्दं सुणेदि णियमा पराघादे।३।

ध. १३/५.५.२६/१२६/१ समसेडीए आगच्छमाणे सद्द-पोग्गले परघादेण अपरघादेण च सुणदि। त जहा—जदि परघादो णत्थि तो कंडुज्जुवाए गइए कण्णछिद्दे पविट्ठे सद्द-पोग्गले सुणदि। पराघादे संते वि सुणेदि, दो समसेडीदो पराघादेण उस्सेढिं गतूण पुणो पराघादेण समसेडीए कण्णछिद्दे पविट्ठाण सद्द-पोग्गलाणं सवणुवलंभादो। उस्सेढिं गदसद्द-पोग्गले पुण पराघादेणेव सुणेदि, अण्णहा तेसिं सवणाणुववत्तीदो। =१. संचार सम्बन्धी—शब्द पुद्गल अपने उत्पत्ति प्रदेशसे उछलकर दसों दिशाओंमें जाते हुए उत्कृष्ट रूपसे लोकके अन्त भाग तक जाते हैं।...सब नहीं जाते थोडे ही जाते है। यथा—शब्द पर्यायसे परिणत हुए प्रदेशमें अनन्तपुद्गल अवस्थित रहते है। (उससे लगे हुए) दूसरे आकाश प्रदेशमें उनसे अनन्त गुणे हीन पुद्गल अवस्थित रहते है। तीसरे आकाश प्रदेशमें उससे लगे हुए अनन्तगुणे हीन पुद्गल अवस्थित रहते है। चौथे आकाश प्रदेशमें उससे अनन्तगुणे हीन पुद्गल अवस्थित रहते है। इस तरह वे अनन्तरोपनिधाकी अपेक्षा वातवलय पर्यन्त सब दिशाओंमें उत्तरोत्तर एक-एक प्रदेशके प्रति अनन्तगुणे हीन होते हुए जाते है। प्रश्न—आगे क्यों नहीं जाते। उत्तर—धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे वातवलयके आगे नहीं जाते है। ये सब शब्द पुद्गल एक समयमें ही लोकके अन्त तक जाते है, ऐसा कोई नियम नहीं है। किन्तु ऐसा उपदेश है कि कितने ही शब्द पुद्गल कमसे कम दो समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा लोकके अन्तको प्राप्त होते है। इस तरह प्रत्येक समयमें शब्द पर्यायसे परिणत हुए पुद्गलोंके गमन और अवस्थानका कथन करना चाहिए।

२. श्रवण सम्बन्धी—"भाषागत समश्रेणिरूप शब्दको यदि सुनता है तो मिश्रको ही सुनता है। और उच्छ्रेणिको प्राप्त हुए शब्दको यदि सुनता है तो नियमसे परघातके द्वारा सुनता है"।३। समश्रेणि द्वारा आते हुए शब्द पुद्गलोंको परघात और अपरघात रूपसे सुनता है। यथा—यदि परघात नहीं है तो बाणके समान ऋजुगतिसे कर्णछिद्रमें प्रविष्ट हुए शब्द पुद्गलोको सुनता है। पराघात होनेपर भी सुनता है क्योंकि, समश्रेणिसे पराघात द्वारा उच्छ्रेणिको प्राप्त होकर पुनः पराघात द्वारा समश्रेणिसे कर्णछिद्रमें प्रविष्ट हुए शब्द पुद्गलोंका श्रवण उपलब्ध होता है। उच्छ्रेणिको प्राप्त हुए शब्द पुन. पराघातके द्वारा ही सुने जाते हैं अन्यथा उनका सुनना नहीं बन सकता है।

६. ढोल आदिके शब्द कथंचित् भाषात्मक हैं

ध. १४/५.६.८३/६१/१२ कधं काहलादिसद्दाणं भासाववएसो। ण, भासो व्व भासे त्ति उवयारेण कालादिसद्दाणंपि तव्ववएससिद्धीदो।

=प्रश्न—नगारा आदिके शब्दोंकी भाषा सज्ञा केसे है। (अर्थात् इन्हे भाषा वर्गणासे उत्पन्न क्यों कहते हो)? उत्तर—नहीं, क्योंकि, भाषाके समान होनेसे भाषा है इस प्रकारके उपचारसे नगारा आदिके शब्दोंकी भी भाषा सज्ञा है।

७. शब्द पुद्गलकी पर्याय है आकाशका गुण नहीं

पं का./मू /७६ सद्दो स्कधप्पभवो खधो परमाणुसगसंघादो। पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादिगो णियदो।७६। =शब्द स्कन्धजन्य है। स्कन्ध परमाणु दलका संघात है, और वे स्कन्ध स्पर्शित होनेसे—टकरानेसे शब्द उत्पन्न होता है, इस प्रकार वह (शब्द) नियत रूपसे उत्पाद्य है।७६। अर्थात् पुद्गलकी पर्याय है। (प्र. सा /मू /१३२)।

रा वा./५/१८/१२/४६८/४ शब्दो हि आकाशगुण वाताभिघातबाह्यनिमित्तवशात् सर्वत्रोत्पद्यमान इन्द्रियप्रत्यक्ष अन्यद्रव्यासंभवी गुणिनमाकाशं सर्वगत गमयति, गुणानामाधारपरतन्त्रत्वादिति, तन्न, कि कारणम्। पौद्गलिकत्वात्। पुद्गलद्रव्यविकारो हि शब्द नाकाशगुण। तस्योपरिष्टात् युक्तिर्वक्ष्यते। =प्रश्न—शब्द आकाश का गुण है, वह वायुके अभिघात आदि बाह्य निमित्तोसे उत्पन्न होता है, इन्द्रियप्रत्यक्ष है, गुण है, अन्य द्रव्योमें नहीं पाया जाता, निराधार गुण रह नहीं सकते अत अपने आधारभूत गुणी आकाशका अनुमान कराता है? उत्तर—ऐसा नहीं है क्योंकि शब्द पौद्गलिक है। शब्द पुद्गल द्रव्यका विकार है आकाशका गुण नहीं। (और भी दे. मूर्त/६)।

प्र. सा./त. प्र./१३२ शब्दस्यापीन्द्रियग्राह्यत्वाद्गुणत्व न खल्वाशङ्कनीय। ··अनेकद्रव्यात्मकपुद्गलपर्यायत्वेनाभ्युपगम्यमानत्वात्। ·न तावदमूर्तद्रव्यगुण शब्द· अमूर्तद्रव्यस्यापि श्रवणेन्द्रियविषयत्वापत्ते·। मूर्तद्रव्यगुणोऽपि न भवति। ··तत कादाचित्कत्वोत्खातनित्यत्वस्य न शब्दस्यास्ति गुणत्वम्। ··न च पुद्गलपर्यायत्वे शब्दस्य पृथिवीस्कन्धस्येव स्पर्शनादीन्द्रियविषयत्वम्। अपा घ्राणेन्द्रियाविषयत्वात्। =१ ऐसी शका नहीं करनी चाहिए कि शब्द भी इन्द्रिय ग्राह्य होनेसे गुण होगा, क्योंकि वह विचित्रताके द्वारा विश्वरूपत्व (अनेकानेक प्रकारत्व) दिखलाता है, फिर भी उसे अनेक द्रव्यात्मक पुद्गल पर्यायके रूपमें स्वीकार किया गया है। २. शब्द अमूर्त द्रव्यका गुण नहीं है क्योंकि, अमूर्त द्रव्यके भी श्रवणेन्द्रियकी विषयभूतता आ जायेगी। ३ शब्द मूर्त द्रव्यका गुण भी नहीं है···अनित्यत्वसे नित्यत्वके उत्थापित होनेसे (अर्थात् शब्द कभी-कभी ही होता है और नित्य नहीं है, इसलिए) शब्द गुण नहीं है। ४. यदि शब्द पुद्गलकी पर्याय हो तो वह पृथिवी स्कन्धकी भाँति स्पर्शनादिक इन्द्रियोका विषय होना चाहिए अर्थात् जैसे पृथिवी स्कन्धरूप पुद्गल पर्याय सर्व इन्द्रियोसे ज्ञात होती है उसी प्रकार शब्दरूप पुद्गल पर्याय सभी इन्द्रियोसे ज्ञात होनी चाहिए (ऐसा तर्क किया जाये तो) ऐसा भी नहीं है क्योंकि पानी (पुद्गलकी पर्याय है, फिर भी) घ्राणेन्द्रियका विषय नहीं है। (प्र सा /ता वृ./१३८/१८६/११)।

८. शब्दको जाननेका प्रयोजन

पं का./ता. वृ /७६/१३८/१० इदं सर्वं हेयतत्त्वमेतस्माद्भिन्नं शुद्धात्मतत्त्वमुपादेयमिति भावार्थ। =यह सर्व तत्त्व हेय है। इससे भिन्न शुद्धात्म तत्त्व ही उपादेय है ऐसा भावार्थ है।

★ **शब्दकी अपेक्षा द्रव्यमे भेदाभेद**—दे. सप्तभगी/५/८।

★ **शब्द अल्प हैं और अर्थ अनन्त हैं**—दे. आगम/४।

शब्द अर्थ सम्बन्ध—दे. आगम/४।

शब्द कोश—जेनाचार्योंने कई शब्दकोश बनाये हे—१ आ. पूज्यपाद (ई. श. ५) कृत शब्दावतार। २. श्वे. हेमचन्द्रसूरि (ई. १०८८–११७३) कृत सिद्धहेम शब्दानुशासन। ३. श्वे. हेमचन्द्रसूरि (ई. १०८८–११७३) कृत अभिधानचिन्तामणि कोश (हैमी नाममाला कोश)। ४. श्वे. हेमचन्द्रसूरि (ई. १०८८–११७३) कृत अनेकार्थसग्रह। ५. श्वे. हेमचन्द्रसूरि (ई. १०८८–११७३) कृत देशीनाममाला। ६. प. आशाधर (ई. ११७३–१२४३) कृत 'अमरकोषकी टीका' रूप क्रिया-कलाप। ७. आचार्य शुभचन्द्र (ई. १५१६–१५५६) द्वारा रचित शब्द चिन्तामणि। ८. आ० भट्टाकलंक द्वि. (ई. १६०४) द्वारा रचित शब्दानुशासन। ६. पं. बनारसीदास (ई. १५८७–१६४४) कृत १७५ दोहा प्रमाण भाषा नाम माला। (ती./४/२५२)। १०. मा. बिहारी लाल (ई. १६२४–१६३४) कृत वृहद् जैन शब्दार्णव।

शब्द नय—दे नय/III/६।

शब्दपुनरुक्त निग्रह स्थान—दे. पुनरुक्त।

शब्द प्रमाण—दे. आगम।

शब्द ब्रह्म—दे. ब्रह्म।

शब्द लिंगज ज्ञान—दे श्रुतज्ञान/III।

शब्दवान्—हैमवत क्षेत्रके बहुमध्य भागस्थ कूटके आकार वाला नाभिगिरि पर्वत—दे. लोक/५/३।

शब्द समय—दे समय।

शब्दाकुलित आलोचना—दे. आलोचना।

शब्दाद्वैत—दे अद्वैतवाद।

शब्दानुपात—स. सि /७/३१/६३६/१० व्यापारकरान्पुरुषान्प्रत्यभ्युत्कासिकादिकरण शब्दानुपात। =जो पुरुष किसी उद्योगमें जुटे है उन्हे उद्देश्य कर खासना आदि शब्दानुपात है। (देशव्रतके अतिचारके प्रकरणमे), (रा. वा./७/३१/३/५५६/६)।

शब्दानुशासन—दे. शब्दकोश।

शब्दावतार—दे शब्दकोश।

शम—प्र. सा /ता. वृ /७/६/१० स एव धर्म। स्वात्मभावनोत्थसुखामृतशीतलजलेन कामक्रोधादिरूपाग्निजनितस्य संसारदुखदाहस्योपशमकत्वात शम इति। =वह धर्म ही शम है, क्योंकि स्वात्मभावनासे उत्पन्न सुखामृत शीतल जलके द्वारा कामक्रोधादिसे उत्पन्न संसार दुखकी दाहको विनाश करनेवाला है।

शयनासन शुद्धि—दे. शुद्धि।

शय्या परिषह—स सि./६/६/४२३/११ स्वाध्यायध्यानाध्वश्रमपरिखेदितस्य मौहूर्तिकी खरविषमप्रचुरशर्कराकपालसङ्कटातिशीतोष्णेषु भूमिप्रदेशेषु निद्रामनुभवतो यथाकृतैकपार्श्वदण्डायितादिशायिनप्राणिबाधापरिहाराय पतितदारुवद् व्यपगतासुवदपरिवर्तमानस्य ज्ञानभावनावहितचेतसोऽनुष्ठितव्यन्तरादिविविधोपसर्गादप्यचलितविग्रहस्यानियमितकाला तत्कृतबाधा क्षममाणस्य शय्यापरिषहक्षमा कथ्यते। =जो स्वाध्याय ध्यान और अध्व श्रमके कारण थककर कठोर, विषम तथा प्रचुर मात्रामें कंकड और खप्परोंके टुकडोसे व्याप्त ऐसे अतिशीत तथा अत्युष्ण भूमि प्रदेशोमें एक मुहूर्त प्रमाण निद्राका अनुभव करता है, जो यथाकृत एक पार्श्व भागसे या दण्डायित आदि रूपसे शयन करता है, करवट लेनेसे प्राणियोको होनेवाली बाधाका निवारण करनेके लिए जो गिरे हुए लकड़ीके

कुन्देके समान या मुर्देके समान करवट नहीं बदलता, जिसका चित्त ज्ञान भावनामें लगा हुआ है, व्यन्तरादिकके द्वारा किये गये नाना प्रकारके उपसर्गोंसे भी जिसका शरीर चलायमान नहीं होता और जो अनियतकालिक तत्कृत बाधाको सहन करता है उसके शय्या परिषहजय कही जाती है। (रा वा./९/९/१६/६१०/१८), (चा. सा./११६/३)।

शरण—रा. वा./९/७/२/६००/१५ शरण द्विविधं-लौकिकं लोकोत्तरं चेति। तत्प्रत्येक त्रिधा—जीवाजीवमिश्रकभेदात्। तत्र राजा देवता वा लौकिक जीवशरणम्, प्राकारादि अजीवशरणम्। ग्राम-नगरादि मिश्रकम्। पञ्च गुरवो लोकोत्तरजीवशरणम्, तत्प्रति-बिम्बाद्यजीवशरणम्, सधर्मोपकरणसाधुवर्गो मिश्रकशरणम्। =शरण दो प्रकारका है—एक लौकिक दूसरा लोकोत्तर। तथा वे दोनों ही जीव, अजीव और मिश्रकके भेदसे तीन-तीन प्रकारके है। राजा देवता आदि लौकिक जीवशरण है। कोट, शहर, पनाह आदि लौकिक अजीव शरण है और कोट खाई सहित गाँव नगर आदि लौकिक मिश्र शरण है। पाँचो परमेष्ठी लोकोत्तर जीव शरण है। इन अरहत आदिके प्रतिबिम्ब आदि लोकोत्तर अजीव शरण है। धर्म सहित साधुओंका समुदाय तथा उनके उपकरण आदि लोकोत्तर मिश्र शरण है। (चा. सा./१७८/४)

शरावती—वर्तमान श्रावस्ती जो अयोध्याके पास है। (म. प्र./प्र ५० पं. पन्नालाल)

शरीर—जीवके शरीर पाँच प्रकारके माने गये है—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस व कार्माण ये पाँचो उत्तरोत्तर सूक्ष्म है। मनुष्य तिर्यंचका शरीर औदारिक होनेके कारण स्थूल व दृष्टिगत है। देव नारकियोका वैक्रियिक शरीर होता है। तैजस व कार्मण शरीर सभी ससारी जीवोंके होते है। आहारक शरीर किन्हीं तपस्वी जनों के ही सम्भव है। शरीर यद्यपि जीवके लिए अपकारी है पर मुमुक्षु जन इसे मोक्षमार्गमें लगाकर उपकारी बना लेते है।

१. शरीर व शरीर नामकर्म निर्देश

१. शरीर सामान्यका लक्षण

स. सि./९/३६/१९१/४ विशिष्टनामकर्मोदयापादितवृत्तीनि शीर्यन्त इति शरीराणि। =जो विशेष नामकर्मके उदयसे प्राप्त होकर शीर्यन्ते अर्थात् गलते है वे शरीर है।

ध. १४/५,६,५१२/४३४/१३ सरीरं सहावो सीलमिदि एयट्ठो।.. अणंताणं-तपोग्गलसमवाओ सरीरं। =शरीर, शील और स्वभाव ये एकार्थ-वाची शब्द है।. अनन्तानन्त पुद्गलोंके समवायका नाम शरीर है।

द्र. सं./टी./३५/१०७/३ शरीरं कोऽर्थः स्वरूपम्। =शरीर शब्दका अर्थ स्वरूप है।

२. शरीर नामकर्मका लक्षण

स.सि./८/११/३८६/६ यदुदयादात्मन: शरीरनिर्वृत्तिस्तच्छरीरनाम। =जिसके उदयसे आत्माके शरीरकी रचना होती है वह शरीर नामकर्म है। (रा वा./८/११/३/५७६/१४) (गो क./जी प्र./३३/२८/२०)।

ध. ६/१,९-१,२८/५२/६ जस्स कम्मस्स उदएण आहारवग्गणाए पोग्गलखंधा तेजा-कम्मइयवग्गणपोग्गलखधा च सरीरजोग्गपरिणामेहि परिणदा सता जीवेण सबज्झंति तस्स कम्मक्खधस्स शरीरमिदि सण्णा। =जिस कर्मके उदयसे आहार वर्गणाके पुद्गल स्कन्ध तथा तैजस और कार्मण वर्गणाके पुद्गल स्कन्ध शरीर योग्य परिणामोके द्वारा परिणत होते हुए जीवके साथ सम्बद्ध होते है उस कर्म स्कन्धकी 'शरीर' यह संज्ञा है। (ध. १३/५,५,१०१/३६३/१२)

३. शरीर व शरीर नामकर्मके भेद

ष.खं. ६/१,९-१/सू. ३१/६८ जं तं सरीरणामकम्मं तं पंचविह ओरालियसरीरणामं वेउव्वियसरीरणामं आहारसरीरणाम तेयासरीरणाम कम्मइयसरीरणामं चेदि।३१। =जो शरीर नामकर्म है वह पाँच प्रकार है—औदारिक शरीरनामकर्म, वैक्रियिक शरीर नामकर्म, आहारकशरीर नामकर्म, तैजस शरीरनामकर्म और कार्मण शरीर नामकर्म।३१। (ष, ख. १३/५,५/सू. १०४/३६७) (ष. खं. १४/५,६/सू. ४४/४६) (प्र. सा /मू./१७१) (त. सू./२/३६) (स सि /८/११/३८६/६) (पं. स /२/४/४७/६) (रा वा./५/२४/६/४८८/२) (रा वा /८/११/३/५७६/१५) (गो. क./जी. प्र./३३/२८/२०)

४. शरीरोंमें प्रदेशोंकी उत्तरोत्तर तरतमता

त. सू /२/३८-३९ प्रदेशोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ।३८। अनन्तगुणे परे।३९।

स. सि./२/३८-३९/१९२-१९३/८,३ औदारिकादसंख्येयगुणप्रदेश वैक्रियिकम्। वैक्रियिकादसंख्येयगुणप्रदेशमाहारकमिति। को गुणकार:। पल्योपमासंख्येय भाग:। (१९२/८) आहारकात्तैजस प्रदेशतोऽनन्तगुणम्, तैजसात्कार्मण प्रदेशतोऽनन्तगुणमिति। को गुणकार:। अभव्यानामनन्तागुण: सिद्धानामनन्तभाग। =तैजससे पूर्व तीन तीन शरीरोमें आगे-आगेका शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यातगुणा है।३८। परवर्ती दो शरीर प्रदेशोकी अपेक्षा उत्तरोत्तर अनन्तगुणे है।३९। अर्थात् औदारिकसे वैक्रियिक शरीर असंख्यातगुणे प्रदेशवाला है, और वैक्रियिकसे आहारक शरीर असंख्यातगुणे प्रदेशवाला है। गुणकारका प्रमाण पल्यका असख्यातवाँ भाग है (१९२।८) परन्तु आहारक शरीरसे तैजस शरीरके प्रदेश अनन्तगुणे हैं, और तैजस शरीरसे कार्मण शरीरके प्रदेश अनन्तगुणे अधिक है। अभव्योंसे अनन्तगुणा और सिद्धोका अनन्तवाँ भाग गुणकार है। (रा. वा /२/३८-३९/४,१/१४८/४,११) (ध ६/४,१,२/३७/१) (गो. जी /जी. प्र /२४६/५१०/१०) और भी दे. अल्पबहुत्व)

५. शरीरोंमें परस्पर उत्तरोत्तर सूक्ष्मता व तत्सम्बन्धी शंका समाधान

त. सू./२/३७,४० परं परं सूक्ष्मम् ।३७। अप्रतिघाते ।४०।

स. सि.२/३७/१९२।१ औदारिक स्थूलम्, तत सूक्ष्म वैक्रियिकम्, तत सूक्ष्मं आहारकम्, तत: सूक्ष्मं तैजसम्, तैजसात्कार्मण सूक्ष्ममिति। =आगे-आगेका शरीर सूक्ष्म है।३७। कार्मण व तैजस शरीर प्रतीघात रहित हैं।४०। अर्थात् औदारिक शरीर स्थूल है, इससे वैक्रियिक शरीर सूक्ष्म है। इससे आहारक शरीर सूक्ष्म है, इससे तैजस शरीर सूक्ष्म है और इससे कार्मण शरीर सूक्ष्म है।

गो. जी./जी. प्र./२४६/५१०/१५ यद्येवं तर्हि वैक्रियिकादिशरीराणां उत्तरोत्तरं प्रदेशाधिक्येन स्थूलत्वं प्रसज्यते इत्याशङ्‌क्य परं परं सूक्ष्मं भवतीत्युक्तं। यद्यपि वैक्रियिकाद्युत्तरोत्तरशरीराणा बहुपरमाणुसचयत्वं तथापि बन्धपरिणतिविशेषेण सूक्ष्मसूक्ष्मावगाहनसंभव: कार्पसपिण्डाय.पिण्डवन्न विरुध्यते खल्विति निश्चेतव्य। =प्रश्न—यदि औदारिकादि शरीरोमें उत्तरोत्तर प्रदेश अधिक है तो उत्तरोत्तर अधिकाधिक स्थूलता हो जायेगी। उत्तर—ऐसी आशका अयुक्त है, क्योकि वे सब उत्तरोत्तर सूक्ष्म है। यद्यपि वैक्रियिक आदि शरीरोंमें परमाणुओका संचय तो अधिक-अधिक है तथापि स्कन्ध बन्धनमें विशेष है। जैसे—कपासके पिण्डसे लोहेके पिण्डमे प्रदेशपना अधिक होनेपर भी क्षेत्र थोडा रोकता है तैसे जानना।

६. शरीरके लक्षण सम्बन्धी शंका समाधान

रा. वा /२/३६/२-३/१४५/२५ यदि शीर्यन्त इति शरीराणि घटादीनामपि विशरणमस्तीति शरीरत्वमतिप्रसज्येत; तन्न; किं कारणम्। नामकर्मनिमित्तत्वाभावात्।२। विग्रहाभाव इति चेत्; न; रूढिशब्देष्वपि व्युत्पत्तौ क्रियाश्रयात्।३। =प्रश्न—यदि जो शीर्ण हों वे शरीर है, तो घटादि पदार्थ भी विशरणशील है, उनको भी शरीरपना प्राप्त हो जायेगा। उत्तर—नहीं, क्योकि उनमें नामकर्मोदय निमित्त नहीं है। प्रश्न—इस लक्षणसे तो विग्रहगतिमें शरीरके अभावका प्रसंग आता है? उत्तर—रूढिसे वहाँपर भी कहा जाता है।

७. शरीरमें करण(कारण)पना कैसे सम्भव है

ध.९/४,१,६८/३२५/१ करणेसु जं पढमं करणं पंचसरीरप्पयं तं मूलकरणं। कधं सरीरस्स मूलत्तं। ण, सेसकरणाणमेदम्हादो पउत्तीए शरीरस्स मूलत्त पडिविरोहाभावादो। जीवादो कत्तारादो अभिण्णत्तणेण कत्तारत्तमुपगयस्स कध करणत्तं। ण जीवादो सरीरस्स कधंचि भेदुवलंभादो। अभेदे वा चेयणत्त-णिच्चत्तादिजीवगुणा सरीरे वि होंति। ण च एव, तहाणुवलंभादो। तदो सरीरस्स करणत्तं ण विरुज्झदे। सेसकारयभावे सरीरम्मि सते सरीरं करणमेवेत्ति किमिदि उच्चदे। ण एस दोसो, सुत्ते करणमेवे त्ति अवहारणाभावादो। =करणोंमें जो पाँच शरीररूप प्रथम करण है वह मूल करण है। प्रश्न—शरीरके मूलपना कैसे सम्भव है। उत्तर—चूँकि शेष करणोंकी प्रवृत्ति इस शरीरसे होती है अत शरीरको मूल करण माननेमें कोई विरोध नहीं आता। प्रश्न—कर्ता रूप जीवसे शरीर अभिन्न है, अतः कर्तापनेको प्राप्त हुए शरीरके करणपना कैसे सम्भव है। उत्तर—यह कहना ठीक नही है। जीवसे शरीरका कथंचित् भेद पाया जाता है। यदि जीवसे शरीरको सर्वथा अभिन्न स्वीकार किया जावे तो चेतनता और नित्यत्व आदि जीवके गुण शरीरमें भी होने चाहिए। परन्तु ऐसा है नही, क्योंकि शरीरमें इन गुणोकी उपलब्धि नही होती। इस कारण शरीरके करणपना विरुद्ध नहीं है। प्रश्न—शरीरमें शेष कारक भी सम्भव है। ऐसी अवस्थामें शरीर करण ही है, ऐसा क्यों कहा जाता है? उत्तर—यह कोई दोष नही है, क्योकि, सूत्रमें 'शरीर करण ही है' ऐसा नियत नही किया गया है।

८. देह प्रमाणत्व शक्तिका लक्षण

पं. का./त. प्र./२८ अतीतानन्तरशरीरमाणावगाहपरिणामरूपं देहमात्रत्व। =अतीत अनन्तर (अन्तिम) शरीरानुसार अवगाह परिणामरूप देहप्रमाणपना होता है।

२. शरीरोंका स्वामित्व

१. एक जीवके एक कालमें शरीरोंका स्वामित्व

त. सू./२/४३ तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्न चतुर्भ्य:।४३।

स. सि./२/४३/१९५/३ युगपदेकस्यात्मनः। कस्यचिद्द्वे तैजसकार्मणे। अपरस्य त्रीणि औदारिकतैजसकार्मणानि वैक्रियिकतैजसकार्मणानि वा। अन्यस्य चत्वारि औदारिकाहारतैजसकार्मणानि विभाग' क्रियते। =एक साथ एक जीवके तैजस और कार्मणसे लेकर चार शरीर तक विकल्पसे होते है।४३। किसीके तैजस और कार्मण ये दो शरीर होते है। अन्यके औदारिक तैजस और कार्मण, या वैक्रियिक तैजस और कार्मण ये तीन शरीर होते है। किसी दूसरेके औदारिक तैजस और कार्मण तथा आहारक ये चार शरीर होते है। इस प्रकार यह विभाग यहाँ किया गया। (रा. वा./२/४३/३/१५०/१६)

दे. ऋद्धि /१० आहारक वैक्रियिक ऋद्धिके एक साथ होनेका विरोध है।

२. शरीरोंके स्वामित्वकी आदेश प्ररूपणा

सकेत—अप.=अपर्याप्त, आहा =आहारक, औद.=औदारिक; छेदो.=छेदोपस्थापना, प.=पर्याप्त, बा.=बादर, वैक्रि.=वैक्रियिक, सा.=सामान्य, सू =सूक्ष्म।

ष. खं. १४/५.६/सू १३२-१६६/२३८-२४८)

प्रमाण	मार्गणा	सयोगी विकल्प	औदारिक	वैक्रियिक	आहारक	तैजस	कार्मण
	१. गति मार्गणा—						
१३२-१३३	नरक सा. विशेष	२,३	×	"	×	"	"
१३४	तिर्यंच सा. पंचें. पं. तिर्यंचनी प	२,३,४	"	"	×	"	"
१३५	तिर्यंच पंचे. अप.	२,३	"	×	×	"	"
१३६	मनुष्य सा. प. मनुष्यणी अप	२,३,४	"	"	"	"	"
१३७	मनुष्य अप.	२,३	"	×	×	"	"
१३८-१३९	देव. सा. विशेष	"	×	"	×	"	"
	२. इन्द्रिय मार्गणा—						
१४०	ऐकेन्द्रिय सा. व बा. प.	२,३,४	"	"	×	"	"
"	पंचेन्द्रि सा प.	"	"	"	×	"	"
१४१	एकेन्द्रि. बा अप. एकेन्द्रि. सू. प. अप.	२,३	"	×	×	"	"
"	विकलेन्द्रि. प. अप पंचेन्द्रि. अप.	"	"	×	×	"	"
	३. काय मार्गणा—						
१४३	तेज वायु सा. ,, ,, बा. प	२,३,४	"	"	×	"	"
"	त्रस सा. प	"	"	"	"	"	"
१४२	शेष सर्व प. अप.	२,३	"	×	×	"	"
	४. योग मार्गणा—						
१४४	पाँचों मन वचन योग	३,४	"	"	"	"	"
१४५	काय सामान्य	२,३,४	"	"	"	"	"
१४४	औदारिक	३,४	"	"	"	"	"
१४६	औदारिक मिश्र	३	"	×	×	"	"
"	वैक्रि. वैक्रि. मिश्र	३	×	"	×	"	"
१४७	आहा. आहा. मिश्र	४	"	×	"	"	"
१४८	कार्मण	२,३	"	×	×	"	"

प्रमाण	मार्गणा	संयोगी विकल्प	औदारिक	वैक्रियिक	आहारक	तैजस	कार्मण
	५. वेद मार्गणा—						
१४९	पुरुष वेद	२,३,४	"	"	"	"	"
"	स्त्री, नपुसक	"	"	"	×	"	"
१५१	अपगत वेदी	३	"	×	×	"	"
	६. कषाय मार्गणा—						
१५०	चारों कषाय	२,३,४	"	"	"	"	"
१५१	अकषाय	३	"	×	×	"	"
	७. ज्ञान मार्गणा —						
१५२	मतिश्रुत अज्ञान	२,३,४	"	"	×	"	"
१५३	विभंग ज्ञान	३,४	×	"	×	"	"
१५४	मति, श्रुत, अवधिज्ञान	२,३,४	"	"	"	"	"
१५३	मन.पर्यय	३,४	"	"	×	"	"
१५५	केवलज्ञान	३	"	×	×	"	"
	८. संयम मार्गणा—						
१५६	संयत सा सामायिक छेदो., परिहार, सूक्ष्म	३,४	"	"	"	"	"
१५७	यथाख्यात	३	"	×	×	"	"
१५६	संयतासयत	३,४	"	"	×	"	"
१५८	असंयत	२,३,४	"	"	×	"	"
	९. दर्शन मार्गणा—						
१५९	चक्षु अचक्षु दर्शन	२,३,४	"	"	"	"	"
"	अवधि	"	"	"	"	"	"
१६०	केवलदर्शन	३	"	×	×	"	"
	१०. लेश्या मार्गणा						
१६१	कृष्ण, नील, कापोत	२,३,४	"	"	×	"	"
"	पीत, पद्म, शुक्ल	"	"	"	"	"	"
	११. भव्यत्व मार्गणा—						
१६२	भव्य	२,३,४	"	"	"	"	"
"	अभव्य	"	"	"	×	"	"
	१२. सम्यक्त्व मार्गणा—						
१६३	सम्यग्दृष्टि सा.	२,३,४	"	"	"	"	"
"	क्षायिक, उपशम, वेदक	"	"	"	"	"	"
	सासादन	"	"	"	×	"	"
१६४	मिश्र	३,४	"	"	×	"	"
१६३	मिथ्यादृष्टि	२,३,४	"	"	×	"	"
	१३ संज्ञी मार्गणा—						
१६५	सञ्ज्ञी	२,३,४	"	"	"	"	"
,	असंज्ञी	"	"	"	×	"	"
	१४. आहारक मार्गणा—						
१६६	आहारक	३,४	"	"	"	"	"
"	अनाहारक	२,३	"	×	×	"	"

३. शरीरका कथंचित् इष्टानिष्टपना

१. शरीर दुःखका कारण है

स. श./मू./१५ मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः। त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रिय'।१५। =इस शरीरमें आत्मबुद्धिका

होना संसारके दु.खोंका मूल कारण है । इसलिए शरीरमें आत्मत्वको छोडकर बाह्य इन्द्रिय विषयोसे प्रवृत्तिको रोकता हुआ आत्मा अन्तरंगमें प्रवेश करे ।१५।

आ.अनु./१६५ आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि काङ्क्षन्ति तानि विषयान् विषयाश्च मानहानिप्रयासभयपापकुयोनिदा स्यु-र्मूलं ततस्तनुरनर्थपरपराणाम् ।१६५। =प्रारम्भमें शरीर उत्पन्न होता है, इससे दुष्ट इन्द्रियाँ होती है, वे अपने-अपने विषयोको चाहती है। और वे विषय मानहानि, परिश्रम, भय, पाप एव दुर्गतिको देनेवाले है। इस प्रकारसे समस्त अनर्थोंकी मूल परम्पराका कारण शरीर है ।१६५।

ज्ञा २/६/१०-११ शरीरमेतदादाय त्वया दुःख विसह्यते । जन्मन्यस्मिस्ततस्तद्धि निःशेषानर्थमन्दिरम् ।१०। भवोद्भवानि दुःखानि यानि यानीह देहिभि । सह्यन्ते तानि तान्युच्चैर्वपुरादाय केवलम् ।११।=हे आत्मन । तूने इस संसारमें शरीरको ग्रहण करके दु ख पाये वा सहे हैं, इसीसे तू निश्चय जान कि यह शरीर ही समस्त अनर्थोंका घर है, इसके ससर्गसे सुखका लेश भी नहीं मान ।१०। इस जगत्में ससारसे उत्पन्न जो-जो दुःख जीवोको सहने पडते है वे सब इस शरीरके ग्रहणसे ही सहने पडते है, इस शरीरसे निवृत्त होनेपर कोई भी दु'ख नही है ।११।

२. शरीर वास्तवमें अपकारी है

इ. उ /१६ यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकं । यद्द देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारक ।१६। =जो अनशनादि तप जीवका उपकारक है वह शरीरका अपकारक है, और जो धन, वस्त्र, भोजनादि शरीरका उपकारक है वह जीवका अपकारक है ।१६।

अन ध./४/१४१ योगाय कायमनुपालयतोऽपि युक्त्या, क्लेश्यो ममत्वहतये तव सोऽपि शक्त्या । भिक्षोऽन्यथाक्षसुखजीवितरन्ध्रलाभात्, तृष्णा सरिद्विधुरयिष्यति सत्तपोद्रिम् ।१४१। =योग-रत्नत्रयात्मक धर्मकी सिद्धिके लिए सयमके पालनमें विरोध न आवे इस तरहसे रक्षा करते हुए भी शक्ति और युक्तिके साथ शरीरमें लगे ममत्वको दूर करना चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार साधारण भी नदी जरासे भी छिद्रको पाकर दुर्भेद्य भी पर्वतमें प्रवेशकर जर्जरित कर देती है उसी प्रकार तुच्छ तृष्णा भी समीचीन तप रूप पर्वतको छिन्न-भिन्नकर जर्जरित कर डालेगी ।१४१।

३. धर्मार्थीके लिए शरीर उपकारी है

ज्ञा २/६/६ तैरेव फलमेतस्य गृहीतं पुण्यकर्मभि' । विरज्य जन्मन' स्वार्थे यै शरीर कदर्थितम् ।६। =इस शरीरके प्राप्त होनेका फल उन्होने लिया है, जिन्होने संसारसे विरक्त होकर, इसे अपने कल्याण मार्गमें पुण्यकर्मोसे क्षीण किया ।६।

अन. ध./४/१४० शरीर धर्मसयुक्तं रक्षितव्यं प्रयत्नत । इत्याप्तवाचस्त्वग्देहस्त्याज्य एवेति तण्डुलः ।१४०। ='धर्मके साधन शरीरकी प्रयत्न पूर्वक रक्षा करनी चाहिए', इस शिक्षाको प्रवचनका तुष समझना चाहिए। 'आत्मसिद्धिके लिए शरीररक्षाका प्रयत्न सर्वथा निरुपयोगी है ।' इस शिक्षाको प्रवचनका तण्डुल समझना चाहिए।

अन. ध./७/६ शरीमाद्य' किल धर्मसाधन, तदस्य यस्येत् स्थितयेऽशनादिना । तथा यथाक्षाणि वशे स्युरुत्पथं, न वानुधावन्त्यनुबद्धतृड्वशात् ।६। =रत्नरूप धर्मका साधन शरीर है अत शयन, भोजनपान आदिके द्वारा इसके स्थिर रखनेका प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु इस बातको सदा लक्ष्यमें रखना चाहिए कि भोजनादिकमें प्रवृत्ति ऐसी और उतनी हो जिससे इन्द्रियाँ अपने अधीन रहे। ऐसा न हो कि अनादिकालकी वासनाके वशवर्ती होकर उन्मार्गकी तरफ दौडने लगे ।६।

४. शरीर ग्रहणका प्रयोजन

आ. अनु./७० अवश्यं नश्वरैरेभिरायु. कायादिभिर्यदि। शाश्वतं पदमायाति मुधायातमवैहि ते ।७०। =इसलिए यदि अवश्य नष्ट होनेवाले इन आयु और शरीरादिकोके द्वारा तुझे अविनश्वर पद प्राप्त होता है तो तू उसे अनायास ही आया समझ/७।

५. शरीर बन्ध बतानेका प्रयोजन

प का / ता. वृ /३४/७३/१० अत्र य एव देहाद्भिन्नोऽनन्तज्ञानादिगुणः शुद्धात्मा भणित' स एव शुभाशुभसकल्पविकल्पपरिहारकाले सर्वत्र प्रकारेणोपादेयो भवतीत्यभिप्राय. ।=यहाँ जो यह देहसे भिन्न अनन्त ज्ञानादि गुणोसे सम्पन्न शुद्धात्मा कहा गया है, वह आत्मा ही शुभ व अशुभ सकल्प विकल्पके परिहारके समय सर्वप्रकारसे उपादेय होता है, ऐसा अभिप्राय है।

द्र. सं./टी /१०/२७/७ इदमत्र तात्पर्यम्—देहममत्वनिमित्तेन देहं गृहीत्वा ससारे परिभ्रमति तेन कारणेन देहादिममत्वं त्यक्त्वा निर्मोहनिजशुद्धात्मनि भावना कर्तव्येति। =तात्पर्य यह है—जीव देहके साथ ममत्वके निमित्तसे देहको ग्रहणकर ससारमें भ्रमण करता है, इसलिए देह आदिके ममत्वको छोडकर निर्मोह अपने शुद्धात्मामें भावना करनी चाहिए।

शरीर पर्याप्ति—दे. पर्याप्ति।

शरीर पर्याप्ति काल—दे काल/१।

शरीर मद—दे मद।

शरीर मिश्र काल—दे. काल/१।

शर्कराप्रभा—१, स. सि /३/१/२०१/८ शर्कराप्रभासहचरिता भूमिः शर्कराप्रभा । · एता' संज्ञा अनेनोपायेन व्युत्पाद्यन्ते। =जिसकी प्रभा शर्कराके समान है वह शर्कराप्रभा है। इस प्रकार नामके अनुसार व्युत्पत्ति कर लेनी चाहिए। (ति. प./२/२१), (रा. वा./३/१/३/१५६/१८); (ज प /११/१२१)। २. शर्कराप्रभा पृथिवीका लोकमें अवस्थान। दे. नरक/५/११, ३ शर्कराप्रभा पृथिवीका नकशा। दे. लोक/२/८।

शर्करावती—भरत क्षेत्रस्थ आर्य खण्डकी एक नदी–दे. मनुष्य/४।

शलाका—जो विवक्षित भाग करनेके अर्थ किञ्चित् प्रमाण कल्पना कीजिये ताका नाम यही शलाका जानना। विशेष—दे. गणित/II/२

शलाका पुरुष—तीर्थकर चक्रवर्ती आदि प्रसिद्ध पुरुषोको शलाका पुरुष कहते है। प्रत्येक कल्पकालमें ६३ होते हैं। २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण। अथवा ९ नारद, ११ रुद्र २४ कामदेव, व १६ कुलकर आदि मिलानेसे १६९ शलाका पुरुष होते है।

१	शलाका पुरुष सामान्य निर्देश
१	६३ शलाका पुरुष नाम निर्देश।
२	१६९ शलाका पुरुष निर्देश।
*	शलाका पुरुषोंकी आयु बन्ध योग्य परिणाम। —दे. आयु/३।
*	कौन पुरुष मरकर कहाँ उत्पन्न हो और क्या गुण प्राप्त करे। —दे. जन्म/६।

१. शलाका पुरुष सामान्य निर्देश

१. ६३ शलाका पुरुष नाम निर्देश

ति. प./४/५१०-५११ एत्तो सलायपुरिसा तेसट्ठी सयलभवणविक्खादा। जायंति भरहखेत्ते णरमोहाकेण ।५१०। तित्थयरचक्कबलहरिपडिसत्तु णाम विस्सुदा कमसो। बिउणियबारसबारस पयत्थणिधिरधसंखाए ।५११। =अब यहाँसे आगे (अन्तिम कुलकरके पश्चात्) पुण्योदयसे भरतक्षेत्रमें मनुष्योंमें श्रेष्ठ और सम्पूर्ण लोकमें प्रसिद्ध तिरेसठ शलाका पुरुष उत्पन्न होने लगते है ।५१०। ये शलाका पुरुष तीर्थंकर २४, चक्रवर्ती १२, बलभद्र ९, नारायण ९, प्रतिशत्रु ९, इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार उनकी संख्या ६३ है ।५११। (त्रि. सा /८०३), (ज प./२/१७९-१८४). (गो. जी /जी. प्र./३६१-३६२/-७७३/३)।

ति प /४/१६१५; १६१६ हुंडावसप्पिणी स। एक्का ।१६१५। दुस्समसुसमे काले अट्ठावणा सलायपुरिसा य ।१६१६। =हुडावसर्पिणी कालमें ५८ ही शलाका पुरुष होते है।

२. १६९ शलाका पुरुष निर्देश

ति. प /४/१४७३ तित्थयरा तग्गुरओ चक्कीबलकेसिरुद्दणारद्दा। अगजकुलियरपुरिसा भविया सिज्झंति णियमेण ।१४७३। =२४ तीर्थंकर,

उनके गुरु (२४ पिता, २४ माता), १२ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ नारायण, ११ रुद्र, ६ नारद, २४ कामदेव और १४ कुलकर ये सब भव्य होते हुए नियमसे सिद्ध होते है।१४७३। (इनके अतिरिक्त ६ प्रतिनारायण ऊपर गिना दिये गये है। ये सब मिलकर १६६ दिव्य पुरुष कहे जाते हैं।)

३. शलाका पुरुषोंका मोक्ष प्राप्ति सम्बन्धी नियम

ति. प./४/१४७३ तित्थयरा तग्गुओ चक्कीबलकेसिरुद्दणारद्दा। अगजकुलियरपुरिसा भविया सिज्झंति णियमेण।१४७३। =तीर्थंकर, उनके गुरु (पिता व माता), चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, रुद्र, नारद, कामदेव और कुलकर ये सब (प्रतिनारायणको छोडकर १६० दिव्य पुरुष) भव्य होते हुए नियमसे (उसी भवमें या अगले १, २ भवोंमें) सिद्ध होते है।१४७३।

४. शलाका पुरुषोंका परस्पर मिलाप नहीं होता

ह पु./५४/५९-६० नान्योन्यदर्शनं जातु चक्रिणां धर्मचक्रिणाम्। हलिनां वासुदेवाना त्रैलोक्ये प्रतिचक्रिणाम्।५९। गतस्य चिह्नमात्रेण तव तस्य च दर्शनम्। शङ्खस्फोटनिनादैश्च रथध्वजनिरीक्षणैः।६०। =तीन लोकमें कभी चक्रवर्ती-चक्रवर्तियोंका, तीर्थंकर-तीर्थंकरोंका, बलभद्र-बलभद्रोंका, नारायण-नारायणोंका और प्रतिनारायण-प्रतिनारायणोका परस्पर मिलाप नहीं होता। तुम (धातकी खण्डका कपिल नामक नारायण) जाओगे तो चिह्न मात्रसे ही उसका (कृष्ण नारायणका) और तुम्हारा मिलाप होगा। एक दूसरेके शंखका शब्द सुनना तथा रथोंकी ध्वजाओंका देखना इन्हीं चिह्नोंसे तुम्हारा उसका साक्षात्कार हो सकेगा।५९-६०।

५. शलाका पुरुषोंके शरीरकी विशेषता

ति. प./४/१३७१ आदिमसंहणण जुदा सव्वे तवणिज्जवण्णवरदेहा। सयलसुलक्खण भरिया समचउरस्संगसंठाणा।१३७१। =सभी वज्रऋषभ नाराच संहननसे सहित, सुवर्णके समान वर्णवाले, उत्तम शरीरके धारक, सम्पूर्ण सुलक्षणोंसे युक्त और समचतुरस्र रूप शरीर-संस्थानसे युक्त होते है।१३७१।

बो. पा./टी./३२/९८ पर उद्धृत—देवा वि य णेरइया हलहरचक्की य तह य तित्थयरा। सव्वे केसव रामा कामानिक्कंचिया होंति।=सर्व देव, नारकी, हलधर (बलदेव), चक्रवर्ती तीर्थंकर, केशव (नारायण) राम और कामदेव मूँछ-दाढीसे रहित होते है।

२. द्वादश चक्रवर्ती निर्देश

१. चक्रवर्तीका लक्षण

ति. प/१/४८ छक्खंड भरहणादो बत्तीससहस्समउडबद्धपहुदीओ। होदि हु सयलं चक्की तित्थयरो सयलभुवणवई।४८। =जो छह खण्डरूप भरतक्षेत्रका स्वामी हो और बत्तीस हजार मुकुट बद्ध राजाओंका तेजस्वी अधिपति हो वह सकल चक्री होता है।…।४८। (ध. १/१, १,१/गा.४३/५८) (त्रि. सा./६८५)

२. नाम व पूर्वभव परिचय

	नाम	पूर्व भव नं. २			पूर्वभव
म पु./सर्ग/श्लो.	१. ति. प./४/५१५-५१६ २ त्रि. सा./८१५ ३. प.पु./२०/१२४-१६३ ४. ह.पु./६०/२८६-२८७ ५. म पु./पूर्ववत्	१. प. पु /२०/१२४-१६३ २. म. पु /पूर्ववत			१. प.पु./२०/१२४-१६३ २. म. पु /पूर्ववत
		नाम राजा	नगर	दीक्षागुरु	स्वर्ग
	भरत	पीठ	पुण्डरीकिणी	कुशसेन	सर्वार्थसिद्धि २ अच्युत
४८/६९-७८	सगर	विजय २ जयसेन	पृथिवीपुर	यशोधर	विजय वि०
६१/९१-१०१	मघवा	शशिप्रभ २ नरपति	पुण्डरीकिणी	विमल	ग्रैवेयक
६२/१०१/१०६	सनत्कु०	धर्मरुचि	महापुरी	सुप्रभ	माहेन्द्र २ अच्युत
६३/३८४	शान्ति*	→	दे० तीर्थंकर	←	←
६४/१२-२२	कुन्थु	→	"	←	←
६५/१४-३०	अर*	→	"	←	←
६५/५६	सुभौम	कनकाभ २ भूपाल	धान्यपुर	विचित्रगुप्त २ सम्भूत	जयन्त वि० २ महाशुक्र
६६/७६-८०	पद्म§	चिन्त २ प्रजापाल	वीतशोका २ श्रीपुर	सुप्रभ २ शिवगुप्त	ब्रह्मस्वर्ग २ अच्युत
६७/६४-६५	हरिषेण	महेन्द्रदत्त	विजय	नन्दन	माहेन्द्र २ सनत्कुमार
६९/७८-८०	जयसेन ४ जय	अमितांग २ वसुन्धर	राजपुर २ श्रीपुर	सुधर्ममित्र २ वररुचि	ब्रह्मस्वर्ग २ महाशुक्र
७२/२८७-२८८	ब्रह्मदत्त	सम्भूत	काशी	स्वतन्त्रलिंग	कमलगुल्म मि०

* शान्ति कुन्थु और अर ये तीनों चक्रवर्ती भी थे और तीर्थंकर भी।

§ प्रमाण नं. २,३,४ के अनुसार इनका नाम महापद्म था। यह राजा पद्म उन्हीं विष्णुकुमार मुनिके बडे भाई थे जिन्होंने ७५० मुनियोंकी राजा ब[illegible] कृत उपसर्गसे रक्षा की थी।

३. वर्तमान भवमें नगर व माता पिता

क्रम	म. पु./सर्ग श्लोक	वर्तमान नगर		वर्तमान पिता		वर्तमान माता		तीर्थंकर
		१. प. पु./२०/१२५-१६३ २ म. पु./पूर्ववत्		१. प. पु./२०/१२४-१६३ २ म पु/पूर्ववत		१. प पु/२०/१२४-१६३ २. म. पु./पूर्ववत्		
		सामान्य	विशेष	सामान्य	विशेष	सामान्य	विशेष	
			प पु.		प पु.		प पु.	
१		अयोध्या		ऋषभ		यशस्वती	मरुदेवी	
२	४८/६६-७८	,,		विजय	समुद्रविजय	सुमंगला	सुबाला	
३	६१/६९-१०१	श्रावस्ती	अयोध्या	सुमित्र		भद्रवती	भद्रा	
४	६१/१०४-१०६	हस्तिनापुर	,,	विजय	अनंतवीर्य	सहदेवी		
५	६३/३८४,४१३	—	→	दे० तीर्थंकर		←	—	दे. तीर्थंकर
६	६४/१२-२२	—	→	,,		←	—	
७	६५/१४-३०	—	→	,,		←	—	
८	६५/५६,१५२	इशावती	अयोध्या	कीर्तिवीर्य	सहस्रबाहु	तारा	चित्रमती	
९	६६/७६-८०	हस्तिनापुर	वाराणसी	पद्मरथ	पद्मनाभ	मयूरी		
१०	६७/६४-६५	काम्पिल्य	भोगपुर	पद्मनाभ	हरिकेतु	वप्रा	एरा	
११	६९/७८-८०	,,	कौशाम्बी	विजय		यशोवती	प्रभाकरी	
१२	७२/२८७-२८८	,,	×	ब्रह्मरथ	ब्रह्मा	चूला	चूडादेवी	

४. वर्तमान भव शरीर परिचय

क्र.	म. पु./सर्ग/श्लो. सं.	वर्ण	संस्थान	संहनन	शरीरोत्सेध			आयु		
		ति प./४/१३७१			१. ति प./४/१२९२-१२९३ २ त्रि. सा/८१८-८१९ ३. ह. पु./६०/३०६-३०९ ४ म. पु./पूर्व शीर्षवत			१. ति प/४/१२९५-१२९६ २. त्रि सा/८१९-८२० ३. ह. पु./६०/४९४-५१६ ४ म पु/पूर्व शीर्षवत्		
					सामान्य	प्रमाण नं.	विशेष	सामान्य	प्रमाण नं.	विशेष
					धनु.		धनु.			
१		स्वर्ण	समचतुरस्र	वज्रऋषभ नाराच	५००			८४ लाख पूर्व		
२		,,	,,	,,	४५०			७२ ,, ,,	४	७० लाख पूर्व
३		,,	,,	,,	४२½			५ लाख वर्ष		
४		,,	,,	,,	४२	{ २ { ४	४१½ ४२½	३ ,, ,,		
५	दे. पूर्व शीर्षवत्	—	—	→	दे० तीर्थंकर		(शान्ति)	←	—	—
६		—	—	→	,,		(कुन्थु)	←	—	—
७		—	—	→	,,		(अरह)	←	—	—
८		स्वर्ण	समचतुरस्र	वज्र ऋषभनाराच	२८			६०,००० वर्ष	३	६८००० वर्ष
९		,,	,,	,,	२२			३०,००० ,,		
१०		,,	,,	,,	२०	४	२४	१०,००० ,,	३	२६००० वर्ष
११		,,	,,	,,	१५	३	१४	३,००० ,,		
१२		,,	,,	,,	७	४	६०	७०० ,,		

५. कुमारकाल आदि परिचय

ला = लाख, पू० = पूर्व

क्रम	कुमार काल	मण्डलीक	दिग्विजय	राज्य काल		संयम काल	मर कर कहाँ गये	
	ति. प./४/-१२६७-१२६६ ह. पु./६०/-४६४-५१६	ति. प./४/-१३००-१३०२ ह. पु./६०/-४६४-५१६	ति. प./४/-१३६८-१३६६ ह. पु./६०/-४६४-५१६	ति. प./४/१४०१-१४०५ ह. पु./६०/४६४-५१६		ति. प./४/-१४०७-१४०६ ह. पु./६०/-४६४-५१६	ति. प./४/१४१० त्रि. सा./८२४ प. पु./२०/१२४-१६३ म. पु./दे. शीर्षक स. २	
				सामान्य	विशेष		सामान्य	विशेष
					ह. पु.			म. पु.
१	७७,००० वर्ष	१००० वर्ष	६०००० वर्ष	{ ६ ला. पू. ६१००० वर्ष	{ ६ ला. पू. १ पू०	१ ला. पू *	मोक्ष	
२	५०,००० " §	५०,००० " §	३०,००० "	{ ७० ला. पू. ३०००० वर्ष	{ ६६७००००पू. + ९९९९९ पूर्वांग + ८३ ला वर्ष	१ " "	"	
३	२५,००० "	२५००० "	१०,००० "	३९०००० "		५०००० वर्ष	सनत्कुमार स्वर्ग	मोक्ष
४	५०००० "	५०००० "	१० " "	९०००० "		१ ला. "	"	"
५								
६								
७								
८	५००० "	५००० " §§	५०० वर्ष	४९५०० व.	६२५०० वर्ष	०	७ वे नरक	
९	५०० व.	५०० वर्ष	३०० "	१८७०० "		१०००० वर्ष	मोक्ष	
१०	३२५ "	३२५ "	१५० "	८८५० "	२५१७५ "	३५० "	"	सर्वार्थसिद्धि
११	३०० "	३०० "	१०० "	१९०० "		४०० "	"	जयन्त
१२	२८ "	५६ "	१६ "	६०० "		०	७ वें नरक	

ह. पु. में भरतका सयम काल १ ला + (१ पूर्व—१ पूर्वांग) + ८३०९०३० वर्ष दिया है।

§ ह. पु. व म पु में सगरका कुमार व मण्डलीक काल १८ लाख पूर्व दिया गया है।

§§ ह. पु. की अपेक्षा सुभौम चक्रवर्तीको राज्यकाल प्राप्त ही नहीं हुआ।

६. वैभव परिचय

१ (ति प./४/१३७२-१३९७), २ (त्रि. सा /६८२); ३ (ह. पु /११/१०८-१६२); ४. (म. पु./३७/२३-३७,५६-८१, १८१-१८५); ५. (ज. प./७/४३-५४, ६५-६७)।

क्रम	नाम	गणना सामान्य	प्रमाण नं.	गणना विशेष	क्रम	नाम	गणना सामान्य	प्रमाण नं.	गणना विशेष
१	रत्न	१४	(दे. आगे)		५	पुत्र पुत्री	संख्यात	३	भरतके ५००
२	निधि	९	(" ")				सहस्र		पुत्र थे
३	रानियाँ							४	सगरके ६०,०००
i	आर्य खण्डकी राजकन्याएँ	३२,०००							पुत्र
								४	पद्मके ८ पुत्री
ii	विद्याधर राजकन्याएँ	३२०००							थीं
iii	म्लेच्छ राजकन्याएँ	३२,०००			६	गणबद्ध देव	३२,०००	३,४	१६०००
		९६,०००			७	तनुरक्षक देव	३६०		
४	पटरानी	१			८	रसोइये	३६०		

क्रम	नाम	गणना सामान्य	प्रमाण नं.	गणना विशेष	क्रम	नाम	गणना सामान्य	प्रमाण नं.	गणना विशेष
९	यक्ष	३२			२७	नाटचशाला	३२०००		
१०	यक्षोका बन्धु कुल	३५० लाख			२८	सगीतशाला	३२०००		
११	भेरी	१२			२९	पदाति	४८ करोड़		
१२	पटह (नगाडे)	१२			३०	देश	३२०००		
१३	शख	२४			३१	ग्राम	९६ करोड		
१४	हल	१ कोडाकोडी	ह पु.	१ करोड	३२	नगर	७५०००	४	७२०००
			४	१ ला करोड				५	२६०००
१५	गौ	३ करोड			३३	खेट	१६०००		
१६	गौशाला		४	३ करोड़	३४	खर्वट	२४०००	५	३४०००
१७	थालियाँ	१ "	४	१ "	३५	मटब	४०००		
१८	हडे				३६	पट्टन	४८०००		
१९	गज	८४ लाख			३७	द्रोणमुख	९९०००		
२०	रथ	"			३८	सवाहन	१४०००		
२१	अश्व	१८ करोड़			३९	अन्तर्द्वीप	५६		
२२	योद्धा	८४ .			४०	कुक्षि निवास	७००		
२३	विद्याधर	अनेक "			४१	दुर्गादिवन	२८०००		
२४	म्लेच्छ राजा	८८०००	४	१८०००	४२	पताकाएँ		४	४८ करोड़
२५	चित्रकार	९९०००	३	९९०००	४३	भोग	१० प्रकार		
२६	मुकुट बद्ध राजा	३२००			४४	पृथिवी	षट् खण्ड		

७. चौदह रत्न परिचय सामान्य

क्रम	निर्देश १. ति. प /४/१३७६-१३८१ २. त्रि. सा./८२३ ३. ह. पु./११/१०८-१०९ ४ म. पु./३७/८३-८६		संज्ञा १. ति. प /४/१३७७-१३८१ २. दे. आगे शीर्षक स. ११		उत्पत्ति १. ति. प./४/१३७८-१३८० २. त्रि. सा./८२३ ३. म. पु /३७/८५-८६		दृष्टि भेद	विशेषता
	नाम	क्या है	सामान्य	विशेष	सामान्य	विशेष		
				प्रमाण नं० २		प्रमाण नं० २		
१	चक्र	आयुध	सुदर्शन		आयुधशाला		ति. प /४/१३८२ किन्हीं आचार्योंके मतसे इनकी उत्पत्तिका नियम नहीं। यथायोग्य स्थानोंमें उत्पत्ति।	दे. पुगला शीर्षक १
२	छत्र	छतरी	सूर्यप्रभ		"			
३	खड्ग	आयुध	भद्रमुख	सौनन्दक	"			
४	दण्ड	अस्त्र	प्रवृद्धवेग	चण्डवेग	"			
५	काकिणी	अस्त्र	चिन्ता जननी		श्री गृह			
६	मणि	रत्न	चूड़ामणि		"			
७	चर्म	तम्बू			"			
८	सेनापति		आयोध्य		राजधानी	विजयार्ध		
९	गृहपति	भण्डारी	भद्रमुख	कामवृष्टि (ह. पु./११/१२३)	"	"		
१०	गज	हाथी	विजयगिरि		विजयार्ध	"		
११	अश्व		पवनंजय		"	"		
१२	पुरोहित		बुद्धिसागर		राजधानी	"		
१३	स्थपति	तक्षक (बढई)	कामवृष्टि		"	"		
१४	युवती	पटरानी	सुभद्रा		विजयार्ध	"		

८. चौदह रत्न परिचय विशेष

क्र.	नाम	जीव अजीव	काहे से बने	विशेषताएँ
		१. ति. प./४/१३७७-१३७६ २. म. पु./३७/८४	ति. प /४/१३८६	१. ति. प./४/गा.; २ त्रि. सा /८२३ ३. म पु /३७/श्लो.; ४. ज. प./७/गा.
१	चक्र	अजीव	वज्र	शत्रु संहार
२	छत्र	,,	,,	१२ योजन लम्बा और इतना ही चौडा है। वर्षासे कटक की रक्षा करता है।४/१४०-१४१।
३	खड्ग	,,	,,	शत्रु संहार
४	दण्ड	,,	,,	विजयार्ध गुफा द्वार उद्घाटन।१/१३३०; २/४/१२४। गुफाके कांटों आदिका शोधन।३/१७०। वृषभाचलपर चक्रवर्तीका नाम लिखना। १/१३५४।
५	काकिणी	,,	,,	विजयार्धकी गुफाओंका अन्धकार दूर करना।१/१३३६, ३/१७३। वृषभाचलपर नाम लिखना।२।
६	मणि	,,	,,	विजयार्धकी गुफामें उजाला करना।
७	चर्म	,,	,, म. पु/ ३७/१७१	म्लेच्छ राजा कृत जलके ऊपर तैरकर अपने ऊपर सारे कटकको आश्रय देता है। (२,३/१७१; ४/१४०)
८	सेनापति	जीव		
९	गृहपति	,,		हिसाब किताब आदि रखना।३/१७६।
१०	गज	,,		
११	अश्व	,,		
१२	पुरोहित	,,		दैवी उपद्रवोंकी शान्तिके अर्थ अनुष्ठान करना (३/१७५)
१३	स्थपति	,,		नदीपर पुल बनाना (१/१३४२; ४/१३१) मकान आदि बनाना।३/१७७।
१४	युवती	,,		नोट—ह पु /११/१०६। इन रत्नोंमें से प्रत्येक की एक एक हजार देव रक्षा करते थे।

९. नव निधि परिचय

क्र.	१ निर्देश	२ उत्पत्ति		३ क्या प्रदान करती है		
	१. ति. प./४/१३८४ २. त्रि. सा/८२१, ३. ह पु./११/१-११०-१११ ४. म पु./३७/७५-८२	१ ति. प ४/१३८४ २. ति. प ४/१३८५		१. ति. प./४/१३८६ २. त्रि. सा./८२२ ३. ह. पु./११/११४-१२२ ४. म. पु /३७/७५-८२		
		दृष्टि सं. १	दृष्टि सं. २	सामान्य	प्रमाण	विशेष
१	काल	श्रीपुर	नदीमुख	ऋतुके अनुसार पुष्प फल आदि	३,४	निमित्त, न्याय, व्याकरण आदि विषयक अनेक प्रकारके शास्त्र
					४	बाँसुरी, नगाडे आदि पचेन्द्रिय के मनोज्ञ विषय
२	महाकाल	,,	,,	भाजन	३	पंचलोह आदि धातुएँ
					४	असि, मसि आदिके साधनभूत द्रव्य
३	पाण्डु	,,	,,	धान्य	४	धान्य तथा षट्रस
४	मानव	,,	,,	आयुध	४	नीति व अन्य अनेक विषयोंके शास्त्र
५	शंख	,,	,,	वादित्र		
६	पद्म	,,	,,	वस्त्र		
७	नैसर्प	,,	,,	हर्म्य (भवन)	३,४	शय्या, आसन, भाजन आदि उपभोग्य वस्तुएँ
८	पिंगल	,,	,,	आभरण		
९	नानारत्न	,,	,,	अनेक प्रकार के रत्न आदि		

४. विशेषताएँ

ह पु./११/१११-११३,१२३ अमी…निधयोऽनिधना नव। पालिता निधिपालाख्यैः सुरैर्लोकोपयोगिन।१११। शकटाकृतयः सर्वे चतुरक्षाष्टचक्रकाः। नवयोजनविस्तीर्णा द्वादशायामसंमिताः।११२। ते चाष्टयोजनागाधा बहुवक्षारकुक्षयः। नित्यं यक्षसहस्रेण प्रत्येकं रक्षितेक्षिता।११३। कामवृष्टिवशास्तेऽमी नवापि निधयः सदा। निष्पादयन्ति निःशेषं चक्रवर्तिमनीषितम्।१२३।—ये सभी निधियाँ अविनाशी थीं। निधिपाल नामके देवों द्वारा सुरक्षित थीं। और निरन्तर लोगोंके उपकारमें आती थीं।१११। ये गाडीके आकारकी थीं। ९ योजन चौडी, १२ योजन लम्बी, ८ योजन गहरी और वक्षार गिरिके समान विशाल कुक्षिसे सहित थीं। प्रत्येककी एक-एक हजार यक्ष निरन्तर देखरेख रखते थे।११२-११३। ये नौ की नौ निधियाँ कामवृष्टि नामक गृहपति (९वाँ रत्न) के अधीन थीं। और सदा चक्रवर्ती के समस्त मनोरथोंको पूर्ण करती थीं।१२३।

१०. दश प्रकार भोग परिचय

ति. प./४/१३६७-दिव्वपुरं रयणणिहिं चमुभायण भोयणाइं सयणिज्जं। आसणवाहणणट्टा दसंग भोगा इमे ताणं।१३६७। =दिव्यपुर (नगर), रत्न, निधि, चमू (सैन्य) भाजन, भोजन, शय्या, आसन, वाहन, और नाट्य ये उन चक्रवर्तियोंके दशांग भोग होते है।१३६७। (ह. पु./११/१३१); (म. पु/३७/१४३)।

११. भरत चक्रवर्तीकी विभूतियोंके नाम

म. पु./३७/श्लोक सं.

क्रम	श्लोक सं.	विभूति	नाम
१	१४६	घरका कोट	क्षितिसार
२	”	गौशाला	सर्वतोभद्र
३	१४७	छावनी	नन्द्यावर्त
४	”	ऋतुओंके लिए महल	वैजयन्त
५	”	सभाभूमि	दिग्वसतिका
६	१४८	टहलनेकी लकडी	सुविधि
७	१४६	दिशा प्रेक्षण भवन	गिरि कूटक
८	”	नृत्यशाला	वर्धमानक
९	१५०	शीतगृह	धारागृह
१०	”	वर्षा ऋतु निवास	गृहकूटक
११	१५१	निवास भवन	पुष्करावती
१२	१५१	भण्डार गृह	कुबेरकान्त
१३	१५२	कोठार	वसुधारक
१४	”	स्नानगृह	जीमूत
१५	१५३	रत्नमाला	अवतंसिका
१६	”	चाँदनी	देवरम्या
१७	१५४	शय्या	सिंहवाहिनी
१८	१५५	चमर	अनुपमान
१९	१५६	छत्र	सूर्यप्रभ
२०	१५७	कुण्डल	विद्युत्प्रभ
२१	१५८	खडाऊँ	विष मोचिका
२२	१५९	कवच	अभेद्य
२३	१६०	रथ	अजितंजय
२४	१६१	धनुष	वज्रकाण्ड
२५	१६२	बाण	अमोघ
२६	१६३	शक्ति	वज्रतुण्डा
२७	१६४	माला	सिंघाटक
२८	१६५	छुरी	लोह वाहिनी
२९	१६६	कणप (अस्त्र विशेष)	मनोवेग
३०	१६७	तलवार	सौनन्दक
३१	१६८	खेट (अस्त्र विशेष)	भूतमुख
३२	१६९	चक्र	सुदर्शन
३३	१७०	दण्ड	चण्डवेग
३४	१७२	चिन्तामणि रत्न	चूडामणि
३५	१७३	काकिणी (दीपिका)	चिन्ताजननी
३६	१७४	सेनापति	अयोध्य
३७	१७५	पुरोहित	बुद्धिसागर
३८	१७६	गृहपति	कामवृष्टि
३९	१७७	शिलावट (स्थपति)	भद्रमुख
४०	१७८	गज	विजयगिरि (धवल वर्ण
४१	१७९	अश्व	पवनजय
४२	१८०	स्त्री	सुभद्रा
४३	१८२	भेरी	आनन्दिनी (१२ योजन शब्द) (म. पु./३७/ १८२)
४४	१८४	शख	गम्भीरावर्त
४५	१८५	कडे	वीरानन्द
४६	१८७	भोजन	महाकल्याण
४७	१८८	खाद्य पदार्थ	अमृतगर्भ
४८	१८९	स्वाद्यपदार्थ	अमृतकल्प
४९	१८९	पेय पदार्थ	अमृत

१२. दिग्विजयका स्वरूप

ति. प./४/१३०३-१३६६ का भावार्थ—आयुधशालामें चक्रकी उत्पत्ति हो जानेपर चक्रवर्ती जिनेन्द्र पूजन पूर्वक दिग्विजयके लिए प्रयाण करता है।१३०३-१३०४। पहले पूर्व दिशाकी ओर जाकर गंगाके किनारे-किनारे उपसमुद्र पर्यन्त जाता है।१३०५। रथपर चढकर १२ योजन पर्यन्त समुद्र तटपर प्रवेश करके वहाँसे अमोघ नामा बाण फेंकता है, जिसे देखकर मागध देव चक्रवर्तीकी अधीनता स्वीकार कर लेता है।१३०६-१३१४। यहाँसे जम्बूद्वीपकी वेदीके साथ-साथ उसके वैजयन्त नामा दक्षिण द्वारपर पहुँचकर पूर्वकी भाँति ही वहाँ रहनेवाले वरतनुदेवको वश करता है।१३१५-१३१६। यहाँसे वह पश्चिम दिशा की ओर जाता है और सिन्धु नदीके द्वारमें स्थित प्रभासदेवको पूर्ववत् ही वश करता है।१३१७-१३१८। तत्पश्चात् नदीके तटसे उत्तर मुख होकर विजयार्ध पर्वत तक जाता है। और पर्वतके रक्षक वैताढ्य नामा देवको वश करता है।१३१९-१३२३। तब सेनापति दण्ड रत्नसे उस पर्वतकी खण्डप्रपात नामक पश्चिम गुफाको खोलता है।१३२५-१३३०। गुफामेंसे गर्म हवा निकलनेके कारण वह पश्चिमके म्लेच्छ राजाओंको वश करनेके लिए चला जाता है। छह महीनेमें उन्हे वश करके जब वह अपने कटकमें लौट आता है तब तक उस गुफाकी वायु भी शुद्ध हो चुकती है।१३३१-१३३६। अब सर्व सैन्यको साथ लेकर वह गुफामें प्रवेश करता है, और काकिणी रत्नसे गुफाके अन्धकारको दूर करता है। और स्थपति रत्न गुफामें स्थित उन्मग्नजला नदीपर पुल बाँधता है। जिसके द्वारा सर्व सैन्य गुफासे पार हो जाती है।१३३७-१३४१। यहाँपर सेनाको ठहराकर पहले सेनापति पश्चिम खण्डके म्लेच्छ राजाओं-को जीतता है।१३४५-१३४८। तत्पश्चात् हिमवान पर्वतपर स्थित हिमवानदेवसे युद्ध करता है। देवके द्वारा अतिघोर वृष्टि की जानेपर छत्र रत्न व चर्म रत्नसे सैन्यकी रक्षा करता हुआ उस देवको भी जीत लेता है।१३४९-१३५०। अब वृषभगिरि पर्वतके निकट आता है। और दण्डरत्न द्वारा अन्य चक्रवर्तीका नाम मिटाकर वहाँ अपना नाम लिखता है।१३५१-१३५५। यहाँसे पुन' पूर्वमें गंगा नदीके तटपर आता है, जहाँ पूर्ववत् सेनापति दण्ड रत्न द्वारा तमिस्रा गुफाके द्वार-को खोलकर छह महीनेमें पूर्वखण्डके म्लेच्छ राजाओंको जीतता है। ।१३५६-१३५८। विजयार्धकी उत्तर श्रेणीके ६० विद्याधरोको जीतनेके पश्चात् पूर्ववत गुफा द्वारसे पर्वतको पार, करता है।१३५९-१३६५।

यहाँसे पूर्व खण्डके म्लेक्ष राजाओंको छह महीनेमें जीतकर पुन' कटकमें लौट आता है ।१३६६। इस प्रकार छह खण्डोको जीतकर अपनी राजधानीमें लौट आता है। (ह. पु./११/१-५६); (म.पु./२६-३६ पर्व/पृ. १-२२०), (ज॰ प॰/७/११५-१५१) ।

१३. राजधानीका स्वरूप

ति. सा./७१६-७१७ रयणकवाडवरावर सहस्सदलदार हेमपायारा । बारसहस्सा वीही तत्थ चउप्पह सहस्सेक्कं ।७१६। णयराण बहि परिदो वणाणि तिसद ससट्ठि पुरमज्झे । जिणभवणा णरवइ जणगेहा सोहंति रयणमया ।७१७। =राजधानीमें स्थित नगरोके (दे. मनुष्य/४) रत्नमयी किवाड है। उनमें बडे द्वारोकी सख्या १००० है और छोटे ५०० द्वार है। सुवर्णमयी कोट है। नगरके मध्यमें १२००० वीथी और १००० चौपथ हैं ।७१६। नगरोके बाह्य चौगिर्द ३६० बाग है। और नगरके मध्य जिनमन्दिर, राजमन्दिर व अन्य लोगोके मन्दिर रत्नमयी शोभते है ।…।७१७।

१४. हुंडावसर्पिणीमें चक्रवर्तीके उत्पत्ति कालमें कुछ अपवाद

ति. प./४/१६१६–१६१८ · सुसमदुस्समकालस्स ठिदिम्मि थोअवसेसे ।१६१६। तक्काले जायते· ·पढमचक्की य ।१६१७। चक्किस्सविजयभंगो। =हुण्डावसर्पिणी कालमें कुछ विशेषता है। वह यह कि इस कालमें चौथा काल शेष रहते ही प्रथम चक्रवर्ती उत्पन्न हो जाता है। (यद्यपि चक्रवर्तीकी विजय कभी भग नहीं होती। परन्तु इस कालमें उसकी विजय भी भग होती है।)

३. नव बलदेव निर्देश

१. पूर्व भव परिचय

क्रम	म. पु./– सर्ग/श्लो.	नाम निर्देश १. ति. प./४/५१७,१४११ २. त्रि. सा./८२७ ३. प. पु./२०/२४२ टिप्पणी ४. ह. पु./६०/२६० ५. म. पु./पूर्ववत		द्वितीय पूर्व भव १. प. पु./२०/२२६–२३५ २. म॰ पु./पूर्ववत			प्रथम पूर्व भव' (स्वर्ग) १. प. पु./२०/–२३६–२३७ २. म. पु./पूर्ववत
		सामान्य	विशेष	नाम	नगर	दीक्षा गुरु	स्वर्ग
			प. पु.				
१	५७/८६	विजय		बल (विशाखभूति)	पुण्डरीकिणी	अमृतसर	अनुत्तर विमान २ महाशुक्र
२	५८/८०–८३	अचल		मारुतवेग	पृथ्वीपुरी	महासुव्रत	"
३	५६/७१,१०६	धर्म	भद्र	नन्दिमित्र	आनन्दपुर	सुव्रत	"
४	६०/५८–६३	सुप्रभ		महाबल	नन्दपुरी	ऋषभ	सहस्रार
५	६१/७०,८७	सुदर्शन		पुरुषर्षभ	वीतशोका	प्रजापाल	"
६	६५/१७४-१७६	नन्दीषेण	नन्दिमित्र	सुदर्शन	विजयपुर	दमवर	"
७	६६/१०६-१०७	नन्दिमित्र	नन्दिषेण	वसुन्धर	सुसीमा	सुधर्म	ब्रह्म २ सौधर्म
८	६७/१४८-१४६ ६८/७३१	राम	पद्म	श्रीचन्द्र २ विजय	क्षेमा २ मलय	अर्णव	ब्रह्म २ सनत्कुमार
६		पद्म	बल	सखिसङ्ग	हस्तिनापुर	विद्रुम	महाशुक्र

२. वर्तमान भवके नगर व माता पिता

क्र.	म. पु./सर्ग/श्लो.	नगर	पिता	माता		गुरु	तीर्थ
		म. पु./पूर्ववत्		१ प. पु./२०/२३८-२३९ २. म. पु./पूर्ववत्		१. प. पु./२०/- २४६-२४७ २ म पु./पूर्ववत्	
				सामान्य	विशेष		
				म. पु.	म पु		
१	५७/८६	पोदनपुर	प्रजापति	भद्राम्भोजा	जयवती	सुवर्णकुम्भ	
२	५८/८०-८३	द्वारावती	ब्रह्म	सुभद्रा	सुभद्रा	सत्कीर्ति	
३	५९/७१,१०६	"	भद्र	सुवेषा	"	सुधर्म	
४	६०/५८-६३	"	सोमप्रभ	सुदर्शना	जयवन्ती	मृगांक	
५	६१/७०,८७	खगपुर	सिंहसेन	सुप्रभा	विजया	श्रुतिकीर्ति	
६	६५/१७४,१७६	चक्रपुर	वरसेन	विजया	वैजयन्ती	सुमित्र २. शिवघोष	१७ तीर्थंकर
७	६६/१०६-१०७	बनारस	अग्निशिख	वेजयन्ती	अपराजिता	भवनश्रुत	
८	{ ६७/१४८-१४९ { ६८/७३१	" पीछे अयोध्या	दशरथ (१६४)	अपराजिता (कौशिल्या)	सुबाला	सुव्रत	
९			वसुदेव	रोहिणी		सुसिद्धार्थ	

३. वर्तमान भव परिचय

क्र.	म. पु./- सर्ग/श्लो	शरीर			उत्सेध			आयु			निर्गमन
		ति प./४/१३७१			ति. प./४/१८१८ त्रि. सा /८२९ ह. पु /६०/३१० म पु./पूर्ववत			१. ति प /४/१४१९-१४२० २. त्रि सा /८३१ ३ म पु./पूर्ववत			ति. प /४/१४३९ त्रि. सा /८३३ प. पु /२०/२४५
		वर्ण	संस्थान	संहनन	सामान्य धनु.	प्रमाण	विशेष धनु	सामान्य	प्रमाणसं	विशेष	
								वर्ष		वर्ष	
१	५७/८९-९०	ति. प. =स्वर्ण; म. पु. =सफेद	समचतुरस्र	वज्र ऋषभ नाराच	८०			८७ लाख	३	८४ लाख	मोक्ष
२	५८/८६				७०			७७ "			"
३	५९/-				६०			६७ "			"
४	६०/६८-६९				५०	३	५५	३७ "	३	३० "	"
५	६१/७१				४५	३	४०	१७ "	३	१० "	"
६	६५/१७७-१७८				२९	३,४	२६	६७००० वर्ष	३	५६००० वर्ष	"
७	६६/१०८				२२			३७००० "	३	३२००० "	"
८	६७/१५४				१६	४	१३	१७००० "	३	१३००० "	"
९					१०.			१२००० "	२	१२०० "	ब्रह्म स्वर्ग कृष्णके तीर्थमें मोक्ष प्राप्त करेंगे।

४. बलदेवका वैभव

म पु /६८/६६७-६७४ सीताद्यष्टसहस्राणि रामस्य प्राणवल्लभा' । द्विगुणा-ष्टसहस्राणि देशास्तावन्महीभुज ।६६७। शून्यं पञ्चाष्टरन्ध्रोक्तख्याता द्रोणमुखा स्मृता । पत्तनानि सहस्राणि पञ्चविंशतिसंख्यया ।६६८। कर्वटा खत्रयद्वयेकप्रमिता', प्रार्थितार्थदा । मटम्बास्तत्प्रमाणा' स्यु' सहस्राण्यष्ट खेटका ।६६९। शून्यसप्तकवस्वब्धिमिता ग्रामा महा-फला' । अष्टाविंशमिता द्वोपा समुद्रान्तर्वर्तिन ।६७०। शून्यपञ्चक-पक्षाब्धिमितास्तुङ्गमतङ्गजा । रथवर्यास्तु तावन्तो नवकोट्यस्तुरङ्गमा. ।६७१। खसप्तकद्विवार्ध्युक्ता युद्धशौण्डा पदातय. । देवा-श्चाष्टसहस्राणि गणवद्धाभिमानका' ।६७२। हलायुधं महारत्नमपरा-जितनामकम् । अमोघाख्या' शरास्तीक्ष्ण। सज्ञया कौमुदी गदा ।६७३। रत्नावतंसिका माला रत्नान्येतानि सौरिण । तानि यक्ष-सहस्रेण रक्षितानि पृथक्-पृथक् ।६७४। =रामचन्द्र जी (बलदेव) के ८००० रानियाँ, १६००० देश, १६००० आधीन राजा, ९८५० द्रोणमुख, २५००० पत्तन, १२००० कर्वट, १२००० मटंब, ८००० खेटक,

४८ करोड गाँव, २८ द्वीप, ४२ लाख हाथी, ४२ लाख रथ, ६ करोड घोडे, ४२ करोड पदाति ८००० गणबद्ध देव थे ।६६६–६७२। रामचन्द्र जीके अपराजित नामका 'हलायुध' अमोघ नामके तीक्ष्ण 'बाण', कौमुदी नामकी 'गदा' और रत्नावतंसिका नामकी 'माला' ये चार महारत्न थे। इन सब रत्नोंकी एक-एक हजार यक्ष देव रक्षा करते थे ।६७२–६७४। (ति. प./४/१४३५), (त्रि. सा./८२५); (म. पु./५७/६०–६४)।

५. बलदेवो सम्बन्धी नियम

ति प./४/१४३६ अणिदाणगदा सव्वे बलदेवा केसवा णिदाणगदा। उड्ढंगामी सव्वे बलदेवा केसवा अधोगामी ।१४३६। = सब बलदेव निदान-से रहित होते है और सभी बलदेव ऊर्ध्वगामी अर्थात् स्वर्ग व मोक्षको जाने वाले होते है। (ध. ६/१,६–६,२४३/५००/६); (ह. पु./६०/२९३)।

शलाका पुरुष/१/२-५ बलदेवोंका परस्पर मिलान नही होता, तथा एक क्षेत्रमें एक समयमें एक ही बलदेव होता है।

४. नव नारायण निर्देश

१. पूर्व भव परिचय

क्र.	१. नाम १ ति. प /४/१४१२,५१८ २. त्रि. सा./८२५ ३. प. पु /२०/२२७ टिप्पणी ४. ह. पु./६०/२८८–२८६ ५. म पु /सर्ग/श्लो.		२. द्वितीय पूर्व भव १ प पु /२०/२०६–२१७ २ म. पु /पूर्ववत् नीचे वाले नाम प. पु. मेंसे दिये गये है। म. पु.के नामोमें कुछ अन्तर है			३. प्रथम पूर्व भव १ प पु /२०/-२१८–२२० २ म पु /पूर्ववत्
		नाम	नाम	नगर	दीक्षा गुरु	स्वर्ग
१	५७/८३–८५	त्रिपृष्ठ	विश्वनन्दी	हस्तिनापुर	सम्भूत	महाशुक्र
२	५८/८४	द्विपृष्ठ	पर्वत	अयोध्या	सुभद्र	प्राणत
३	५६/८५–८६	स्वयभू	धनमित्र	श्रावस्ती	वसुदर्शन	लान्तव
४	६०/६६,५०	पुरुषोत्तम	सागरदत्त	कौशाम्बी	श्रेयास	सहस्रार
५	६१/७१,८५	पुरुषसिंह	विकट	पोदनपुर	सुभूति	ब्रह्म (२ माहेन्द्र)
६	६५/१७४-१७६	पुरुषपडरीक	प्रियमित्र	शैलनगर	वसुभूति	माहेन्द्र (२ सौधर्म)
७	६६/१०६–१०७	दत्त (२,५ पुरुषदत्त)	मानसचेष्टित	सिंहपुर	घोषसेन	सौधर्म
८	६७/१५०	नारायण (३,५ लक्ष्मण)	पुनर्वसु	कौशाम्बी	पराम्भोधि	सनत्कुमार
९	७०/३८८	कृष्ण	गंगदेव	हस्तिनापुर	द्रुमसेन	महाशुक्र

२. वर्तमान भवके नगर व माता पिता (प. पु./२०/२२१–२२८), (म. पु./पूर्व शीर्षवत्)

क्र.	४. नगर		५ पिता		६ माता	७ पटरानी	८. तीर्थ
	प पु	म. पु.	म. पु.	प. पु.	प. पु. व म. पु.	प. पु व म. पु	
१	पोदनपुर	पोदनपुर	प्रजापति	प्रजापति	मृगावती	सुप्रभा	
२	द्वापुरी	द्वारावती	ब्रह्म	ब्रह्मभूति	माधवी (ऊषा)	रूपिणी	
३	हस्तिनापुर	"	भद्र	रौद्रनाद	पृथिवी	प्रभवा	
४	"	"	सोमप्रभ	सोम	सीता	मनोहरा	
५	चक्रपुर	खगपुर	सिंहसेन	प्रख्यात	अम्बिका	सुनेत्रा	दे. तीर्थंकर
६	कुशाग्रपुर	चक्रपुर	वरसेन	शिवाकर	लक्ष्मी	विमलसुन्दरी	
७	मिथिला	बनारस	अग्निशिख	सममूर्धाग्निनाद	कोशिनी	आनन्दवती	
८	अयोध्या	" (पीछे अयोध्या) ६७/१६४	दशरथ	दशरथ	कैकेयी	प्रभावती	
९	मथुरा	मथुरा	वसुदेव	वसुदेव	देवकी	रुक्मिणी	

३. वर्तमान शरीर परिचय

क्र.	म. पु./सर्ग/श्लो.	९ शरीर — ति. प./४/१३७१ म. पु/पूर्ववत् — वर्ण	संस्थान	संहनन	१० उत्सेध — १. ति. प./४/१४१८ २. त्रि. सा./८२९ ३. ह. पु./६०/३१०-३१२ ४. म. पु/पूर्ववत् — सामान्य	प्रमाण सं.	विशेष	११. आयु — ति. प./४/१४२१-१४२२ २. त्रि. सा/८३० ३. ह. पु/६०/५१७-५३३ म. पु./पूर्ववत्
१	५७/८९-९०	ति.प.—स्वर्णवत/म.पु.—नील व कृष्ण	ति. प.—समचतुरस्र संस्थान	ति.प.—वज्रऋषभ नाराच संहनन	८० धनुष			८४ लाख वर्ष
२	५८/८६				७० ”			७२ ” ”
३	५९/-				६० ”			६० ” ”
४	६०/६८-६९				५० ”	३	५५ धनुष	३० ” ”
५	६१/७१				४५ ”	३	४० ”	१० ” ”
६	६५/१७७-१९८				२९ ”	३,४	२६ ”	६५००० ”
								४ (५६०००) ”
७	६६/१०८				२२ ”			३२००० ”
८	६७/१५१-१५४				१६ ”	४	१२ ”	१२००० ”
९	७१/१२३				१० ”			१००० ”

४. कुमार काल आदि परिचय

क	म. पु./-सर्ग/श्लो.	१२. कुमार काल	१३. मण्डलीक काल — सामान्य	विशेष	१४. विजय काल	१५ राज्य काल — सामान्य	विशेष	१६. निर्गमन — ति.प./४/१४३८ त्रि सा/८३२	
		१ ति. प/४/१४२४-१४३३ २. ह. पु/६०/५१७-५३३				१. ति. प./४/१४२५-१४३६ २ ह. पु/६०/५१७-५३३			
				ह. पु.		वर्ष	ह पु		
१	५७/८९-९०	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष	×	१००० वर्ष	८३४९०००	८२७४०००	सप्तम नरक	म.पु./की अपेक्षा सभी सप्तम नरकमें गये।
२	५८/८६	”	”		१०० ”	७१४९९००		षष्ठ ”	
३	५९/-	१२५०० वर्ष	१२५०० वर्ष		९० ”	५९७४९१०		” ”	
४	६०/६८-६९	७०० ”	१३०० ”		८० ”	२९९७९२०		” ”	
५	६१/७१	३०० ”	१२५० ”	१२५	७० ”	९९८३८०	९९९५०५	” ”	
६	६५/१७७-१७८	२५० ”	२५० ”		६० ”	६४४४०		” ”	
७	६६/१०८	२०० ”	५० ”		५० ”	३१७००		पचम ”	
८	६७/१५१-१५४	१०० ”	३०० ”	×	४० ”	११५६०	११८६०	चतुर्थ ”	
९	७१/१२३	१६ ”	५६ ”		८ ”	९२०		तृतीय ”	

५. नारायणोंका वैभव

म पु/६८/६६६,६७१-६७७ पृथिवीसुन्दरीमुख्या' केशवस्य मनोरमा। द्विगुणि[illegible]हस्राणि देव्यः सत्योऽभवन् श्रिय. ।६६६। चक्र सुदर्शनाख्यानं कौमुदीत्युदिता गदा। असि सौनन्दकोऽमोघमुखी शक्ति शरासनम् ।६७५। शाङ्गं पञ्चमुखः पाञ्चजन्यः शङ्खो महाध्वनि'। कौस्तुभं स्वप्रभाभारभासमानं महामणि' ।६७६। रत्नान्येतानि सप्तैवं केशवस्य पृथक्-पृथक्। सदा यक्षसहस्रेण रक्षितान्यमितद्युते'।६७७। =नारायणके (लक्ष्मणके) पृथिवीसुन्दरीको आदि लेकर लक्ष्मीके समान मनोहर सोलह हजार पतिव्रता रानियाँ थीं ।६६६। इसी प्रकार सुदर्शन नामका चक्र, कौमुदी नामकी गदा, सौनन्द नामका खड्ग, अमोघमुखी शक्ति, शाङ्ग नामका धनुष, महाध्वनि करने वाला पाँच मुखका पाञ्चजन्य नामका शख और अपनी कान्तिके भारसे शोभायमान कौस्तुभ नामका महामणि ये सात रत्न अपरिमित कान्तिको धारण करने वाले नारायण (लक्ष्मण) के थे और सदा एक एक हजार यक्ष देव उनकी पृथक्-पृथक् रक्षा करते थे।६७५-६७७। (ति. प./४/१४३४); (त्रि सा/८२५); (म. पु/५७/९०-९४), (म.पु/७१/१२४-१२८)।

६. नारायण की दिग्विजय

म. पु /६८/६४३-६५५ लकाको जीतकर लक्ष्मणने कोटिशिला उठायी और वहाँ स्थित सुनन्द नामके देवको वश किया ।६४३ ६४६। तत्पश्चात् गगाके किनारे-किनारे जाकर गंगा द्वारके निकट सागरमें स्थित मागधदेवको केवल बाण फेंक कर वश किया । ६४७-६५० । तदनन्तर समुद्रके किनारे-किनारे जाकर जम्बूद्वीपके दक्षिण वैजयन्त द्वारके निकट समुद्रमें स्थित 'वरतनु देव' को वश किया । ६५१-६५२ । तदनन्तर पश्चिमकी ओर प्रयाण करते हुए सिन्धु नदीके द्वारके निकटवर्ती समुद्रमें स्थित प्रभास नामक देवको वश किया ।६५३-६५४। तत्पश्चात् सिन्धु नदीके पश्चिम तटवर्ती म्लेच्छ राजाओंको जीता।६५५। इसके पश्चात् पूर्व दिशाकी ओर चले । मार्गमें विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीके ५० विद्याधर राजाओंको वश किया । फिर गगा तटके पूर्व-वर्ती म्लेच्छ राजाओंको जीता ।६५६-६५७। इस प्रकार उसने १६००० पट बन्ध राजाओंको तथा ११० विद्याधरोंको जीतकर तीन खण्डोंका आधिपत्य प्राप्त किया । यह दिग्विजय ४२ वर्षमें पूरी हुई । ६५८ ।

म. पु /६८/७२४-७२५ का भावार्थ—वह दक्षिण दिशाके अर्धभरत क्षेत्रके समस्त तीन खण्डोके स्वामी थे ।

७. नारायण सम्बन्धी नियम

ति प /४/१४३६ अणिदाणगदा सव्वे बलदेवा केसवा णिदाणगदा। उड्ढंगामी सव्वे बलदेवा केसवा अधोगामी ।१४३६। =…सब नारायण (केशव) निदानसे सहित होते हैं और अधोगामी अर्थात् नरकमें जाने वाले होते हैं ।१४३६। (ह. पु./६०/२६३)

ध. ६/१,९-६,२४३/५०१/१ तस्स मिच्छत्ताविणाभाविणिदाणपुरगमत्तादो। =वासुदेव (नारायण) की उत्पत्तिमें उससे पूर्व मिथ्यात्वके अविनाभावी निदानका होना अवश्यभावी है । (प पु./२०/२१४)

प.पु./२०/२१४ संभवन्ति बलानुजा' ।२१४। =ये सभी नारायण बलभद्रके छोटे भाई होते हैं ।

त्रि. सा./८३३ · ·किण्हे तित्थयरे सोवि सिज्झेदि ।८३३। =(अन्तिम नारायण) कृष्ण आगे सिद्ध होंगे ।

दे. शलाका पुरुष/१ दो नारायणोका परस्परमें कभी मिलाप नही होता।

एक क्षेत्रमें एक कालमे एक ही प्रतिनारायण होता है । उनके शरीर मूँछ, दाढीसे रहित तथा स्वर्ण वर्ण व उत्कृष्ण संहनन व संस्थानसे युक्त होते हैं ।

प. प्र./टी./१४२/४२/५ पूर्वभवे कोऽपि जीवो भेदाभेदरत्नत्रयाराधनं कृत्वा विशिष्टं पुण्यबन्धं च कृत्वा पश्चादज्ञानभावेन निदानबन्धं करोति, तदनन्तरं स्वर्गं गत्वा पुनर्मनुष्यो भूत्वा त्रिखण्डाधिपतिर्वासुदेवो भवति । =अपने पूर्व भवमें कोई जीव भेदाभेद रत्नत्रयकी आराधना करके विशिष्ट पुण्यका बन्ध करता है। पश्चात् अज्ञान भावसे निदान बन्ध करता है । तदनन्तर स्वर्गमें जाकर पुन' मनुष्य होकर तीन खण्डका अधिपति वासुदेव होता है ।

५. नव प्रतिनारायण निर्देश

१. नाम व पूर्वभव परिचय

क्र	म. पु /सर्ग श्लो.	१ नाम निर्देश १ ति प./४/१४१३, ५१६ २. त्रि सा /८२८ ३. प. पु /२०/२४४-२४५ ४. ह पु./६०/२६१-२६२ ५. म पु /पूर्ववत			२. कई भव पहिले म. पु./पूर्ववत		३. वर्तमान भवके नगर प. पु./२०/२४२-२४३ म. पु /पूर्ववत	
		सामान्य	स.	विशेष	नाम	नगर	प. पु.	म. पु.
१	५७/७२ ७३ ८७-८८,६५	अश्वग्रीव			विशाखनन्दि	राजगृह	अलका	अलका
२	५८/६३,६०	तारक			विन्ध्यशक्ति	मलय	विजयपुर	भोगवर्धन
३	५९/८८,६६	मेरक	५	मधु	चण्डशासन	श्रावस्ती	नन्दनपुर	रत्नपुर
४	६०/७०,८३	मधुकैटभ	५	मधुसूदन	राजसिंह	मलय	पृथ्वीपुर	वाराणसी
५	६१/७४,८३	निशुम्भ	५	मधुक्रीड			हरिपुर	हस्तिनापुर
६	६५/१८०-१८६	बलि	५	निशुम्भ	मन्त्री		सूर्यपुर	चक्रपुर
७	६६/१०६-१११,१२५	प्रहरण	३	प्रह्लाद	नरदेव	सारसमुच्चय	सिंहपुर	मन्दरपुर
			५	बलीन्द्र				
८	६८/११-१३,७२८	रावण	३	दशानन			लंका	लंका
९		जरासंध					राजगृह	

२. वर्तमान भव परिचय

क्रम	म. पु /सर्ग श्लो.	४. तीर्थ	५ शरीर ति. प /४/१३७१			६ उत्सेध १. ति. प./४/१४१८ २. त्रि. सा /८२६ ३. ह पु /६०/३१०-३११		७. आयु १ ति. प./४/१४२२ २ त्रि. सा /८३० ३ ह. पु /६०/३२०-३२१ ४ म. पु./पूर्ववत		८. निर्गमन १ ति. प /४/१४३५ २ त्रि सा /८३२-८३३ ३ म. पु /पूर्ववत्
			वर्ण	संस्थान	संहनन	सामान्य	विशेष	सामान्य	विशेष	
						धनुष	ह पु.	वर्ष,	म पु.	नरक
१	५७/७२-७३,८७-८८	३ तीर्थंकर	ति प.—स्वर्णवर्ण, म. पु.—x	समचतुरस्र संस्थान	वज्र ऋषभ नाराच संहनन	८०		८४ लाख		सप्तम
२	५८/६३,९०					७०		७२ ,,		षष्टम
३	५९/८८,९९					६०		६० ,,		षष्ठ (३ सप्तम)
४	६०/७०,८३					५०	४०	३० ,,		षष्ठ
५	६१/७४,८३					४५	५५	१० ,,		"
६	६५/१८०,१८९					२९	२६	६५०००		"
७	६६/१०९-१११,१२५					२२		३२०००		पंचम
८	६८/११-१३,७२८					१६		१२०००	१४०००	चतुर्थ
९						१०		१०००		तृतीय

३. प्रति नारायणों सम्बन्धी नियम

ति. प /४/१४२३ एदे णवपडिसत्तु णवाव हत्थेहिं वासुदेवाण । णिय-चक्केहि रणेसु समाहदा जति णिरयखिदिं।१४२३। =ये नौ प्रति-शत्रु युद्धमें नौ वासुदेवोंके हाथोंसे निज चक्रोंके द्वारा मृत्युको प्राप्त होकर नरक भूमिमें जाते है।१४२३।

दे. शलाका पुरुष/१/४.५ दो प्रतिनारायणोंका परस्परमें मिलान नही होता। एक क्षेत्रमें एक कालमें एक ही प्रतिनारायण होता है। इनका शरीर दाढी मूँछ रहित होता है।

६. नव नारद निर्देश

१. वर्तमान नारदोंका परिचय

क्रम	१. नाम निर्देश १ ति. प./४/१४६९ २ त्रि. सा /८३४ ३ ह. पु /६०/५४८		२ उत्सेध		३. आयु १. ति. प./४/१४७१ २.ह. पु./६०/५४९		४. प्रवर्तनाकाल १ त्रि सा /८३५ २ ह पु./६०/५४३	५. निर्गमन १ ति. प./४/१४७० २ त्रि. सा./८३५ ३ ह. पु./६०/५५७	
		ह. पु.	ति. प./४ /१४७१	ह. पु /६० /५४९	१	२		सामान्य	विशेष
१	भीम		उपदेश उपलब्ध नहीं है	तात्कालिक नारायणोंके तुल्य है	उपदेश उपलब्ध नहीं है	तात्कालिक नारायणोंके तुल्य है	नारायणोंके समयमें ही होते है	नारायणोंवत् नरकगतिको प्राप्त होते है	महाभव्य होनेके कारण परम्परा मुक्त होते है।
२	महाभीम								
३	रुद्र								
४	महारुद्र								
५	काल								
६	महाकाल								
७	दुर्मुख	चतुर्मुख							
८	नरकमुख	नरवक्त्र							
९	अधोमुख	उन्मुख							

२. नारदों सम्बन्धी नियम

ति. प./४/१४७० रुद्दावइ अइरुद्दा पावणिहाणा हवंति सव्वे दे। कलह महाजुज्झपिया अधोगया वासुदेव व्व ।१४७०। =ये सब अतिरुद्र होते हुए दूसरोको रुलाया करते है और पापके निधान होते है। सभी नारद कलह एवं महायुद्ध प्रिय होनेसे वासुदेवके समान अधोगति अर्थात् नरकको प्राप्त हुए ।१४७०।

प. पु./११/११६-२६६ ब्रह्मरुचिस्तस्य कूर्मी नाम कुटुम्बिनी (११७) प्रसूता दारकं शुभं ।१४५। यौवनं च ··।१५३।· प्राप्य क्षुल्लकचारित्रं जटामुकुटमुद्वहन् ··· ।१५५। कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्य्यात्यन्तवत्सल··· ।१५६। उवाचेति मरुत्वञ्च किं प्रारब्धमिदं नृप। हिंसन्···प्राणिवर्गस्य द्वारं ·।१६१। नारदोऽपि तत' कश्चिन्मुष्टिमुद्गरताडनै ··· ।२५७। श्रुत्वा रावण' कोपमागत ।२६४। व्यमोचयन् दयायुक्ता नारदं शत्रुपञ्जरात् ।२६६। =ब्रह्मरुचि ब्राह्मणने तापसका वेश धारण करके इसको (नारदको) उत्पन्न किया था। यौवन अवस्थामें ही क्षुल्लकके व्रत लिये ।१५३। कन्दर्प व कौरकुच्य प्रेमी था ।१५६। मरुत्वान् यज्ञमें शास्त्रार्थ करनेके कारण (१६०) पीटा गया ।२५६। रावणने उस समय रक्षा की ।२६६। (ह पु./४२/१४-२३) (म. पु./६७/३५६-४५५) ।

त्रि. सा./८३५ कलहप्पिया कदाइधम्मरदा वासुदेव समकाला। भव्वा णिरयगदिं ते हिंसादोसेण गच्छंति ।८३५। =ये नारद कलह प्रिय है, परन्तु कदाचित् धर्ममें भी रत होते है। वासुदेवों (नारायणो) के समय में ही होते है। यद्यपि भव्य होनेके कारण परम्परासे मुक्तिको प्राप्त करते है, परन्तु हिंसादोषके कारण नरक गतिको जाते है ।८३५। (ह. पु./६०/५४६-५५०) ।

७. एकादश रुद्र निर्देश

१. नाम व शरीरादि परिचय

क्रम	१. नाम निर्देश		२. तीर्थ	३. उत्सेध	४. आयु
	१ ति. प./४/१४३९-१४४१, ५२०-५२१ २ त्रि. सा./८३६ ३ ह. पु /६०/५३४-५३६			१ ति. प /४/-१४४४-१४४५ २ त्रि. सा /८३८ ३ ह. पु /६०/-५३५-५३८	१ ति. प./४/-१४४६-१४४७ २ त्रि. सा /८३९ ३ ह. पु./६०/५३९-५४५
		त्रि. सा.			
१	भीमावलि		३. तीर्थंकर	५०० धनुष	८३ ला० पूर्व
२	जितशत्रु			४५० "	७१ " "
३	रुद्र			१०० "	२ " "
४	वैश्वानर	विशाल नयन		९० "	१ " "
५	सुप्रतिष्ठ			८० "	८४ " वर्ष
६	अचल	बल		७० "	६० " "
७	पुण्डरीक			६० "	५० " "
८	अजितंधर			५० "	४० " "
९	अजितनाभि	जितनाभि		२८ "	२० " "
१०	पीठ			२४ "	१० " " (२-१" " ")
११	सात्यकि पुत्र			७ हाथ	६९ वर्ष

२. कुमार काल आदि परिचय

क्रम	५. कुमार काल	६. संयमकाल	७. तप भगकाल	८ निर्गमन
	१ ति प./४/१४४६-१४६७ २ ह. पु./६०/५३९-५४५			१ ति. प./४/१४६८ २ त्रि. सा./८४० ३ ह. पु /६०/-५४६-५४७
१	२७९९९९९ पूर्व	२७९९९९८ पूर्व	२७९९९९९ पूर्व	सप्तम नरक
२	२३९९९९९ "	२३९९९९८ "	२३९९९९९ "	" "
३	९९९९९ "	९९९९८ "	९९९९९ "	षष्ठ "
४	३३३३३ "	३३३३४ "	३३३३३ "	" "
५	२८ लाख वर्ष	२८ लाखवर्ष	२८ लाख वर्ष	" "
६	२० " "	२० " "	२० " "	" "
७	१९९९९९९ वर्ष (ह. पु. १९९९९-९८ वर्ष)	१९९९९९८ वर्ष (ह. पु. १९९९-९९९ वर्ष	१९९९९९९ वर्ष	" "
८	१३३३३३३ वर्ष	१३३३३३४ वर्ष	१३३३३३३ वर्ष	पंचम "
९	९९९९९९ " (ह. पु. ९९९९-९८ वर्ष)	९९९९९८ " (ह. पु /९९९९-९९ वर्ष)	९९९९९९ "	चतुर्थ "
१०	३३३३३३ वर्ष	३३३३३४ वर्ष	३३३३३३ वर्ष	" "
११	७ वर्ष	३४ वर्ष (ह.पु. २८ वर्ष)	२८ वर्ष (ह. पु./३४ वर्ष)	तृतीय "

३. रुद्रों सम्बन्धी कुछ नियम

ति. प./४/१४४०, १४४२ पीढो सच्चइपुत्तो अंगधरा तित्थकत्ति-समएसु।·· ।१४४०। सव्वे दसमे पुव्वे रुद्दा भट्टा तवाउ विसयत्थं। सम्मत्तरयणरहिदा बुड्डा घोरेसु णिरएसु ।१४४२। =ये ग्यारह रुद्र अगधर होते हुए तीर्थंकर्ताओके समयोंमें हुए है ।१४४०। सब रुद्र दशमें पूर्वका अध्ययन करते समय विषयो के निमित्त तपसे भ्रष्ट होकर सम्यक्त्व रूपी रत्नसे रहित होते हुए घोर नरकमें डूब गए ।१४४२।

ह. पु./६०/५४७ ··। भूर्यसंयमभाराणां रुद्राणां जन्मभूमय.। =उन रुद्रोके जीवनमे असयमका भार अधिक होता है, इसलिए नरकगामी होना पडता है।

त्रि सा./८४१ विज्जाणुवादपढणे दिट्ठफला णट्ठ सजमा भव्वा। कदिचि भवे सिज्झति हु गहिदुज्झिय सम्ममहियादो ।८४१। =ते रुद्र विद्यानुवाद नामा पूर्वका पठन होते इह लोक सम्बन्धी फलके भोक्ता भए। बहुरि नष्ट भया है, अङ्गीकार किया हुआ सजम जिनका ऐसे है। बहुरि भव्य है, ते ग्रहण करके छोडा जो सम्यक्त्व ताके माहात्म्यसे केतेइक पर्याय भये सिद्ध पद पावेगे।

८. चौबीस कामदेव निर्देश

१. चौबीस कामदेवोंका निर्देश मात्र

ति. प /४/१४७२ कालेसु जिणवराणं चउवीसाणं हवंति चउवीसा। ते बाहुबलिप्पमुहा कदप्पा णिरुवमायारा ।१४७२। =चौबीस तीर्थंकरोके समयोमे अनुपम आकृतिके धारक वे बाहुबलि प्रमुख २४ कामदेव होते है।

९. सोलह कुलकर निर्देश

१. वर्तमानकालिक कुलकरोंका परिचय

क्रम	म. पु./३/श्लो. २२६-२३२	१. नाम निर्देश		२. पिता	३. संस्थान	४. संहनन	५. वर्ण		६. उत्सेध		७ जन्मान्तराल		८. आयु				९. पटरानी	
		१. ति.प /४/गाथा २. त्रि सा./७९२-७९३ ३. प.पु./३/७५-८८ ४. ह.पु./७/१२५-१७० ५. म.पु /पूर्ववत		ह.पु /७/१२५-१७०	ह. पु./७/१७३	ह. पु /७/१७३	१. ति.प /४/गा. २. त्रि.सा /७९८ ३. ह.पु /७/१७४-१७५		१. ति प /४/गा. २. त्रि सा /७९५ ३ ह.पु /६०/१७१-१७२ ४. म पु /पूर्ववत्		१. ति.प./४/गा. २ त्रि सा./७९७		१. ति.प./४/गा. २. त्रि सा /७९६ ३. म.पु./पूर्ववत ४. ति प./४/५०२-५०३ ५. ह.पु /७/१४८-१७०				१. ति प./४/गा.	
		ति. प.					ति. प.		ति. प		ति. प.		ति प	दृष्टि स० १	प्रमाण सं०	दृष्टि सं० २	ति. प.	
१	६३-७२	४२१	प्रतिश्रुति	अगला अगला कुलकर अपने से पूर्व पूर्व का पुत्र है।	सभी सम चतुरस्र संस्थानसे युक्त थे।	सभी वज्र ऋषभ नाराच संहननसे युक्त थे।		×	४२२	१८०० ध०	४२१	तृ० कालमें १/८ पल्य, शेष में	४२२	१/१० पल्य	३-५	१/१० पल्य	४२२	स्वयंप्रभा
२	७६-८८	४३०	सन्मति				४३०	स्वर्ण	४३१	१३०० ,,	४३०	१/८० पल्य	४३१	१/१०० ,,	,,	अमम	४३१	यशस्वती
३	९०-१०१	४३९	क्षेमकर				४४०	,,	४४०	८०० ,,	४३९	१/८०० ,,	४४०	१/१००० ,,	,,	अटट	४४०	सुनन्दा
४	१०२-१०६	४४४	क्षेमंधर				४४६	,,	४४५	७७५ ,,	४४४	१/८००० ,,	४४५	१/१०,००० ,,	,,	त्रुटित	४४६	विमला
५	१०७-१११	४४८	सीमंकर				४४९	,,	४४९	७५० ,,	४४८	१/८०,००० ,,	४४९	१/१ लाख ,,	,,	कमल	४५०	मनोहरी
६	११२-११५	४५३	सीमधर					×	४५४	७२५ ,,	४५३	१/८ लाख ,,	४५४	१/१० ,, ,,	,,	नलिन	४५४	यशोधरा
७	११६-११९	४५७	विमलवाहन[1]				४५८	स्वर्ण	४५८	७०० ,,	४५७	१/८० ,, ,,	४५८	१/१ करोड़ ,,	,,	पद्म	४५८	सुमति
८	१२०-१२४	४६०	चक्षुष्मान्					×*	४६१	६७५ ,,	४६०	१/८ करोड ,,	४६१	१/१०करोड ,,	,,	पद्मांग	४६२	धारिणी
९	१२५-१२८	४६५	यशस्वी				४६६	स्वर्ण*	४६६	६५० ,,	४६५	१/८० ,, ,,	४६६	१/१०० ,, ,,	,,	कुमुद	४६७	कान्त माला
१०	१२९-१३३	४६९	अभिचन्द्र				४७१	,,	४७०	६२५ ,,	४६९	१/८०० ,, ,,	४७०	१/१००० ,, ,,	,,	कुमुदांग	४७१	श्रीमती
११	१३४-१३८	४७५	चन्द्राभ				४७६	,, *	४७६	६०० ,,	४७५	१/८००० ,, ,,	४७६	१/१०,००० क ,,	,,	नयुत	४७७	प्रभावती
१२	१३९-१४५	४८२	मरुद्देव				४८४	,,	४८३	५७५ ,,	४८२	१/८०००० ,, ,,	४८३	१/१ ला. क ,,	,,	नयुतांग	४८४	सत्या
१३	१४६-१५१	४८९	प्रसेनजित्				४९०	,, *	४९०	५५० ,,	४८९	१/८ ला. ,, ,,	४९०	१/१० ,, ,, ,,	,,	पर्व	४९१	अमितमति
१४	१५२-१६३	४९४	नाभिराय				४९५	,,	४९५	५२५ ,,	४९४	१/८० ,, ,, ,,	४९५	१/१०० ,, ,, ,,	,,	१ करोड़पूर्व	४९५	मरुदेवी
												१/८ पल्य		किंचिदून १ पल्य				
१५	२३२		ऋषभ[2]					←	—	देखो तीर्थंकर		—	→					
१६	,,		भरत[2]					←	—	देखो चक्रवर्ती		—	→					

नोट—१. पद्म पुराण में विमलवाहन नाम नहीं दिया है और यशस्वीसे आगे 'विपुल' नाम देकर कमी पूरी कर दी है।

२. म. पु. की अपेक्षा ऋषभ व भरतकी गणना भी कुलकरोंमें करके उनका प्रमाण १६ दर्शाया गया है।

* त्रि सा. की अपेक्षा नं. ८ व ९ का वर्ण श्याम तथा सं ११ व १३ का धवल है। ह पु. की अपेक्षा ८, ९, १३ का श्याम तथा सं. ११ का धवल है।

क्र०	ति. प./४/गा.	म. पु./३/श्लो.	१०. नाम	११. दण्ड विधान	१२. तात्कालिक परिस्थिति	१३. उपदेश
			प्रमाण देखो पीछे	१. ति.प./४/४५२-४७४ २. त्रि. सा./४६८ ३ ह पु /७/१४१-१७६ ४. म पु /पूर्ववत्	१. ति. प./पूर्ववत् २ त्रि. सा./७९९-८०२ ३. प. पु./३/७५-८८ ४. ह. पु./७/१२५-१७० ५ म पु./पूर्ववत्	१. ति. प./पूर्ववत् २. त्रि. सा /७९९-८०२ ३. प. पु /३/७५-८८ ४. ह. पु /७/१२५-१७० ५. म. पु./पूर्ववत्
१	४२३-४२८	६३-७५	प्रतिश्रुति	ति.प./४५२ हा.	चन्द्र सूर्यके दर्शनसे प्रजा भयभीत थी	तेजाग जातिके कल्पवृक्षोंकी कमीके कारण अब दीखने लगे हैं। यह पहले भी थे पर दीखते न थे। इस प्रकार उनका परिचय देकर भय दूर करना।
२	४३२-४३८	७६-८९	सन्मति	,,	तेजांग जातिके कल्प वृक्षोंका लोप। अन्धकार व तारागणका दर्शन।	अन्धकार व ताराओंका परिचय देकर भय दूर करना।
३	४४१-४४३	९०-१०१	क्षेमकर	,,	व्याघ्रादि जन्तुओंमें क्रूरताके दर्शन।	क्रूर जन्तुओंसे बचकर रहना तथा गाय आदि जन्तुओंको पालनेकी शिक्षा।
४	४४६-४४७	१०२-१०६	क्षेमन्धर	,,	व्याघ्रादि द्वारा मनुष्योंका भक्षण।	अपनी रक्षार्थ दण्ड आदिका प्रयोग करनेकी शिक्षा।
५	४५१-४५३	१०७-१११	सीमंकर	,,	कल्प वृक्षोंकी कमीके कारण उनके स्वामित्व पर परस्परमें झगडा।	कल्प वृक्षोंकी सीमाओंका विभाजन।
६	४५५-४५६	११२-११५	सीमधर	ति.प /४७४ हा, मा,	वृक्षोंकी अत्यन्त हानिके कारण कलहमें वृद्धि।	वृक्षोंको चिह्नित करके उनके स्वामित्वका विभाजन।
७	४५९	११६-११९	विमलवाहन	,,	गमनागमनमें बाधाका अनुभव।	अश्वारोहण व गजारोहणकी शिक्षा तथा वाहनोंका प्रयोग।
८	४६२-४६३	१२०-१२४	चक्षुष्मान्	,,	अबसे पहले अपनी सन्तानका मुख देखनेसे पहले ही माता-पिता मर जाते थे। पर अब सन्तानका मुख देखनेके पश्चात् मरने लगे।	सन्तानका परिचय दे कर भय दूर करना।
९	४६७-४६८	१२५-१२८	यशस्वी	,,	बालकोका नाम रखने तक जीने लगे।	बालकोंका नामकरण करनेकी शिक्षा
१०	४७२-४७३	१२९-१३३	अभिचन्द्र	,,	बालकोका बोलना व खेलना देखने तक जीने लगे।	बालकोंको बोलना व खेलना सिखानेकी शिक्षा।
११	४७८-४८१	१३४-१३८	चन्द्राभ	त्रि. सा. हा, मा, धिक्	पुत्र-कलत्रके साथ लम्बे काल तक जीवित रहने लगे। शीत वायु चलने लगी।	सूर्यकी किरणोंसे शीत निवारणकी शिक्षा।
१२	४८४-४८६	१३९-१४५	मरुद्देव	,,	मेघ, वर्षा, बिजली, नदी व पर्वत आदिके दर्शन।	नौका व छातोंकी प्रयोग विधि तथा पर्वतपर सीढियाँ बनानेकी शिक्षा।
१३	४९१	१४६-१५१	प्रसेनजित्	,,	बालकोंके साथ जरायुकी उत्पत्ति।	जरायु दूर करनेके उपायकी शिक्षा।
१४	४९६-५००	१५२-१६३	नाभिराय	,,	१. नाभिनाल अत्यन्त लम्बा होने लगा। २. कल्पद्रुमोका अत्यन्त अभाव। औषधि, धान्य व फलों आदिकी उत्पत्ति।	१. नाभिनाल काटनेके उपायकी शिक्षा। २. औषधियों व धान्य आदिकी पहचान व विवेक कराया तथा उनका व दूध आदिका प्रयोग करनेकी शिक्षा दी।
१५			ऋषभदेव	,,	स्व जात धान्यादिमें हानि।	कृषि आदि षट् विद्याओंकी शिक्षा
१६			भरत		मनुष्योंमें अविवेककी उत्पत्ति।	वर्ण व्यवस्थाकी स्थापना।

हा = हाय, मा = मतकर; धिक् = धिक्कार

२. कुलकरके अपर नाम व उनका सार्थक्य

ति. प./४/५०७-५०९ णियजोग्गसुद पढिदा खीणे आउम्हि ओहिणाण जुदा। उप्पज्जिदूण भोगे केई णरा ओहिणाणेण।५०७। जादिभरणेण केई भोगमणुस्साण जीवणोवायं। भासति जेण तेण मणुणो भणिदा मुणिदेहिं।५०८। कुलधारणादु सव्वे कुलधरणामेण भुवणविक्खादा। कुलकरणम्मि य कुसला कुलकरणामेण सुपसिद्धा।५०९। =अपने योग्य श्रुतको पढकर इन राजकुमारोंमेंसे कितने ही आयुके क्षीण होनेपर अवधिज्ञानके साथ भोगभूमिमें मनुष्य उत्पन्न होकर अवधिज्ञानसे और कितने ही जाति स्मरणसे भोगभूमिज मनुष्योंको जीवनके उपाय बतलाते हैं, इसलिए मुनीन्द्रोंके द्वारा ये मनु कहे गये है।५०७-५०८। ये सब कुलोको धारण करनेसे कुलधर और कुलोंके करनेमें कुशल होनेसे 'कुलकर' नामसे भी लोकमें प्रसिद्ध है।५०९। (म. पु./३/२१०-२११)।

३. पूर्वभव सम्बन्धी नियम

ति प./४/५०४ एदे चउदस मणुआ पदिसुदिपहुदी हु णाहिरायंता। पुव्व भवम्मि विदेहे राजकुमारा महाकुले जादा।५०४। =प्रतिश्रुतिको आदि लेकर नाभिराय पर्यन्त ये चौदह मनु पूर्वभवमें विदेह क्षेत्रके भीतर महाकुलमें राजकुमार थे।५०४।

४. पूर्वभवमें संयम तप आदि सम्बन्धी नियम

ति. प./४/५०५-५०६ कुसला दाणादीसुं सजमतवणाणवंतपत्ताण। णियजोग्ग अणुट्ठाणा मद्दवअज्जवगुणेहिं संजुत्ता।५०५। मिच्छत्तभावणाए भोगाउं बंधिऊण ते सव्वे। पच्छा खाइयसम्मं गेण्हंति जिणिंदचलणमूलम्हि।५०६। =वे सब संयम तप और ज्ञानसे युक्त पात्रोंके लिए दानादिकके देनेमें कुशल, अपने योग्य अनुष्ठानसे युक्त, और मार्दव, आर्जव गुणोंसे सहित होते हुए पूर्वमें मिथ्यात्व भावनासे भोगभूमिकी आयुको बाँधकर पश्चात् जिनेन्द्र भगवान्के चरणोंके समीप क्षायिक सम्यक्त्वको ग्रहण करते हैं।५०५-५०६। (त्रि सा./७९४)।

५. उत्पत्ति व संख्या आदि सम्बन्धी नियम

ति प./४/१५६६ वाससहस्से सेसे उप्पत्ती कुलकराण भरहम्मि। अथ चोद्दसाण ताण कमेण णामाणि वोच्छामि। —इस कालमें (पंचमकाल प्रारम्भ होनेमें) १००० वर्षोंके शेष रहनेपर भरत क्षेत्रमें १४ कुलकरोंकी उत्पत्ति होने लगती है। (कुछ कम एक पल्यके ८वें भाग मात्र तृतीयकालके शेष रहनेपर प्रथम कुलकर उत्पन्न हुआ।—दे० शलाका पुरुष/९।१)।

म पु./३/२३२ तस्मान्नाभिराजश्चतुर्दशः। वृषभो भरतेशश्च तीर्थचक्रभृतौ मनू।२३२। —चौदहवें कुलकर नाभिराय थे। इनके सिवाय भगवान् ऋषभदेव तीर्थंकर भी थे और मनु भी, तथा भरत चक्रवर्ती भी थे और मनु भी थे।

त्रि, सा./७९४.. खइयसंदिट्ठी। इह खत्तियकुलजादा केइज्जाइब्भरा ओही।७९४। =क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव कुलकर उपजते है। और भी क्षत्रिय कुलमें जन्मते है। (यहाँ क्षत्रिय कुलका भावीमें वर्तमान का उपचार किया है।)। ते कुलकर केइ तौ जाति स्मरण संयुक्त है, और कोई अवधिज्ञान संयुक्त है।

१०. भावि शलाका पुरुष निर्देश

१. कुलकर चक्रवर्ती व बलदेव

क्रम	१. कुलकर			२, चक्रवर्ती	३ बलदेव		
	१. ति. प./४/१५७०-१५७१ २. ह. पु./६०/५५५-५५७ ३. म. पु./७६/४६३-४६६			१ ति. प./४/१५७७-१५८८ २. त्रि सा./८७७-८७८ ३. ह. पु./६०/५६३-५६५ ४. म. पु./७६/४८२-४८४	१. ति. प./४/१५८९-१५९० २ त्रि. सा./८७८-८७९ ३. ह. पु./६०/५६८-५६९ ४ म पु./७६/४८५-४८६		
	सामान्य	प्रमाण स०	विशेष		सामान्य	प्रमाण सं.	विशेष
१	कनक			भरत	चन्द्र		
२	कनकप्रभ			दीर्घदन्त	महाचन्द्र		
३	कनकराज			मुक्तदन्त (३ जन्मदत्त)	चन्द्रधर	४	चक्रधर
४	कनकध्वज			गूढदन्त	वरचन्द्र	२,३,४	हरिचन्द्र ×
५	कनकपुंख	२,३	कनकपंगव	श्रीषेण	सिंहचन्द्र		
६	नलिन			श्रीभूति	हरिचन्द्र	२,४	वरचन्द्र
७	,, प्रभ			श्रीकान्त	श्रीचन्द्र	२,४	पूर्णचन्द्र
८	,, राज			पद्म	पूर्णचन्द्र	२	शुभचन्द्र
९	,, ध्वज			महापद्म	सुचन्द्र	२,४	श्रीचन्द्र
१०	,, पुंख	२,३	नलिन पगव	चित्रवाहन		३	बालचन्द्र
११		३	पद्म	विमल वाहन (४ विचित्रवाहन)			
१२	पद्मप्रभ			अरिष्टसेन			
१३	पद्मराज						
१४	पद्मध्वज						
१५	पद्मपुंख	२ ३	पद्मपुंगव				
१६		३	महापद्म				

नोट—त्रि, सा. व. ह. पु में नामोंके क्रममें अन्तर है। ह. पु. में ५ वाँ वरचन्द्र नाम नहीं दिया है। अन्तमें बालचन्द्र नाम देकर कमी पूरी कर दी है।

२. नारायणादि परिचय

क्रम	नारायण			प्रति नारायण	रुद्र
	१ ति प./४/१५६०-१५६१ २ त्रि. सा /८७६ ८८० ३ ह. पु /६०/५६६-५६७ ४ म. पु /७६/४८७-४८८			ति प /४/१५६२ २ त्रि सा./८८० ३ ह. पु /६०/- ५६६-५७०	ह. पु /६०/- ५७१-५७२
	सामान्य	प्रमाणस	विशेष		
१	नन्दी			श्रीकण्ठ	प्रमद
२	नन्दिमित्र			हरिकण्ठ	समद
३	नन्दिषेण	३	नन्दिन	नीलकण्ठ	हर्ष
४	नन्दिभूति	३	नन्दि भूतिक	अश्वकण्ठ	प्रकाम
५	बल	२	अचल	सुकण्ठ	कामद
६	महाबल			शिखिकण्ठ	भव
७	अतिबल			अश्वग्रीव	हर
८	त्रिपृष्ठ			हयग्रीव	मनोभव
९	द्विपृष्ठ			मयूरग्रीव	मार
					काम
	नोट—ह. पु. में इसके क्रममें कुछ अन्तर है।				अङ्गज

शलाका निष्ठापन—Log filling (ज. प्र /प्र. १०८)।

शल्य—१. शल्य सामान्यका लक्षण

स. सि./७/१८/३५६/६ शृणाति हिनस्तोति शल्यम्। शरीरानुप्रवेशि काण्डादि प्रहरण शल्यमिव शल्य यथा तत् प्राणिनो बाधाकर तथा शारीरमानसबाधाहेतुत्वात्कर्मोदयविकार' शल्यमित्युपचर्यते। —'शृणाति हिनस्ति इति शल्यम्' यह शल्य शब्द की व्युत्पत्ति है। शल्यका अर्थ है पीडा देनेवाली वस्तु। जब शरीरमें काँटा आदि चुभ जाता है तो वह शल्य कहलाता है। यहाँ उसके समान जो पीडाकर भाव वह शल्य शब्दसे लिया गया है। जिस प्रकार काँटा आदि शल्य प्राणियोंको बाधाकर होती है उसी प्रकार शरीर और मन सम्बन्धी बाधाका कारण होनेसे कर्मोदय जनित विकारमें भी शल्यका उपचार कर लेते है। अर्थात उसे भी शल्य कहते हैं। (रा वा /७/१८/१-२/५४५/२६)।

२. शल्य के भेद

भ आ /मू /५३८-५३६/७५४-७५५ मिच्छादसणसल्लं मायासल्ल णिदाणसल्ल च। अहवा सल्लं दुविह दव्वे भावे य बोधव्व ।५३८। तिविहं तु भावसल्लं दसणणाणे चरित्तजोगे य। सच्चित्ते य मिस्सगे वा वि दव्वम्मि ।५३६। —१. मिथ्यादर्शनशल्य, मायाशल्य और निदानशल्य ऐसे शल्यके तीन दोष हैं। (भ. आ./मू /१२१४/१२१३), (स सि /७/१८/३५६/८), (रा. वा /७/१८/३/५४५/३३), (भ आ./वि /-२५/८८/२४), (द्र. स/टी /४२/१८३/१०)। २. अथवा द्रव्य शल्य और भावशल्य ऐसे शल्यके दो भेद जानने चाहिए ।५३८। (भ. आ /वि /२५/८८/२४)। ३ भाव शल्यके तीन भेद है—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और योग। द्रव्य शल्यके तीन भेद है—सचित्तशल्य अचितशल्य और मिश्रशल्य ।५३६।

३. शल्यके भेदोंके लक्षण

भ आ /वि /२५/८८/२४ मिथ्यादर्शनमायानिदानशल्यानां कारणं कर्म द्रव्यशल्य। =मिथ्यादर्शन, माया, निदान ऐसे तीन शल्योंकी जिनसे उत्पत्ति होती है ऐसे कारणभूत कर्मको द्रव्यशल्य कहते है। इनके उदयसे जीवके माया, मिथ्या व निदान रूप परिणाम होते है वे भावशल्य हैं।

भ. आ /वि./५३६/७५५/१३ दर्शनस्य शल्यं शङ्कादि। ज्ञानस्य शल्यं अकाले पठन अविनयादिक च। चारित्रस्य शल्यं समिति—गुप्त्योरनादर। योगस्य असंयमपरिणमन। तपसश्चारित्रे अन्तर्भाव विवक्षया तिविहमित्युक्तम्। · सचित्त द्रव्यशल्य दासादि। अचित्त द्रव्यशल्य सुवर्णादि। ·विमिश्र द्रव्यशल्य ग्रामादि। =शंका कांक्षा आदि सम्यग्दर्शनके शल्य है। अकालमें पढना और अविनयादिक करना ज्ञानके शल्य है। समिति और गुप्तियोंमें अनादर रहना चारित्रशल्य है। असयममें प्रवृत्ति होना योगशल्य है। तपश्चरणका चारित्रमें अन्तर्भाव होनेसे भावशल्यके तीन भेद कहे है। दासादिक सचित्त द्रव्य शल्य है, सुवर्ण वगैरह पदार्थ अचित शल्य है और ग्रामादिक मिश्र शल्य है।

द्र स /टी /४२/१८३/१० बहिरङ्गबकवेषेण यल्लोकरञ्जना करोति तन्मायाशल्य भण्यते। निजनिरञ्जननिर्दोषपरमात्मैवोपादेय इति रुचिरूपसम्यक्त्वाद्विलक्षणं मिथ्याशल्य भण्यते। ·· दृष्टश्रुतानुभूत भोगेषु यन्नियतम् निरन्तरम् चित्तम् ददाति तन्निदानशल्यमभिधीयते। =यह जीव बाहरमें बगुले जैसे वेषको धारणकर, लोकको प्रसन्न करता है, वह माया शल्य कहलाती है। अपना निरजन दोष रहित परमात्मा ही उपादेय है' ऐसी रुचि रूप सम्यक्त्वसे विलक्षण मिथ्याशल्य कहलाती है। देखे, सुने और अनुभवमें आये हुए भोगोंमें जो निरन्तर चित्तको देता है, वह निदान-शल्य है। और भी—दे० वह वह नाम।

४. बाहुबलिजीको भी शल्य थी

भा पा /मू /४४ देहादिचत्त संगो माणकसाएण कलुसिओ धीर। अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तिय कालं ।४४। =बाहुबलीजीने देहादिक से समस्त परिग्रह छोड दिया और निर्ग्रन्थ पद धारण किया। तो भी मान कषाय रूप परिणामके कारण कितने काल आतापन योग रहनेपर भी सिद्धि नही पायी ।४४।

आ अनु /२१७ चक्र विहाय निजदक्षिणबाहुसस्थं यत्प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुञ्चेत्। क्लेश तमाप किल बाहुबली चिराय मानो मनागपि हतिं महती करोति ।२१७। =अपनी दाहिनी भुजापर स्थित चक्रको छोडकर जिस समय बाहुबलीने दीक्षा धारण की थी उस समय उन्हें तपके द्वारा मुक्त हो जाना चाहिए था। परन्तु वे चिरकाल उस क्लेशको प्राप्त हुए। सो ठीक है थोड़ा सा भी मान बडी भारी हानि करता है।

म पु./१६/६ सुनन्दाया महाबाहु अहमिन्द्रो दिवोऽग्रत.। च्युत्वा बाहुबलीत्यासीत कुमारोऽमरसंनिभ ।६।

म. पु /३६/श्लोक—श्रुतज्ञानेन विश्वाङ्गपूर्ववित्त्वादिविस्तर ।१४६। परमावधिमुल्लङ्घ्यस सर्वावधिमासदत्। मन पर्ययबोधे च सप्राप्तद्विपुला मतिम् ।१४७। संक्लिष्टोभरताधीश सोऽस्मत इति यत्किल। हृद्यस्य हार्दं तेनासीत तत्पूजाऽपेक्षि केवलम् ।१८६। =आनन्द पुरोहितका जीव जो पहले महाबाहु था सर्वार्थसिद्धिसे च्युत होकर सुनन्दाके बाहुबली हुआ ।६। (अत नियमसे सम्यग्दृष्टि थे) बाहुबलीकी दीक्षाके पश्चात् श्रुतज्ञान बढनेसे समस्त अगों तथा पूर्वोंको जाननेकी शक्ति बढ गयी थी ।१४६। वे अवधिज्ञानमें परमावधिको उल्लंघन कर सर्वावधिको प्राप्त हुए थे तथा मन'पर्यय ज्ञानमें विपुलमति मन पर्यय ज्ञानको प्राप्त हुए थे ।१४७। (अत' सम्यग्दर्शनमें कभी

बताना युक्त नहीं)। वह भरतेश्वर मुझसे संक्लेशको प्राप्त हुआ यह विचार बाहुबलीके हृदयमें विद्यमान रहता था, इसलिए केवलज्ञानने भरतकी पूजाकी अपेक्षा की थी।१८६।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. सशल्य मरण —दे० मरण/१।

२. व्रती सशल्य नहीं होता। —दे० व्रती।

शल्य—पा पु/सर्ग/श्लोक—यह एक विद्याधर था। कौरवोंकी तरफसे पाण्डवोंके साथ लडाई की (१६/११६) उस युद्ध मे युधिष्ठिरके हाथों मारा गया (२०/२३६)।

शशिप्रभ—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर।—दे. विद्याधर।

शान्तनु—१. कुरुवंशकी वंशावली स० १ के अनुसार शान्तिषेणका पुत्र तथा धृत व्यासका पिता था। महाभारत कालसे बहुत पहले हुआ था। —दे. इतिहास/७/५। २ कुरुवंशकी वंशावली स० २ के अनुसार पराशरका पिता था, तथा महाभारतके समय हुआ।—दे. इतिहास /७/५। ३ यादव वंशकी वंशावलीके अनुसार मथुराके राजा वीरका पुत्र तथा महासेनादि छ पुत्रोंका पिता था। —दे. इतिहास/७/१०।

शांतनु—यादव वंशकी वंशावलीके अनुसार कृष्णके भाई बलदेवका १४ वाँ पुत्र—दे इतिहास१०/१०।

शांतभद्र—ई. स ७०० में न्याय बिन्दुके टीकाकार एक बौद्ध मतानुयायी था। (सि वि/३३ पं महेन्द्र)।

शांतरक्षि—एक बौद्ध मतानुयायी था। ई. स ७४३ में तिब्बतकी यात्रा की थी। कृति—तत्त्वसंग्रह, वादन्यायकी टीका। समय—ई. ७०५-७६२ (सि. वि/३५ प. महेन्द्र)।

शांति—दे सामायिक/१/१।

शांति कीर्ति—१. नन्दिसंघ बलात्कारगण, मेघचन्द्र के शिष्य मेरुकीर्ति के गुरु। समय—शक, ३२७-६४२ (ई ७०५-७२०)। दे. इतिहास/७/२। २ शान्तिनाथ पुराण के रचयिता एक कन्नड़ कवि। समय—ई. १५१६। (ती/४/३११)।

शांति चक्र पूजा—दे. पूजापाठ।

शांति चक्र यंत्रोद्धार—दे. यंत्र।

शांतिनाथ—(म पु/सर्ग/श्लोक—पूर्व भव स ११ मे मगधदेशका राजा श्रीषेण था (६२/३४०) १० वे मे भोगभूमिमे आर्य हुआ (६२/३५७) ९ वें में सौधर्म स्वर्गमें श्रीप्रभ नामक देव (६२/३७५) ८ वें में अर्ककीर्तिका पुत्र अमिततेज (६२/१५२) ७ वें में तेरहवें स्वर्गमें रविचूल नामक देव हुआ (६२/४१०) छठेमें राजपुत्र अपराजित हुआ। (६२/४१२ ४१३) पाँचवेंमें अच्युतेन्द्र (६३/२६-२७) चौथेमें पूर्व विदेहमें वज्रायुध नामक राजपुत्र (६३/३७-३९)तीसरेमें अधो ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र (६३/१४०-१४१) दूसरेमें राजपुत्र मेघरथ (६३/१४२-१४३) पूर्वभवमें सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र था। वर्तमान भवमें १६वे तीर्थ कर हुए है। (६३/५०४) युगपत सर्वभव (६३/५०४) वर्तमान भव सम्बन्धी विशेष परिचय—दे० तीर्थंकर/५।

शांतिनाथ पुराण—१ कवि असग द्वारा (ई ९८८) द्वारा रचित हिन्दी महाकाव्य। (ती/४/१३)। २ आ. श्रीधर (ई. ११३२) कृत अपभ्रंश काव्य। (ती./३/१८८) ३ सकलकीर्ति (ई. १४०६-१४४२) कृत ३४७५ संस्कृत पद्य प्रमाण ग्रन्थ। (ती./३/३३०)। ३. शुभकीर्ति (ई श. १५ पूर्वार्ध) कृत अपभ्रंश काव्य। (ती./३/४१३)।

शांति यंत्र—दे. यन्त्र।

शांति विधान यंत्र—दे यन्त्र।

शांतिसागर—आप दक्षिण देशके भोज ग्राम (बेलगाम) के रहने वाले थे। क्षत्रिय वंशसे सम्बन्ध रखते थे। आपके पिताका नाम भीमगौडा और माताका नाम सत्यवती था। आपका जन्म आषाढ़ कृ. ६ वि स. १९२९ को हुआ था। ९ वर्षकी अवस्थामें आपका विवाह हो गया था परन्तु छह माह पश्चात् ही आपकी पत्नीका देहान्त हो गया। पुन विवाह न कराया। स १९७२ में आपने देवेन्द्रकीर्ति मुनिसे क्षुल्लक दीक्षा धारण कर ली। और स. १९७६ में उन्हींसे मुनि दीक्षा ले ली। उस समय आपकी आयु ४७ वर्षकी थी। आपके चारित्रसे प्रभावित होकर आपकी शिष्य मण्डली बढने लगी। यहाँ तक कि जब आप वि. १९८४ में ससंघ सम्मेद शिखर पधारे तो आपके संघमें सात मुनि और क्षुल्लक व ब्रह्मचारी आदि थे। वर्तमान युगमें आपके समान कठोर तपश्चरण करनेवाला अन्य कोई हो सकेगा यह बात हृदय स्वीकार नहीं करता। आप वास्तवमें ही चारित्र चक्रवर्ती थे।

इस कलिकालमे भी आपने आदर्श समाधिमरण किया है यह बडा आश्चर्य है। भगवती आराधनामें उपदिष्ट मार्गके अनुसार आपके १२ वर्षकी समाधि धारण की। स. २००० (ई. १९४३) में आपने भक्त प्रत्याख्यान व्रत धारण कर लिया और १४ अगस्त सन् १९५५ में आकर कुन्थुलगिरि क्षेत्रपर इंगिनी व्रत धारण कर लिया।—१८ सितम्बर सन् १९५५ रविवार प्रात ७ बजकर १० मिनटपर आप इस नश्वर देहको त्यागकर स्वर्ग सिधार गये।

२४ अगस्त १९५५ को आप अपने सुयोग्य शिष्य वीर सागर जी को आचार्य पद देकर स्वयं इस भारसे मुक्त हो गये थे। इस प्रकार आपका समय—वि. १९७६-२०१२) ई. १९१९-१९५५), (चा. सा./प्र./ब्र श्रीलाल)।

शांतिसेन—१. पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप श्री जयसेनके गुरु थे। समय—वि.श.७-८।(ती./२/४५१)।—दे. इतिहास/७/८। २ लाड बागड संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप धर्मसेनके शिष्य तथा गोपसेनके गुरु थे। समय—वि. ९८० (ई० ९२३)—दे. इतिहास/७/१०।

शांत्यष्टक—आ पूज्यपाद (ई श ५) द्वारा रचित संस्कृतके ८ श्लोकोंमें निबद्ध शान्तिपाठ।

शांत्याचार्य—१. सौराष्ट्र देशके वल्लभीपुर नगरमें इनके शिष्य जिनचन्द्रने इन्हे मारकर श्वेताम्बर संघकी स्थापना की। समय—वि १३६-१५६ (ई. ७९-९९) विशेष—दे. श्वेताम्बर। २. ई ९९३-१११८ में जैन तर्क वार्तिक वृत्तिके कर्ता जैनाचार्य थे। (सि. वि. प्र. ७६ पं महेन्द्र)।

शाकटायन न्यास—आ. प्रभाचन्द्र (ई ९५०-१०२०) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित न्याय विषयक ग्रन्थ। (दे. प्रभाचन्द्र)।

शाकल्य—एक अज्ञानवादी—दे. अज्ञानवाद।

शाखा—School (ध./५/प्र २८)।

शातंकर—आरण स्वर्गका प्रथम पटल व इन्द्रक—दे. स्वर्ग/५/३।

शाप—रा. वा/४/२०/२/२३५/१३ शापोऽनिष्टापादनम्।=अनिष्ट बात कहना शाप है।

शामकुंड—आप तुम्बुलूर आचार्यसे कुछ ही पहले हुए हैं। आपने षट् खण्डके प्रथम पाँच खण्डोंपर 'पद्धति' नामक टीका लिखी है। समय—ई. श. ३ का अपरार्ध। (ष ख. १/प्र ६ H. L. Jain)।

शामिला यव मध्य—दे यव।

शालगुहा—भरत क्षेत्रका एक नगर—दे. मनुष्य/४ ।

शालिभद्र—भगवान् वीरके तीर्थमें अनुत्तरोपपादक हुए है ।–दे. अनुत्तरोपपादक ।

शालिवाहन—१. भृत्य वंशके गोतमी पुत्र सातकर्णीका ही दूसरा प्रसिद्ध नाम शालिवाहन था । इसने वी. नि. ६०५ (ई. ८०) मे शक वंशके अन्तिम राजा नरवाहनको परास्त करनेके उपलक्ष्यमे शक संवत् चलाया था । यह भृत्य वंशका दूसरा राजा था । मगध देशकी राज्य वंशावलीके अनुसार इसका समय—वी. नि. ६००-६४६ (ई. ७४-१२०) विशेष—दे. इतिहास/३/४) । २. शालिवाहन विक्रम संवत् शक संवत्को ही कहते है—दे. इतिहास/२/१ तथा कोश I/परिशिष्ट।

शालि सिक्थ मत्स्य—दे. समूर्च्छन/७ ।

शाल्मली वृक्ष—देवकुरुमें स्थित अनादि शाल्मलीका वृक्ष । यह पृथिवीकायका है ।—दे. वृक्ष ।

शाल्मली वृक्षस्थल—देवकुरुमें स्थित एक भू भाग जिसमें शाल्मली वृक्ष व उसके परिवार वृक्षोंका अवस्थान—दे लोक/३/१३।

शाश्वत उपादान कारण—दे. उपादान ।

शाश्वतासंख्यात—दे. असंख्यात ।

शासन—१. स्या. म./२१/२६३/७ आ सामस्त्येनानन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञायन्तेऽवबुद्ध्यन्ते जीवाजीवादयः पदार्था यया सा आज्ञा आगमः शासनं ।=जिसके द्वारा समस्त रूप अनन्तानन्त धर्म विशिष्ट जीवाजीवादिक पदार्थ जाने जाते है वह आज्ञा या आगम शासन कहलाता है । २. आत्माको जानना समस्त जिन शासनका जानना है ।—दे. श्रुतकेवली/२/६ ।

शासन दिवस—दे. महावीर/२ ।

शास्त्र— १. कल्प शास्त्रादिका लक्षण

भ. आ./वि./१३०/३०७/१४ कल्प्यते अभिधीयते येन अपराधानुरूपो दण्डः स कल्पः ।

भ आ./वि./६१२/८१२/७ स्त्रीपुरुष लक्षण निमित्तं ज्योतिर्ज्ञानं, छन्द अर्थशास्त्रं, वैद्यं, लौकिकवैदिकसमयाश्च बाह्यशास्त्राणि ।=१. जिसमें अपराधके अनुरूप दण्डका विधान कहा है उस शास्त्रको कल्पशास्त्र कहते हैं । २. स्त्री पुरुषके लक्षणोंका वर्णन करनेवाले शास्त्रको निमित्तशास्त्र कहते है । ३. ज्योतिर्ज्ञान, छन्दशास्त्र, अर्थशास्त्र, वैद्यक शास्त्र, लौकिक शास्त्र, मन्त्रवाद आदि शास्त्रोको बाह्यशास्त्र कहते है ।

मू आ./भाषा./१४४ । ४ व्याकरण गणित आदि लौकिक शास्त्र है । ५. सिद्धान्त शास्त्र वैदिक शास्त्र कहे जाते है, ६ स्याद्वाद न्याय शास्त्र व अध्यात्म शास्त्र सामायिक शास्त्र जानना ।

२. शास्त्र लिखने व पढ़नेसे पूर्व षट् आवश्यक

ध. १/गा. १/७ मंगल-णिमित्त-हेउ परिमाण णाम तह य कत्तारं । वागरिय छ प्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरियो । =मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम, कर्ता इन छह अधिकारोका व्याख्यान करनेके पश्चात आचार्य शास्त्रका व्याख्यान करें/१ ।

३. अन्य सम्बन्धी विषय

१. शास्त्र सामान्यका लक्षण व विषय	—दे. आगम ।
२. शास्त्र व देवपूजामें कथंचित् समानता	—दे पूजा/३ ।
३ शास्त्रमें कथंचित् देवत्व	—दे. देव/I/१ ।
४ शास्त्र श्रद्धानका सम्यग्दर्शनमें स्थान	—दे०सम्यग्दर्शन/II/१ ।
५ शास्त्रार्थके विधि निषेध सम्बन्धी	—दे. वाद

शास्त्रज्ञान—दे. आगम ।

शास्त्रदान—दे दान ।

शास्त्र वार्ता समुच्चय—श्वेताम्बराचार्य यशोविजय (ई. १६३८-१६८८) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित न्याय विषयक ग्रन्थ ।

शास्त्रसार समुच्चय—माघनन्दि योगीन्द्र (ई.श. १२ उत्तरार्ध) कृत १६६ संस्कृत सूत्र प्रमाण सिद्धान्त ग्रन्थ । (ती./३/२८५) ।

शास्त्राभ्यास—दे. स्वाध्याय ।

शिकार—दे. आखेट ।

शिक्षा—भ. आ./वि./६७/१६४/६ शिक्षाश्रुतस्य अध्ययनमिह शिक्षाशब्देनोच्यते । जिणवयण कलुसहर अहो य रत्ती य पढिदव्वमिदि ।=शास्त्राध्ययन करना यह शिक्षा शब्दका अर्थ है। जिनेश्वरका शास्त्र पाप हरनेमें निपुण है अतः उसको दिनरात पढना चाहिए ।

शिक्षाकाल—दे. काल/१ ।

शिक्षा गुरु—दे. गुरु/१ ।

शिक्षा व्रत—भ आ/मू./२०८२-२०८३ भोगाणं परिसंखा सामाइयमतिहिसंविभागो य । पोसहविधी य सव्वो चदुरो सिक्खाउ वुत्ताओ ।२०८२। आसुक्कारे मरणे अव्वोच्छिण्णाए जीविदासाए । णादीहि वा अमुक्को पच्छिमसल्लेहणमकासी ।२०८३।=भोगोपभोग परिमाण, सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथि संविभाग ये चार शिक्षाव्रत है ।२०८२। इन व्रतोको पालनेवाला गृहस्थ सहसा मरण आनेपर जीवितकी आशा रहनेपर, जिसके बन्धुगणने दीक्षा लेनेकी सम्मति नहीं दी है ऐसे प्रसंगमें सल्लेखना धारण करता है । (स. सि./७/२१,२२/३५६,३६३/७,१) ।

र क. श्रा/९१ देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा । वैयावृत्य शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ।९१।=देशावकाशिक तथा सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत कहे गये है ।

चा. पा./मू./२६ सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं । तइय च अतिहिपुज्ज चउत्थ सल्लेहणा अंते ।=पहला सामायिक शिक्षाव्रत, दूसरा प्रोषधव्रत, तीसरा अतिथिपूजा और चौथा शिक्षाव्रत अन्त समय सल्लेखना है ।२६।

वसु श्रा /२१७-२१९,२७० भोगविरति, परिभोग-निवृत्ति तीसरा अतिथि संविभाग व चौथा सल्लेखना नामका शिक्षा व्रत होता है ।

शिखंडी—द्रुपद राजाका पुत्र था । इसके बाणोंसे ताडित होकर भीष्म पितामहने संन्यास धारण कर लिया । (पा पु/१९/२४३) ।

शिखरी—रा वा/३/११/११/१८४/१ शिखराणि कूटान्यस्य सन्तीति शिखरीति सञ्ज्ञायते । अन्यत्रापि तद् सद्भावे रूढिवशाद्विशेषे वृत्तिः शिखण्डिवत्=जिसके शिखर अर्थात् कूट हो उसकी शिखरी सज्ञा है । यह रूढ संज्ञा है जैसे कि मोरकी शिखंडी संज्ञा रूढ है । (यह ऐरावत क्षेत्रके दक्षिणमें स्थित पूर्वापर लम्बायमान वर्षधर पर्वत है) । विशेष—दे. लोक/५/३। २. शिखरी पर्वतस्थ एक कूट व उसका स्वामी देव—दे. लोक/५/४। ३. पद्म हृदमें स्थित एक कूट—दे. लोक/५/७ ।

शिखाचारण ऋद्धि—दे ऋद्धि/४ ।

शिप्रा—भरत क्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे. मनुष्य/४ ।

शिरःकंप—कालका परिमाण विशेष । अपरनाम श्रीकम्प—दे. गणित/I/१ ।

शिरोन्नति—दे. नमस्कार।

शिला—नरककी तृतीय पृथिवी—दे. नरक/५।

शिल्पकर्म—दे सावद्य/३।

शिल्प संहिता—आ. वीरनन्दि २ (ई.६५०-६६६) की एक रचना है। —दे.|वीरनन्दि।

शिवंकर—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे विद्याधर।

शिव—भूतकालीन तेरहवें तीर्थंकर—दे. तीर्थंकर/५।

शिव—स. श./टी./२/२२२/२५ शिवं परमसौख्यं परम कल्याणं निर्वाणं चोच्यते।—परम कल्याण अथवा परम सौख्यमय निर्वाणको शिव कहते है।

स. सा./ता. वृ /३७३-३८२/४६२/१८ वीतरागसहजपरमानन्दरूपं शिवशब्दवाच्यं सुख—वीतराग परमानन्द रूप सुख शिव शब्दका वाच्य है। (प. प्र./टी./२/६)।

द्र. स./टी./१४/४७ पर उद्धृत-शिवं परमकल्याणं निर्वाणं ज्ञानमक्षयम्। प्राप्त मुक्तिपद येन स शिवः परिकीर्तितः ।१। इति श्लोक कथितलक्षण' शिव।—शिव यानी परम कल्याण निर्वाण एवं अक्षय ज्ञान रूप मुक्त पदको जिसने प्राप्त किया वह शिव कहलाता है।

भा. पा./टी./१४९/२९३/६ शिवः परमकल्याणभूत शिवति लोकाग्रे गच्छतीति शिव'।—शिव' अर्थात परम कल्याणभूत होता है, और लोकके अग्र भागमें जाता है वह शिव है।

शिवकुमार—१. पल्लव वंशी शिव स्कन्दका दूसरा नाम था। इनकी राजधानी कांचीपुर (कांजीवरम्) थी। पंचास्तिकायकी रचना इन्हींके लिए हुई थी। तदनुसार इनका समय ई. श. २ आता है (प्रोफे. ए. चक्रवर्ती नायनार M. A. L. T.) दे. शिव स्कन्द।

शिव कुमार वेलाव्रत—सर्व साधारण विधिमें ७-८ व १३-१४ का वेला तथा ६, ११ का पारणा। इस प्रकार प्रतिमास ४ वेले व ४ पारणा। यदि शक्ति हो तो १ वेला व १ पारणाका क्रम १००० वर्ष (!) तक निभाये। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान सं./पृ. १११)।

शिवकोटि— १. प्रेमीजी के अनुसार यापनीय संघी दिगम्बराचार्य। भ. आ /मू./२१६६-२१६८ पढने से ऐसा अनुमान होता है कि यह उस समय हुए थे जब कि जैन सघ में कुछ शिथिलाचारका प्रवेश हो चुका था। कोई-कोई साधु पात्र भी रखने लग गए थे तथा घरों से माँगकर भोजन लाने लग गये थे। परन्तु यह संघ अभी अपने मार्ग पर दृढ़ था, इसलिये इन्होंने अपने नाम के साथ पाणि-पात्र हारो विशेषण लगाकर उल्लेख किया है। शिवनन्दि, शिवगुप्त, शिवकोटि, शिवार्य इनके अपर नाम हैं। यद्यपि किसी भी गुर्वावली में आपका नाम प्राप्त नहीं है तदपि भगवती आराधनाकी उत्तगाथाओं में जिननन्दि गणी, आर्य सर्वगुप्त और आर्य मित्रनन्दि का नाम दिया गया है जो इनके शिक्षागुरु प्रतीत होते है। यद्यपि आराधना कथाकोश में इन्हें आ.समन्तभद्र (ई.श.२) के शिष्य कहा गया है तदपि प्रेमीजी को यह बात स्वीकार नहीं है। श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं १०५ के अनुसार तत्त्वार्थ सूत्रके एक टीकाकार भी शिवकोटि हुये है। वही सम्भवत' आ समन्तभद्रके शिष्य रहे होंगे। कृति—भगवती आराधना समय—वि श.१। (भ. आ /प्र.३/प्रेमीजी), (ती./२/१२२)। २. रत्नमाला तथा तत्त्वार्थ सूत्र की टीका के रचयिता एक शिथिलाचारी आचार्य। समय—यशस्तिलक (वि. १०१६) के पश्चात् कभी। (भ. आ /प्र ७-१)। ३—वाराणसीके राजा थे। शैव थे। समन्तभद्र आचार्यके द्वारा स्तोत्रके प्रभावसे शिवलिंगका फटना व उसमेंसे चन्द्रप्रभु भगवान्‌की प्रतिमाका प्रगट होना देखकर उनके शिष्य बन गये थे। पीछे उनसे ही जिन दीक्षा ले ली थी। समन्तभद्रके अनुसार इनका समय ई. श. २ आता है। (प्रभाचन्द्र व नेमिदत्तके कथाकोशके आधारपर भ आ /प्र. ४ प्रेमीजी)।

शिवगुप्त—पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप गुप्ति ऋद्धिके शिष्य तथा अर्हद्बलिके गुरु थे। समय—वी. नि ५६० (ई. ३३)—दे. इतिहास /७/८।

शिवतत्त्व—दे ध्यान/४/५ शिवतत्त्व वास्तवमें आत्मा है।

ज्ञा /२१/१०...युगपत्प्रादुर्भूतानन्तचतुष्टयो घनपटलविगमे सवितुः प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिवत् स खल्वयमात्मैव परमात्मव्यपदेशभाग्भवति।—युगपत् अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यरूप चतुष्टय जिसके ऐसा, जैसे—मेघ पटलोंके दूर होनेसे सूर्यका प्रताप और प्रकाश युगपत् प्रकट होता है, उसी प्रकार प्रगट हुआ आत्मा ही निश्चय करके परमात्माके व्यपदेशका धारक होता है। (यही शिवतत्त्व है)

शिवदत्त—मूलसंघकी पट्टावली के अनुसार भगवान् महावीरकी मूल परम्परामें लोहाचार्यके पश्चात्‌वाले चार आचार्योंमें आपका नाम है। समय—वी नि. ५६५-५८५ ई. ३८-५८।—दे. इतिहास/४/४।

शिवदेव—लवण समुद्रस्थ उदक व उदकाभास पर्वतका स्वामी देव। दे लोक/४/१

शिवदेवी—भगवान् नेमिनाथकी माता—दे. तीर्थंकर/५।

शिव मंदिर—१. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर।—दे, विद्याधर। २ विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

शिवमत—दे. वैशेषिक मत।

शिवमार द्वि०—ई ८१०में गंगवंशी नरेश श्रीपुरुषके उत्तराधिकारी थे। (सि. वि./३६ पं महेन्द्र)

शिव मृगेशवर्म—आप कदम्ब वंशी राजा थे। चालुक्य वंशी राजा कीर्तिवर्य द्वारा बादामी नगरी में श. स. ५०० में कदम्ब वंशका नाश हुआ था। अत कदम्बवंशी इनका समय लगभग श. स. ४५०-५०० (त्रि ५८५) (ई० ५२८-५७८) आता है। (जै. सि. प्र./कि समय प्राभृतमें K.B Pathak)

शिवलाल (पं०)—आप एक उच्चकोटिके विद्वान् थे। अनेक ग्रन्थोंकी देश भाषामय टीकाएँ लिखी हैं। यथा—भगवती आराधना, रत्नकरण्ड श्रा. चर्चासंग्रह, बोधसार, दर्शनसार, अध्यात्म तरंगिनी आदि ग्रन्थोंकी भाषा टीका। समय—वि. १८१८ (ई. १७६१), (भ. आ /प्र २५ प्रेमीजी)।

शिवशर्म—दे० परिशिष्ट।

शिव सागर—आप आचार्य शान्तिसागरजीकी आम्नायमें तीसरे नम्बरपर आते है। आपआ. शान्ति सागरजीके शिष्य थे। ओर आप आचार्य धर्मसागरजीके गुरु थे। वि २००६ में दीक्षा ली थी। और वीरसागरजीके पश्चात् वि. २०१४ में आचार्यपदपर आसीन हुए। समय—वि. २००६ (ई १९४९)।

शिव स्कंद—पल्लव वंश (वि. श. १) के राजा, अपर नाम शिवकुमार, राजधानी काजीपुरम, मयारिडवोलुजा दानपत्र के दाता। कुन्दकुन्द ने इनके लिये पंचास्तिकाय ग्रन्थ की रचना की। समय—कुन्दकुन्द के अनुसार ई. श. १। (प्रो. ए. चक्रवर्ती नायनार); (जै /२/११४)।

शिवार्य—वास्तवमें इनका ही नाम शिवकोटि था, क्योंकि भगवज्जिनसेनने आदि पुराणमें इसी नामका उल्लेख किया है। आर्य तो इनका विशेषण था जैसे कि स्वयं इन्होंने अपने तीनों गुरुओंके

नामके साथ आर्य विशेषण जोडकर उल्लेख किया है। (म. पु/प्र./४५ प. पन्नालाल) दे० शिवकोटि।

शिविका—ध १४/५,४,६१/३६/२ माणुसेहि बुब्भमाणा सिविया णाम। =जो मनुष्योंके द्वारा उठाकर ले जायी जाती है वे शिविका कहलाती है।

शिशुपाल—१. इसके साथ पहले रूक्मिणीका सम्बन्ध हो गया था (ह पु /४६/५३) कृष्ण द्वारा रुक्मिणीके हर लिये जानेपर युद्धमे मारा गया (ह. पु /४२/६४)। २. पाटली पुत्रका राजा था। (वी. नि. ३) के पश्चात इसके चतुर्मुख नामका पुत्र हुआ, जो कि अत्याचारी होनेसे कल्की सिद्ध हुआ। (म. पु /७६/४००) ३. मगध देशकी राज्य वंशावलीके अनुसार यह राजा इन्द्रका पुत्र व चतुर्मुख (कल्कि)का पिता था। यद्यपि इसे कल्कि नही बताया गया है, परन्तु जैसा कि वंशावलीमें बताया गया है यह भी अत्याचारी व कल्की था। हूणवशी तोरमाण ही शिशुपाल है। समय—वी. नि. १०००-१०३३ (ई. ४७४-५०७) विशेष—दे. इतिहास/३/४।

शिष्य—गुरु शिष्य सम्बन्ध—दे. गुरु/२।

शीत—तीसरे नरकका दूसरा पटल—दे. नरक/५/११।

शीतगुह—भरत क्षेत्रमे मलयगिरिके निकट एक पर्वत—दे. मनुष्य/४

शीतपरीषह—स सि./६/६/४२१/३ परित्यक्तप्रच्छादनस्य पक्षिवदनवधारितालयस्य वृक्षमूलपथिशिलातलादिषु हिमानीपतनशीतलानिलसंपाते तत्प्रतिकारप्राप्तिं प्रति निवृत्तेच्छस्य पूर्वानुभूतशीतप्रतिकारहेतुवस्तुनामस्मरतो ज्ञानभावनागर्भगारे वसत शीतवेदनासहन परिकीर्त्यते। =जिसने आवरणका त्याग कर दिया है, पक्षीके समान जिसका आवास निश्चित नहीं है, वृक्षमूल, चौपथ और शिलातल आदिपर निवास करते हुए बर्फके गिरनेपर और शीतल हवाका झोका आनेपर उसका प्रतिकार करनेकी इच्छासे जो निवृत्त है, पहले अनुभव किये गये प्रतिकारके हेतुभूत वस्तुओका जो स्मरण नही करता और जो ज्ञान भावनारूपा गर्भागारमें निवास करता है उसके शीत वेदनाजय प्रशसा योग्य है। (रा. वा /६/६/६/६०६/४), (चा. सा./१११/४)।

शीतभोग तप—दे कायक्लेश।

शीतयोनि—दे योनि।

शीतलनाथ—(म. पु /५६/श्लोक) पूर्वभव स २ में सुसीमा नगरका राजा पद्मगुल्म था (२-३) पूर्वभवमें आरणेन्द्र था (१७-१८) वर्तमान भवमें १० वे तीर्थंकर हुए (२०-२७) इस भव सम्बन्धी विशेष परिचय—दे. तीर्थंकर/५।

शीतलप्रसाद (ब्र०)—आप अग्रवाल जातिमें गोयल गोत्री श्रावक श्री मक्खनलाल जीके सुपुत्र थे। आपका जन्म वि स. १९३५ ई १८७८ में हुआ था। आपने अनेको ग्रन्थ रचे और समाजमें बडा भारी काम किया। वास्तवमें आपने इस अन्धकारमय युगमें ज्ञानका अद्वितीय प्रकाश किया। आप स्वय अत्यन्त विरागी व कर्मठ व्यक्ति थे। आपके लिए जैन समाज अत्यन्त आभारी है। आपका मरण ई. १९४८ में हुआ था।

शील—१. शीलव्रतका लक्षण

स. सि./७/२४/३६५/६ व्रतपरिरक्षणार्थं शीलमिति दिग्विरत्यादीनीह शीलग्रहणेन गृह्यन्ते। =व्रतोंकी रक्षा करनेके लिए शील है, इसलिए यहाँ शील शब्दके ग्रहणमे दिग्विरति आदि लिये जाते है। (रा. वा /७/२४/१/५५३/२)।

२. शीलव्रतके भेद

चा. सा /१३/६ गुणव्रतत्रयं शिक्षाव्रतचतुष्टयं शीलसप्तकमित्युच्यते। दिग्विरति देशविरति, अनर्थदण्डविरतिः सामायिकं, प्रोषधोपवास उपभोगपरिभोगपरिमाणं अतिथिसंविभागश्चेति। =तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रतोको शील सप्तक कहते है। उनके नाम निम्न है - दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदंड विरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोग परिमाण और अतिथि सविभाग व्रत।

३. शीलव्रतेष्वनतिचार भावनाका लक्षण

स. सि /६/२४/३३८/६ अहिंसादिषु व्रतेषु तत्प्रतिपालनार्थेषु च क्रोधवर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतीचार। =अहिंसादिक व्रत है और इनके पालन करनेके लिए क्रोधादिकका त्याग करना शील है। इन दोनोके पालन करनेमें निर्दोष प्रवृत्ति करना शीलव्रतानतिचार है। (रा. वा /६/२४/३/५२६/११); (चा. सा /५३/२), (भा. पा./टी /७७/२२१/६)।

ध. ८/३,४१/८२/४ सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए चेव तित्थयरणामकम्मं बज्झइ। त जहा—हिंसालिय-चोज्जब्बंभपरिग्गहेहिंतो विरदी वदं णाम। वदपरिरक्खणं शीलं णाम। सुरावाण-मासभक्खण-कोह-माण-माया - लोह - हस्स - रइ-सोग-भय-दुगुंछित्थि-पुरिस-णवुंसयवेया-परिच्चागो अदिचारो, एदेसि विणासो णिरदिचारो सपुण्णदा, तस्स भावो णिरदिचारदा। तीए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए तित्थयरकम्मस्स बंधो होदि। =शील-व्रतोंमें निरतिचारतासे ही तीर्थंकर नामकर्म बाँधा जाता है। वह इस प्रकारसे—हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रहसे विरत होनेका नाम व्रत है। व्रतोंकी रक्षाको शील कहते है। सुरापान, मासभक्षण, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद एवं नपुसक वेद, इनके त्याग न करनेका नाम अतिचार और इनके विनाशका नाम निरतिचार या सम्पूर्णता है, इसके भावको निरतिचारता कहते है। शीलव्रतोंमें इस निरतिचारतासे तीर्थंकर कर्मका बन्ध होता है।

४. इस एकमें शेष १५ भावनाओंका समावेश

ध. ८/३, ४१/८२/८ कधमेत्थ सेसपण्णरसण्णं सभवो? ण, सम्मद्दसणेण खण-लवपडिबुज्झण-लद्धिसंवेगसंपण्णत्त-साहुसमाहिसंधारण वेज्जावच्चजोगजुत्तत्त - पासुअपरिच्चाग - अरहंत - बहुसुदपवयण-भत्ति - पवयण-पहावणलक्खण सुद्धिजुत्तेण विणा सीलव्वदाणमणदि चारत्तस्स अणुववत्तीदो। असंखेज्जगुणाए सेडीए कम्मणिज्जरहेदू वद णाम। ण च सम्मत्तेण विणा हिंसालिय चोज्जब्बभ' अपरिग्गहविरइमेत्तेण सा गुणसेडिणिज्जरा होदि, दोहिंतो चेवुप्पज्जमाणकज्जस्स तत्थेक्कादो समुप्पत्तिविरोहादो। होदु णाम एदेसि सभवो, ण णाणविणयस्स। ण, छद्दव्व-णवपदत्थसमूह-तिहुवणविसएण अभिक्खणमभिक्खणमुवजोगविसयमावज्जमाणेण णाणविणएण विणा सीलव्वदणिब्बधणसम्मत्तुप्पत्तीए अणुववत्तीदो। ण तत्थ चरणविणयाभावो वि, जहाथाम-तवावास ग्गपरिहीणत्त-पवयणवच्छलत्तलक्खणचरणविणएण विणा सीलव्वदणिरदिचारत्ताणुववत्तीदो। तम्हा तदियमेदं तित्थयरणामकम्मबधस्स कारण। =प्रश्न—इसमें शेष १५ भावनाओं की सम्भावना कैसे हो सकती है। उत्तर—यह ठीक नहीं है, क्योंकि क्षण-लव-प्रतिबुद्धता, लब्धि-सवेगसम्पन्नता, साधु समाधि धारण, वैयावृत्त्ययोगयुक्तता, प्रासुक परित्याग, अरहत भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति और प्रवचन प्रभावना लक्षण शुद्धिसे युक्त सम्यग्दर्शनके बिना शील व्रतोंकी निरतिचारता बन नही सकती, दूसरी बात यह है कि जो असख्यात गुणित श्रेणीसे कर्म निर्जराका कारण है वही व्रत है। और सम्यग्दर्शनके बिना हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म, और परिग्रहसे विरक्त होने मात्रसे वह गुणश्रेणि निर्जरा हो नहीं सकती, क्योंकि

दोनोंसे ही उत्पन्न होनेवाले कार्यकी उनमेंसे एकके द्वारा उत्पत्तिका विरोध है। प्रश्न—इनकी सम्भावना यहाँ भले ही हो, पर ज्ञान विनयकी सम्भावना नहीं हो सकती। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि छह द्रव्य, नौ पदार्थोंके समूह और त्रिभुवनको विषय करनेवाले एवं बार-बार उपयोग विषयको प्राप्त होनेवाले ज्ञान विनयके बिना शीलव्रतोंके कारण भूत सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति नहीं बन सकती। शील व्रत विषयक निरतिचारतामें चारित्र विनयका भी अभाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यथाशक्तितप, आवश्यकापरिहीनता और प्रवचनवत्सलता लक्षण चारित्र विनयके बिना शील व्रत विषयक निरतिचारताकी उपपति ही नहीं बनती। इस कारण यह तीर्थंकर नामकर्मके बन्धका तीसरा कारण है।

*** किसी एक ही भावनासे तीर्थंकरत्व सम्भव** —दे० भावना/२।

*** ब्रह्मचर्य विषयक शील**—दे० ब्रह्मचर्य/१।

शील कथा—कवि भारामल (ई० १७५६) रचित हिन्दी भाषा कथा।

शील कल्याणक व्रत—दे. कल्याणक व्रत।

शील पाहुड़—आ. कुन्दकुन्द (ई० १२७-१७९) कृत ज्ञान व चारित्रका समन्वयात्मक, ४० (प्रा) गाथा निबद्ध ग्रन्थ है। इसपर केवल प. जयचन्द्र छाबड़ा (ई. १७९७) कृत भाषा वचनिका उपलब्ध है।

शील व्रत—प्रतिवर्ष वैशाख शु. ६ के दिन (अभिनन्दन नाथ भगवान्‌का मोक्ष कल्याणक दिवस) उपवास। इस प्रकार ५ वर्ष पर्यन्त करे। 'ओं ह्रीं अभिनन्दनजिनाय नम' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रतविधान सं./पृ. ८९)।

शीलव्रतेष्वनतिचार भावना—दे. शील।

शील सप्तमी व्रत—सात वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष भाद्रपद शु. ७ को उपवास करे। तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान सं./पृ. १०४) (कथाकोष)।

शीलांक—'नवांग वृत्ति' के रचयिता एक श्वेताम्बराचार्य। समय—वि. श. ९ (ई. श. ९ पूर्वार्ध)। (जै/१/३६५)।

शुंभा—पूर्व विदेहस्थ रमणिया क्षेत्रकी मुख्य नगरी—दे लोक/७।

शुक्ति—भरत क्षेत्रमें शुक्तिमती नदीपर स्थित एक नगर—दे. मनुष्य/४।

शुक्तिमती—भरतक्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे. मनुष्य/४।

शुक्र—१ औदारिक शरीरमें शुक्र धातुका निर्देश—दे औदारिक/१/७; २. एक ग्रह—दे. ग्रह, ३ शुक्र ग्रहका लोकमें अवस्थान—दे ज्योतिषलोक, ४ कल्पवासीदेवोंका एक भेद—दे स्वर्ग/३; ५ कल्प स्वर्गोंका नवमा कल्प—दे स्वर्ग/५/२; ६. शुक्र स्वर्गका प्रथम पटल व इन्द्रक—दे स्वर्ग/५/३।

शुक्लध्यान—ध्यान करते हुए साधुको बुद्धिपूर्वक राग समाप्त हो जानेपर जो निर्विकल्प समाधि प्रगट होती है, उसे शुक्लध्यान या रूपातीत ध्यान कहते है। इसकी भी उत्तरोत्तर वृद्धिगत चार श्रेणियाँ है। पहली श्रेणीमें अबुद्धिपूर्वक ही ज्ञानमें ज्ञेय पदार्थोंकी तथा योग प्रवृत्तियोंकी संक्रान्ति होती रहती है, अगली श्रेणियोंमें यह भी नहीं रहती। रत्न दीपककी ज्योतिकी भाँति निष्कंप होकर ठहरता है। श्वास निरोध इसमें करना नहीं पड़ता अपितु स्वयं हो जाता है। यह ध्यान साक्षात् मोक्षका कारण है।

१. भेद व लक्षण

१. शुक्लध्यान सामान्यका लक्षण

स. सि /९/२८/४४५/११ शुचिगुणयोगाच्छुक्लम्। (यथा मलद्रव्यापायात् शुचिगुणयोगाच्छुक्लं वस्त्र तथा तद्गुणसाधर्म्यादात्मपरिणामस्वरूपमपि शुक्लमिति निरुच्यते। रा. वा.)।=जिसमें शुचि गुणका सम्बन्ध है वह शुक्ल ध्यान है। [जैसे मैल हट जानेसे वस्त्र शुचि होकर शुक्ल कहलाता है उसी तरह निर्मल गुणयुक्त आत्म परिणति भी शुक्ल है। रा. वा] (रा वा/९/२८/४/६२७/३१)।

ध. १३/५,४,२६/७७/६ कुदो एदस्स सुक्कत्त कसायमलाभावादो।=कषाय मलका अभाव होनेसे इसे शुक्लपना प्राप्त है।

का अ /मू./४८३ जत्थगुणा सुविसुद्धा उपसम-खमण च जत्थ कम्माण। लेस्सावि जत्थ सुक्का तं सुक्क भण्णदे झाणं।४८३।=जहाँ गुण अतिविशुद्ध होते है, जहाँ कर्मोंका क्षय और उपशम होते है, जहाँ लेश्या भी शुक्ल होती है उसे शुक्लध्यान कहते है।४८३।

ज्ञा /४२/४ निष्क्रियं करणातीत ध्यानधारणवर्जितम्। अन्तर्मुखं च यच्चित्त तच्छुक्लमिति पठ्यते।४। शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कषायरजसः क्षयादुपशमाद्वा। वैडूर्यमणिशिखा इव सुनिर्मलं निष्प्रकम्पं च।=१. जो निष्क्रिय व इन्द्रियातीत हैं। 'मै ध्यान करूं' इस प्रकारके ध्यानकी धारणासे रहित है, जिसमें चित्त अन्तर्मुख है वह शुक्लध्यान है।४। २. आत्माके शुचि गुणके सम्बन्धसे इसका नाम शुक्ल पडा है। कषायरूपी रजके क्षयसे अथवा उपशमसे आत्माके सुनिर्मल परिणाम होते है, वही शुचिगुणका योग है। और वह शुक्लध्यान वैडूर्यमणिकी शिखाके समान सुनिर्मल और निष्कप है। (त अनु./२२१-२२२)।

द्र सं./मू /५६ मा चिट्ठह मा जंपह मा चिन्तह किंवि जेण होइ थिरो। अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव पर हवे ज्झाणं।५६।=हे भव्य! कुछ भी चेष्टा मत कर, कुछ भी मत बोल, और कुछ भी चिन्तवन मत कर, जिससे आत्मा निजात्मामें तल्लीन होकर स्थिर हो जावे, आत्मामें लीन होना ही परम ध्यान है।५६।

नि. सा./ता वृ./१२३ ध्यानध्येयध्यातृतत्फलादिविविधविकल्पनिर्मुक्तान्तर्मुखाकारनिखिलकरणग्रामगोचरनिरंजननिजपरमतत्त्वाविचल स्थितिरूपशुक्लध्यानम्।=ध्यान-ध्येय-ध्याता, ध्यानका फल आदिके विविध विकल्पोंसे विमुक्त, अन्तर्मुखाकार, समस्त इन्द्रिय समूहके अगोचर निरंजन निज परमतत्त्वमें अविचल स्थितिरूप वह निश्चय शुक्लध्यान है। (नि. सा /ता वृ./८९)।

प्र. सा./ता. वृ /८/१२ रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानमागमभाषया शुक्लध्यानम्।=रागादि विकल्पसे रहित स्वसंवेदन ज्ञानको आगम भाषामें शुक्लध्यान कहा है।

द्र. स./टी./४८/२०५/३ स्वशुद्धात्मनि निर्विकल्पसमाधिलक्षणं शुक्लध्यानम्।=निज शुद्धात्मामें विकल्प रहित समाधिरूप शुक्लध्यान है।

भा. पा. टी./७८/२२६/१८ मलरहितात्मपरिणामोद्भव शुक्लम्।=मल रहित आत्माके परिणामको शुक्ल कहते है।

२. शुक्लध्यानके भेद

भ आ./मू./१८७८-१८७९ ज्झाणं पुधत्तसवितक्कसविचारं हवे पढमसुक्कं। सवितक्केक्कत्ताविचारं ज्झाणं विदियसुक्कं।१८७८। सुहुमकिरियं खु तदियं सुक्कज्झाणं जिणेहिं पण्णत्तं। वेंति चउत्थं सुक्कं जिणा समुच्छिण्णकिरियं तु।१८७९।=प्रथम सवितर्क सविचार शुक्लध्यान, द्वितीय सवितर्कैकत्वावीचार शुक्लध्यान, तीसरा सूक्ष्मक्रिया नामक शुक्लध्यान, चौथा समुच्छिन्न क्रिया नामक शुक्लध्यान कहा गया है। (मू. आ./४०४-४०५), (त. सू /९/३९); (रा वा./१/७/१४/४०/१६), (ध. १३/५,४,२६/७७/१०); (ज्ञा./४२/९-११), (द्र. स./टी./४८/२०३/३)।

चा. सा /२०३/४ शुक्लध्यानं द्विविधं, शुक्लं परमशुक्लमिति। शुक्ल द्विविध पृथक्त्ववितर्कवीचारमेकत्ववितर्कावीचारमिति। परमशुक्ल द्विविधं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिसमुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिभेदात्। तल्लक्षण द्विविध, बाह्यमाध्यात्मिकमिति।=शुक्लध्यानके दो भेद है—एक शुक्ल और दूसरा परम शुक्ल। उसमें भी शुक्लध्यान दो प्रकारका है—पृथक्त्ववितर्कविचार और दूसराएकत्ववितर्कअविचार। परम शुक्ल भी दो प्रकार का है—सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और दूसरा समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति। इस समस्त शुक्लध्यानके लक्षण भी दो प्रकार है—एक बाह्य दूसरा आध्यात्मिक।

३. बाह्य व आध्यात्मिक शुक्लध्यानका लक्षण

चा. सा./२०३/५ गात्रनेत्रपरिस्पन्दविरहितं जृम्भजृम्भोद्गारादिवर्जितमनभिव्यक्तप्राणापानप्रचारत्वमुच्छिन्नप्राणापानप्रचारत्वमपराजितत्वं बाह्यं, तदनुमेय परेषामात्मन. स्वसवेद्यमाध्यात्मिक तदुच्यते।=शरीर और नेत्रोंको स्पन्द रहित रखना, जँभाई जम्भा उद्गार आदि नहीं होना, प्राणापानका प्रचार व्यक्त न होना अथवा प्राणापानका प्रचार नष्ट हो जाना बाह्य शुक्लध्यान है। यह बाह्य शुक्लध्यान अन्य लोगोंको अनुमानसे जाना जा सकता है तथा जो केवल आत्माको स्वसंवेदन हो वह आध्यात्मिक शुक्लध्यान कहा जाता है।

४. शून्यध्यानका लक्षण

ज्ञानसार/३७-४७ किं बहुना सालम्बं परमार्थेन ज्ञात्वा। परिहर कुरु पश्चात् ध्यानाभ्यासं निरालम्बम्।३७। तथा प्रथम तथा द्वितीयं तृतीय निश्रेणिकायां चरमाना। प्राप्नोति समुच्चयस्थानं तथायोगी स्थूलत: शून्याम्।३८। रागादिभि: वियुक्तं गतमोहं तत्त्वपरिणत ज्ञानम्। जिनशासने भणितं शून्यं इदमीदृश मनुते।४१। इन्द्रियविषयातीतं अमन्त्रतन्त्र-अध्येय-धारणाकम्। नभ सदृशमपि न गगन तत् शून्यं केवल ज्ञानम्।४२। नाहं कस्यापि तनय: न कोऽपि मे आस्ते अहं च एकाकी। इति शून्य ध्यानज्ञाने लभते योगी परं स्थानम्।४३। मनवचन-काय-मत्सर-ममत्वतनुधनकलादिभिः शून्योऽहम्। इति शून्य-

ध्यानयुक्त' न लिप्यते पुण्यपापेन ।४४। शुद्धात्मा तनुमात्र' ज्ञानी चेतनगुणोऽहम् एकोऽहम् । इति ध्याने योगी प्राप्नोति परमात्मक स्थानम् ।४५। अभ्यन्तरं च कृत्वा बहिरर्थसुखानि कुरु शून्यतनुम् । निश्चिन्त स्तथा हंस पुरुष' पुन' केवली भवति । ४७। =बहुत कहनेसे क्या ? परमार्थसे सालम्बन ध्यान (धर्मध्यान) को जानकर उसे छोडना चाहिए तथा तत्पश्चात् निरालम्बन ध्यानका अभ्यास करना चाहिए ।३७। प्रथम द्वितीय आदि श्रेणियोंको पार करता हुआ वह योगी चरम स्थानमें पहुँचकर स्थूलत' शून्य हो जाता है।३८। क्योंकि रागादिसे मुक्त, मोह रहित,स्वभाव परिणत ज्ञान ही जिनशासनमें शून्य कहा जाता है ।४१। इन्द्रिय विषयोसे अतीत, मन्त्र, तन्त्र तथा धारणा आदि रूप ध्येयोंसे रहित जो आकाश न होते हुए भी आकाशवत् निर्मल है, वह ज्ञान मात्र शून्य कहलाता है ।४२। मै किसीका नहीं पुत्रादि कोई भी मेरे नही है, मै अकेला हूँ शून्य ध्यानके ज्ञानमें योगी इस प्रकारके परम स्थानको प्राप्त करता है ।४३। मन, वचन, काय, मत्सर, ममत्व, शरीर, धन-धान्य आदिसे मै शून्य हूँ इस प्रकारके शून्य ध्यानसे युक्त योगी पुण्य पापसे लिप्त नहीं होता ।४४। 'मै शुद्धात्मा हूँ, शरीर मात्र हूँ, ज्ञानी हूँ, चेतन गुण स्वरूप हूँ, एक हूँ, इस प्रकारके ध्यानसे योगी परमात्म स्थानको प्राप्त करता है ।४५। अभ्यन्तरको निश्चित करके तथा बाह्य पदार्थों सम्बन्धी सुखो व शरीरको शून्य करके हंस रूप पुरुष अर्थात् अत्यन्त निर्मल आत्मा केवली हो जाता है ।४७।

आचारसार/७७-८३ जायन्ते विरसा रसा विघटते गोष्ठीकथा कौतुकं शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमणात् प्रीति शरीरेऽपि च । जोष वागपि धारयत्त्रविरतानन्दात्मन स्वात्मनश्चिन्तायामपि यातुमिच्छति मनोदोषै' सम पञ्चताम् ।७७। यत्र न ध्यान ध्येय ध्यातारौ नैव चिन्तनं किमपि । न च धारणा विकल्परतं शून्य सुष्ठु भावये ।७८। शून्यध्यानप्रविष्टो योगी स्वसद्भावसपन्न ।परमानन्दस्थितो भृतावस्थ' स्फुटं भवति ।७९। तत्त्रिकमयो ह्यात्मा अवशेपालम्बनै परिमुक्त । उक्त' स तेन शून्यो ज्ञानिभिर्न सर्वथा शून्य ।८०। यावद्विकल्प' कश्चिदपि जायते योगिनो ध्यानयुक्तस्य । तावन्न शून्य ध्यान चिन्ता वा भावनाथवा ।८१। =सब रस विरस हो जाते है, कथा गोष्ठी व कौतुक विघट जाते है, इन्द्रियोंके विषय मुरझा जाते है, तथा शरीरमें प्रीति भी समाप्त हो जाती है व वचन भी मौन धारण कर लेता है । आत्माकी आनन्दानुभूतिके कालमें मनके दोषों सहित स्वात्म विषयक चिन्ता भी शान्त होने लगती है ।७७। जहाँ न ध्यान है, न ध्येय है, न ध्याता है, न कुछ चिन्तवन है, न धारणाके विकल्प हैं, ऐसे शून्यको भली प्रकार भाना चाहिए ।७८। शून्य ध्यानमें प्रविष्ट योगी स्व स्वभावसे सम्पन्न, परमानन्दमें स्थित तथा प्रगट भरितावस्थावत् होता है ।७९। ज्ञानदर्शन चारित्र इन तीनों मयी आत्मा निश्चयसे अवशेष समस्त अवलम्बनोसे मुक्त हो जाता है । इसलिए वह शून्य कहलाता है, सर्वथा शून्य नहीं ।८०। ध्यान युक्त योगीको जब तक कुछ भी विकल्प उत्पन्न होते रहते है, तब तक वह शून्य ध्यान नही, वह या तो चिन्ता है या भावना ।

५. पृथक्त्व वितर्क वीचारका स्वरूप

भ आ /मू /१८८०, १८८२ दव्वाइं अणेयाइं ताहिं वि जोगेहि जेणज्झायति । उवसंतमोहणिज्जा तेण पुधत्तत्ति त भणिया ।१८८०। अत्थाण वजणाण य जोगाण य सकमो हु वीचारो । तस्स य भावेण तय सुत्ते उत्त सवीचारं ।१८८२। =इस पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यानमें अनेक द्रव्य विषय होते है और इन विषयोका विचार करते समय उपशान्त मोह मुनि इन मन वचन काय योगोका परिवर्तन करता है ।१८८०। इस ध्यानमें अर्थके वाचक शब्द सक्रमण तथा योगोंका सक्रमण होता है । ऐसे वीचारो (सक्रमणोका) का सद्भाव होनेसे इसे सवीचार कहते है । अनेक द्रव्योंका ज्ञान करानेवाला जो शब्द श्रुत वाक्य उससे यह ध्यान उत्पन्न होता है, इसलिए इस ध्यानका पृथक्त्वबितर्क सवीचार ऐसा नाम है ।१८८२।

त. सू /९-४१-४४ एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ।४१। वितर्क' श्रुतम् ।४३। वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्ति' ।४४। =पहलेके दो ध्यान एक आश्रयवाले, सवितर्क, और सवीचार होते है ।४१। वितर्कका अर्थ श्रुत है ।४३। अर्थ, व्यजन और योगकी संक्रान्ति वीचार है ।४४। भावार्थ—पृथक्त्व अर्थात् भेद रूपसे वितर्क श्रुतका वीचार अर्थात् संक्रान्ति जिस ध्यानमें होती है वह पृथक्त्व वितर्क वीचार नामका ध्यान है। (ध. १३/५,४,२६/७७/११), (क. पा १/१,१७/§३१२/३४४/६) (ज्ञा /४२/१३,२०-२२)।

स. सि./९/४४/४५६/१ तत्र द्रव्यपरमाणु' भावपरमाणु' वा ध्यायन्नाहितवितर्कसामर्थ्य अर्थव्यञ्जने कायवचसी च पृथक्त्वेन सक्रामता मनसापर्याप्तबालोत्साहवदव्यवस्थितेनानिशितेनापि शस्त्रेण चिरात्तरु छिन्दन्निव मोहप्रकृतीरुपशमयन्क्षपयश्च पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानभाग्भवति । [पुनर्वीर्यविशेपहानेर्योगाद्योगान्तरं व्यञ्जनाद्व्यञ्जनान्तरमर्थादर्थान्तरमाश्रयन् ध्यानविधूतमोहरजा ध्यानयोगान्निवर्तते इति । पृथक्त्ववितर्कवीचारम् [रा वा]। =जिस प्रकार अपर्याप्त उत्साहसे बालक अव्यवस्थित और मौथरे शस्त्रके द्वारा भी चिरकालमें वृक्षको छेदता है उसी प्रकार चित्तकी सामर्थ्य को प्राप्त कर जो द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणुका ध्यान कर रहा है वह अर्थ और व्यंजन तथा काय और वचनमें पृथक्त्वरूपसे सक्रमण करनेवाले मनके द्वारा मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंका उपशम और क्षय करता हुआ पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यानको धारण करनेवाला होता है। फिर शक्तिकी कमीसे योगसे योगान्तर, व्यजनसे व्यंजनान्तर और अर्थसे अर्थान्तरको प्राप्त कर मोहरजका विधूननकर ध्यानसे निवृत्त होता है यह पृथक्त्ववितर्क वीचार ध्यान है। (रा. वा /९/४४/१/६३४/२५), (म पु /२१/१७०-१७३)।

ध १३/५,४,२६/गा. ५८-६०/७८ दव्वाइमणेगाइं तीहि वि जोगेहि जेण ज्झायति । उवसतमोहणिज्जा तेण पुधत्त ति तं भणितं ।५८। जम्हा सुद विदक्कं जम्हा पुव्वगयअत्थकुसलो य । ज्झायदि ज्झाणं एदंसविदक्क तेण त ज्झाण ।५९। अत्थाण वजणाण य जोगाण य सकमो हु वीचारो । तस्स य भावेण तग सुत्ते उत्तं सवीचार ।६०।

ध. १३/५,४,२६/७८/८ एकदव्व गुणपज्जायं वा पढमसमए बहुणयगहणणिलीणं सुदरविकिरणुज्जोयबलेण ज्झाएदि । एवं त चेव अतोमुहुत्तमेत्तकाल ज्झाएदि । तदो परदो अत्थतरस्स णियमा संकमदि । अधवा तम्हि चेव अत्थे गुणस्स पज्जयस्स वा संकमदि । पुव्विल्लजोगाजोगंतरं पि सिया संकमदि । एगमत्थमत्थंतरं गुणगुणतर पज्जायपज्जायतरं च हेट्ठोवरि ट्ठविय पुणो तिण्णि जोगे एगपंतीए ठविय दुसंजोग तिसजोगेहि एत्थ पुधत्तविदक्कवीचारज्झाणभगा बादालीस ।४२। उप्पाएदव्वा । एवमतोमुहुत्तकालमुवसंतकसाओ सुक्कलेस्साओ पुधत्तविदक्कवीचारज्झाणं छद्दव्व-णवपयत्थविसयमतोमुहुत्तकालं ज्झायइ । अत्थदो अत्थतरसंकमे सति वि ण ज्झाण विणासो, चित्तंतरगमणाभावादो । =१ यत. उपशान्त मोह जीव अनेक द्रव्योंका तीनों ही योगोके आलम्बनसे ध्यान करते है इसलिए उसे पृथक्त्व ऐसा कहा है ।५८। यत वितर्कका अर्थ श्रुत है और यत पूर्वगत अर्थमें कुशल साधु ही इस ध्यानको ध्याते है, इसलिए इस ध्यानको सवितर्क कहा है ।५९। अर्थ, व्यजन और योगोका सक्रम वीचार है। जो ऐसे सक्रमसे युक्त होता है उसे सूत्रमें सविचार कहा है ।६०। (त. सा./७/४५-४७)। २ इसका भावार्थ कहते है एक द्रव्य या गुण-पर्यायको श्रुत रूपी रविकिरणके प्रकाशके बलसे ध्याता है। इस प्रकार उसी पदार्थको अन्तर्मुहूर्त काल तक ध्याता है। इसके बाद अर्थान्तरपर नियमसे सक्रमित होता है। अथवा उसी अर्थके गुण या पर्यायपर सक्रमित होता है। और पूर्व योगसे स्यात योगान्तरपर सक्रमित होता है इस तरह एक अर्थ-अर्थान्तर, गुण-गुणान्तर और पर्याय-पर्यायान्तरको नीचे ऊपर स्थापित करके फिर तीन योगोको एक पंक्तिमें स्थापित करके

द्विसंयोगी और त्रिसंयोगीकी अपेक्षा यहाँ पृथक्त्ववितर्क वीचार ध्यानके ४२ भंग उत्पन्न करना चाहिए। इस प्रकार शुक्ललेश्या वाला उपशान्तकषाय जीव छह द्रव्य और नौ पदार्थ विषयक पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यानका अन्तर्मुहूर्त कालतक ध्याता है। अर्थसे अर्थान्तरका संक्रम होनेपर भी ध्यानका विनाश नहीं होता, क्योंकि इससे चिन्तान्तरमें गमन नहीं होता। (चा सा./२०४/१)।

द्र. स/टी/४८/२०२/६ पृथक्त्ववितर्कविचारं तावत्कथ्यते। द्रव्य-गुणपर्यायाणा भिन्नत्वं पृथक्त्वं भण्यते, स्वशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं भावश्रुतं तद्वाचकमन्तर्जल्पवचनं वा वितर्को भण्यते, अनीहितवृत्त्या-र्थान्तरपरिणमनम् वचनाद्वचनान्तरपरिणमनम् मनोवचनकाययोगेषु योगाद्योगान्तरपरिणमन वीचारो भण्यते। अयमत्रार्थः—यद्यपि ध्याता पुरुष स्वशुद्धात्मसवेदन विहाय बहिश्चिन्ता न करोति तथापि यावतांशेन स्वरूपे स्थिरत्व नास्ति तावतांशेनानीहितवृत्त्या विकल्पा स्फुरन्ति, तेन कारणेन पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यान भण्यते। =द्रव्य, गुण और पर्यायके भिन्नपनेको पृथक्त्व कहते है। निजशुद्धात्माका अनुभव रूप भावश्रुतको और निज.शुद्धात्माको कहने वाले अन्तर्जल्परूप वचनको 'वितर्क' कहते है। इच्छा विना ही एक अर्थसे दूसरे अर्थमें, एक वचनसे दूसरे वचनमें, मन वचन और काय इन तीनो योगोमेंसे किसी एक योगसे दूसरे योगमें जो परि-णमन है, उसको वीचार कहते है। इसका यह अर्थ है—यद्यपि ध्यान करनेवाला पुरुष निज शुद्धात्म सवेदनको छोडकर बाह्य पदार्थोंकी चिन्ता नहीं करता, तथापि जितने अंशोंसे स्वरूपमें स्थिरता नहीं है उतने अंशोंसे अनिच्छित वृत्तिसे विकल्प उत्पन्न होते है, इस कारण इस ध्यानको पृथक्त्व वितर्क वीचार कहते है।

६. एकत्व वितर्क अवीचारका स्वरूप

भ. आ/मू/१८८३/१६८६ जेणेगमेव दव्वं जोगेणेगेण अण्णदरेण। खीण-कसायो ज्झायदि तेणेगत्त तय भणियं।१८८३। =इस ध्यानके द्वारा एक ही योगका आश्रय लेकर एक ही द्रव्यका ध्याता चिन्तन करता है। इसलिए इसको एकत्व वितर्क ध्यान कहा गया है।१८८३।

स. सि./६/४४/४५६/४ स एव पुन. समूलतूलं मोहनीयं निर्दिधक्षन्ननन्तगुण विशुद्धियोगविशेषमाश्रित्य बहुतराणां ज्ञानावरणीय सहायीभूतानां प्रकृतीना बन्ध निरुन्धन् स्थिति ह्रासक्षयौ च कुर्वन् श्रुतज्ञानोपयोगो निवृत्तार्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्ति अविचलितमना. क्षीणकषायो वैडूर्य-मणिरिव निरुपलेपो ध्यात्वा पुनर्न निवर्तत इत्युक्तमेकत्ववितर्कम्। =पुन. जो समूल मोहनीय कर्मका दाह करना चाहता है, जो अनन्त-गुणी विशुद्धि विशेषको प्राप्त होकर बहुत प्रकारकी ज्ञानावरणीकी सहायभूत प्रकृतियोके बन्धको रोक रहा है, जो कर्मोंकी स्थितिको न्यून और नाश कर रहा है, जो श्रुतज्ञानके उपयोगमे युक्त है, जो अर्थ, व्यजन और योगकी सक्रान्तिसे रहित है। निश्चलमन वाला है, क्षीणकषाय है और वैडूर्यमणिके समान निरुपलेप है, इस प्रकार एकत्व वितर्क ध्यान कहा गया है। (रा. वा /६/४४/१/६३४/३१)।

ध. १३/५,४,२६/गा ६१-६३/७६ जेणेगमेव दव्व जोगेणेक्केण अण्णदरएण। खीणकसाओ ज्झायइ तेणेयत्त तं भणिद।६१। जम्हा सुदं विदक्कं जम्हा पुव्वगयअत्थकुसलो य। ज्झायदि झाणं एद सविदक्कं तेण तज्झाण।६२। अत्थाण वजणाण य जोगाण य संकमो हु विचारो। तस्स अभावेण तग ज्झाणमवीचारमिदि वुत्तं।६३।

ध १३/५,४,२६/८०/१ णवपयत्थेसु दव्व-गुण-पज्जयथ दव्व-गुण-पज्जय-भेदेण ज्झाएदि, अण्णदरजोगेण अण्णदराभिधाणेण य तत्थ एगम्हि दव्वे गुणे पज्जाए वा मेरुमहियरोव्व णिच्चलभावेण अवट्ठियचित्तस्स असखेज्जगुणसेडीए कम्मक्खधे गालयंतस्स अणंतगुणहीणाए सेडीए कम्माणुभागं सोसयतस्स कम्माणं ट्ठिदीयो एगजोग-एगाभिहाणज्झाणेण घादयतस्स अतोमुहुत्तमेत्तकालो गच्छदि तदो सेसखीणकसायद्धमेत्तट्ठिदीयो मोत्तूण उवरिमसव्वट्ठिदियो घेत्तूण उदयादिगुणसेडिसरूवेण रचिय पुणो ट्ठिदिखंडएण विणा अधट्ठिदिगलणेण असंखेज्जगुणसेडीए कम्मक्खंधे घादंतो गच्छदि जाव खीणकसायचरिमसमओ त्ति। तत्थ खीणकसायचरिमसमए णाणावरणीय-दंसणावरणीय अंतराइयाणि विणासेदि। एदेसु णिट्ठेसु केवलणाणी केवलदसणी अणंतवीरियो दाण-लाह-भोगुव-भोगेसु विग्घवज्जियो होदि त्ति घेत्तव्वं। =१. यत क्षीणकषाय जीव एक ही द्रव्यका किसी एक योगके द्वारा ध्यान करता है, इसलिए उस ध्यानको एकत्व कहा है।६१। यतः वितर्कका अर्थ श्रुत है और इसलिए पूर्वगत अर्थमें कुशल साधु इस ध्यानको ध्याता है, इसलिए इस ध्यानको सवितर्क कहा है।६२। अर्थ, व्यजन और योगोके संक्रमका नाम वीचार है। यत उस विचारके अभावसे यह ध्यान अवीचार कहा है।६३। (त सा/७/४८-५०), (क.पा. १/१, १७/§ ३१२/३४४/११), (ज्ञा./४२/१३-१६)। २ जो जीव नौ पदार्थोंमेंसे किसी एक पदार्थका द्रव्य, गुण और पर्यायके भेदसे ध्यान करता है। इस प्रकार किसी एक योग और एक शब्दके आलम्बनसे वहाँ एक द्रव्य, गुण या पर्यायमें मेरु पर्वतके समान निश्चल भावसे अवस्थित चित्तवाले, असख्यात गुणश्रेणि क्रमसे कर्मस्कन्धोंको गलाने-वाले, अनन्त गुणहीन श्रेणिक्रमसे कर्मोंके अनुरागको शोषित करने-वाले और कर्मोंकी स्थितियोंको एक योग तथा एक शब्दके आल-म्बनसे प्राप्त हुए ध्यानके बलसे घात करनेवाले उस जीवका अन्त-र्मुहूर्त काल रह जाता है। तदनन्तर शेष रहे क्षीणकषायके कालका प्रमाण स्थितियोंको छोडकर उपरिम सब स्थितियोंकी उदयादि श्रेणि रूपसे रचना करके पुन स्थिति काण्डक घातके बिना अध-स्थिति गलना आदि ही असख्यात गुणश्रेणि क्रमसे कर्म स्कन्धोंका घात करता हुआ क्षीण कषायके अन्तिम समयके प्राप्त होने तक जाता है। वहाँ क्षीण कषायके अन्तिम समयमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तरायका घात करके केवलज्ञानी, केवलदर्शनी, अनन्तवीर्य-धारी तथा दान-लाभ-भोग व उपभोगके विघ्नसे रहित होता है। (चा. सा/२०६/३)।

द्र. सं/टी/४८/२०४/४ निजशुद्धात्मद्रव्ये वा निर्विकारात्मसुखसवित्ति पर्याये वा निरुपाधिस्वसंवेदनगुणे वा यत्रैकस्मिन् प्रवृत्त तत्रैव वितर्कसंज्ञेन स्वसंवित्तिलक्षणभावश्रुतबलेन स्थिरीभूयावीचार गुणद्रव्यपर्यायपरावर्त्तन न करोति यत्तदेकत्ववितर्कावीचारसंज्ञं क्षीणकषायगुणस्थानसभवं द्वितीय शुक्लध्यानं भण्यते। तेनैव केवलज्ञानोत्पत्ति' इति। =निज शुद्धात्म द्रव्यमें या विकार रहित आत्मसुख अनुभवरूप पर्यायमें, या उपाधि रहित स्व संवेदन गुणमें इन तीनोंमेंसे जिस एक द्रव्य गुण या पर्यायमें प्रवृत्त हो गया और उसीमें वितर्क नामक निजात्मानुभवरूप भाव श्रुतके बलसे स्थिर होकर अवीचार अर्थात् द्रव्य गुण पर्यायमें परावर्तन नहीं करता वह एकत्व वितर्क नामक गुणस्थानमें होनेवाला दूसरा शुक्लध्यान कहलाता है जो कि केवल ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है।

७. सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपातीका स्वरूप

भ. आ/मू/१८८६-१८८७ अवितक्कमवीचार सुहुमकिरियबंधणं तदिय-सुक्क। सुहुमम्मि कायजोगे भणिदं तं सव्वभावगदं।१८८६। सुहु-मम्मि कायजोगे वट्टंतो केवली तदियसुक्कम्। झायदि णिरु भिदुजे सुहुमत्तणकायजोगपि।१८८७। =वितर्क रहित, अवीचार, सूक्ष्म क्रिया करनेवाले आत्माके होता है। यह ध्यान सूक्ष्म काय योगसे है।१८८६। प्रवृत्त होता है। त्रिकाल विषयक पदार्थोंको युगपद् प्रगट करनेवाला इस सूक्ष्म काययोगमें रहनेवाले केवली इस तृतीय शुक्ल-ध्यानके धारक है। उस समय सूक्ष्म काययोगका वे निरोध करते है।१८८७। (भ आ./मू/२११६), (ध. १३/५, ४, २६/गा. ७२-७३/८३), (त सा/७/५१-५२), (ज्ञा/४२/५१)।

म.सि./१/४४/४५६/८ एवमेकत्ववितर्कशुक्लध्यानवैश्वानरनिर्दग्धघातिकर्मेन्धनः·· स यदान्तर्मुहूर्तशेषायुष्कः·· तदा सर्वं वाङ्मनसयोगं बादरकाययोगं च परिहाप्य सूक्ष्मकाययोगालम्बन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानमास्कन्दितुमर्हतीति। · समीकृतस्थितिशेषकर्मचतुष्टय पूर्वशरीरप्रमाणो भूत्वा सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानं ध्यायति। = इस प्रकार एकत्व वितर्क शुक्लध्यानरूपी अग्निके द्वारा जिसने चार घातिया कर्म रूपी ईंधनको जला दिया है।· वह जब आयु कर्ममें अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहता है ··तब सब प्रकारके वचन योग, मनोयोग, और बादर काययोगको त्यागकर सूक्ष्म काययोगका आलम्बन लेकर सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती ध्यानको स्वीकार करते हैं। परन्तु जब उनकी सयोगी जिनकी आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रहती है।·· तब (समुद्घातके द्वारा) चार कर्मोंकी स्थितिको समान करके अपने पूर्व शरीर प्रमाण होकर सूक्ष्म काययोगके द्वारा सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति ध्यानको स्वीकार करते है (रा वा./९/४४/१/६३४/१), (ध. १३/५,४, २६/८३-८६/१२), (चा. सा./२०७/३)।

ध. १३/५,४,२६/८३/२ संपहि तदिय सुक्कज्झाणपरूवणं कस्सामो। तं जहा-क्रिया नाम योगः। प्रतिपतितु शीलं यस्य तत्प्रतिपाति। तत्प्रतिपक्षः अप्रतिपाति। सूक्ष्मक्रिया योगो यस्मिन् तत्सूक्ष्मक्रियम्। सूक्ष्मक्रियं च तदप्रतिपाति च सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानम्। केवलज्ञानेनापसारितश्रुतज्ञानत्वात् तदवितर्कम्। अर्थान्तरसंक्रान्त्यभावात्तदवीचारं व्यञ्जन-योगसंक्रान्त्यभावाद्वा। कथं तत्संक्रान्त्यभावः। तदवष्टम्भबलेन विना अक्रमेण त्रिकालगोचराशेषावगते। = अब तीसरे शुक्ल ध्यानका कथन करते है यथा—क्रियाका अर्थ योग है वह जिसके पतनशील हो वह प्रतिपाती कहलाता है, और उसका प्रतिपक्ष अप्रतिपाती कहलाता है। जिसमें क्रिया अर्थात् योग सूक्ष्म होता है वह सूक्ष्मक्रिय कहा जाता है, और सूक्ष्मक्रिय होकर जो अप्रतिपाती होता है वह सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती ध्यान कहलाता है। (द्र. स./टी /४८/२०४/८) यहाँ केवलज्ञानके द्वारा श्रुतज्ञानका अभाव हो जाता है, इसलिए यह अवितर्क है और अर्थांतरकी संक्रान्तिका अभाव होनेसे अवीचार है, अथवा व्यंजन और योगकी संक्रान्तिका अभाव होनेसे अविचार है। प्रश्न—इस ध्यानमें इनकी संक्रान्तिका अभाव कैसे है। उत्तर—इनके अवलंबनके बिना ही युगपत् त्रिकाल गोचर अशेष पदार्थोंका ज्ञान होता है।

८. समुच्छिन्न क्रिया निवृत्तिका स्वरूप

भ. आ./मू./१८८८, २१२३ अवियक्कमवीचारं अणियट्टिमकिरियं च सीलेसिं। ज्झाणं णिरुद्धयोग अपच्छिम उत्तम सुक्कं।१८८८। देहतियबंधपरिमोक्खत्थं केवली अजोगी सो। उवयादि समुच्छिण्णकिरियं तु भाणं अपडिवादी।२१२३। = अन्तिम उत्तम शुक्लध्यान वितर्क रहित है, वीचार रहित है, अनिवृत्ति है, क्रिया रहित है, शैलेशी अवस्थाको प्राप्त है और योग रहित है। (ध १३/५,४, २६/गा. ७७/८७) औदारिक शरीर, तैजस व कार्मण शरीर इन तीन शरीरोंका बन्ध नाश करनेके लिए वे अयोगिकेवली भगवान् समुच्छिन्न क्रिया निवृत्त नामक चतुर्थ शुक्लध्यानको ध्याते हैं (त. सा./७/५३-५४)।

स. सि./९/४४/४५७/६ ततस्तदनन्तर समुच्छिन्नक्रियानिवर्त्तिध्यानमारभते। समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोगसर्वप्रदेशपरिस्पन्दक्रियाव्यापारत्वात् समुच्छिन्ननिवृत्तीत्युच्यते। = इसके बाद चौथे समुच्छिन्न क्रिया निवृति ध्यानको प्रारम्भ करते हैं। इसमें प्राणापानके प्रचार रूप क्रियाका तथा सब प्रकारके काययोग वचनयोग और मनोयोगके द्वारा होनेवाली आत्म प्रदेश परिस्पन्द रूप क्रियाका उच्छेद हो जानेसे इसे समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति ध्यान कहते है (रा. वा./९/४४/१/६३५/११), (चा. सा./२०९/३)।

ध. १३/५,४,२६/८७/६ समुच्छिन्नक्रिया योगो यस्मिन् तत्समुच्छिन्नक्रियम्। समुच्छिन्नक्रियं च अप्रतिपाति च समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति ध्यानम्। श्रुतरहितत्वात् अवितर्कम्। जीवप्रदेशपरिस्पन्दाभावाद-वीचारं अर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्त्यभावाद्वा। = जिसमें क्रिया अर्थात् योग सब प्रकारसे उच्छिन्न हो गया है वह समुच्छिन्न क्रिय है और समुच्छिन्न क्रिया होकर जो अप्रतिपाती है वह समुच्छिन्नक्रिया-प्रतिपाति ध्यान है। यह श्रुतज्ञानसे रहित होनेके कारण अवितर्क है, जीव प्रदेशोंके परिस्पन्दका अभाव होनेसे अविचार है, या अर्थ, व्यंजन और योगकी संक्रान्तिके अभाव होनेसे अविचार है।

द्र. स./टी/४८/२०४/६ विशेषेणोपरता निवृत्ता क्रिया यत्र तद् व्युपरतक्रियं च तदनिवृत्ति चानिवर्तकं च तद् व्युपरतक्रियानिवृत्तिसंज्ञं चतुर्थशुक्लध्यानं। = विशेष रूपसे उपरत अर्थात् दूर हो गयी है क्रिया जिसमें वह व्युपरतक्रिय है, व्युपरतक्रिय हो और अनिवृत्ति हो वह व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामा चतुर्थ शुक्लध्यान है।

२. शुक्लध्यान निर्देश

१. शुक्ल ध्यानमें श्वासोच्छ्वासका निरोध हो जाता है

प. प्र./मू./२/१६२ णास-विणिग्गउ सासडा अंबरि जेत्थु विलाइ। तुट्टइ मोहु तड त्ति तहिं मणु अत्थवणह जाइ।१६२। = नाकसे निकला जो श्वास वह जिस निर्विकल्प समाधिमें मिल जावे, उसी जगह मोह शीघ्र नष्ट हो जाता है, और मन स्थिर हो जाता है।१६२।

भ. आ./वि./१८८८/१६११/४ अकिरियं समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारः। = इस (समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति) ध्यानमें सर्व श्वासोच्छ्वासका प्रचार बन्द हो जाता है।

२. पृथक्त्व वितर्कमें प्रतिपातपना सम्भव है

ध. १३/५,४,२६/पृ पंक्ति तदो परदो अत्थंतरस्स णियमा संकमदि (७८/१०) उवसंतकसाओ पुधत्तविदक्कवीचारज्झाणं · अंतोमुहुत्तकालं ज्झायइ (७८/१४) एव एदम्हादो णिव्वुइगमणाणुवलंभादो (७९/१) उवसंत। = अर्थसे अर्थान्तरपर नियमसे संक्रमित होता है।·· इस प्रकार उपशान्त कषाय जीव पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यानको अन्तर्मुहूर्त कालतक ध्याता है। · इस प्रकार· इस ध्यानके फलसे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती।

३. एकत्व वितर्क में प्रतिपातका विधि निषेध

स. सि./९/४४/४५६/८ ध्यात्वा पुनर्न निवर्तत इत्युक्तमेकत्ववितर्कम्। = वह ध्यान करके पुन नहीं लौटता। इस प्रकार एकत्व वितर्क ध्यान कहा।

ध. १३/५,४,२६/८१/६ उवसंतकसायम्मि भवद्धाक्खएहि कसाएसु णिवदिदम्मि पडिवादुवलंभादो। = उपशान्त कषाय जीवके भवक्षय और कालक्षयके निमित्तसे पुनः कषायोंके प्राप्त हानेपर एकत्व वितर्क-अविचार ध्यानका प्रतिपात देखा जाता है।

४. चारों शुक्लध्यानोंमें अन्तर

भ. आ./वि./१८८४-१८८५/१६८७/२० एकद्रव्यालम्बनत्वेन परिमितानेकसर्वपर्यायद्रव्यालम्बनात् प्रथमध्यानात्समस्तवस्तुविषयाभ्यां तृतीयचतुर्थाभ्यां च विलक्षणता द्वितीयस्यानया गाथया निवेदिता। क्षीणकषायग्रहणेन उपशान्तमोहस्वामिकत्वात्। सयोग्ययोगकेवलिस्वामिकाभ्यां च भेदः पूर्ववदेव। पूर्वव्यावर्णितवीचाराभावादवीचारत्वं। = यह ध्यान (एकत्व वितर्क ध्यान) एक द्रव्यका ही आश्रय करता है इसलिए परिमित अनेक पर्यायों सहित अनेक द्रव्योंका

तै इस पहिले ध्यान विषै, अर्थ व्यंजन योगके विषय उपयोगकी पलटनी बिना इच्छा होय है।

३. योग संक्रान्ति बन्धका कारण नहीं रागादि है

पं.ध /उ./८८० व्याप्तिर्बन्धस्य रागाद्यै र्नाव्याप्तिविकल्पैरिव। विकल्पैरस्य चाव्याप्ति र्न व्याप्ति किल तैरिव ।८८०। =रागादि भावोंके साथ बन्धकी व्याप्ति है किन्तु जैसे ज्ञानके विकल्पोके साथ अव्याप्ति है वैसे ही रागादिके साथ बन्धकी अव्याप्ति नहीं, अर्थात् विकल्पोके साथ इस बन्धकी अव्याप्ति ही है, किन्तु रागादिके साथ जैसी बन्धकी व्याप्ति है ऐसी बन्धके विकल्पोके साथ व्याप्ति नही है ।८८०।

शुचि—१ रा. वा /९/७/६/६०२/४ शुचित्वं द्विविधम्—लौकिकं लोकोत्तरं चेति। तत्रात्मन प्रक्षालितकर्ममलकलङ्कस्य स्वात्मन्यवस्थानं लोकोत्तरं शुचित्वम्, तत्साधनं च सम्यग्दर्शनादि तद्वन्तश्च साधवः तदधिष्ठानानि च निर्वाणभूम्यादीनि तत्प्राप्त्युपायत्वाच्छुचिव्यपदेशमर्हन्ति। लौकिकं शुचित्वमष्टविधम्—कालाग्निभस्ममृत्तिकागोमयसलिलज्ञाननिर्विचिकित्सत्वभेदात्। =लौकिक और लोकोत्तरके भेदसे शुचित्व दो प्रकारका है। कर्ममल-कलंकको धोकर आत्माका आत्मामें ही अवस्थान लोकोत्तर शुचित्व है। इसके साधन सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयधारी साधुजन तथा उनसे अधिष्ठित निर्वाणभूमि आदि मोक्ष प्राप्तिके उपाय होनेसे शुचि है। काल, अग्नि, भस्म, मृत्तिका, गोबर, पानी, ज्ञान और निर्विचिकित्सा—ग्लानिरहितपना, इस प्रकार लौकिक—लोक प्रसिद्ध शुचित्व आठ प्रकार का है (चा सा /११०/६)।

रा. वा./६/१२/१०/५२३/४ लोभप्रकाराणामुपरम' शौचम्। =लोभके प्रकारोसे निवृत्ति शौच है। २ पिशाच जातीय व्यन्तर देवोका एक भेद—दे पिशाच।

शुतभुंग—ई श. ७ के उत्तरार्धमें मान्यखेटके राजा थे। (म्रि॰ वि/प्र. ११ प. महेन्द्र)।

शुद्ध—

१. शुद्धका लक्षण

ध. १३/५.५.५०/२८६/११ वचनार्थगतदोषातीतत्वाच्छुद्धः सिद्धान्त। =वचन और अर्थगत दोषोंसे रहित होनेके कारण सिद्धान्तका नाम शुद्ध है।

आ. प /६ शुद्ध' केवलभावम्। =शुद्ध अर्थात् केवलभाव।

दे. तत्त्व/१/१ तत्त्व, परमार्थ, द्रव्य, स्वभाव, परमपरम, ध्येय शुद्ध और परम एकार्थवाची है।

स. सा./आ./६ अशेषद्रव्यान्तरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमान' शुद्ध इत्यभिलप्यते। =समस्त अन्य द्रव्योके भावोंसे भिन्न उपासित होता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है।

स. सा./ता. वृ /१०२/१६२/१६ निरुपाधिरूपमुपादानं शुद्ध, पीतत्वादिगुणानां सुवर्णवत् अनन्तज्ञानादिगुणाना सिद्धजीववत। =निरुपाधि रूप उपादान शुद्ध कहलाता है जैसे--सुवर्णके पीतत्व आदि गुण, की भाँति सिद्ध जीव के अनन्त ज्ञान आदि गुण।

प. प्र./टी./१/१३ शुद्धो रागादिरहितो। =शुद्ध अर्थात् रागादि रहित।

द्र. स /टी /२८/९०/१ को चूलिका—मिथ्यात्वरागादिसमस्तविभावरहितत्वेन शुद्ध इत्युच्यते। =मिथ्यात्व, राग आदि भावोसे रहित होनेके कारण आत्मा शुद्ध कहा जाता है।

प. ध./उ /२२१ शुद्ध' सामान्यमात्रत्वादशुद्ध तद्विशेषत। =वस्तु सामान्य रूपसे अनुभवमे आती है तब वह शुद्ध है, और विशेष भेदोकी अपेक्षामे अशुद्ध कहलाती है।

२. अन्य सम्बन्धित विषय

१. जीवमें कथंचित् शुद्धत्व व अशुद्धत्व। —दे. जीव/३।

२. शुद्धाशुद्ध पारिणामिक भाव। —दे. पारिणामिक।

शुद्ध चेतना—दे. चेतना/१।

शुद्धद्रव्यार्थिक नय—दे. नय/IV/२।

शुद्धनय—दे. नय/I/५/४।

शुद्ध निश्चयनय—दे. नय/V/१।

शुद्ध पर्यायार्थिक नय—दे. नय/IV/४।

शुद्धमति—भूत कालीन द्वाविंशति तीर्थंकर—दे. तीर्थंकर/५।

शुद्धात्म दर्शन—
शुद्धात्म स्वरूप—
शुद्धात्म ज्ञान—
} निर्विकल्प समाधिके अपरनाम। —दे. मोक्षमार्ग/२/५।

शुद्धाद्वैत—दे. वेदान्त/७।

शुद्धाभदेव—भूतकालीन पाँचवे तीर्थंकर—दे. तीर्थंकर/५।

शुद्धि—जैनाम्नायमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भोजनादि आदि रूप अनेक प्रकारकी शुद्धियोका निर्देश है जिनका विवेक यथायोग्य प्रत्येक धर्मानुष्ठानमें रखना योग्य है।

१. शुद्धि सामान्यका लक्षण

स. सा./ता वृ./३०६-३०७/३८८/१३ दोषे सति प्रायश्चित्तं गृहीत्वा विशुद्धिकारणं शुद्धि। =दोष होनेपर प्रायश्चित्त लेकर विशुद्धि करना शुद्धि कहलाती है।

२. शुद्धिके भेद

१. संयमकी आठ शुद्धियाँ

रा वा /९/६/१६/५९६/१ अपहृतसंयमस्य प्रतिपादनार्थः शुद्ध्यष्टकोपदेशो द्रष्टव्य। तद्यथा, अष्टौ शुद्धय —भावशुद्धि', कायशुद्धि', विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि', भिक्षाशुद्धि', प्रतिष्ठापनशुद्धि, शयनासनशुद्धि वाक्यशुद्धिश्चेति। =इस अपहृत संयमके प्रतिपादनके लिए ही इन आठ शुद्धियोका उपदेश दिया गया है—भाव शुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथ शुद्धि, भिक्षाशुद्धि, प्रतिष्ठापन शुद्धि, शयनासनशुद्धि और वाक्यशुद्धि। (रा वा./८/१/३०/५६४/२६); (चा. सा /७६/१), (अन. ध./६/४९)।

२ सल्लेखना सम्बन्धी अन्तरंग व बहिरंग शुद्धियाँ

भ. आ./मू /१६६-१६७/३७६-३८० आलोयणाए सेज्जसथारुवहीण भत्तपाणस्स। वेज्जावच्चकराण य सुद्धी खलु पचहा होइ।१६६। अहवा दसणणाणचरित्तसुद्धी य विणयसुद्धी य। आवासयसुद्धी वि य पंच विगप्पा हवदि सुद्धी।१६७। =आलोचनाकी शुद्धि, शय्या और सस्तरकी शुद्धि, उपकरणोकी शुद्धि, भक्तपान शुद्धि, इस प्रकार वैयावृत्यकरण शुद्धि पाँच प्रकारकी है।१६६। अथवा दर्शन शुद्धि, ज्ञानशुद्धि, चारित्र शुद्धि, विनयशुद्धि, और आवश्यक शुद्धि ऐसी पाँच प्रकारकी है।१६७। =(अन ध /८/४२)।

३ स्वाध्याय सम्बन्धी चार शुद्धियाँ

ध. ९/४,१ ५४/२५३/१ एत्थ वक्खाणतेहि सुणंतेहि वि दव्व-खेत्त-काल-भवसुद्धीहि वक्खाण पढणवावारो कायव्वो। =यहाँ व्याख्यान

करनेवाले और सुननेवालोंको भी द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धिसे व्याख्यान करनेमें या पढनेमें प्रवृत्ति करना चाहिए। (विशेष—दे स्वाध्याय/२), (अन. ध./६/४/८४७)।

४ लिंग व व्रतकी १० शुद्धियाँ

मू आ /७६६ लिंग वद च सुद्धी वसदि विहार च भिक्खणाण च। उज्भणसुद्धी य पुणो वक्क च तव तधा भाण।७६६। =लिंगशुद्धि, व्रतशुद्धि, वसतिशुद्धि, विहारशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, उज्भण-शुद्धि, वाक्यशुद्धि, तपशुद्धि और ध्यानशुद्धि।

५ लौकिक आठ शुचियाँ

दे. शुचि। काल, अग्नि, भस्म, मृतिका, गोबर, जल, ज्ञान और निर्वि-चिकित्साके भेदसे आठ प्रकारकी लौकिक शुचि है।

३. मन, वचन व काय शुद्धियोंका लक्षण

भ आ /वि /१६७/३८०/१३ दृष्टफलानपेक्षिता विनयशुद्धि। तस्यां सत्यामुपकरणादिलोभो निरस्तो भवति। =कीर्ति आदर इत्यादि लौकिक फलोंकी इच्छा छोडकर साधर्मिक जन, गुरुजन इत्यादिको-का विनय करना विनय शुद्धि है, इसके होनेसे उपकरण आदि के लोभका अभाव होता है।

नि. सा./मू./११२ मदमाणमायलोहविवज्जिय भावो दु भावसुद्धि त्ति। परिकहियं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं॥ =(आलोचना प्रकरणमें) मद, मान, माया और लोभ रहित भाव वह भाव शुद्धि है। ऐसा भव्योंको लोकालोकके द्रष्टाओंने कहा है।११२। (मू. आ /२७६)

नोट -वचनशुद्धि—दे समिति/१।

रा वा /६/६/१६/५१७/४ तत्र भावशुद्धि कर्मक्षयोपशमजनिता मोक्ष-मार्गरुच्याहितप्रसादा रागाद्युपप्लवरहिता। तस्या सत्यामाचार प्रकाशते परिशुद्धभित्तिगतचित्रकर्मवत्। कायशुद्धिर्निरावरणाभरणा निरस्तसंस्कारा यथाजातमलधारिणी निराकृताङ्गविकारा सर्वत्र प्रयतवृत्ति प्रशममुखं मूर्तिमिव प्रदर्शयन्तीति। तस्या सत्या। न स्वतोऽन्यस्य भयमुपजायते नाप्यन्यतस्तस्य। विनयशुद्धि अर्हदादिषु परमगुरुषु यथार्हं पूजा प्रवणा, ज्ञानादिषु च यथाविधि भक्तियुक्ता गुरोः सर्वत्रानुकूलवृत्ति, प्रश्नस्वाध्यायवाचनाकथाविज्ञप्त्यादिषु प्रतिपत्तिकुशला, देशकालभावावबोधनिपुणा, आचार्यानुमतचारिणी। तन्मूला सर्वसंपद, सैषा भूषा पुरुषस्य, सैव नौ ससारसमुद्रतरणे। =भावशुद्धि—कर्मके क्षयोपशमसे जन्य, मोक्षमार्गकी रुचिसे जिसमे विशुद्धि प्राप्त हुई है और जो रागादि उपद्रवोसे रहित है वह भाव-शुद्धि है। इसके होनेसे आचार उसी तरह चमक उठता है जैसे कि स्वच्छ दिवालपर आलेखित चित्र। कायशुद्धि—यह समस्त आवरण और आभरणोंसे रहित, शरीर सस्कारसे शून्य, यथाजात मलको धारण करनेवाली, अंगविकारसे रहित, और सर्वत्र यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्तिरूप है। यह मूर्तिमान् प्रशमसुखकी तरह है। इसके होनेपर न तो दूसरोंसे अपनेको भय होता है और न अपनेसे दूसरोको। विनयशुद्धि—अर्हन्त आदि परम गुरुओंमें यथायोग्य पूजा-भक्ति आदि तथा ज्ञान आदिमें यथाविधि भक्तिसे युक्त गुरुओमें सर्वत्र अनुकूल वृत्ति रखनेवाली, प्रश्न स्वाध्याय, वाचना, कथा और विज्ञप्ति आदिमें कुशल, देश काल और भावके स्वरूपको समझनेमें तत्पर तथा आचार्यके मतका आचरण करनेवाली विनयशुद्धि है। समस्त सम्पदाएँ विनयमूलक है। यह पुरुषका भूषण है। यह ससार समुद्रसे पार उतारनेके लिए नौकाके समान है।

ध. ६/४,१,५४/२५४/१० अवगयराग-दोसाहंकारट्ट-रुद्दज्झाणस्स पंच-महव्वयकलिदस्स तिगुत्तिगुत्तस्स णाण-दंसण-चरणादिचारणवड्ढिद-दस्स भिक्खुस्स भावसुद्धी होदि। =राग, द्वेष, अहंकार, आर्त व रौद्र ध्यानसे रहित, पाँच महाव्रतोंसे युक्त, तीन गुप्तियोंसे रक्षित, तथा ज्ञान दर्शन व चारित्र आदि आचारसे वृद्धिको प्राप्त भिक्षुके भावशुद्धि होती है।

वसु श्रा /२२६-२३० चइऊण अट्टरुद्दे मणसुद्धी होइ कायव्वा।२२६। सव्वत्थसंपुडंगस्स होइ तह कायसुद्धी वि।२३०। =आर्त, रौद्र ध्यान छोडकर मन शुद्धि करना चाहिए।२२६। सर्व ओरसे सपुटित अर्थात् विनीत अंग रखनेवाले दातारके कायशुद्धि होती है।

४. द्रव्य, क्षेत्र व काल शुद्धियोंके लक्षण

मू आ /२७६ रुहिरादि पूयमंसं दव्वे खेत्ते सदहत्थपरिमाणं। =लोही, मल, मूत्र, वीर्य हाड, पीव मासरूप द्रव्यका शरीरसे सम्बन्ध करना। उस जगहसे चारों दिशाओंमें सौ सौ हाथ प्रमाण स्थान छोडना क्रमसे द्रव्य व क्षेत्रशुद्धि है।

ध. ६/४,१,५४/गा. १०३-१०७/२५६ प्रमितिररत्निशतं स्यादुच्चार-विमोक्षणक्षितेरारात्। तनुसलिलमोक्षणेऽपि च पञ्चाशदरत्निरेवातः।१०३। मानुषशरीरलेशावयवस्याप्यत्र दण्डपञ्चाशत्। सशोध्या तिरश्चा तदर्द्धमात्रैव भूमि स्यात्।१०४। क्षेत्र सशोध्य पुन स्वहस्त-पादौ विशोध्य शुद्धमना। प्राशुकदेशावस्थो गृह्णीयाद् वाचना पश्चात्।१०७। =मल छोडनेकी भूमिसे सौ अरत्नि प्रमाण दूर, तनु-सलिल अर्थात् मूत्र छोडनेमें भी इस भूमिसे पचास अरत्नि दूर, मनुष्य शरीरके लेशमात्र अवयवके स्थानसे पचास धनुष तथा तिर्यंचोंके शरीर सम्बन्धी अवयवके स्थानसे उससे आधी मात्र अर्थात् पच्चीस धनुष प्रमाण भूमिको शुद्ध करना चाहिए।१०३-१०४। क्षेत्रकी शुद्धि करनेके पश्चात् अपने हाथ और पैरोंको शुद्ध करके तदनन्तर विशुद्ध मन युक्त होता हुआ प्रासुक देशमें स्थित होकर वाचनाको ग्रहण करे।१०७।

दे. आहार/II/२/१ उद्गम, उत्पादन, अशन, सयोजना, प्रमाण, अगार, धूम, कारण—इन दोषोसे रहित भोजन ग्रहण करना वह आठ प्रकार-की पिंड (द्रव्य) शुद्धि है।

ध. ६/४,१,५४/२५३-२५४/३ तत्र ज्वर-कुक्षि-शिरोरोग-दुःस्वप्न-रुधिर-विण्-मूत्र-लेपातीसार-पूयस्रावादीनां शरीरे अभावो द्रव्यशुद्धि। व्याख्यातृव्यावस्थितप्रदेशात् चतसृष्वपि दिक्ष्वष्टाविंशतिसहस्राया-तासु-विण्मूत्रास्थि-केश नख-चर्माद्यभाव षडतीतवाचनात आरा-त्पञ्चेन्द्रियशरीरार्द्रास्थि-त्वङ्मासासृक्संबन्धाभावश्च क्षेत्रशुद्धि। विद्युदिन्द्रधनुर्ग्रहोपरागाकालवृष्ट्यभ्रगर्जन - जीमूतव्रातप्रच्छाद - दिग्दाह - धूमिकापात - संन्यास-महोपवास-नन्दीश्वरजिनमहिमाद्य-भाव कालशुद्धि। अत्र कालशुद्धिकरणविधानमभिधास्ये। त जहा-पच्छिमरत्तिसज्झाय खमाविय बहिं णिक्कलिय पासुवे भूमिपदेसे काओसग्गेण पुव्वाहिमुहो ट्ठाइदूण णवगाहापरियट्टणकालेण पुव्वदिस सोहिय पुणो पदाहिणेण पल्लटिय एदेणेव कालेण जम-वरुण-सोम-दिसासु सोहिदासु छत्तीसगाहुच्चारणकालेण (३६) अट्ठसदुस्सास-कालेण वा कालसुद्धी समप्पदि (१०८) अवरण्हे वि एव चेव कालसुद्धी कायव्वा। णवरि एक्केक्काए दिसाए सत्त-सत्तगाहापरियट्टणेण परि-च्छिण्णकाला त्ति णायव्वा। एत्थ सव्वगाहापमाणमट्ठावीस (२८) चउरासीदि उस्सासा (८४) पुणो अणत्थमिदे दिवायरे खेत्तसुद्धि कादूण अत्थमिदे कालसुद्धि पुव्व व कुज्जा। णवरि एत्थ कालो वीसगाहुच्चा-रणमेत्तो (२०) सट्ठिउस्सासमेत्तो वा (६०)=१ द्रव्यशुद्धि—ज्वर कुक्षि-रोग, शिरोरोग, कुत्सित स्वप्न, रुधिर, विष्टा, मूत्र, लेप, अतिसार और पीवका बहना इत्यादिकोका शरीरमें न रहना द्रव्यशुद्धि कही जाती है। २. क्षेत्रशुद्धि—व्याख्यातासे अधिष्ठित प्रदेशसे चारो ही दिशाओंमें अट्ठाईस हजार (धनुष) प्रमाण क्षेत्रमें विष्टा, मूत्र, हड्डी, केश नख और केश तथा चमडे आदिके अभावको, तथा छह अतीत वाचनाओसे (?) समीपमे (या दूरी तक) पंचेन्द्रिय जीवके शरीर सम्बन्धी गीली हड्डी, चमडा, मास और रुधिरके सम्बन्धके अभावको क्षेत्रशुद्धि कहते है (मू आ /२७६)। ३ कालशुद्धि—बिजली, इन्द्रधनुष, सूर्य चन्द्रका ग्रहण, अकाल वृष्टि, मेघगर्जन,

मेघोके समूहसे आच्छादित दिशाएँ, दिशादाह, धूमिकापात, (कुहरा), सन्यास, महोपवास, नन्दीश्वर महिमा और जिनमहिमा इत्यादिके अभावको कालशुद्धि कहते है। यहाँ कालशुद्धि करनेके विधानको कहते है। वह इस प्रकार है—पश्चिम रात्रिके सन्धिकालमे क्षमा कराकर बाहर निकल प्रासुक भूमिप्रदेशमें कायोत्सर्गसे पूर्वाभिमुख स्थित होकर नौ गाथाओके उच्चारणकालसे पूर्व दिशाको शुद्ध करके फिर प्रदक्षिणा रूपसे पलट कर इतने ही कालसे दक्षिण, पश्चिम व उत्तर दिशाओको शुद्ध कर लेनेपर ३६ गाथाओके उच्चारण कालमे अथवा १०८ उच्छ्वास कालसे कालशुद्धि समाप्त होती है। अपराह्न कालमें भी इस प्रकार ही कालशुद्धि करना चाहिए। विशेष इतना है कि इस समयकी कालशुद्धि एक-एक दिशाओंमें सात-सात गाथाओंके उच्चारण कालसे सीमित है, ऐसा जानना चाहिए। यहाँ सब गाथाओका प्रमाण २८ अथवा उच्छ्वासोका प्रमाण ८४ है। पश्चात् सूर्यके अस्त होनेसे पहले क्षेत्र शुद्धि करके सूर्यके अस्त हो जानेपर पूर्वके समान कालशुद्धि करना चाहिए। विशेष इतना है कि यहाँ काल बीस २० गाथाओके उच्चारण प्रमाण अथवा ६० उच्छ्वास प्रमाण है। (अर्थात् प्रत्येक दिशामें ५ गाथाओका उच्चारण करे)। (मू आ/२७३)।

क्रिया कोप/ प्रथम रसोईके स्थान चक्की उखरी द्वय त्रय जान। चौथो अनाज सोधने काज जमीन चौका पंचम म ढ ॥ छठमे आटा छनने सोय सप्तम थान सयनका होय। पानी थान सु अष्टम जान सामायिकका नवमो थान।

५. दर्शन ज्ञान व चारित्र शुद्धियोंके लक्षण

मू. आ/गाथा स चलचवलचवलजीविदमिणं णाऊण माणुसत्तणमसारं। णिव्विण्णकामभोगा धम्मम्मि उवट्ठिदमदीया।७७३। णिम्मालियसुमिणाविय धणकणयसमिद्धबंधवजणं च। पयहंति वीरपुरिसा विरत्तकामा गिहावासे।७७४। उच्छाहणिच्छिदमदी ववसिदववसायबद्धकच्छा य। भावाणुरायरत्ता जिणपण्णत्तम्मि धम्मम्मि।७७७। अपरिग्गहा अणिच्छा संतुट्ठा सुट्ठिदा चरित्तम्मि। अवि णीएवि सरीरे ण करंति मुणी ममत्ति ते।७८३। ते लद्धणाण चक्खू ण।णुज्जोएण दिट्ठपरमट्ठा। णिस्संकिदणिव्विदिगिंछादबलपरक्कमा साधू।८२८। उवलद्धपुण्णपावा जिणसासणगहिदमुणिदपज्जाला। करचरणसवुडंगा झाणुवजुत्ता मुणी होंति।८३५। ते छिण्णणेहबंधा णिण्णेहा अप्पणो सरीरम्मि। ण करंति किंचि साहू परिसंठप्पं सरीरम्मि।८३६। उप्पण्णम्मि य वाही सिरवेयण कुक्खिवेयणं चेव। अधियासिंति सुधिदिया कायतिगिंछ ण इच्छंति।८३६। णिच्चं च अप्पमत्ता संजमसमिदीसु झाणजोगेसु। तवचरणकरणजुत्ता हवंति सवणा समिदपावा।८६२। विसएसु पधावंता चवला चडा तिदंडगुत्तेहिं। इंदियचोरा घोरा वसम्मि ठविदा ववसिदेहिं।८७३। ण च एदि विणिस्सरिदुं मणहत्थी झाण वारिबंधणीदो। बद्धो य पयडो विरायरज्जूहि धीरेहि।८७६। एदे इंदियतुरया पयदीदोसेण चोइदा संता। उम्मग्गं णेंति रहं करेह मणपग्गहं बलियं।८७९। =१. लिंग शुद्धि—अस्थिर नाशसहित इस जीवनको और परमार्थ रहित इस मनुष्य जन्मको जानकर स्त्री आदि उपभोग तथा भोजन आदि भोगोंसे अभिलाषा रहित हुए, निर्ग्रन्थादि स्वरूप चारित्रमें दृढ बुद्धिवाले, घरके रहनेसे विरक्त चित्तवाले ऐसे वीर पुरुष भोगमें आये फूलोंकी तरह गाय, घोडा आदि—धन-सोना इनसे परिपूर्ण ऐसे बान्धव जनोको छोड देते है।७७३-७७४। तपमें तल्लीन होनेमें जिनकी बुद्धि निश्चित है जिन्होंने पुरुषार्थ किया है, कर्मके निर्मूल करनेमें जिन्होंने कमर कसी है, और जिनदेव कथित धर्ममें परमार्थभूत भक्ति उसके प्रेमी है, ऐसे मुनियोके लिंगशुद्धि होती है।७७७। २ व्रतशुद्धि—आश्रय रहित, आशा रहित, सन्तोषी चारित्रमें तत्पर ऐसे मुनि अपने शरीरमें ममत्व नही करते।७८३।

३. ज्ञानशुद्धि—जिन्होने ज्ञान नेत्र पा लिया है, ऐसे साधु है, ज्ञानरूपी प्रकाशसे जिन्होने सब लोकका सार जान लिया है, पदार्थोंमें शका रहित, अपने बलके समान जिनके पराक्रम है ऐसे साधु है।।८२८। जिन्होने पुण्य-पापका स्वरूप जान लिया है, जिन मतमें स्थित सब इन्द्रियोका स्वरूप जिन्होने जान लिया है, हाथ, पैर, कर से ही जिनका शरीर ढँका हुआ है और ध्यानमें उद्यमी है।८३५। ४. उज्झणशुद्धि—पुत्र-स्त्री आदिमें जिनने प्रेमरूपी बन्धन काट दिया है और अपने शरीरमें भी ममता रहित ऐसे साधु शरीरमें कुछ भी—स्नानादि संस्कार नहीं करते।८३६। ज्वर रोगादिक उत्पन्न होनेपर भी मस्तकमे पीडा, उदरमें पीडा होने पर भी चारित्रमे दृढ परिणाम वाले वे मुनि पीडाको सहन कर लेते है, परन्तु शरीरका उपचार करनेकी इच्छा नही करते।८३६। ५. तपशुद्धि—वे मुनीश्वर सदा संयम, समिति, ध्यान और योगोंमें प्रमाद रहित होते है और तपचरण तथा तेरह प्रकार के करणोंमें उद्यमी हुए पापोके नाश करनेवाले होते है।८६२। ६. ध्यान शुद्धि—रूप, रसादि विषयोमें दौडते चंचल क्रोधको प्राप्त हुए भयंकर ऐसे इन्द्रिय रूपी चोर मन वचनकाय गुप्तिवाले चारित्रमें उद्यमी साधुजनोंने अपने वशमें कर लिये है।८७३। जैसे मस्त हाथी बारिबन्धकर रोका गया निकलनेको समर्थ नही होता, उसी तरह मन रूपी हाथी ध्यानरूपी बारिबन्धको प्राप्त हुआ धीर अति प्रचण्ड होने पर भी मुनियों कर वैरागरूपी रस्से कर संयम बन्धको प्राप्त हुआ निकलने में समर्थ नहीं हो सकता।८७६। ये इन्द्रिय रूपी घोडे स्वाभाविक राग-द्वेष कर प्रेरे हुए धर्मध्यान रूपी रथको विषयरूपी कुमार्गमें ले जाते है, इसलिए एकाग्र मनरूपी लगामको बलवान करो।८७९।

भ. आ./वि./१६७/३८०/१ काले पठनमित्यादिका ज्ञानशुद्धि, अस्यां सत्यां अकालपठनाद्याः क्रिया ज्ञानावरणमूलाः परित्यक्ता भवन्ति। पञ्चविंशति भावनाश्चारित्रशुद्धिः सत्या तस्या अनिगृहीतमनःप्रचारादिशुभपरिणामोऽभ्यन्तरपरिग्रहस्त्यक्तो भवति।... मनसावद्ययोगनिवृत्ति जिनगुणानुराग वन्द्यमानश्रुतादिगुणानुवृत्ति कृतापराधविषया निन्दा, मनसा प्रत्याख्यानं, शरीरासारानुपकारित्वभावना, चेत्यावश्यकशुद्धिरस्या सत्या अशुभयोगो जिनगुणाननुराग श्रुतादिमाहात्म्येऽनादरः, अपराधाजुप्सा. अप्रत्याख्यानं शरीरममता चेत्यमी दोषा परिग्रहनिराकृता भवन्ति। =१. ज्ञानशुद्धि—योग्य कालमे अध्ययन करना, जिससे अध्ययन किया है ऐसे गुरुका और शास्त्रका नाम न छिपाना इत्यादि रूप ज्ञानशुद्धि है। यह शुद्धि आत्मामे होनेसे अकाल पठनादिक क्रिया जो कि ज्ञानावरण कर्मास्रवका कारण है त्यागी जाती है। २. चारित्रशुद्धि—प्रत्येक व्रतकी पाँच-पाँच भावनाएँ है, पाँच व्रतोंकी पचीस भावनाएँ है इनका पालन करना यह चारित्रशुद्धि है। इन भावनाओका त्याग होनेसे मन स्वच्छन्दी होकर अशुभ परिणाम होते है। ये परिणाम अभ्यन्तर परिग्रह रूप है। व्रतो की पाँच भावनाओसे अभ्यन्तर परिग्रहोका त्याग होता है। ३. आवश्यक शुद्धि—सावद्य योगोका त्याग, जिन गुणोपर प्रेम, वन्द्यमान आचार्यादिके गुणोका अनुसरण करना, किये हुए अपराधोकी निन्दा करना, मनसे अपराधोका त्याग करना, शरीरकी असारता और अपकारीपनेका विचार करना यह सब आवश्यकशुद्धि है। यह शुद्धि होनेपर अशुभ योग, जिन गुणोपर अप्रेम, आगम, आचार्यादि पूज्य पुरुषोंके गुणोंमें अप्रीति, अपराध करनेपर भी मनमें पश्चात्ताप न होना, अपराधका त्याग न करना और शरीरपर ममता करना ये दोष परिग्रहका त्याग करनेसे नष्ट होते है।

६. सल्लेखना सम्बन्धी शुद्धियोंके लक्षण

भ आ./वि/१६६/३७६/२ मायामृषारहितता आलोचना शुद्धिः।...

उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितता ममेदं इत्यपरिग्राह्यता च वसति-संस्तरयो' शुद्धिस्तामुपगतेन उद्गमादिदोषोपहतयोर्वसतिसंस्तर-योस्त्याग' कृत इति भवत्युपधित्याग'। उपकरणादीनामपि उद्गमादिरहितता शुद्धिस्तस्यां सत्यां उद्गमादिदोषदुष्टानां असंयमसाधनानां ममेदं भावमूलानां परिग्रहाणां त्यागोऽस्त्येव। सयतवैयावृत्य-क्रमज्ञता वैयावृत्यकारिशुद्धि' •सत्यां तस्यां असंयता अक्रमज्ञाश्च न मम वैयावृत्यकरा इति स्वीक्रियमाणास्त्यक्ता भवन्ति।=१. **आलोचना शुद्धि'**—माया और असत्य भाषणका त्याग करना यह आलोचना शुद्धि है। २. **शय्या व संस्तर शुद्धि**—उद्गम, उत्पादन, ऐषणा दोषोंसे रहित यह मेरा है ऐसा भाव वसतिकामें और संस्तरमें होना यह वसति-संस्तरशुद्धि है। इस शुद्धिको जिसने धारण किया है उसने उद्गम उत्पादनादि दोषयुक्त वसतिकाका त्याग किया है, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए इसमें उपधिका भी त्याग सिद्ध हुआ समझना चाहिए। ३ **उपकरण शुद्धि**—पिछी, कमण्डलु वगैरह उपकरण भी उद्गमादि दोष रहित हो तो वे शुद्ध है, उद्गम आदि दोषोंसे अशुद्ध उपकरण असंयमके साधन हो जाते है। उसमें ये मेरा है ऐसा भाव उत्पन्न होता है अत वे परिग्रह है, उनका त्याग करना यह उपकरणशुद्धि है। ४. **वैयावृत्यकरण शुद्धि**—साधु जनकी वैयावृत्यकी पद्धति जान लेना यह वैयावृत्य करने वालोकी शुद्धि है यह शुद्धि होनेसे असयत लोक अक्रमज्ञ लोग मेरा वैयावृत्य करनेवाले नहीं हैं ऐसा समझकर त्याग किया जाता है।

• अन्य सम्बन्धित विषय

१. आहार शुद्धि	—दे. आहार/I/२।
२. भिक्षा शुद्धि	—दे. भिक्षा/१।
३. प्रतिष्ठापन, ईर्यापथ, व वचन शुद्धि	—दे, समिति/१।
४. शयनाशन शुद्धि	—दे. वसतिका।

शुद्धोदन—महात्मा बुद्धके पिता थे (द. सा /२७ प्रेमी जी.)।

शुद्धोपयोग—दे. उपयोग/II/२।

शुभ—१. शुभ व अशुभ नामकर्मका लक्षण

स. सि./८/११/३९२/१ यदुदयाद्रमणीयत्वं तच्छुभनाम। तद्विपरीत-मशुभनाम।=जिसके उदयसे रमणीय होता है वह शुभ नामकर्म है। इससे विपरीत अशुभ नामकर्म है। (रा वा/८/११-२७-२८/५७९/५); (गो क/जी प्र/३३/३०/६)।

ध. ६/१,९-१,२८/६४/८ जस्स कम्मस्स उदएण अंगोवगणामकम्मोदय-जणिद अगाणमुवगाणं च सुहत्त होदि त सुहं णाम। अंगोवंगाणम-सुहत्तणिव्वत्तयमसुह णाम।=जिस कर्मके उदयसे अंगोपांग नाम-कर्मोदय जनित अंगों और उपांगोके शुभ (रमणीय) पना होता है, वह शुभनामकर्म है। अंग और उपागोंके अशुभताको उत्पन्न करने-वाला अशुभ नामकर्म है।

ध. १३/५.५,१०१/३६५/१२ जस्स कम्मस्सुदएण चक्कवट्टि-बलदेव-वासुदेवत्तादिरिद्धीणं सूचया सखकुमारविंदादओ अंग-पच्चंगेसु उप्पज्जंति त सुहणामं। जस्स कम्मस्सुदएणं असुहलक्खणाणि उप्पज्जति तमसुहणाम।=जिस कर्मके उदयसे चक्रवर्तित्व, बलदेवत्व, और वासुदेवत्व आदि ऋद्धियोंके सूचक शख, अकुश और कमल आदि चिह्न अग-प्रत्यंगोंमें उत्पन्न होते है वह शुभ नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे अशुभ लक्षण उत्पन्न होते है वह अशुभ नामकर्म लक्षण है।

२. अन्य सम्बन्धित विषय

१. अशुभसे निवृत्ति शुभमें प्रवृत्तिका नाम ही चारित्र है —(दे. चारित्र/१/१२)।

२. मनःशुद्धि ही वास्तविक शुद्धि है। —दे. साधु/३।

३. शुभ-अशुभ प्रकृतियोंकी वन्ध, उदय, सत्त्व प्ररूपणाएँ। —दे. वह वह नाम।

४. पुण्य-पाप प्रकृति सामान्य — दे. प्रकृतिबंध/२।

शुभकीर्ति—काष्ठा संघ के माथुरगच्छ में देवकीर्ति के शिष्य। कृति—शान्तिनाह चरिउ। समय-- देवकीर्ति ने वि ११४१ में मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई। तदनुसार वि. श. १५। (ती./३/४१२)।

शुभचंद्र—१ आप राजा मुञ्ज तथा भर्तृहरिके भाई थे, जिनके लिये विश्वभूषण भट्टारक ने अपने 'भक्तामर चरित्र' की उत्थानिका में एक लम्बी-चौडी कथा लिखी है। ये पचविंशतिकार पद्मनन्दि (ई.श.११ का उत्तरार्ध) के शिक्षा गुरु थे। कृति—ज्ञानार्णव। समय—वि. १०६०-११२५ (ई. १००३-१०६८)। (आ अनु./प्र. १२/ए. एन. उप.); (ती./३/१४८, १५३)। २. नन्दि संघ देशीयगण, दिवाकरनन्दि के शिष्य और सिद्धान्तदेव के गुरु। पोयसल नरेश विष्णुवर्धन के मन्त्री गंगराज ने इनके स्वर्गवास के पश्चात् इनकी निषद्यका बनवाई और इन्हें 'धवला' की एक ताडपत्र लिपि भेंट की। समय—ई. १०९३-११२३ प. सं./प्र /H. L Jain); (दे इतिहास/७/५)। ३. नन्दि-संघ के देशीयगणमें मेघचक्र त्रैविद्य के शिष्य जिनकी समाधि ई. ११४७ में हुई। (दे. इतिहास/७/५)। ४. तत्त्वानुशासन के कर्त्ता तथा नागसेन के शिक्षागुरु तथा देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य। समय—वि.१२२० (ई. ११६३) में स्वर्गवास। अत वि. १२१५ (ई. ११५८-११८५)। (ती./३/१४८); (दे इतिहास/७/५)। ५. 'नरपिंगल' के रचयिता एक कन्नड़ आयुर्वेदिक विद्वान्। समय—ई. श. १२ का अन्त। (ती./४/-३११)। ६. नन्दि संघ देशीयगण में गण्डविमुक्त मल्लधारी देव के शिष्य। समय—श. ११८० (ई. १२५८) में स्वर्गवास। (ती./३/१४८)। (दे. इतिहास/७/५)। ७. पद्मनन्दि पण्डित नं. ८ के गुरु। समय-वि १३७० में स्वर्गवास। तदनुसार वि. १३४०-१३७० (ई. १२८३-१३१३) (प.वि./प्र.२९/A.N Up) ८. नन्दिसघ बलात्कार गणकी गुर्वावलीके अनुसार आप विजय कीर्ति के शिष्य और लक्ष्मीचन्द्र के गुरु थे। षट्भाषा कविकी उपाधिसे युक्त थे। न्याय, पुराण, कथा-पूजा आदि विषयोपर अनेक ग्रन्थ रचे थे। कृति—१ प्राकृत व्याकरण, २ अंग पण्णत्ति, ३ शब्द चिन्तामणि, ४ समस्या वदन विदारण, ५ अपशब्द खण्डन, ६ तत्त्व निर्णय, ७ स्याद्वाद, ८ स्वरूप सम्बोधन वृत्ति, ९ अध्यात्म पद टीका, १० सम्यक्त्व कौमुदी, ११ सुभाषितार्णव, १२ सुभाषित रत्नावली, १३ परमाध्यात्मतरंगिनीकी संस्कृत टीका. १४ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी सस्कृत टीका (माघ वि. १६१३), १५ पाण्डवपुराण (वि. १६०८, ई १५५१), १६ करकण्ड चरित्र (ई १५५४), १७ चन्द्रप्रभ चरित्र, १८ पद्मनाभ चरित्र, १९ प्रद्युम्न चरित्र, २० जीवन्धर चरित्र, २१ चन्दन कथा, २२ नन्दीश्वर कथा, २३ पार्श्वनाथ काव्य पंजिका, २४ त्रिंशत चतुर्विंशति पूजा, २५ सिद्धार्चन, २६ सरस्वतीपूजा, २७ चिन्तामणि पूजा, २८ कर्म दहन विधान, २९ गणधर वलय विधान, ३० पल्योपम विधान, ३१ चारित्र शुद्धि विधान, ३२ चतुस्त्रिंशदधिकद्वादशशत व्रतोद्यापन, ३३ सर्वतोभद्र विधान, ३४ समवशरण पूजा, ३५ सहस्रनाम, ३६ विमान शुद्धि विधान, ३७ प. आशाधरपूजा वृत्ति कुछ स्तोत्र आदि। समय—वि. १५७३-१६१३ (ई १५१६-१५५६); (प. प्र./प्र. ११८ A.N.Up.); (द्र स./प्र. ११ पं जवाहरलाल); (पा. पु/प्र.१ A.N Up.); (जै./१/४५६)।—दे. इतिहास/७/४।

शुभनन्दि—आप बप्पदेवके शिक्षा गुरु तथा षट्खण्डागमके ज्ञाता थे। रविनन्दिके सहचर थे। समय-डा. नेमिचन्द्र के अनुसार वी. नि.श. ५-६ (ई. श. १)। (दे. परिशिष्ट)।

शुभयोग—दे. योग/२ ।

शुभोपयोग—दे. उपयोग/II/४ ।

शुभ्र—भरतक्षेत्रका एक नगर—दे मनुष्य/४ ।

शुष्क—भरतक्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे मनुष्य/४ ।

शूद्र—दे. वर्णव्यवस्था/४ ।

शून्य—१. सर्व द्रव्योका अभाव शून्य दोष कहलाता है । (पं. ध./पू./६४,६१३), २. जीवको कथंचित् शून्य कहना—दे जीव/१/३, ३. साध्य साधन व उभय विकल दृष्टान्त—दे. दृष्टांत ।

शून्यनय—शून्याशून्य नय—दे. नय/I/५ ।

शून्यध्यान—दे. शुक्लध्यान/१ ।

शून्य परिकर्माष्टक—दे. गणित/II/१/२,११ ।

शून्यवाद—१. मिथ्या शून्यवादका स्वरूप

यु. अनु./२६ व्यतीत-सामान्य-विशेष-भावाद् विश्वाभिलापार्थ-विकल्पशून्यम् । खपुष्पवत्स्यादसदेव तत्त्वं प्रबुद्धतत्त्वाद्भवतः परेषाम् ।२६। =हे प्रबुद्ध तत्त्व वीर जिन ! आप अनेकान्तवादीसे भिन्न दूसरोका सर्वथा सामान्य भावसे रहित, सर्वथा विशेष भावसे रहित तथा सामान्यविशेष भाव दोनोसे रहित जो तत्त्व है वह सम्पूर्ण अभिलाषो तथा अर्थ विकल्पोसे शून्य होनेके कारण आकाश-पुष्पके समान अवस्तु ही है । (और भी—दे. बौद्ध दर्शनमें महायान) ।

शूर—१. भरत क्षेत्र आर्य खण्डका एक देश—दे. मनुष्य/४ । २. राजा यदुका पुत्र था तथा नेमिनाथ भगवान्‌का बाबा था । इसने शौर्यपुर बसाया था ।—दे. इतिहास१०/१० ।

शूरसेन—मथुराका समीपवर्ती प्रदेश । गोकुल वृन्दावन और आगरा इसीमें है (म. पु./प्र. २० पन्नालाल) ।

शेषवत् अनुमान—दे. अनुमान/१ ।

शेषवती—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे. लोक५/१३ ।

शैक्ष—स. सि /९/२४/४४२/८ शिक्षाशीलः शैक्षः । =शिक्षा शील (साधु) शैक्ष कहलाता है ।

रा वा /९/२४/६/६२३/१७ श्रुतज्ञानशिक्षणपर अनुपरतव्रतभावनानिपुणः शैक्षक इति । =श्रुतज्ञानके शिक्षणमें तत्पर और सतत व्रत भावनामें निपुण (साधु) शैक्ष है (चा. सा /१५१/२) ।

शैल—सुमेरु पर्वतका अपरनाम—दे. सुमेरु ।

शैलकर्म—दे निक्षेप/४ ।

शैल भद्र—यक्ष जातिके व्यन्तर देवोका एक भेद—दे. यक्ष ।

शैला—नरककी तृतीय पृथिवी—दे. नरक/५ ।

शैवदर्शन—१. शुद्धाद्वैतका अपर नाम ।—दे. वेदान्त/७ । २. वैदिक दर्शनका स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर विकास—दे. दर्शन (षड् दर्शन) ।

शोक—१. शोक व शोक नामकर्मका लक्षण

स. सि /६/११/३२८/१२ अनुग्राहकसंबन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोकः ।

स. सि./८/९/३८६/१ यद्विपाकाच्छोचनं स शोकः । =१. उपकार करनेवालेसे सम्बन्धके टूट जानेपर जो विकलता होती है वह शोक है (रा. वा /६/११/२/५१९/२१) । २. जिसके उदयसे शोक होता है वह शोक (नामकर्म) है । (रा. वा./८/९/४/५७४/१८), (ध. ६/१,९-१,२४/४७/८), (ध १३/५,५,९६/३६१/१२) ।

२. शोक अरति पूर्वक होता है

ध. १२/४,२,७,१००/५७/२ कुदो । अरदिपुरगमत्तादो । कधमरदिपुरगमत्तं । अरदीए विणा सोगाणुप्पत्तीए । =क्योंकि, वह (शोक) अरति पूर्वक होता है । प्रश्न—वह अरति पूर्वक कैसे होता है । उत्तर—क्योकि, अरतिके बिना शोक नहीं उत्पन्न होता है ।

३. शोकका उत्कृष्ट उदय काल

ध. १२/४,२,७,१०१/५७/४ सोगो उक्कस्सेण छम्मासमेत्तो चेव । =शोकका उत्कृष्ट उदय काल छह मास पर्यन्त ही है ।

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

१. शोक द्वेष है —दे. कषाय/४ ।

२. शोक प्रकृतिके बन्ध योग्य परिणाम —दे. मोहनीय/३/६ ।

शोधित—गणितकी व्यकलन विधिमें मूल राशिको ऋणराशि करि शोधित कहा जाता है —दे. गणित/II/१/४ ।

शोन—पूर्वी उत्तर आर्य खण्डकी एक नदी—दे. मनुष्य/४ ।

शौच—१. शौच सामान्यका लक्षण

स. सि./६/१२/३३१/४ लोभप्रकाराणामुपरमः शौचम् । =लोभके प्रकारोंका त्याग करना शौच है (रा. वा./६/६/१०/५२३/४) ।

२. शौच धर्मका लक्षण

बा. अ./७५ कखाभावणिवित्ति किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो । जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सौच ।७५। =जो परममुनि इच्छाओंको रोककर और वैराग्य रूप विचारोंसे युक्त होकर आचरण करता है उसको शौच धर्म होता है ।

स. सि./९/६/४१२/६ प्रकर्षप्राप्तलोभान्निवृत्तिः शौचम् । =प्रकर्ष प्राप्त लोभका त्याग करना शौचधर्म है । (रा. वा./९/६/५/५९५/२८), (चा. सा./६२/४) ।

भ. आ./वि /४६/१५४/१४ द्रव्येषु ममेदं भावमूलो व्यसनोपनिपातः सकल इति ततः परित्यागो लाघवं । =धनादि वस्तुओमें ये मेरे हैं ऐसी अभिलाष बुद्धि ही सर्व संकटोमें मनुष्यको गिराती है इस ममत्वको हृदयसे दूर करना ही लाघव अर्थात् शौच धर्म है ।

त. सा./५/१६-१७ परिभोगोपभोगत्वं जीवितेन्द्रियभेदतः ।१६। चतुर्विधस्य लोभस्य निवृत्तिः शौचमुच्यते ।१७। =भोग व उपभोगका, जीनेका, इन्द्रियविषयोका; इन चारो प्रकारके लोभके त्यागका नाम शौचधर्म है ।

का. अ /मू /३९७ सम-संतोस-जलेणं जो धोवदि तिव्व-लोह मल पुंजं । भोयण-गिद्धि-विहीणो तस्स सउच्चं हवे विमलं ।३९७। =जो समभाव और सन्तोष रूपी जलसे तृष्णा और लोभ रूपी मलके समूहको धोता है, तथा भोजनकी गृद्धि नही करता उसके निर्मल शौच धर्म होता है ।

पं. वि /१/९४ यत्परदारार्थादिषु जन्तुषु निःस्पृहमहिंस्रकं चेतः । दुश्छेद्यान्तर्मलहृत्तदेव शौचं परं नान्यत् ।९३। =चित्त जो परस्त्री एवं परधनकी अभिलाषा न करता हुआ षट् काय जीवोंकी हिंसासे रहित होता है, इसे ही दुर्भेद्य अभ्यन्तर कलुषताको दूर करनेवाला उत्तम शौचधर्म कहा जाता है, इससे भिन्न दूसरा शौचधर्म नहीं है ।९४।

३. गंगादिमें स्नान करनेसे शौचधर्म नहीं

प. वि /१/९५ गङ्गासागरपुष्करादिषु सदा तीर्थेषु सर्वेष्वपि स्नातस्यापि न जायते तनुभृतः प्रायो विशुद्धिः परा । मिथ्यात्वादिमलीमसं यदि

मनो बाह्येऽतिशुद्धोदकेधौंत किं बहुशोऽपि शुद्ध्यति सुरापूरप्रपूर्णो घटः ।६५। –यदि प्राणीका मन मिथ्यात्वादि दोषोंसे मलिन हो रहा है तो गंगा, समुद्र एवं पुष्कर आदि सभी तीर्थोंमें सदा स्नान करनेपर भी प्रायः करके वह अतिशय विशुद्ध नहीं हो सकता (ठीक भी है—मद्यके प्रवाहसे परिपूर्ण घटको यदि बाह्यमें अतिशय विशुद्ध जलमें बहुत बार धोया जावे तो भी क्या वह शुद्ध हो सकता है। अर्थात् नहीं ।६५।

४. शौचधर्मके चार भेद

रा. वा./९/६/८/५९६/५ अतस्तन्निवृत्तिलक्षणं शौच चतुर्विधमवसेयम्। –(जीवन लोभ, इन्द्रियलोभ, आरोग्य लोभ व उपयोग लोभके भेदसे लोभ चार प्रकार है–दे. लोभ) इस चार प्रकारके लोभका त्याग करनेसे शौच भी चार प्रकारका हो जाता है (चा. सा./६३/२)।

५. शौच व त्याग धर्ममें अन्तर

रा. वा./९/६/२०/५९८/१० शौचवचनात् (त्यागस्य) सिद्धिरिति चेत्; न तत्रासत्यपि गर्द्धोपपत्तेः।२०। असंनिहिते परिग्रहे कर्मोदयवशात् गर्द्ध उत्पद्यते, तन्निवृत्त्यर्थं शौचमुक्तम्। त्याग पुन. संनिहितस्यापाय दान वा स्वयोग्यम्, अथवा संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्याग इत्युच्यते। –प्रश्न—शौच वचनसे ही त्याग धर्मकी सिद्धि हो जाती है, अत. त्याग धर्मका पृथक् निर्देश व्यर्थ है। उत्तर—नहीं क्योंकि शौचधर्ममें परिग्रहके न रहनेपर भी कर्मोदयसे होनेवाली तृष्णाकी निवृत्ति की जाती है पर त्यागमें विद्यमान परिग्रह छोड़ा जाता है। अथवा त्यागका अर्थ स्व योग्य दान देना है। संयतके योग्य ज्ञानादि दान देना त्याग है।

६. शौच व आकिंचन्य धर्ममें अन्तर

रा. वा./९/६/७/५९६/१ स्यादेतत्-आकिंचन्यं वक्ष्यते, ततस्तस्यावरोधात् शौचग्रहणं पुनरुक्तमिति; तन्न, किं कारणम्। तस्य नैर्मम्यप्रधानत्वात्। स्वशरीरादिषु संस्काराद्यपोहार्थमाकिञ्चन्यमिष्यते। –प्रश्न—आगे आकिंचन्य धर्मका कथन करेंगे, उसीसे इसका अर्थ भी घेर लिया जानेसे शौच धर्मका ग्रहण पुनरुक्त है। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि आकिंचन्यधर्म स्वशरीर आदिमें संस्कार आदिकी अभिलाषा दूर करके निर्ममत्व बढ़ानेके लिए है और शौच धर्म लोभकी निवृत्तिके लिए अत दोनों पृथक् हैं।

७. शौचधर्म पालनार्थ विशेष भावनाएँ

भ. आ./मू./१४३६-१४३८/१३५९ लोभे कए वि अत्थो ण होइ पुरिसस्स अपडिभोगस्स। अकए वि हवदि लोभे अत्थो पडिभोगवंतस्स ।१४३६। सव्वे वि जए अत्था परिगहिदा ते अणंतखुत्तो मे। अत्थेसु इत्थ कोमज्झ विम्हओ गहिदविजढेसु ।१४३७। इह य परत्तए लोए दोसे बहुए य आवहइ लोभो। इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदव्वो हवदि लोभो ।१४३८। –लोभ करनेपर भी पुण्य रहित मनुष्यको द्रव्य मिलता नहीं है और न करनेपर भी पुण्यवानको धनकी प्राप्ति होती है। इसलिए धन प्राप्तिमें आसक्ति कारण नहीं, परन्तु पुण्य ही कारण है ऐसा विचारकर लोभका त्याग करना चाहिए ।१४३६। इस त्रैलोक्यमें मैंने अनन्तबार धन प्राप्त किया है, अत अनन्तबार ग्रहण कर त्यागे हुए इस धनके विषयमें आश्चर्य चकित होना फजूल है ।१४३७। इहपर लोकमें यह लोभ अनेकों दोषोंको उत्पन्न करता है ऐसा समझकर लोभ कषायपर विजय प्राप्त करना चाहिए।

रा. वा./९/६/२७/५९९/१९ शुच्याचारमिहापि सन्मानयन्ति सर्वे। विश्रम्भादयश्च गुणा. समधितिष्ठन्ति। लोभभावनाक्रान्तहृदये नावकाशं लभन्ते गुणाः; इह चामुत्र चाचिन्त्यं व्यसनमाप्नुते। –शुचि आचार वाले निर्लोभ व्यक्तिका इस लोकमें सन्मान होता है। विश्वास आदि गुण उसमें रहते हैं। लोभीके हृदयमें गुण नहीं रहते। वह इस लोक और परलोकमें अनेक आपत्तिओं और दुर्गतिको प्राप्त होता है। (अन. ध./६/२७)

ज्ञा./१९/६९-७१ शाकेनापीच्छया जातु न भर्तुमुदरं क्षमाः। लोभात्तथापि वाञ्छन्ति नराश्चक्रेश्वरश्रियम् ।६९। स्वामिगुरुबन्धुवृद्धानबलाबालांश्च जीर्णदीनादीन्। व्यापाद्य विगतशङ्को लोभार्तो वित्तमादत्ते ।७०। ये केचित्सिद्धान्ते दोषाः श्वभ्रस्य साधकाः प्रोक्ताः। प्रभवन्ति निर्विचारं ते लोभादेव जन्तूनाम् ।७१। –अनेक मनुष्य यद्यपि अपनी इच्छासे शाकसे, पेट भरनेको कभी समर्थ नहीं होते तथापि लोभके वशसे चक्रवर्तीकी सी सम्पदाको चाहते हैं ।६९। इस लोभकषायसे पीड़ित हुआ पुरुष अपने मालिक, गुरु, बन्धु, वृद्ध, स्त्री, बालक, तथा क्षीण, दुर्बल, अनाथ, दीनादिको भी निशंकतासे मारकर धनको ग्रहण करता है ।७०। नरकको ले जानेवाले जो जो दोष सिद्धान्त शास्त्रमें कहे गये हैं वे सब जीवोंके निःशंकतया लोभसे प्रगट होते हैं ।७१। (अन. ध./६/२४-२६,३१)।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. शौचधर्म व मनोगुप्तिमें अन्तर। —दे. गुप्ति/२/५।
२. दशधर्म निर्देश। —दे. धर्म/८।

शौरपुर—कुशद्य देशका एक नगर। –दे० मनुष्य/४।

श्यामकुमार—दसुमकुमार (भवनवासी देव)–दे. असुर।

श्यामवर—मध्य लोकका तेरहवाँ द्वीप व सागर।–दे. लोक/५/१।

शृंखलित—कायोत्सर्गका एक अतिचार।–दे. व्युत्सर्ग/१।

श्रद्धान—मोक्षमार्गमें चारित्र आदिकी मूल होनेसे श्रद्धाको प्रधान कहा है। यद्यपि अन्ध श्रद्धान अहितकर होता है तथापि सूक्ष्म पदार्थोंके विषयमें आगमपर अन्ध श्रद्धान करनेके अतिरिक्त कोई चारा नहीं। सम्यग्दृष्टिका यह अन्ध श्रद्धान ईषत् निर्णय लक्षणवाला होता है, पर मिथ्यादृष्टिका अपने पक्षकी हठ सहित।

१. श्रद्धान निर्देश

१. श्रद्धानका लक्षण

दे. प्रत्यय/१ दृष्टि, श्रद्धा, रुचि, प्रत्यय ये एकार्थवाची हैं।

म. सा./आ./१७-१८ तथेति प्रत्ययलक्षणं श्रद्धानमुत्प्लवते...। –इस आत्माको जैसा जाना वैसा ही है 'इस प्रकारकी प्रतीति है लक्षण जिसका' ऐसा श्रद्धान उदित होता है।

द्र. सं./टी./४१/१६४/१२ श्रद्धानं रुचिर्निश्चय इदमेवेत्थमेवेति निश्चयबुद्धिः सम्यग्दर्शनम्। –(सप्त तत्त्वोंमें चलमलादि दोषों रहित) श्रद्धान रुचि निश्चय, अथवा जो जिनेन्द्रने कहा तथा जिस प्रकार कहा है उसी प्रकार है, ऐसी निश्चय रूप बुद्धिको सम्यग्दर्शन कहते हैं।

पं. ध./उ./४१२ तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धि. श्रद्धा। –तत्त्वार्थोंके विषयमें उन्मुख बुद्धिको श्रद्धा कहते हैं।

२. श्रद्धानके अनुसार चारित्र होता है

स. श./९५-९६ यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते। यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ।९५। यत्रानाहितः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते। यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः ।९६। –जिस किसी विषयमें पुरुषकी दत्तावधान बुद्धि होती है उसी विषयमें उसकी श्रद्धा होती है और जिस विषयमें श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है

उस विषयमें उसका मन लीन हो जाता है।६५। जिस विषयमें दत्तावधान बुद्धि नही होती उससे रुचि हट जाती है। जिससे रुचि हट जाती है उस विषयमें लीनता कैसे हो सकती है।

३. चारित्रकी शक्ति न हो तो श्रद्धान तो करना चाहिए

नि. सा /मू./१५४ जदि सक्कदि कादु' जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं। सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहण चेव कायव्व '१५४। =यदि किया जा सके तो अहो ! ध्यानमय, प्रतिक्रमणादि कर; यदि तू शक्ति विहीन हो तो तबतक श्रद्धान ही कर्तव्य है।

द. पा./मू /२२ ज सक्कइ तं कीरइ ज च ण सक्केइ तं च सद्दहण। केवलिजिणेहि भणिय सद्दहमाणस्स संमत्त ।२२। =जो करनेको (त्याग करनेको) समर्थ हो तो करिये, परन्तु यदि करनेको समर्थ नही तो श्रद्धान तो कीजिए, क्योकि श्रद्धान करनेवालोंके केवली भगवान्ने सम्यक्त्व कहा है।२२।

नि. सा /ता वृ./१५४/क. २६४ कलिविलसिते पापबहुले। .. अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधिया। निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम्। =पापसे बहुल कलिकालका विलास होनेपर.. इस कालमें अध्यात्म ध्यान कैसे हो सक्ता है। इसलिए निर्मल बुद्धिवाले भवभयका नाश करनेवाली ऐसी इस निजात्म श्रद्धाको अंगीकार करते है।

४. यथार्थ श्रद्धान न करे तो अभव्य है

प्र. सा /मू./६२ णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं। सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति।६२। =जिनके घातिकर्म नष्ट हो गये है, उनका सुख (सर्व) सुखोमें उत्कृष्ट है, यह सुनकर जो श्रद्धा नही करते वे अभव्य है और भव्य उसे स्वीकार करते है—उसकी श्रद्धा करते है।

५. अन्य सम्बन्धित विषय

१ श्रद्धानमें सम्यक्त्वकी प्रधानता। —दे, सम्यग्दर्शन/II/२,३।
२ श्रद्धानमें अनुभवकी प्रधानता। —दे, अनुभव/३।
३. श्रद्धान व सम्यग्दर्शनमें कथचित् भेदाभेद। —दे. सम्यग्दर्शनII/१।
४. दर्शनका अर्थ श्रद्धान। —दे, सम्यग्दर्शन/I/१।
५. श्रद्धानमें भी कथचित् ज्ञानपना। —दे, सम्यग्दर्शन/I/४।
६. श्रद्धान व ज्ञानमें पूर्वोत्तरवर्तीपना। —दे. ज्ञान/III/३।
७ ज्ञान व श्रद्धानमें अन्तर। —दे सम्यग्दर्शन/I/४।

२. अन्ध श्रद्धान निर्देश

★ श्रद्धानमें परीक्षाकी प्रधानता—दे न्याय/२/१।

१. परीक्षा रहित अन्ध श्रद्धान अकिंचित्कर

क पा १/७/३ जुत्तिविरहियगुरुवयणादो पयट्टमाणस्स पमाणाणुसारित्तविरोहादो। =शिष्य युक्तिकी अपेक्षा किये बिना मात्र गुरु वचनके अनुसार प्रवृत्ति करता है उसे प्रमाणानुसारी माननेमें विरोध आता है।

मो. मा. प्र./७/३१६/७ जो निर्णय करनैको विचार करतै ही सम्यक्त्वको दोष लागै, तो अष्टसहस्रीमें आज्ञाप्रधानतै परीक्षा प्रधानको उत्तम क्यो कहा ?

मो. मा. प्र /१८/३८१/१३ जो मैं जिन वचन अनुसारि मानौ हो तो भाव भासे बिना अन्यथापनो होय जाय।

सत्ता स्वरूप/पृ. १०२ (जिसकी सत्ताका निश्चय नहीं हुआ वह परीक्षावालोको किस प्रकार स्तवन करने योग्य है। इससे सर्वकी सत्त सिद्ध हो, यही कर्मका मूल है। ऐसी जिनकी आम्नाय है।

भद्रबाहु चरित्र/प्र. ६ पक्षपातो न मे वीरे न द्वेष कपिलादिषु। युक्तिमद् वचन यस्य तस्य कार्य' परिग्रह। =न तो मुझे वीर भगवान्का को पक्ष है और न कपिलादिकोसे द्वेष है जिसका भी वचन युक्ति सहि है, उस ही से मुझे काम है।

English Tatwarth Sutra/Page 15- Right Belief is nc identical with blind faith, Its authority is neithe External nor autocratic

=सम्यग्दर्शन अन्ध श्रद्धानकी भाँति नही है। इसका अधिकार तो बाह्य है और न रूढि रूप ही है।

२. अन्धश्रद्धान ईषत् निर्णय लक्षण वाला होता है

दे० आगम/३/६ आगमकी विरोधी दो बातोका सग्रह करने वाला संशय मिथ्यादृष्टि नहीं होता, क्योकि संग्रह करने वालेके यह 'सूत्रकथित है' इस प्रकारका श्रद्धान पाया जाता है, अतएव उसे सन्देह नहीं हो सक्ता।

गो जी./जी. प्र./५६१/१००६/१३ तच्छ्रद्धानं आज्ञया प्रमाणादिभिर्विना आप्तवचनाश्रयेण ईषन्निर्णयलक्षणया..। =बिना प्रमाण नय आदिके द्वारा विशेष जाने, जैसा भगवान्ने कहा वैसे ही है, ऐसे आप्त वचनोंके द्वारा सामान्य निर्णय है लक्षण जिसका ऐसी आज्ञाके द्वारा श्रद्धान होता है।

३. सूक्ष्म दूरस्थादि पदार्थोंके विषयमें अन्ध श्रद्धान करनेका आदेश

भ. आ./मू./३६/१२८ धम्माधम्मागासाणि पोग्गला कालदव्व जीवे य। आणाए सद्दहन्तो समत्ताराहओ भणिदो।३६। =धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल काल व जीव इन छह द्रव्योंको जिनेश्वरकी आज्ञासे श्रद्धान करने वाला आत्मा सम्यक्त्वका आराधक होता है '३६।

द्र. सं./टी./४८/२०२ पर उद्धृत "स्वयं मन्दबुद्धित्वेऽपि विशिष्टोपाध्यायाभावे अपि शुद्धजीवादिपदार्थाना सूक्ष्मत्वेऽपि सति सूक्ष्मं जिनोदितं वाक्यं हेतुभिर्यन्न हन्यते। आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिना'। =स्वय अल्पबुद्धि हो विशेष ज्ञानी गुरुकी प्राप्ति न हो जब शुद्ध जीवादि पदार्थोंकी सूक्ष्मता होने पर—श्री जिनेन्द्रका कहा हुआ जो सूक्ष्मतत्त्व है, वह हेतुओंसे खण्डित नही हो सकता, अत' जो सूक्ष्मतत्त्व है उसे जिनेन्द्रकी आज्ञाके अनुसार ग्रहण करना चाहिए। (द. पा./टी /१२/१२/२८/- पर उद्धृत)।

प. वि./१/१२८ निश्चेतव्यो जिनेन्द्रस्तदतुलवचसा गोचरेऽर्थे परोक्षे। कार्य' सोऽपि प्रमाणं वदत किमपरेणात्र कोलाहलेन। सत्या छद्मस्थतायामिह समयपथस्वानुभूतिप्रबुद्धा। भो भो भव्या यतध्व दृगवगमनिधावात्मनि प्रीतिभाज।१२८। =हे भव्य जीवो ! आपको जिनेन्द्रदेवके विषयमें व उनकी वाणीके विषयभूत परोक्ष पदार्थोंके विषयमें उसीको प्रमाण मानना चाहिए, दूसरे व्यर्थके कोलाहलसे क्या प्रयोजन है। अतएव छद्मस्थ अवस्थाके रहने पर सिद्धान्त मार्गसे आये हुए आत्मानुभवसे प्रबोधको प्राप्त होकर आप सम्यग्दर्शन व ज्ञानकी निधि स्वरूप आत्माके विषयमें प्रीतियुक्त होकर आराधना कीजिए।१२८।

अन. ध./२/२५ धर्मादीनधिगम्य सच्छ्रुतनयन्यासानुयोगै. सुधी. श्रद्दध्यादविदाज्ञयैव सुतरा जीवास्तु सिद्धेतरात्।२५। =विशिष्ट ज्ञानके धारकोको समीचीन, प्रमाण-नय-निक्षेप और अनुयोगोंके द्वारा धर्मादिक द्रव्योको जानकर उनका श्रद्धान करना चाहिए किन्तु मन्दज्ञानियोको केवल आज्ञाके अनुसार ही उनका ज्ञान व श्रद्धान करना चाहिए।

द्र. सं./टी /२२/६८/६ कालद्रव्यमन्यद्वा परमागमाविरोधेन विचारणीय परं किन्तु वीतरागसर्वज्ञवचनं प्रमाणमिति मनसि निश्चित्य विचारो न कर्तव्य । · विवादे रागद्वेषौ भवतस्ततश्च संसारवृद्धिरिति । =काल द्रव्य तथा अन्य द्रव्यके विषयमें परमागमके अविरोधसे ही विचारना चाहिए। 'वीतराग सर्वज्ञका वचन प्रमाण है' ऐसा मनमें निश्चय करके उनके कथनमें विवाद नही करना चाहिए। क्योंकि विवादमें राग-द्वेष व इनसे संसारकी वृद्धि होती है।

पं. ध./उ./४८२ अर्थवशादत्र सूत्रे (सूत्रार्थे) शङ्का न स्यान्मनीषिणाम् । सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः स्युस्तदास्तिक्यगोचराः ।४८२। =सूक्ष्म, दूरवर्ती और अन्तरित पदार्थ सम्यग्दृष्टिके आस्तिक्यके गोचर है अत उनके अस्तित्व प्रतिपादक आगममे प्रयोजनवश कभी भी शका नही होती ।४८२।

दे० आगम/३/६ छद्मस्थोंको विरोधी सूत्रोंके प्राप्त होनेपर विशिष्ट ज्ञानीके अभावमें दोनोका सग्रह कर लेना चाहिए।

दे० सम्यग्दर्शन/I/१/२ तत्त्वादिपर अन्धश्रद्धान करना आज्ञा-सम्यक्त्व है।

३. क्षयोपशमकी हीनतामें तत्त्व सूत्रोंका भी अन्ध श्रद्धान कर लेना योग्य है

का अ./३२४ जो ण विजाणदि तच्चं सो जिणवयणे करेदि सद्दहणं । ज जिणवरेहि भणिय त सव्वमहं समिच्छामि ।३२४। =जो तत्त्वोंको नही जानता किन्तु जिनवचनमें श्रद्धान करता है कि जिन भगवान्ने जो कुछ कहा है उस उस सबको मैं पसन्द करता हूँ। वह भी श्रद्धावान् है ।३२४।

पं. वि./१/१२५ य· कल्पयेत किमपि सर्वविदोऽपि वाचि संदिह्य तत्त्वमसमञ्जसमात्मबुद्धया । खे पत्त्रिणा विचरता सुदृशेक्षितानां संख्यां प्रति प्रविदधाति स वादमन्ध ।१२५। =जो सर्वज्ञके भी वचनमें सन्दिग्ध होकर अपनी बुद्धिसे तत्त्वके विषयमें अन्यथा कुछ कल्पना करता है, वह अज्ञानी पुरुष निर्मल नेत्रो वाले व्यक्तिके द्वारा देखे गये आकाशमें विचरते हुए पक्षियोंकी संख्याके विषयमें विवाद करने वाले अन्धेके समान आचरण करता है ।१२५। (पं. वि./१३/३४)।

४. अन्ध श्रद्धानकी विधिका कारण व प्रयोजन

दे० आगम/६/४ अतीन्द्रिय पदार्थोंके विषयमें छद्मस्थ जीवोके द्वारा कल्पित युक्तियोंसे रहित निर्णयके लिए हेतुता नही पायी जाती। इसलिए उपदेशको प्राप्त करके निर्णय करना चाहिए।

प ध./उ /१०४५ सूक्ष्मान्तरितदूरार्था· प्रागेवात्रापि दर्शिता. । नित्य जिनोदितैर्वाक्यैर्ज्ञातु शक्या न चान्यथा ।१०४५। =पहले भी कहा है कि परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ, राम-रावणादिक सुदीर्घ अतीत कालवर्ती और मेरु आदि दूरवर्ती पदार्थ सदैव जिनवाणीके द्वारा ही जाने जा सकते है किन्तु अन्यथा नही जाने जा सकते ।१०४५।

३. सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टिके श्रद्धानमे अन्तर

१. मिथ्यादृष्टिकी प्ररूपणापर सम्यग्दृष्टिको श्रद्धान नहीं होता।

पं. ध /उ./५६१ सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे दर्शितेऽपि कुदृष्टिभिः । नाल्पस्ततः स मुह्येत कि पुनश्चेद्बहुश्रुतः ।५६१। =मिथ्यादृष्टियों द्वारा सूक्ष्म, दूरस्थ व अन्तरित पदार्थोंके दिखानेपर भी अल्पज्ञानी सम्यग्दृष्टि मोहित नहीं होता है। यदि बहुश्रुत धारक हुआ तो फिर भला क्योंकर मोहित होगा।

*** मिथ्यादृष्टिका धर्म सम्बन्धी श्रद्धान श्रद्धान नहीं।**

—दे० मिथ्यादृष्टि/४।

*** सम्यग्दृष्टिके श्रद्धानमें कदाचित् शंकाको सम्भावना।**

—दे० नि.शंकित/३।

२. सूक्ष्मादि पदार्थोंके अश्रद्धानमें भी सम्यग्दर्शन सम्भव है।

भ. आ /वि./३७/१३१/२१ यदि नाम धर्मादिद्रव्यापरिज्ञानात् परिज्ञानसहचारि श्रद्धानं नोत्पन्नं तथापि नासौ मिथ्यादृष्टिर्दर्शनमोहोदयस्य अश्रद्धानपरिणामस्याज्ञानविषयस्याभावात । न हि श्रद्धानस्यानुत्पत्तिरश्रद्धान इति गृहीतं श्रद्धानादन्यदश्रद्धानं इदमित्थमिति श्रुतनिरूपितेऽरुचि· । =यद्यपि धर्मादि द्रव्योका ज्ञान न होनेसे ज्ञानके साथ होनेवाली श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई तो भी वह सम्यग्दृष्टि ही है, मिथ्यादृष्टि नही है, क्योंकि दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ जो अश्रद्धान जो कि अज्ञानको विषय करता है वह यहाँ नही है। मिथ्यादर्शनसे उत्पन्न हुआ जो श्रद्धान व अरुचि रूप है अर्थात् यह वस्तु स्वरूप इस तरहसे है ऐसा जो आगममें कहा गया है उस विषयमें अरुचि होना यह मिथ्यादर्शन रूप अश्रद्धान है और प्रकृत विषयमें ऐसी अश्रद्धा नही है। परन्तु जिनेश्वरके प्रतिपादित जीवादि सच्चे है, ऐसी मनमे प्रीति-रुचि उत्पन्न होती है।

३. गुरु नियोगसे सम्यग्दृष्टिके भी असत् वस्तुका श्रद्धान सम्भव है।

भ. आ /मू /३२/१२१ सम्मादिट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहइ । सद्दहइ असब्भावं अयाणमाणो गुरुणियोगा ।३२। =सम्यग्दृष्टि जीव जिन उपदिष्ट प्रवचनका तो श्रद्धान करता ही है, किन्तु कदाचित् (सद्भावको) नहीं जानता हुआ गुरुके नियोगसे असद्भावका भी श्रद्धान कर लेता है ।३२। (क. पा./सुत्त/१०/गा १०७/६३७); (प. स /प्रा./१/१२); (ध.१/१.१.१३/गा. ११०/१७३); (ध. ६/१.६-८.६/गा. १४/२४२), (गो. जी./मू./२७/५६)।

ल. सा./मू./१०५/१४४ सम्मुदये चलमलिणमगाढं सद्दहदि तच्चयं अत्थं । सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ।१०३। =सम्यक्त्व मोहनीयके उदयसे तत्त्व श्रद्धानमें चल, मल व अगाढ दोष लगते है। वह जीव आप विशेष न जानता हुआ अज्ञात गुरुके निमित्तैं असत्का भी श्रद्धान करता है। परन्तु सर्वज्ञकी आज्ञा ऐसे ही है ऐसा मानकर श्रद्धान करता है, अतः सम्यग्दृष्टि ही है।

४. असत्का श्रद्धान करनेसे सम्यक्त्वमें बाधा नही आती।

भ. आ./वि /३२/१२२/१ स जीवः सम्मादिट्ठी···प्रतीतपदार्थकत्वमादर्शितं। श्रद्दहति श्रद्धानं करोति असत्यमप्यर्थं अयाणमाणे अनवगच्छन् । कि। विपरीतमनेनोपदिष्टमिति । गुरोर्व्याख्यातुरस्यायमर्थ इति कथनान्नियुज्यते प्रतिपत्त्या श्रोता अनेन वचनेन इति नियोगः कथनं। सर्वज्ञप्रणीतस्यागमस्यार्थ. आचार्यपरंपरया अविपरीत. श्रुतोऽवधृतश्चानेन सूरिणा उपदिष्टो ममेति सर्वज्ञाज्ञाया रुचिरस्यास्तीति। आज्ञारुचितया सम्यग्दृष्टिर्भवत्येवेति भाव. । =यह सम्यग्दृष्टि जीव असत्य पदार्थका भी श्रद्धान करता है, परन्तु वह तबतक असत्य पदार्थके ऊपर श्रद्धान करता है जबतक वह 'गुरुने मेरेको असत्य पदार्थका स्वरूप कहा है' यह नहीं जानता है। जबतक वह असत्य पदार्थका श्रद्धान करता है तब तक उसने आचार्य परम्पराके अनुसार जिनागमके जीवादि तत्त्वका स्वरूप कहा है और जिनेन्द्र भगवान्की

आज्ञा प्रमाणभूत माननी चाहिए ऐसा भाव हृदयमे रखता है अत' उसके सम्यग्दर्शनमे हानि नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि नहीं गिना जाता है। सर्वज्ञकी आज्ञाके ऊपर उसका प्रेम रहता है, वह आज्ञा रुचि होनेसे सम्यग्दृष्टि ही है, ऐसा भाव समझना। (और भी दे. आगम/५)।

गो. जी./जी. प्र/२७/५६/१२ असद्भावं—अतत्त्वमपि स्वस्य विशेषज्ञानशून्यत्वेन केवलगुरुनियोगात् अर्हदाद्याज्ञात' श्रद्दधाति सोऽपि सम्यग्दृष्टिरेव भवति तदाज्ञाया अनतिक्रमात् ।२७। =अपने विशेष ज्ञानका अभाव होनेसे गुरुके नियोगसे 'अरहंत देवका ऐसा ही उपदेश है' ऐसा समझकर यदि कोई पदार्थका विपरीत भी श्रद्धान कर लेता है तो भी वह सम्यग्दृष्टि ही है, क्योंकि उसने अरहतका उपदेश समझकर उस पदार्थका वैसा श्रद्धान किया है। उनकी आज्ञाका अतिक्रम नहीं किया।

५. सम्यक् उपदेश मिलनेपर भी हठ न छोड़े तो मिथ्यादृष्टि हो जाये

भ. आ/मू.३३,३९ सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जतं जदा ण सद्दहदि। सो चेव हवइ मिच्छादिट्ठी जीवो तदो पहुदि ।३३। पदमक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्तणिद्दिट्ठं। सेस रोचतो वि हु मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ।३९। =१. सूत्रसे आचार्यादिकके द्वारा भले प्रकार समझाये जानेपर भी यदि वह जीव विपरीत अर्थको छोड़कर समीचीन अर्थका श्रद्धान नही करता, तो उस समयमे वह सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है। (ध. १/१,१,३६/गा. १४३/२६२); (गो. जी./मू./२८); (ल. सा./मू /१०६/१४४) २. सूत्रमें उपदिष्ट एक अक्षर भी अर्थको प्रमाण मानकर श्रद्धा नही करता वह बाकीके श्रुतार्थ वा श्रुतांशको जानता हुआ भी मिथ्यादृष्टि है। क्योकि बडे पात्रमें रखे दूधको छोटी सी भी विष कणिका बिगाडती है। इसी प्रकार अश्रद्धाका छोटा सा अंश भी आत्माको मलिन करता है ।३९।

६. क्योंकि मिथ्यादृष्टिके ही ऐकान्तिक पक्ष होता है

भ. आ./मू./४०/१३८ मोहोदयेण जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि। सद्दहदि असब्भाव उवइट्ठं अणुवइट्ठं वा ।४०। =दर्शन मोहनीय कर्मके उदय होनेसे यह जीव कहे हुए जीवादि पदार्थोंके सच्चे स्वरूपपर श्रद्धान करता नही है। परन्तु जिसका स्वरूप कहा है अथवा कहा नही ऐसे असत्य पदार्थोंके ऊपर वह श्रद्धान करता है ।४०।

क. पा. सु /१०८/पृ. ६३७ मिच्छाइट्ठी णियमा उवइट्ठ पवयणं ण सद्दहदि। सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठ वा अणुवइट्ठ ।१०८। =मिथ्यादृष्टि जीव नियमसे सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट प्रवचनका तो श्रद्धान नहीं करता है, किन्तु असर्वज्ञ पुरुषोके द्वारा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भावका अर्थात् पदार्थके विपरीतस्वरूपका श्रद्धान करता है ।१०८। (ध. ६/१,९-८९/गा १५/२४२)।

* सम्यग्दृष्टिको पक्षपात नही होता—दे. सम्यग्दृष्टि/४।

७. एकान्त श्रद्धान या दर्शन वादका निर्देश

१. मिथ्या एकान्तकी अपेक्षा

ज्ञा./४/२४ केश्चिच्च कीर्त्तिता मुक्तिर्दर्शनादेव केवलम्। वादिना खलु सर्वेषामपाकृत्य नयान्तरम् ।२४। =कई वादियोंने अन्य समस्त वादियोके अन्य नयपक्षोका निराकरण करके केवल दर्शनसे ही मुक्ति होनी कही है ।२४।

२. सम्यगेकान्तकी अपेक्षा

दे. विज्ञानवाद/२ ज्ञान क्रिया व श्रद्धा तीनों ही मिलकर प्रयोजनवान् हैं।

दे. सम्यग्दर्शन/I/५ जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट है। क्योंकि सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान व चारित्र नियम पूर्वक नहीं होते।

श्रद्धान प्रायश्चित्त—दे. प्रायश्चित्त/१।

श्रद्धावान—१ अपर विदेहका एक वक्षार—दे लोक/५/३। २. उस वक्षारका एक कूट तथा उस कूटका रक्षक देव, दे. लोक/५/४।

श्रमण—१ न. च. वृ./३३२ सम्मा वा मिच्छा विय तवोहणा समण तह य अणयारा। होंति विराय सराया जदिरिसिमुणिणो य णायव्वा ।३३२। =श्रमण तथा अनगार सम्यक् व मिथ्या दोनों प्रकारके होते है। सम्यक् श्रमण विरागी और मिथ्या श्रमण सरागी होते है। उनको ही यति, ऋषि, मुनि और अनगार कहते हैं ।३३२। (प्र. सा./ता. वृ /२४९); (विशेष—दे. साधु) २ श्रमणके १० कल्पोका निर्देश—साधु/२।

श्रमण—१ एक ग्रह—दे. ग्रह। २. एक नक्षत्र—दे. नक्षत्र।

श्रावक—विवेकवान विरक्तचित्त अणुव्रती गृहस्थको श्रावक कहते है। ये तीन प्रकारके है—पाक्षिक, नैष्ठिक व साधक। निज धर्मका पक्ष मात्र करनेवाला पाक्षिक है और व्रतधारी नैष्ठिक। इसमें वैराग्यकी प्रकर्षतासे उत्तरोत्तर ११ श्रेणियाँ है। जिन्हें ११ प्रतिमाएँ कहते हैं। शक्तिको न छिपाता हुआ वह निचली दशासे क्रम पूर्वक उठता चला जाता है। अन्तिम श्रेणीमें इसका रूप साधुसे किंचित न्यून रहता है। गृहस्थ दशामें भी विवेक पूर्वक जीवन बितानेके लिए अनेक क्रियाओका निर्देश किया गया है।

१. भेद व लक्षण

१. श्रावक सामान्यके लक्षण

स. सि./६/४५/४५८/८ स एव पुनश्चारित्रमोहकर्मविकल्पाप्रत्याख्याना-वरणक्षयोपशमनिमित्तपरिणामप्राप्तिकाले विशुद्धिप्रकर्षयोगात् श्रावको···। —वह ही (अविरत सम्यग्दृष्टि ही) चारित्र मोह कर्मके एक भेद अप्रत्याख्यानावरण कर्मके क्षयोपशम निमित्तक परिणामोंकी प्राप्तिके समय विशुद्धिका प्रकर्ष होनेसे श्रावक होता हुआ···।

सा. ध./१/१५-१६ मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन् पञ्चगुरुपदशरण्यः। दानयजनप्रधानो, ज्ञानसुधां श्रावकः पिपासुः स्यात् ।१५। रागादि-क्षयतारतम्यविकसच्छुद्धात्मसंवित्सुख स्वादात्मस्वबहिर्बहिस्त्रसव धाद्यंहोव्यपोहात्मसु। सद्दृग् दर्शनिकादिदेशविरतिस्थानेषु चैका-दश-स्वेकं यः श्रयते यतिव्रतरतस्तं श्रद्दधे श्रावकम् ।१६। —पंच परमेष्ठीका भक्त प्रधानतासे दान और पूजन करनेवाला भेद ज्ञान रूपी अमृतको पीनेका इच्छुक तथा मूलगुण और उत्तरगुणोंको पालन करनेवाला व्यक्ति श्रावक कहलाता है।१५। अन्तरंगमें रागादिकके क्षयकी हीनाधिकताके अनुसार प्रगट होनेवाली आत्मानुभूतिसे उत्पन्न सुखका उत्तरोत्तर अधिक अनुभव होना ही है स्वरूप जिन्होंका ऐसे और बहिरंगमें त्रस हिंसा आदिक पाँचों पापोंसे विधि पूर्वक निवृत्ति होना है स्वरूप जिन्होंका ऐसे ग्यारह देशविरत नामक पंचम गुण-स्थानके दर्शनिक आदि स्थानों—दरजोंमें मुनिव्रतका इच्छुक होता हुआ जो सम्यग्दृष्टि व्यक्ति किसी एक स्थानको धारण करता है उस-को श्रावक मानता हूँ अथवा उस श्रावकको श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता हूँ।

सा. ध./स्वोपज्ञ-टीका/१/१५ शृणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावकः। —जो श्रद्धा पूर्वक गुरु आदिसे धर्म श्रवण करता है वह श्रावक है।

द्र. सं./टी./१३/३४/५ स पञ्चमगुणस्थानवर्ती श्रावको भवति। —पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक होता है।

२. श्रावकके भेद

१. पाक्षिकादि तीन भेद

चा. सा./४१/३ साधकत्वमेवं पक्षादिभिस्त्रिभिर्हिंसाद्युपचितं पापम् अपगतं भवति। —इस प्रकार पक्ष चर्या और साधकत्व इन तीनोंसे गृहस्थीके हिंसा आदिके इकट्ठे किये हुए पाप सब नष्ट हो जाते हैं।

सा ध./१/२० पाक्षिकादिभिदा त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिकः।···नैष्ठिकः साधकः···।२०। —पाक्षिक, नैष्ठिक और साधकके भेदसे श्रावक तीन प्रकारके होते हैं।

सा. ध./३/६ प्रारब्धो घटमानो निष्पन्नाश्चार्हतस्य देशयमः। योग इव भवति यस्य त्रिधा स योगीव देशयमी।६।=जिस प्रकार प्रारब्ध आदि तीन प्रकारके योगसे योगी तीन प्रकारका होता है, उसी प्रकार देशयमी भी प्रारब्ध (प्राथमिक), घटमानो (अभ्यासी) और निष्पन्नके भेदसे तीन प्रकारके है।

पं. ध./उ./७२५ कि पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथवा।७२५। =पाक्षिक, गूढ, नैष्ठिक अथवा साधक श्रावक तो कैसे।

२. नैष्ठिक श्रावकके ११ भेद

वा. अणु/६९ दंसण-वय-सामाइय पोसह सच्चित्त राइभत्ते य। बंभा-रंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदेदे।१३६। =दार्शनिक, व्रतिक, सामयिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तविरत, ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रह विरत, अनुमति विरत और उद्दिष्टविरत ये (श्रावकके) ग्यारह भेद होते है।१३६। (चा पा./मू./२२), (पं. स./प्रा./१/१३६), (ध १/१,१,२/गा. ७४/१०२), (ध १/१,१,१२३/गा. १९३/३७३), (ध. ६/४,१,४५/गा. ७८/२०१), (गो. जी./मू./४७७/८८४), (वसु श्रा./४), (चा. सा./३/३), (द्र. स/टी./१३/३४ पर उद्धृत), (प. वि./१/१४)।

द्र. सं/टी./४५/१९५/५ दार्शनिक…व्रतिक…त्रिकालसामयिके प्रवृत्तः, प्रोषधोपवासे, सचित्तपरिहारेण पञ्चमः, दिवाब्रह्मचर्येण षष्ठः, सर्वथा ब्रह्मचर्येण सप्तम, आरम्भनिवृत्तोऽष्टमः…परिग्रहनिवृत्तो नवम… अनुमतनिवृत्तो दशम. उद्दिष्टाहारनिवृत्त एकादशमः। =दार्शनिक, व्रती, सामयिकी, प्रोषधोपवासी, और सचित्त विरत तथा दिवा मैथुन विरत, अब्रह्म विरत, आरम्भविरत और परिग्रह विरत, अनुमति विरत और उद्दिष्ट विरत श्रावकके ये ११ स्थान हैं (सा. ध./३/२-३)।

३. ग्यारहवीं प्रतिमाके २ भेद

वसु. श्रा./३०१ एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविओ। वत्थेक्कधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ।३०१। =ग्यारहवे अर्थात् उद्दिष्ट विरत स्थानमें गया हुआ मनुष्य उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। उसके दो भेद है— प्रथम एक वस्त्र रखनेवाला (क्षुल्लक), दूसरा कोपीन (लंगोटी) मात्र परिग्रहवाला (ऐलक) (गुण. श्रा./१८४), (सा ध./७/३८-३९)।

३. पाक्षिकादि श्रावकोंके लक्षण

१. पाक्षिक श्रावक

चा. सा./४०/४ असिमषिकृषिवाणिज्यादिभिर्गृहस्थानां हिसासंभवेऽपि पक्ष। =असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भों कर्मोसे गृहस्थों-के हिंसा होना सम्भव है तथापि पक्ष चर्या और साधकपना इन तीनोसे हिसाका निवारण किया जाता है। इनमेंसे सदा अहिंसा रूप परिणाम करना पक्ष है।

सा. ध/२/२,१९ तत्रादौ श्रद्दधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुम्। मद्यमांस-मधून्युज्झेत्, पञ्च क्षीरिफलानि च।२। स्थूल हिसानृतस्तेय-मैथुनग्रन्थवर्जनम्। पापभीरुतयाभ्यस्येद्-बलवीर्यनिगूहक.।१९। =उस गृहस्थ धर्ममें जिनेन्द्र देव सम्बन्धी आज्ञाको श्रद्धान करता हुआ पाक्षिक श्रावक हिंसाको छोडनेके लिए सबसे पहले मद्य, मांस, मधुको और पंच उदुम्बर फलोको छोड देवे।२। शक्ति और सामर्थ्य-को नहीं छिपानेवाला पाक्षिक श्रावक पापके डरसे स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल कुशील और स्थूल परिग्रहके त्यागका अभ्यास करे।१९। (पाक्षिक श्रावक देवपूजा गुरु उपासना आदि कार्य-को शक्त्यनुसार नित्य करता है—दे. वह वह नाम) सदाव्रत खुलवाना (दे. पूजा/१) मन्दिरमें फुलवाडी आदि खुलवाना कार्य करता है (दे. चैत्य चैत्यालय)। रात्रि भोजनका त्यागी होता है, परन्तु कदाचित् रात्रिको इलाइची आदिका ग्रहण कर लेता है—दे. रात्रि भोजन (३/३)। पर्वके दिनोमें प्रोषधोपवासको करता है—दे. प्रोषधोपवास (३/१)। व्रत खण्डित होनेपर प्रायश्चित्त ग्रहण करता है (सा ध./२/७९)। आरम्भादिमें संकल्पी आदि हिंसा नहीं करता—(दे. श्रावक/३) इस प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धिको पाता प्रतिमाओंको धारण करके एक दिन मुनि धर्मपर आरूढ होता है। दे. पक्ष। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावसे वृद्धिको प्राप्त हुआ समस्त हिंसाका त्याग करना जैनोंका पक्ष है।

२. चर्या श्रावक

चा.सा./४०/४ धर्मार्थं देवतार्थमन्त्रसिद्धचर्थमौषधार्थमाहारार्थं स्वभोगाय च गृहमेधिनो हिंसां न कुर्वन्ति। हिंसासभवे प्रायश्चित्तविधिना विशुद्धः सन् परिग्रहपरित्यागकरणे सति स्वगृहं धर्मं च वेश्याय समर्प्य यावद् गृहं परित्यजति तावदस्य चर्या भवति। =धर्मके लिए, किसी देवताके लिए, किसी मन्त्रको सिद्ध करनेके लिए, औषधिके लिए और अपने भोगोपभोगके लिए, कभी हिंसा नहीं करते है। यदि किसी कारणसे हिंसा हो गयी हो तो विधिपूर्वक प्रायश्चित्त कर विशुद्धता धारण करते है। तथा परिग्रहका त्याग करनेके समय अपने घर, धर्म और अपने वंशमें उत्पन्न हुए पुत्र आदिको समर्पण कर जबतक वे घरको परित्याग करते है तबतक उनके चर्या कहलाती है। (यह चर्या दार्शनिकसे अनुमति विरत प्रतिमा पर्यन्त होती है (सा. ध./१/१९)।

३. नैष्ठिक श्रावक

सा. ध/३/१ देशयमघ्नकषाय-क्षयोपशमतारतम्यवशतः स्यात्। दर्श-निकाद्येकादश-दशावशो नैष्ठिक. सुलेश्यतर.।१। =देश सयमका घात करनेवाली कषायोंके क्षयोपशमकी क्रमशः वृद्धिके वशसे श्रावक-के दर्शनिक आदिक ग्यारह संयम स्थानोंके वशीभूत और उत्तम लेश्या वाला व्यक्ति नैष्ठिक कहलाता है।१।

४. साधक श्रावक

म. पु/३९/१४९ जीवितान्ते तु साधनम्। देहाहारेहितत्यागाद् ध्यान-शुद्धात्मशोधनम्।१४९। =जो श्रावक आनन्दित होता हुआ जीवनके अन्तमें अर्थात् मृत्यु समय शरीर, भोजन और मन, वचन कायके व्यापारके त्यागसे पवित्र ध्यानके द्वारा आत्माकी शुद्धिको साधन करता है वह साधक कहा जाता है। (सा. ध/१/१९-२०/८/१)।

चा सा/४१/२ सकलगुणसंपूर्णस्य शरीरकम्पनोच्छ्वासनोन्मीलनविधि परिहरमाणस्य लोकाग्रमनसः शरीरपरित्यागः साधकत्वम्। =इसी तरह जिसमें सम्पूर्ण गुण विद्यमान है, जो शरीरका कंपना, उच्छ्वास लेना, नेत्रोका खोलना आदि क्रियाओंका त्याग कर रहा है और जिसका चित्त लोकके ऊपर विराजमान सिद्धोमें लगा हुआ है ऐसे समाधिमरण करनेवालेका शरीर परित्याग करना साधकपना कहलाता है।

२. श्रावक सामान्य निर्देश

१. गृहस्थ धर्मकी प्रधानता

कुरल/६/८ गृही स्वस्यैव कर्माणि पालयेद् यत्नतो यदि। तस्य नावश्य-का धर्मा भिन्नाश्रमनिवासिनाम्।६। यो गृही नित्यमुद्युक्त. परेषां कार्यसाधने। स्वयं चाचारसंपन्नः पूतात्मा स ऋषेरपि।८। =यदि मनुष्य गृहस्थके समस्त कर्तव्योको उचित रूपसे पालन करे, तब उसे, दूसरे आश्रमोंके धर्मोंके पालनेकी क्या आवश्यकता?।६। जो गृहस्थ दूसरे लोगोको कर्तव्य पालनमें सहायता देता है, और स्वयं भी धार्मिक जीवन व्यतीत करता है, वह ऋषियोंसे अधिक पवित्र है।८।

पं. वि./१/१२ सन्तः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितं मुक्तेः परं कारणं रत्नानां दधति त्रयं त्रिभुवनप्रद्योति कामे सति। वृत्तिस्तस्य यदन्नतः परमया भक्त्यार्पिताज्जायते तेषां सद्गृहमेधिनां गुणवतां धर्मो न कस्य प्रियः।१२। =जो रत्नत्रय समस्त देवेन्द्रों एवं असुरेन्द्रोंसे पूजित है, मुक्तिका अद्वितीय कारण है तथा तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाला है उसे साधुजन शरीरके स्थित रहनेपर ही धारण करते है। उस शरीरकी स्थिति उत्कृष्ट भक्तिसे दिये गये जिन सद्गृहस्थोंके अन्नसे रहती है उन गुणवान् सद्गृहस्थोंका धर्म भला किसे प्रिय न होगा। अर्थात् सबको प्रिय होगा।

२. श्रावक धर्मके योग्य पात्र

सा. ध./१/११ न्यायोपात्तधनो, यजन्गुणगुरून्, सद्गीस्त्रिवर्गं भजन्नन्योन्यानुगुणं, तदर्हगृहिणी-स्थानालयो ह्रीमयः। युक्ताहारविहार-आर्यसमितिः, प्राज्ञः कृतज्ञो वशी, शृण्वन्धर्मविधिं, दयालुरघभीः, सागारधर्मं चरेत्।११। =न्यायसे धन कमानेवाला, गुणोंको, गुरुजनोंको तथा गुणोंमें प्रधान व्यक्तियोंको पूजनेवाला, हित मित और प्रियका वक्ता, त्रिवर्गको परस्पर विरोधरहित सेवन करनेवाला, त्रिवर्गके योग्य स्त्री, ग्राम और मकानसहित लज्जावान् शास्त्रके अनुकूल आहार और विहार करनेवाला, सदाचारियोंकी संगति करनेवाला, विवेकी, उपकारका जानकार, जितेन्द्रिय, धर्मकी विधिको सुननेवाला दयावान् और पापोंसे डरनेवाला व्यक्ति सागार धर्मको पालन कर सकता है।११।

३. विवेकी गृहस्थको हिंसाका दोष नहीं

म. पु./३९/१४३-१४४,१५० स्यादारेका च षट्कर्मजीविनां गृहमेधिनाम्। हिंसादोषोऽनुषङ्गी स्याज्जैनानां च द्विजन्मनाम्।१४३। इत्यत्र ब्रूमहे सत्यं अल्पसावद्यसङ्गतिः। तत्रास्त्येव तथाप्येषां स्याच्छुद्धिः शास्त्रदर्शिता।१४४। त्रिष्वेतेषु न संस्पर्शो वधेनार्हद्द्विजन्मनाम्। इत्यात्मपक्षनिक्षिप्तदोषाणां स्यान्निराकृतिः।१५०। =यहाँपर यह शंका हो सकती है कि जो असि-मषी आदि छह कर्मोंसे आजीविका करनेवाले जैन द्विज अथवा गृहस्थ है उनके भी हिंसाका दोष लग सकता है परन्तु इस विषयमें हम यह कहते है कि आपने जो कहा है वह ठीक है, आजीविकाके करनेवाले जैन गृहस्थोंके थोडीसी हिंसाकी संगति अवश्य होती है, परन्तु शास्त्रोंमें उन दोषोंकी शुद्धि भी तो दिखलायी गयी है।१४३-१४४। अरहन्तदेवको माननेवालेको द्विजोंका पक्ष, चर्या और साधन इन तीनोंमें हिंसाके साथ स्पर्श भी नहीं होता...।१५०।

४. श्रावकको भव धारणकी सीमा

वसु. श्रा./५३९ सिज्झइ तइयम्मि भवे पंचमए कोवि सत्तमट्ठमए। भुंजिवि सुर-मणुयसुहं पावेइ कमेण सिद्धपयं।५३९। =(उत्तम रीतिसे श्रावकोंका आचार पालन करनेवाला कोई गृहस्थ) तीसरे भवमें सिद्ध होता है। कोई क्रमसे देव और मनुष्योंके सुखोंको भोगकर पाँचवें, सातवें या आठवें भवमें सिद्ध पदको प्राप्त करते है।५३९।

५. श्रावकको मोक्ष निषेधका कारण

मो. पा./टी./१२/३१३ पर उद्धृत-खण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुंभ प्रमार्जनी। पञ्च सूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति। =गृहस्थोंके उखली, चक्की, चूल्ही, घडा और झाडू मे पंचसूना दोष पाये जाते है। इस कारण उनको मोक्ष नहीं हो सकता।

३. पाक्षिक व नैष्ठिक श्रावक निर्देश

१. नैष्ठिक श्रावकमें सम्यक्त्वका स्थान

ध. १/१,१,१३/१७५/४ सम्यक्त्वमन्तरेणापि देशयतयो दृश्यन्त इति चेन्न, निर्गतमुक्तिकाङ्क्षस्यानिवृत्तविषयपिपासस्याप्रत्याख्यानानुपपत्तेः। =प्रश्न—सम्यग्दर्शनके बिना भी देशसंयमी देखनेमें आते है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जो जीवमोक्षकी आकांक्षासे रहित है और जिनकी विषय पिपासा दूर नहीं हुई है, उनके अप्रत्याख्यान संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

वसु. श्रा./५ एयारस ठाणाइं सम्मत्त विवज्जिय जीवस्स। जम्हा ण संति तम्हा सम्मत्त सुणह वोच्छामि।५। =(श्रावकके) ग्यारह स्थान चूँकि सम्यग्दर्शनसे रहित जीवके नहीं होते, अतः मै सम्यक्त्वका वर्णन करता हूँ। हे भव्यो! तुम सुनो।५।

द्र. सं./टी./४५/१९५/३ सम्यक्त्वपूर्वकेन दार्शनिकश्रावको भवति। =सम्यक्त्वपूर्वक दार्शनिक श्रावक होता है। (ला. सं./२/६)।

२. ग्यारह प्रतिमाओंमें उत्तम मध्यमादि विभाग

चा. सा./४०/३ आद्यास्तु षट् जघन्याः स्युर्मध्यमास्तदनु त्रयः। शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने। =जिनागममें ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे पहलेकी छह प्रतिमा जघन्य मानी जाती है, इनके बादकी तीन अर्थात् सातवीं, आठवीं और नौवी प्रतिमाएँ मध्यम मानी जाती है। और बाकीकी दशवीं, ग्यारहवी प्रतिमाएँ उत्तम मानी जाती है। (सा. ध./३/२-३), (द्र. सं./टी./४५/१९५/११), (द. पा./टी./१८/१७)।

३. ग्यारह प्रतिमाओंमें उत्तरोत्तर व्रतोंकी तरतमता

चा. सा./३/४ इत्येकादेशनिलया जिनोदिता श्रावकाः क्रमशः व्रतादयो गुणा दर्शनादिभिः पूर्वगुणैः सह क्रमप्रवृद्धा भवन्ति। =जिनेन्द्रदेवने अनुक्रमसे इन ग्यारह स्थानोंमें रहनेवाले ग्यारह प्रकारके श्रावक बतलाये है। इन श्रावकोंके व्रतादि गुण सम्यग्दर्शनादि अपने पहलेके गुणोंके साथ अनुक्रमसे बढते रहते है।

सा. ध./३/५ तद्वद्दर्शनिकादिश्च, स्थैर्यं स्वे स्वे व्रतेऽव्रजन्। लभते पूर्वमेवार्थाद्, व्यपदेशं न तूत्तरम्।५। =नैष्ठिक श्रावककी तरह अपने-अपने व्रतोंमें स्थिरताको प्राप्त नहीं होनेवाले दर्शनिक आदि श्रावक भी वास्तवमें पूर्व-पूर्वकी ही संज्ञाको पाता है, किन्तु आगेकी संज्ञाको नहीं।५।

४. पाक्षिक श्रावक सर्वथा अव्रती नहीं

ला. सं./२/४७-४९ नेत्थं यः पाक्षिकः कश्चिद् व्रताभावादस्त्यव्रती। पक्षमात्रावलम्बी स्याद् व्रतमात्रं न चाचरेत्।४७। यतोऽस्य पक्षग्राहित्वमसिद्धं बाधसंभवात्। लोपात्सर्वविदाज्ञायाः साध्या पाक्षिकता कुतः।४८। आज्ञा सर्वविदः सैव क्रियावान् श्रावको मतः। कश्चित्सर्वनिकृष्टोऽपि न त्यजेत्स कुलक्रियाः।४९। =प्रश्न—१ पाक्षिक श्रावक किसी व्रतको पालन नहीं करता, इसलिए वह अव्रती है। वह तो केवल व्रत धारण करनेका पक्ष रखता है, अतएव रात्रिभोजन त्याग भी नहीं कर सकता? उत्तर—ऐसी आशंका ठीक नहीं क्योंकि रात्रिभोजनत्याग न करनेसे उसका पाक्षिकपना सिद्ध नहीं होता। सर्वज्ञदेव द्वारा कही रात्रिभोजनत्याग रूप कुलक्रियाका त्याग न करनेसे उसके सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके लोपका प्रसंग आता है, और सर्वज्ञकी आज्ञाका लोप करनेसे उसका पाक्षिकपना भी किस प्रकार ठहरेगा?।४७-४८। २. सर्वज्ञकी आज्ञा है कि जो क्रियावान् कुलक्रियाका पालन करता है वह श्रावक माना गया है। अतएव जो सबसे कम दर्जेके अभ्यासमात्र मूलगुणोंका पालन करता है उसे भी अपनी कुलक्रियाएँ नहीं छोडनी चाहिए।४९।

ला सं /३/१२६, १३१ एवमेव च सा चेत्स्यात्कुलाचारक्रमात्परम् । विना नियमादि तावन्नोच्यते सा कुलक्रिया ।१२६। दर्शनप्रतिमा नास्य गुणस्थान न पञ्चमम् । केवल पाक्षिक' स. स्यादगुणस्थानादसयत । ।१३१। =३ यदि ये उपरोक्त (अष्टमूलगुण व सप्तव्यसनत्याग) क्रियाएँ बिना किसी नियमके हो तो उन्हे व्रत नहीं कहते बल्कि कुलक्रिया कहते है ।१२६। ऐसे ही इन कुलक्रियाओका पालन करनेवाला न दर्शन प्रतिमाधारी है और न पञ्चम गुणवर्ती। वह केवल पाक्षिक है और उसका गुणस्थान असंयत ।१३१।

दे श्रावक/४/३ [अष्ट मूलगुण तथा सप्त व्यसन ... बिना नाममात्रको भी श्रावक नहीं ।]

दे श्रावक/४/४ [ये अष्ट मूलगुण व्रती व अव्रती दोनोंको यथायोग्य रूपमें होते है ।]

दे. श्रावक/२/३/१ [अष्ट मूलगुण धारण और स्थूल अणुव्रतोका शक्त्यनुसार पालन पाक्षिक श्रावकका लक्षण है ।]

५. पाक्षिक श्रावककी दिनचर्या

सा- ध./६/१-४४ ब्राह्मे मुहूर्त्त उत्थाय, वृत्तपञ्चनमस्कृति । कोऽहं को मम धर्म' कि, व्रतं चेति परामृशेत् ।१। =ब्राह्म मुहूर्तमे उठ करके पढा है नमस्कार मन्त्र जिसने ऐसा श्रावक मैं कौन हूँ, मेरा धर्म कौन है, और मेरा व्रत कौन है, इस प्रकार चिन्तवन करे ।१। श्रावकके अति दुर्लभ धर्ममे उत्साहकी भावना ।२। स्नानादिके पश्चात अष्ट प्रकार अर्हन्त भगवान्की पूजा तथा वन्दनादि कृतिकर्म (३-४) ईर्या समितिसे (६) अत्यन्त उत्साहसे (७) जिनालयमे निस्सही शब्दके उच्चारणके साथ प्रवेश करे (८) जिनालयको समवसरणके रूपमें ग्रहण करके (१०) देव शास्त्र गुरुकी विधि अनुसार पूजा करे (११-१२) स्वाध्याय (१३) दान (१४) गृहस्थ सनन्धित कार्य (१५) मुनिव्रतकी धारणकी अभिलाषा पूर्वक भोजन (१७) मध्याह्नमें अर्हन्त भगवान्की आराधना (२१) पूजादि (२३) तत्त्व चर्चा (२६) सन्ध्यामें भाव पूजादि करके सोवे (२७) निद्रा उचटनेपर वैराग्य भावना भावे (२८-३३)। स्त्रीकी अनिष्टताका विचार करे (३४-३६) समता व मुनिव्रतकी भावना करे (३७-४३)। आदर्श श्रावकों की प्रशंसा तथा धन्य करे (४४)। (ला. स./६/१६२-१८८)।

६. पाँचों व्रतोंके एकदेश पालन करनेसे व्रती होता है

स. सि /७/१६/३५८/३ अत्राह किं हिसादीनामन्यतमस्माद्य प्रतिनिवृत्त' स खल्वागारी व्रती। नैवम्। कि तर्हि । पञ्चतय्या अपि विरतेर्वैकल्येन विवक्षित । =प्रश्न—जो हिसादिकमेसे किसी एकसे निवृत्त है वह क्या अगारी व्रती है ? उत्तर—ऐसा नही है। प्रश्न—तो क्या है ? उत्तर—जिसके एक देशसे पाँचोकी विरति है वह अगारी है। यह अर्थ यहाँ विवक्षित है । (रा वा /७/१६/४/-५४६/१)।

रा. वा./७/१६/३/५४६/३१ यथा गृहापवरकादिनगरदेशैकनिवासस्यापि नगरावास इति शब्द्यते, तथा असकलव्रतोऽपि नैगमसग्रहव्यवहारनयविवक्षापेक्षया व्रतीति व्यपदिश्यते। =जैसे—घरके एक कोने या नगरके एकदेशमें रहनेवाला भी व्यक्ति नगरवासी कहा जाता है उसी तरह सकल व्रतोको धारण न कर एक देशव्रतोको धारण करनेवाला भी नैगम सग्रह और व्यवहार नयोकी अपेक्षा व्रती कहा जायेगा।

७. पाक्षिक व नैष्ठिक श्रावकमें अन्तर

सा. ध./३/४ दुर्लेश्याभिभवाज्जातु, विषये क्वचिदुत्सुक । स्खलन्नपि क्वापि गुणे, पाक्षिक स्यान्न नैष्ठिक' ।४। =कृष्ण, नील व कापोत इन लेश्याओमेंसे किसी एकके वेगसे किसी समय इन्द्रियके विषयमें उत्कण्ठित तथा किसी मूलगुणके विषयमें अतिचार लगानेवाला गृहस्थ पाक्षिक कहलाता है नैष्ठिक नही।

४. श्रावकके मूल व उत्तर गुण निर्देश

१. अष्ट मूलगुण अवश्य धारण करने चाहिए

र क श्रा /६६ मद्यमासमधुत्यागै सहाणुव्रतपञ्चकम् । अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमा ।६६। =मद्य, मास और मधुके त्याग सहित पाँचो अणुव्रतोको श्रेष्ठ मुनिराज गृहस्थोके मूलगुण कहते हैं।६६। (सा ध.)

पु. सि, उ /६१ मद्य मांसं क्षौद्र पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन । हिसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ।६१। =हिंसा त्यागकी कामना वाले पुरुषोको सबसे पहले शराब, मास, शहद, ऊमर, कठूमर आदि पंच उदुम्बर फलोंका त्याग करना योग्य है।६१। (पं. वि./६/२३), (सा ध./२/२)।

चा. सा /३०/४ पर उद्धृत—हिंमासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात् । द्यूतान्मासान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणा'। =स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल अब्रह्म व स्थूल परिग्रहसे विरक्त होना तथा जूआ, मास और मद्यका त्याग करना ये आठ गृहस्थोके मूलगुण कहलाते है। (चा. सा./३०/३), (सा. ध /२/३)।

सा, ध./२/१८ मद्यपलमधुनिशाशन - पञ्चफलीविरति - पञ्चकाप्तनुती । जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ।१८। =किसी आचार्यके मतमे मद्य, मास, मधु, रात्रि भोजन व पंच उदुम्बर फलोका त्याग, देववन्दना, जीव दया करना और पानी छानकर पीना ये मूलगुण माने गये हे।१८। (सा ध./पं. लाल राम/-फुट नोट पृ. ८२)।

२. अष्ट मूलगुण निर्देशका समन्वय

रा. वा. हि./७/२०/५५८ कोई शास्त्रमें तो आठ मूल गुण कहे है, तामें पाँच अणुव्रत कहे, मद्य, मांस, शहदका त्याग कहा, ऐसे आठ कहे। कोई शास्त्रमे पाँच उदुम्बर फलका त्याग, तीन प्रकारका त्याग, ऐसे आठ कहे। कोई शास्त्रमें अन्य प्रकार भी कहा है। यह तो विवक्षाका भेद है, तहाँ ऐसा समझना जो स्थूलपने पाँच पाप ही का त्याग है। पंच उदुम्बर फलमें तो त्रस भक्षणका त्याग भया, शिकारके त्यागमे त्रस मारनेका त्याग भया। चोरी तथा परस्त्री त्यागमें दोऊ व्रत भए। द्यूत कर्मादि अति तृष्णाके त्याग तै असत्यका त्याग तथा परिग्रहकी अति चाह मिटी। मास, मद्य, और शहदके त्याग तैं त्रस कूं मार करि भक्षण करनेका त्याग भया।

३. अष्ट मूलगुण व सप्त व्यसनोंके त्यागके बिना नामसे भी श्रावक नही

दे. दर्शन प्रतिमा/२/५ पहली प्रतिमामे ही श्रावकको अष्ट मूलगुण व सप्त व्यसनका त्याग हो जाता है।

सा.ध./टिप्पणी/पृ ८२ एतेऽष्टौ प्रगुणा गुणा गणधरैरागारिणां कीर्तिता। एकेनाप्यमुना विना यदि भवेद्भूतो न गेहाश्रमी। =आठ मूलगुण श्रावकोके लिए गणधरदेवने कहे है, इनमेंसे एकके भी अभावमें श्रावक नहीं कहा जा सकता।

पं. ध /उ /७२४-७२८ निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणा' स्फुटम् । तद्विना न व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च तथाङ्गिनाम् ।७२४। एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामत । किं पुन' पाक्षिको

गूढो नैष्ठिक' साधकोऽथवा ।७२५। मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपञ्चक । नामत श्रावक: ख्यातो नान्यथाऽपि तथा गृही । ।७२६। यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्झनम् । अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तैरिच्छद्भि श्रेयसीं क्रियाम् ।७२७। त्यजेद्दोषांस्तु तत्रोक्तान् सूत्रोऽतीचारसंज्ञकान् । अन्यथा मद्यमांसादीन् श्रावक क. समाचरेत् ।७२८। =आठों मूलगुण स्वभावसे अथवा कुल परम्परासे भी आते हैं। यह स्पष्ट है कि मूलगुणके बिना जीवोंके सब प्रकारका व्रत और सम्यक्त्व नहीं हो सकता ।७२३। मूलगुणोंके बिना जीव नामसे भी श्रावक नहीं हो सकता तो फिर पाक्षिक, गूढ नैष्ठिक अथवा साधक श्रावक कैसे हो सकता है ।७२५। मद्य, मांस, मधु व पांच उदुम्बर फलोंका त्याग करनेवाला गृहस्थ नामसे श्रावक कहलाता है, किन्तु मद्यादिका सेवन करने वाला गृहस्थ नामसे भी श्रावक नहीं है ।७२६। गृहस्थोंको यथाशक्ति व्यसनोंका त्याग करना चाहिए, तथा कल्याणप्रद क्रियाओंके करनेकी इच्छा करनी चाहिए। व्रती गृहस्थको अवश्य ही व्यसनोंका त्याग करना चाहिए ।७२७। और मूलगुणोंके लगनेवाले अतिचार नामक दोषोंको भी अवश्य छोड़ना चाहिए अन्यथा साक्षात् रूपसे मद्य, मांस आदिको कौनसा श्रावक खाता है ।७२८। (ला स./२/६-६). (ला. सं./३/१२६-१३०)।

४. अष्ट मूलगुण व्रती अव्रती दोनोंको होते हैं

पं. ध./उ./७२३ तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम्। क्वचिदव्रतिनां यस्मात् सर्वसाधारणा इमे ।७२३। =उनमें जिस कारणसे व्रती गृहस्थोंके जो आठ मूलगुण हैं वे कहीं-कहीं पर अव्रती गृहस्थोंके भी पाये जाते हैं इसलिए ये आठों ही मूलगुण साधारण हैं ।७२३। (ला. सं /३/१२७-१२८)।

५. साधुको पूर्ण और श्रावकको एकदेश होते हैं

पं. ध./उ /७२२ मूलोत्तरगुणा. सन्ति देशतो वेश्मवर्तिनाम्। तथानगारिणा न स्युः सर्वत स्यु' परेऽथ ते ।७२२। =जैसे गृहस्थोंके मूल और उत्तरगुण होते हैं वैसे मुनियोंके एकदेश रूपसे नहीं होते हैं किन्तु वे मूलगुण तथा उत्तरगुण सर्व देश रूपसे ही होते हैं। (विशेष दे. व्रत/२/४)।

६. श्रावकके अनेकों उत्तर गुण

१. श्रावकके २ कर्तव्य

र. सा./११ दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा। =चार प्रकारका दान देना और देवशास्त्र गुरुकी पूजा करना श्रावकका मुख्य कर्तव्य है, इनके बिना वह श्रावक नहीं है।

२. श्रावकके ४ कर्तव्य

क. पा /§ ८२/१००/२ दाण पूजा सीलमुववासो चेदि चउव्विहो सावयधम्मो। =दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावकके धर्म हैं। (अ. ग. श्रा /६/१). (सा. ध /७/५१). (सा. ध /पं. लालाराम/फुटनोट पृ. ६१)।

३. श्रावकके ५ कर्तव्य

कुरल /५/३ गृहिण पञ्च कर्माणि स्वोन्नतिर्देवपूजनम्। नन्धु साहाय्यमातिथ्यं पूर्वेषां कीर्तिरक्षणम् ।३। =पूर्वजोंकी कीर्तिकी रक्षा, देवपूजन, अतिथि सत्कार, बन्धु-बान्धवोंकी सहायता और आत्मोन्नति ये गृहस्थके पाँच कर्तव्य हैं ।३।

४. श्रावकके ६ कर्तव्य

चा. सा /४३/१ गृहस्थस्येज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम', तप इत्यार्यषट्कर्माणि भवन्ति। =इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप ये छह गृहस्थोंके आर्य कर्म कहलाते हैं।

पं. वि /६/७ देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्याय संयमस्तप । दान चेति गृहस्थाना षट्कर्माणि दिने दिने ।७। =जिनपूजा, गुरुकी सेवा, स्वाध्याय, संयम और तप ये छह कर्म गृहस्थोंके लिए प्रतिदिनके करने योग्य आवश्यक कार्य हैं ।७।

अ. ग. श्रा./८/२६ सामायिक स्तव प्राज्ञैर्वन्दना सप्रतिक्रमा । प्रत्याख्यानं तनूत्सर्ग. षोढावश्यकमीरितम् ।२६। =सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान ऐसे छह प्रकारके आवश्यक पण्डितोंके द्वारा कहे गये हैं ।२६।

५. श्रावककी ५३ क्रियाएँ

र. सा./१५३ गुणवयतवसमपडिमादाण जलगालण अणत्थमियं। दसणणाणचरित्त किरिया तेवण्ण सावया भणिया ।१५३। =गुणव्रत ३, अणुव्रत ५, शिक्षाव्रत ४, तप १२, ग्यारह प्रतिमाओंका पालन ११, चार प्रकारका दान देना ४, पानी छानकर पीना १, रातमें भोजन नहीं करना १, रत्नत्रयको धारण करना ३, इनको आदि लेकर शास्त्रोंमें श्रावकोंकी तिरेपन क्रियाएँ निरूपण की है उनका जो पालन करता है वह श्रावक है ।१५३।

७ श्रावकके अन्य कर्तव्य

त सू /७/२२ मारणान्तिकी सल्लेखना जोषिता ।२२। =तथा वह (श्रावक) मारणान्तिक सल्लेखनाका प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला होता है ।२२। (सा. ध./७/५७)।

वसु श्रा./३१६ विणओ विज्जाविच्च कायकिलेसो य पुज्जणविहाण । सत्तीए जहजोग्ग कायव्व देसविरएहिं ।३१६। =देशविरत श्रावकोंको अपनी शक्तिके अनुसार यथायोग्य विनय, वैयावृत्य, कायक्लेश और पूजन विधान करना चाहिए ।३१६।

प. वि./६/२५, २६, ४२, ५६ पर्वस्वथ यथाशक्ति भुक्तित्यागादिकं तप'। वस्त्रपूतं पिबेत्तोय । ।२५। विनयश्च यथायोग्य कर्तव्य परमेष्ठिषु। दृष्टिबोधचरित्रेषु तद्वत्सु समयाश्रितै ।२६। द्वादशापि चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभि ।४२। आद्योत्तमक्षमा यत्र यो धर्मो दशभेदभाक्। श्रावकैरपि सेव्योऽसौ यथाशक्ति यथागमम् ।५६। =पर्वके दिनोंमें यथाशक्ति भोजनके त्यागरूप अनशनादि तपोंको करना चाहिए। तथा वस्त्रसे छना जल पीना चाहिए ।२५। श्रावकोंको जिनागमके आश्रित होकर पंच परमेष्ठियों तथा रत्नत्रयके धारकोंकी यथायोग्य विनय करनी चाहिए ।२६। महात्मा पुरुषोंको अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करना चाहिए ।४२। श्रावकोंको भी यथाशक्ति और आगमके अनुसार दशधर्मका पालन करना चाहिए ।५६।

सा. ध./ टिप्पणी/२/२४/पृ. ६५ आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरुषु च विनतिर्धार्मिके प्रीतिरुच्चै'। पात्रेभ्यो दानमापन्निहतजनकृते तच्च कारुण्यबुद्धया। तत्त्वाभ्यास स्वकीयव्रतरतिरमल दर्शन यत्र पूज्यम्। तद्गार्हस्थ्य बुधानामितरदिह पुनर्दु खदो मोहपाश । =जिनेन्द्रदेवकी आराधना, गुरुके समीप विनय, धर्मात्मा लोगोंपर प्रेम, सत्पात्रोंको दान, विपत्तिग्रस्त लोगोंपर करुणा, बुद्धिसे दुख दूर करना, तत्त्वोंका अभ्यास, अपने व्रतोंमें लीन होना और निर्मल सम्यग्दर्शनका होना, ये क्रियाएँ जहाँ त्रिकरणसे चलती हैं वही गृहस्थधर्म विद्वानोंको मान्य है, इससे विपरीत गृहस्थ लोक और परलोकमें दुख देनेवाला है।

सा. ध /७/५५, ५६ स्वाध्यायमुत्तम कुर्यादनुप्रेक्षाश्च भावयेत् । यस्तु मन्दायते तत्र, स्वकार्ये स प्रमाद्यति ।५५। यत्प्रागुक्तं मुनीन्द्राणां, वृत्त

तदपि सेव्यताम् । सम्यङ्निरूप्य पदवी, शक्तिं च स्वामुपासकैः ।५६। =श्रावक आत्महितकारक स्वाध्यायको करे, बारह भावनाओको भावे। परन्तु जो श्रावक इन कार्योंमें आलस्य करता है वह हित कार्योंमें प्रमाद करता है ।५५। पहले अनगार धर्मामृतमें कथित मुनियोका जो चारित्र, उसको भी अपनी शक्ति व पदको समझकर श्रावकोके द्वारा सेवन किया जाय ।५६।

पं. ध./उ /७३६-७४० जिनचैत्यगृहादीना निर्माणे सावधानतया । यथासंपद्विधेयास्ति दूष्या नावद्यलेशतः ।७३६। अथ तीर्थादियात्रासु विदध्यात्सोद्यतं मनः । श्रावकः स तत्रापि संयमं न विराधयेत् ।७३८। संयमो द्विविधश्चैवं विधेयो गृहमेधिभिः । विनापि प्रतिमारूपं व्रतं यद्वा स्वशक्तितः ।७४०। =अपनी सम्पत्तिके अनुसार मन्दिर बनवानेमें भी सावधानता करनी चाहिए, क्योंकि थोडा सा भी पाप इन कार्योंमें निद्य नही है ।७३६। और वह श्रावक तीर्थादिककी यात्रामें भी मनको तत्पर करे, परन्तु उस यात्रामें अपने सयमको विराधित न करे ।७३८। गृहस्थोको अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिमा रूपसे वा बिना प्रतिमारूपसे दोनो प्रकारका संयम पालन करना चाहिए ।७४०।

ला स./५/१८५ यथा समितयः पञ्च सन्ति तिस्रश्च गुप्तयः । अहिंसाव्रतरक्षार्थं कर्तव्या देशतोऽपि तैः ।१८५। =अहिंसाणुव्रतकी रक्षाके लिए पाँच समिति तथा तीन गुप्तियोका भी एक देशरूपसे पालन करना चाहिए ।१८५।

दे व्रत/२/४ महाव्रतकी भावनाएँ भानी चाहिए ।

दे. पूजा/२/१ अर्हन्तादि पच परमेष्ठीकी प्रतिमाओकी स्थापना करावे । तथा नित्य जिनबिम्ब महोत्सव आदि क्रियाओमें उत्साह रखे ।

दे चैत्यचैत्यालय/२/८ औषधालय, सदाव्रतशालाएँ तथा प्याऊ खुलवावे । तथा जिनमन्दिरमें सरोवर व फुलवाडी आदि लगवावे ।

८. आवश्यक क्रियाओंका महत्त्व

दे दान/४ चारों प्रकारका दान अत्यन्त महत्त्वशाली है ।

र. सा /१२-१३ दाणुण धम्मुण चागुण भोगुण बहिरप्पो पयंगो सो । लोहकसायग्गिमुहे पडिउमरिउण संदेहो ।१२। जिण पूजा मुणिदाण करेइ जो देइ सत्तिरूवेण । सम्माइट्ठी सावय धम्मी सो होइ मोक्खमग्गरओ ।१३। =जो श्रावक सुपात्रको दान नही देता, न अष्टमूलगुण, गुणव्रत, सयम पूजा आदि धर्मका पालन करता है, न नीतिपूर्वक भोग भोगता है वह मिथ्यादृष्टि है । जैन धर्म धारण करनेपर भी लोभको तीव्र अग्निमें पतगेके समान उडकर मरता है । जो श्रावक अपनी शक्ति अनुसार प्रतिदिवस देव, शास्त्र, गुरु पूजा तथा सुपात्रमे दान देता है, वह सम्यग्दृष्टि श्रावक इससे मोक्षमार्गमें शीघ्र गमन करता है ।१२-१३ ।

म पु./३९/९९-१०१ ततोऽधिगतसज्जातिः सद्गृहित्वमसौ भजेत् । गृहमेधी भवन्नार्यषट्कर्माण्यनुपालयन् ।९९। यदुक्तं गृहचर्यायाम् अनुष्ठान विशुद्धिमतम् । तदाप्तविहितं कृत्स्नम् अतन्द्रालु समाचरेत् ।१००। जिनेन्द्राल्लब्धसज्जन्मा गणेन्द्रैरनुशिक्षितः । स धत्ते परमं ब्रह्मवर्चस द्विजसत्तम ।१०१। =जिसे सज्जाति क्रिया प्राप्त हुई है ऐसा वह भव्य सद्गृहित्व क्रियाको प्राप्त होता है । इस प्रकार जो सद्गृहित्व होता हुआ आर्य पुरुषोके करने योग्य छह कर्मोंका पालन करता है, गृहस्थ अवस्थामें करने योग्य जो-जो विशुद्ध आचरण कहे गये है अरहन्त भगवान्के द्वारा कहे गये उन-उन समस्त आचरणोका जो आलस्य रहित होकर पालन करता है, जिसने श्री जिनेन्द्रदेवसे उत्तम जन्म प्राप्त किया है, गणधर देवने जिसे शिक्षा दी है ऐसा वह *उत्तम द्विज उत्कृष्ट ब्रह्मतेज-आत्मतेजको धारण करता है ।९९-१०१।*

९. कुछ निषिद्ध क्रियाएँ

पु. सि. उ./७७ स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणा सपन्नयोग्यविषयाणाम् । शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ।७७। =इन्द्रियोंके विषयोको न्याय पूर्वक सेवन करनेवाले श्रावकोंको कुछ आवश्यक एकेन्द्रियके घातके अतिरिक्त अवशेष स्थावर-एकेन्द्रिय जीवोंके *मारनेका त्याग भी अवश्यमेव करने योग्य होता है ।७७।*

दे. सावद्य/२ खर कर्म आदि सावद्य कर्म नही करने चाहिए ।

वसु. श्रा./३१२ दिणपडिम-वीरचरिया-तियालजोगेसु णत्थि अहियारो। सिद्धंत-रहस्साण वि अज्झयणं देसविरदाणं ।३१२। =दिनमें प्रतिमा योग्य धारण करना अर्थात् नग्न होकर कायोत्सर्ग करना, त्रिकालयोग-गर्मीमें पर्वतोके ऊपर, बरसातमे वृक्षके नीचे, सर्दीमें नदीके किनारे ध्यान करना, वीरचर्या—मुनिके समान गोचरी करना, सिद्धान्त ग्रन्थोका-केवली श्रुतकेवली कथित, गणधर, प्रत्येक बुद्ध और अभिन्न दशपूर्वी साधुओसे निर्मित ग्रन्थोंका अध्ययन करना और रहस्य अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्रका भी अध्ययन करना, इतने कार्योंमें देश विरतियोका अधिकार नहीं है ।३१२। (सा.ध/७/५०)।

सा. ध /४/१६ गवाद्यैर्नैष्ठिको वृत्तिं, त्यजेद् बन्धादिना विना । भोग्यान् वा तानुपेयात्तं, योजयेद्वा न निर्दयम् ।१६=नैष्ठिक श्रावक गौ बैल आदि जानवरोके द्वारा अपनी आजीविकाको छोडे अथवा भोग करनेके योग्य उन गौ आदि जानवरोंको बन्धन ताडन आदिके बिना ग्रहण करे, अथवा निर्दयता पूर्वक बन्धन आदिको नही करें ।१६।

ला. स./५/२२४, २६५ अश्वाद्यारोहणं मार्गे न कार्यं व्रतधारिणाम् । ईर्यासमितिसशुद्धिः कुतः स्यात्तत्र कर्मणि ।२२४। छेद्यो नाशादिच्छिद्रार्थं काष्ठमूलादिभिः कृतः । तावन्मात्रातिरिक्त तन्निविधेयं प्रतिमान्वितैः ।२६५। =अणुव्रती श्रावकको घोडे आदिकी सवारीपर चढकर चलनेमें उसके इर्या समितिकी शुद्धि किस प्रकार हो सकती है ।२२४। प्रतिमा रूप अहिंसा अणुव्रतको पालन करनेवाले श्रावकोंको नाक छेदनेके लिए सूई, सूआ वा लकडी आदिसे छेद करना पडता है, वह भी उतना ही करना चाहिए जितनेसे काम चल जाये, इससे अधिक छेद नहीं करना चाहिए ।२६५।

१० सब क्रियाओंमें सयम रक्षणीय है

दे. श्रावक/४/७ में पं ध—वह श्रावक तीर्थयात्रादिकमें भी अपने मनको तत्पर करे, परन्तु उस यात्रामें अपने सयमको विराधित करे।

श्रावकाचार—श्रावकोंके आचारके प्ररूपक कई ग्रन्थ श्रावकाचार नामसे प्रसिद्ध है यथा—१. आ. समन्तभद्र (ई. श. २) कृत रत्नकरण्ड श्रावकाचार। २. आ योगेन्द्रदेव (ई श. ६) कृत नवकार श्रावकाचार। ३ आ. अमितगति (ई. ९८३-१०२३) कृत श्रावकाचार। ४. आ. वसुनन्दि (ई. १०४३-१०५३) कृत श्रावकाचार। ५. आ सकलकीर्ति (ई. १४३३-१४४२) कृत प्रश्नोत्तर श्रावकाचार। ६. प. आशाधर (ई ११७३-१२४३) कृत सागार धर्मामृत। ७. आ. पद्मनन्दि न ७ (ई. १३०५) कृत श्रावकाचार । ८.४ ।

श्रावण द्वादशी व्रत—बारह वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष भाद्रपद शु. १२ को उपवास। तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य (व्रत विधान स /पृ. ८८) ।

श्रिति—भ. आ /मू /१७१/३८८ जा उवरि-उवरि गुणपडिवत्ती सा भावदो सिदी होदि । दव्वसिदी णिस्सेणी सोवाणं आरुहतस्स ।१७१। =सम्यग्दर्शन आदि शुद्ध गुणोकी गुणित रूप उत्तरोत्तर उन्नतावस्थाको प्राप्त कर लेना यह भाव रूप श्रिति है। और कोई उच्च स्थानमें स्थित पदार्थ लेना चाहे तो निश्रेणीका अवलम्बन लेकर एक-एक सोपान पंक्ति क्रमसे चढना वह द्रव्य श्रिति है।

श्री—१. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर दे. विद्याधर; २ हिमवान् पर्वतस्थ एक कूट—दे. लोक५/४;३ हिमवान् पर्वतस्थ पद्महदकी स्वामिनी देवी—दे. लोक३/६;४. रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे. लोक५/१३;५ भरतके आर्य खण्डस्थ एक पर्वत—दे. मनुष्य/४।

श्रीकंठ—१ इसको राक्षस वंशीय राजा कीर्तिधवलने वानर द्वीप दिया था, जिससे आगे जाकर इसकी सन्ततिसे वानर वंशकी उत्पत्ति हुई।—दे. इतिहास/७/१२। २. वेदान्तकी शिवाद्वैत शाखाके प्रवर्तक—दे. वेदान्त/७।

श्रीकटन—भरतक्षेत्रस्थ आर्य खण्डके मलय पर्वतके निकटस्थ एक पर्वत—दे. मनुष्य/४।

श्रीकल्प—कालका प्रमाण विशेष। अपरनाम शिर.कंप।—दे. गणित/I/१/४।

श्रीकांता—सुमेरु पर्वतके नन्दनादि वनोमें स्थित वापियाँ।—दे. लोक/७।

श्रीचंद्र—पुराणसार संग्रह तथा दसणकहारयणकरंड के कर्त्ता अपभ्रंश कवि। गुरु परम्परा-नन्दिसघ देशीयगण में श्रीकीर्ति, श्रुतकीर्ति, सहस्रकीर्ति, वीरचन्द्र, श्रीचन्द्र। समय—ग्रन्थ रचनाकाल वि. ११२३ (ई. १०६६)। (ती./४/१३१)।

श्रीदत्त—१ भूतकालीन सप्तम तीर्थंकर-दे. तीर्थंकर/५। २. भगवान् महावीर की मूल परम्परा में लोहाचार्य के पश्चात एक अङ्गधारी। समय -वी. नि. ५६५-५८५ (ई. ३८-५८)। (दे. इतिहास/४/४)। ३. एक प्रसिद्ध जैन तार्किक दिगम्बराचार्य जिनका नामोल्लेख आ. विद्यानन्दि ने श्लोकवार्तिक में किया और आ. पूज्यपाद (ई. श. ६) तक ने जिनका स्मरण किया। कृति—जल्प निर्णय। समय— वि. .श. ४-५ (ई. श. ४ का उत्तरार्ध)। (ती./२/४४६) (सि. वि./प्र. १६/पं. महेन्द्रकुमार)।

श्रीधर— १. गणित तथा ज्योतिष विद्या के विद्वान् दिगम्बराचार्य। कृति—गणितसार संग्रह, ज्योतिर्ज्ञानविधि, जातक तिलक, लीलावती (कन्नड)। समय—रचनाकाल ई. ७९९-८६१। (ती /३/१११) २. 'सुकुमाल चरिउ' के कर्ता अपभ्रंश कवि। समय—ग्रन्थ रचनाकाल ई. ११५१। (ती./३/१८८)। ३. पासणाह चरिउ तथा वड्ढमाण चरिउ के रचयिता एक भाग्य व पुरुषार्थ उभयवादी। हरियाणावासी बुध गोल्ह के पुत्र। समय—ग्रन्थ रचनाकाल वि. ११८९। (ती /४/१३४)। ४. 'भविसयन्त चरिउ' के रचयिता अपभ्रंश कवि दिगम्बर मुनि। माथुरवंशीय नारायण के पुत्र। समय—ग्रन्थ रचनाकाल वि १२००। (ती./४/१४५)। ५. 'सुकुमाल चरिउ' के रचयिता एक अपभ्रंश कवि गृहस्थ। साहू पाथी के पुत्र। समय—ग्रन्थ रचनाकाल वि. १२०८। (ती /४/१४६)। ६. सेनसघी मुनिसेन के शिष्य, काव्य शास्त्रज्ञ। कृति—विश्वलोचन कोश। (ती./३/१८८)। ७ भविष्यदत्त चरित्र तथा श्रुतावतार के रचयिता। समय—ई. श. १४। (ती./३/१८७)।

श्रीधरा—म पु./५९/ श्लोक—धरणीतिलक नगरके स्वामी अतिवेग विद्याधरकी पुत्री थी। अलका नगरके राजा दर्शकसे विवाही गयी (२२८-२३०)। अन्तमें दीक्षा ग्रहण कर तप किया (२३२) पूर्व भवके वैरी अजगरने इसे निगल लिया। (२३७) मर कर यह रुचक विमानमें उत्पन्न हुई (२३८)। यह मेरु गणधरका पूर्वका छठाँ भव है—दे. मेरु।

श्रीनंदन—प. पु./९२/श्लोक न. श्री मन्यु आदि सप्तऋषियोंके पिता थे (४) प्रीतिंकर भगवान्के केवलज्ञानके समय एक पुत्रकी राज्य देकर सातो पुत्र सहित दीक्षा ग्रहण कर ली (६)। अन्तमें मोक्ष प्राप्त की (८)।

श्रीनंदि—नन्दि संघ देशीयगण के अनुसार आप सकल-चन्द्रके शिष्य तथा नयनन्दिके गुरु थे। आपके लिए ही श्री पद्मनन्दिने जम्बूदीव पण्णत्ति लिखी थी। अपरनाम रामनन्दि था। समय—वि. १०२५-१०८० ई. ९६८-१०२३), (ज. प./प्र. १३ A. N. Up.)। दे इतिहास/७/५।

श्रीनाथ—अग्रोहाके राजा थे। समय—ई. १८६।

श्रीनिकेत—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

श्रीनिचय—१ पद्महद मे स्थित एक कूट। —दे लोक/५/७, २. सप्तऋषियोंमेंसे एक—दे. सप्तऋषि।

श्रीनिवास—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

श्रीपाल—१. म. पु /सर्ग/श्लोक-पूर्व विदेहमें पुण्डरीकिणी नगरीका राजा था (४७/३-४)। पिता गुणपालके ज्ञानकल्याणमे जाते समय मार्गमें एक विद्याधर घोडा बनकर उडाकर ले गया, जाकर वनमें छोडा (४७/२०) घूमते-घूमते विदेशमें अनेको अवसरो व स्थानोपर कन्याओंसे विवाह करनेके प्रसग आये परन्तु 'मै माता आदि गुरुजनके द्वारा प्रदत्त कन्याके अतिरिक्त अन्य कन्यासे भोग न करूँगा' इस प्रतिज्ञाके अनुसार सबको अस्वीकार कर दिया (४५/२८-१५०)। इमके अनन्तर पूर्वभवकी माता यक्षी द्वारा प्रदत्त चक्र, दण्ड, छत्र आदि लेकर, उनके प्रभावसे पिताके समवसरणमें पहुँचा (४७/१६०-१६३)। इसके अनन्तर चक्रवर्तीके भोगोका अनुभव किया (४७/१७३)। अन्तमे दीक्षा ग्रहणकर मोक्ष प्राप्त किया (४७/४४-४६)। २. चम्पापुर नगरके राजा अरिदमनका पुत्र था। मैना सुन्दरीसे विवाहा गया। कोढी होनेपर मैना सुन्दरी कृत सिद्धचक्र विधानके गन्धोदकसे कुष्ठ रोग दूर हुआ। विदेशमें एक विद्याधरसे जलतरंगिणी व शत्रु निवारिणी विद्या प्राप्त की। धवल सेठके रुके हुए जहाजोको चोरोंसे छुडाया। इनको रैनमंजूषा नामक कन्याकी प्राप्ति होनेपर धवल सेठ उसपर मोहित हो गया और इनको समुद्रमें गिरा दिया। तब ये लक्डीके सहारे तिरकर कुंकुमद्वीपमें गये। वहाँपर गुणमाला कन्यासे विवाह किया। परन्तु धवलसेठके भाटो द्वारा इनको जाति भाण्ड बता दी जानेपर इनको सूलीकी सजा मिली। तब रैनमंजूषाने इनको छुडाया। अन्तमें दीक्षा ग्रहणकर मोक्ष प्राप्त किया (श्रीपाल चरित्र)। ३ पचस्तूप संघ में वीरसेन स्वामी (ई. ७७०-८२७) के शिष्य और जिनसेन (ई. ८१८-८७८) के सधर्मा। समय—(लगभग ई ८००-८४३) वि. श. ९। (ती./२/४५२) (दे. इतिहास/७/७)। ४. द्रविड सघी गोणसेन के शिष्य और देवकीर्ति पण्डित के गुरु। अनन्तवीर्य के सधर्मा। समय—ई. ९७५-१०२५। (सि. वि /-प्र./७७/प. महेन्द्र)। ५. एक राजा जिनके निमित्त नेमिचन्द्र सिद्धान्तिकदेव ने द्रव्य सग्रह की रचना की थी। समय—वि. ११००-११४० (ई. १०४३-१०८३) (ज्ञा./प्र. २/प. पन्नालाल)।

श्रीपाल चरित्र—१. सकलकीर्तिकृत संस्कृत छन्दोबद्ध। समय—ई. १४०६-१४४२। (ती./३/३३३)। २. भट्टारक श्रुतसागर (ई. १४८७-१४९९) कृत संस्कृत गद्य रचना। (ती /३/४००)। ३. कवि परिमल्ल (ई. १५९४) कृत। ४. ब्र नेमिदत्त (वि. १५८५, ई. १५२८) कृत। (जै./२/३७८)। (ती./३/४०४)। ५. वादिचन्द्र (वि. १६३७-१६६४) कृत हिन्दी गीत काव्य। (ती /४/७२)। ६. पं. दौलत राम (ई. १७२०-१७७२) कृत भाषा ग्रन्थ।

श्रीपाल वर्णी—इन्होने शुभचन्द्राचार्यको अध्यात्म तरगिनी लिखनेमें सहायता दी थी। समय—वि. १६११ (ई. १५५४), (का. अ/प्र. ८३। A. N. Up)।

श्रीपुर—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

श्रीपुरुष—राजा पृथिवी कोङ्गणिका दूसरा नाम श्रीपुरुष था। आप गंगवशी नरेश थे। समय - वि. ८३३ (ई. ७६६), (भ आ./प्र. १९ प्रेमी जी)।

श्रीप्रभ—१. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणिका एक नगर—दे. विद्याधर; २. दक्षिण पुष्कर समुद्रका रक्षक व्यतर देव—दे. व्यंतर/४।

श्रीभद्र—भूतकालीन २३ वे तीर्थंकर—दे. तीर्थंकर/५।

श्रीभद्रा—सुमेरु पर्वतके नन्दनादि वनोमे स्थित वापी—दे. लोक/५/६।

श्रीभूषण—शान्तिनाथ पुराण, पाण्डव पुराण, द्वादशाग पूजा तथा प्रबोध चिन्तामणि के कर्त्ता एक भट्टारक। समय–वि. १६३६-१६७६। (ती./४/४३६)।

श्रीमंडप भूमि—समवशरणकी आठवी भूमि—दे. समवशरण।

श्रीमति—१. म पु/सर्ग/श्लोक—पुण्डरीकिणी नगरीके राजा वज्रदन्तकी पुत्री थी (६/६०)। पूर्वभवका पति मरकर इसकी बुआका लडका हुआ। जातिस्मरण होनेसे उसको ढूँढने आयी (६/११)। जिस किस प्रकार खोज निकालकर उससे विवाह किया (६/१०५)। एक दिन मुनियोंको आहार देकर भोगभूमिकी आयुका बन्ध किया (८/१७३)। एक समय शयनागारमे सुगन्धित द्रव्यके घुटनेसे आकस्मिक मृत्यु हो गयी (९/२७)। तथा भोगभूमिमें जन्म लिया (९/३३)। यह श्रेयास राजाका पूर्वका सातवाँ भव है।—दे श्रेयास, २ जिनदत्त चरित्र/सर्ग/श्लोक—सिंघल द्वीपके राजा घनवाहनकी पुत्री थी। इसको ऐसा रोग था जो इसके पास रहता वह मर जाता था। इसी कारण इसके पिताने इसे पृथक् महल दे दिया (४/८) एक दिन एक बुढियाके पुत्रकी बारी आनेपर जिनदत्त नामक एक लडका स्वयं इसके पास गया। और रात्रिको इसके मुँहमे से निकले सर्पको मारकर इसको विवाहा (८/१५-२६)। इसपर मोहित होकर सागरदत्तने जिनदत्तको समुद्रमे गिरा दिया। यह अपने शीलपर दृढ रही और मन्दिरमें रहने लगी (५/८)। कुछ समय पश्चात इसका पति आ गया (७/२४) अन्तमें दीक्षा धारण कर ली। समाधिपूर्वक कापिष्ठ स्वर्गमें देव हुई (९/११२)।

श्रीमन्यु—सप्तऋषियोमेंसे एक—दे सप्तऋषि।

श्रीमहिता—सुमेरु पर्वतके नन्दनादि वनोमें स्थित वापी। —दे. लोक/५/६।

श्रीवंश— एक पौराणिक राजवंश-दे. इतिहास/१०/१५।

श्रीवर्मा—म. पु/५४/श्लोक—पुष्कर द्वीपके पूर्व मेरुकी पश्चिम दिशामें सुगन्धि नामक देशके श्रीपुर नगरके राजा श्रीषेण (९/३७) का पुत्र था (६८)। एक समय विरक्त हो दीक्षा ले ली, तथा संन्यास मरणकर (८०-८१) स्वर्गमें देव हुआ (८२)। यह चन्द्रप्रभ भगवान्का पूर्वका पाँचवाँ भव है।—दे. चन्द्रप्रभ।

श्रीवल्लभ—दक्षिणमें लाट देशके राजा कृष्णराज प्रथमका पुत्र था, तथा ध्रुव राजाका बडा भाई था। कृष्णराज प्रथमका नाम गोविन्द प्रथम था, इसी कारण इनका नाम गोविन्द द्वितीय भी था। यह वर्धमानपुरकी दक्षिण दिशामें राज्य करता था। अमोघवर्षके पिता जगतुगने इने इन्द्रराजकी सहायतासे युद्धमे परास्त करके इसका राज्य छीन लिया था। इसीके समयमें आ. जिनषेणने अपना हरिवंश पुराण लिखना प्रारम्भ किया था। समय—श ६९४-७०६ (ई. ७७२-७८४), (ह. पु./६६/५२-५३); (ह पु./प्र. ५ पं. पन्ना लाल)।—दे. इतिहास/३/४।

श्रीविजय—म. पु./६१/श्लोक त्रिपृष्ठ नारायणका पुत्र था (११३)। एक बार राज्य सिंहासन पर वज्रपात गिरनेकी भविष्यवाणी सुनकर (१७२-१७३) सिंहासन पर स्फटिक मणिकी प्रतिमा विराजमान कर दी। और स्वयं चैत्यालयमे जाकर शान्ति विधान करने लगा। (२१९-२२१)। फिर सातवे दिन वज्रपात यक्षमूर्तिपर पडा (२२)। एक समय इनकी स्त्रीको अशनिघोष विद्याधर उठाकर ले गया और स्वयं सुताराका वेष बनाकर बैठ गया (२३३-२३४) तथा बहाना किया कि मुझे सर्पने डस लिया, तब राजाने चिताकी तैयारी की (२३५-२३७)। इसके साले अमिततेजके आश्रित राजा संभिन्नसे ठीक-ठीक वृत्तान्त जान (२३८-२४६) अशनिघोषके साथ युद्ध किया (६८-८०)। अन्तमे शत्रु समवशरणमे चला गया, तब वहीपर इन्होने अपनी स्त्रीको प्राप्त किया (२८४-२८५)। अन्तमे समाधिमरण कर तेरहवे स्वर्गमें मणिचूल नामक देव हुआ (४१०-४११)। यह शान्तिनाथ भगवान्के प्रथम गणधर चक्रायुधका पूर्वका १०वाँ भव है। —दे. चक्रायुध।

श्रीवृक्ष—१. कुण्डल पर्वतस्थ मणिकूटका स्वामी नागेन्द्र देव-दे. लोक/५/१२; २ रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे लोक/५/१३।

श्रीशैल—हनुमान्का अपरनाम है—दे. हनुमान्।

श्रीषेण—म पु/६२/श्लोक मगध देशका राजा था (३४०)। आदित्यगति नामक मुनिको आहार देकर भोगभूमिका बन्ध किया (३४८-३५०)। एक समय पुत्रोका परस्पर युद्ध होनेपर विष खाकर मर गया (३५२-३५५)। यह शान्ति नाथ भगवान्का पूर्वका ११वाँ भव है। – दे शान्तिनाथ।

श्रीसंचय—पद्महदके वनमे स्थित एक कूट—दे. लोक/५/७।

श्रीसौध—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर।—दे. विद्याधर।

श्रीहर्ष—वेदान्त सिद्धान्तमे खण्डनखण्डखाद्य नामक ग्रन्थके कर्ता। समय—ई ११५०।—दे. वेदान्त।

श्रुतकीर्ति—**१. नन्दिसंघ बलात्कारगण त्रिभुवन कीर्ति के शिष्य। कृतियें-हरिवंश पुराण, धर्म परीक्षा, परमेष्ठी प्रकाशसार, योगसार। समय—हरिवंश रचनाकाल वि. १५५२। दे. इतिहास/७/४, (ती./३/४३०)। २. नन्दिसंघ देशीयगण, माघनन्दि कोल्हापुरीय के शिष्य एक महावादी। श्वेताम्बराचार्य देवेन्द्र सूरि को परास्त किया। कृति–काव्य राघव पाण्डवीय। समय–(ई. ११३३-११६३) (दे. इतिहास/७/५); (प. स. २/प्र.४/H.L.Jain)।**

श्रुतकेवली—ज्ञान स्वरूप होनेके कारण आत्मा स्वय ज्ञेयाकार स्वरूप है। इसलिए आत्माको जाननेसे ही सकल विश्व प्रत्यक्ष रूपसे जाना जाता है। अत केवल आत्माको जाननेवाला अथवा सकलश्रुत को जाननेवाला ही श्रुतकेवली है। इसीसे १० या १४ अंगोके जाननेसे भी श्रुतकेवली कहलाता है और केवल समिति गुप्तिरूप अष्ट प्रवचन मात्रको जाननेसे भी श्रुतकेवली कहलाता है।

१. दश व चतुर्दश पूर्वी निर्देश

१. चतुर्दश पूर्वीका लक्षण

ति. प/४/१००१ सयलागमपारगया सुदकेवलिणामसुप्पसिद्धा जे। एदाण बुद्धिरिद्धी चोद्दसपुव्वि त्तिणामेण ।१००१। =जो महर्षि सम्पूर्ण आगमके पारगत हैं और श्रुतकेवली नामसे प्रसिद्ध है उनके चौदह-पूर्वी नामक बुद्धि ऋद्धि होती है।१००१।

रा. वा /३/३६/३/२०२/६ सम्पूर्ण श्रुतकेवलिता चतुर्दशपूर्वित्वम्। =पूर्ण श्रुतकेवली हो जाना चतुर्दशपूर्वित्व है। (ध ६/४,१,१३/-७०/७)।

चा. सा./२१४/२ श्रुतकेवलिनां चतुर्दशपूर्वित्वम्। =श्रुतकेवलीके चतुर्दशपूर्वित्व नामकी ऋद्धि होती है।

२. दशपूर्वीका लक्षण

ति. प./४/९९८-१००० रोहिणिपहुदीणमहाविज्जाणं देवदाउ पंचसया। अगुट्ठपसेणाइ खुद्दअविज्जाण सत्तसया।९९८। एत्तूण पेमणाइ दसम-पुव्वपढणम्मि। णेच्छंति संजमता ताओ जेते अभिण्णदसपुव्वी। ।९९९। भुवणेसु सुप्पसिद्धा विज्जाहरसमणणामपज्जाया। ताण मुणीण बुद्धी दसपुव्वी णाम बोद्धव्वा।१०००। =दसवें पूर्वके पढनेमें रोहिणी प्रभृति महाविद्याओंके पाँच सौ और अगुष्ठ प्रसेनादिक (प्रश्नादिक) क्षुद्र विद्याओंके सात सौ देवता आकर आज्ञा माँगते हैं। इस समय जो महर्षि जितेन्द्रिय होनेके कारण उन विद्याओंकी इच्छा नहीं करते हैं, 'वे विद्याश्रमण' इस पर्याय नामसे भुवनमें प्रसिद्ध होते हुए अभिन्नदशपूर्वी कहलाते हैं। उन मुनियोंकी बुद्धिको दशपूर्वी जानना चाहिए।९९८-१०००।

रा. वा /३/३६/३/२०२/७ महारोहिण्यादिभिरागताभि प्रत्येकमात्मीयरूपसामर्थ्याविष्करणकथनकुशलाभिर्वेगवतीभिर्विद्यादेवताभि -रविचलितचारित्रस्य दशपूर्वदुस्तरसमुद्रोत्तरणं दशपूर्वित्वम्। =महारोहिण्यादि लौकिक विद्याओंके प्रलोभनमें न पडकर दशपूर्वका पाठी होता है वह दशपूर्वित्व है। (चा. सा./२१४/१)।

३. भिन्न व अभिन्न दशपूर्वीके लक्षण

ध. ६/४,१,१२/६९/६,७०/१ एत्थ दसपुव्विणो भिण्णाभिण्णभेएण दुविहा होंति। तत्थ एक्कारसंगाणि पढिदूण पुणो परियम्म-सुत्त-पढमाणियोग-पुव्वगयचूलिया त्ति पंचाहियारणिबद्धदिट्ठिवादे पढिज्जमाणे उप्पादपुव्वमादि कादूण पढंताण दसपुव्वीए विज्जाणु-पवादे समत्ते रोहिणीआदिपंचसयमहाविज्जाओ अगुट्ठपसेणादि सत्तसयदहरविज्जाहि अणुगयाओ किं भयव आणवेदि त्ति ढुक्कति। एवं ढुक्काणं सव्वविज्जाण जो लोभं गच्छदि सो भिण्णदसपुव्वी। जो ण तासु लोभं करेदि कम्मक्खयत्थी होंतो सो अभिण्णदसपुव्वी णाम (६९/५)। ण च तेसिं (भिण्णदसपुव्वीणं) जिणत्तमत्थि, भग्गमहव्वएसु जिणत्ताणुववत्तीदो।'=यह भिन्न और अभिन्नके भेदसे दशपूर्वी दो प्रकार हैं। उनमें ११ अंगोंको पढकर पश्चात् परिकर्म सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका इन पाँच अधिकारोंमें निबद्ध दृष्टिवादके पढते समय उत्पाद पूर्वको आदि करके पढने वालेके दशमपूर्व विद्यानुवादके समाप्त होनेपर अगुष्ठ प्रसेनादि सात सौ क्षुद्र विद्याओंसे अनुगत रोहिणी आदि पाँच सौ महा विद्याएँ 'भगवान् क्या आज्ञा देते हैं' ऐसा कहकर उपस्थित होती हैं। इस प्रकार उपस्थित हुई सब विद्याओंके लोभको प्राप्त होता है वह भिन्न-दशपूर्वी है। किन्तु जो कर्मक्षयका अभिलाषी होकर उनमें लोभ नहीं करता है वह अभिन्नदशपूर्वी कहलाता है। भिन्न-दशपूर्वियोंके जिनत्व नहीं है, क्योंकि जिनके महाव्रत नष्ट हो चुके हैं उनमें जिनत्व घटित नहीं होता। (भ आ./वि /३४/-१२५/१४)।

४. चतुर्दशपूर्वीको पीछे नमस्कार क्यों

ध ६/४,१,१२/७०/३ चोद्दसपुव्वहराणं णमोक्कारो किण्ण कदो। ण, जिणवयणपच्चयट्ठाणप्पदुप्पायणदुवारेण दसपुव्वीण चागमहप्पपदरि-सणट्ठं पुव्वं तण्णमोक्कारकरणादो। सुदपरिवाडीए वा पुव्वं दस-पुव्वीणं णमोक्कारो कदो। -प्रश्न—चौदह पूर्वोंके धारकोंको पहले नमस्कार क्यों नहीं किया? उत्तर—नहीं, क्योंकि जिनवचनोंपर प्रत्यय स्थान अर्थात् विश्वास उत्पादन द्वारा दशपूर्वियोंके त्यागकी महिमा दिखलानेके लिए पूर्वमें उन्हें नमस्कार किया है। अथवा श्रुतकी परिपाटीकी अपेक्षासे पहले दशपूर्वियोंको नमस्कार किया गया है।

५. चौदहपूर्वी अप्रतिपाती हैं

ध ६/४,१,१३/७१/६ चोद्दसपुव्वहरो मिच्छत्तं ण गच्छदि, तम्हि भवे असंजमं च ण पडिवज्जदि, एसो एदस्स विसेसो। =चौदह पूर्वका धारक मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं होता, और उस भवमें असंयमको भी नहीं प्राप्त होता, यह इसकी विशेषता है।

२. निश्चय व्यवहार श्रुतकेवली निर्देश

१. श्रुतकेवलीका अर्थ आगमज्ञ

स. सा /मू /१० जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा। णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुयकेवली तम्हा।१०। =जो जीव सर्व श्रुतज्ञानको जानता है उसे जिनदेव श्रुतकेवली कहते हैं, क्योंकि ज्ञान सब आत्मा ही है इसलिए वह श्रुतकेवलीके है।१०।

स. सि./१/३७/४५३ 'च पूर्वविदो भवत श्रुतकेवलिन इत्यर्थ। =पूर्व-विद् अर्थात् श्रुतकेवलीके होते हैं।

म. पु /२/६१ प्रत्यक्षश्च परोक्षश्च द्विधा ते ज्ञानपर्यय'। केवलं केवलि-न्येकस्ततस्त्वश्रुतकेवली।६१। =(श्रेणिक राजा गौतम गणधरकी इस प्रकार स्तुति करते हैं।) हे देव! केवली भगवान्‌में मात्र एक केवल ज्ञान ही होता है और आपमें प्रत्यक्ष परोक्षके भेदसे दो प्रकारका ज्ञान विद्यमान है। इसलिए आप श्रुतकेवली कहलाते हैं।६१।

भ. आ./वि /३४/१२५/१२ सुदकेवलिणा समस्तश्रुतधारिणा कथितं चेति। =द्वादशांग श्रुतज्ञानको धारण करने वाले महर्षियोंको श्रुत-केवलि कहते हैं। (और भी दे० श्रुतकेवली/१/१)।

२. श्रुतकेवलीका अर्थ आत्मज्ञ

स. सा /मू./९ जो हि सुएण हि गच्छइ अप्पाणमिण तु केवलं सुद्धं। तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा।९। =जो जीव निश्चयसे (वास्तवमें) श्रुतज्ञानके द्वारा इस अनुभवगोचर केवल एक शुद्ध आत्माको सम्मुख होकर जानता है, उसे लोकको प्रगट करने वाले ऋषीश्वर श्रुतकेवली कहते हैं।९।

प्र. सा./मू /३३ जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण। तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवकरा।३३। =जो वास्तवमें श्रुतज्ञानके द्वारा स्वभावसे ज्ञायक (ज्ञायकस्वभाव) आत्माको जानता है उसे लोकके प्रकाशक ऋषीश्वरगण श्रुतकेवली कहते हैं।

३. श्रुतकेवलीके उत्कृष्ट व जघन्य ज्ञानकी सीमा

स सि /९/४७/४६१/८ श्रुत—पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कर्षेणा-भिन्नाक्षरदशपूर्वधरा। कषायकुशीला निर्ग्रन्थाश्चतुर्दशपूर्वधरा। जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु। बकुशकुशीला निर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातर.। स्नातका अपगतश्रुता' केवलिन'। =श्रुत—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील उत्कृष्ट रूपसे अभिन्नाक्षर दश पूर्वधर होते हैं। कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ चौदह पूर्वधर होते हैं। जघन्य रूपसे पुलाकका श्रुत आचार वस्तु प्रमाण होता है। बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थोंका श्रुत आठ प्रवचन मातृका प्रमाण होता है। स्नातक श्रुतज्ञानसे रहित केवली होते हैं। (रा. वा /९/४७/४/६३८/१), (चा. सा./१०३/४)।

दे ध्याता/१ उत्सर्ग रूपसे १४ पूर्वोंके द्वारा और अपवाद रूपसे अष्ट प्रवचन मातृकाका मात्र ज्ञानसे ध्यान करना सम्भव है।

दे० शुक्लध्यान/३/१,२ पृथक्त्व व एकत्व वितर्क ध्यान १४,१० व ६ पूर्वाको होते है।

४. मिथ्यादृष्टि साधुको ११ अंग तक भाव ज्ञान सम्भव है

ला. सं./५/१८-२० एकादशाङ्गपाठोगि तस्य स्याद्द्रव्यरूपत। आत्मानुभूतिशून्यत्वाद्भावत संविदुज्झित' ।१८। न वाच्यं पाठमात्रत्वमस्ति तस्येह नार्थत'। यतस्तस्योपदेशाद्वै ज्ञान विन्दन्ति केचन।१९। तत. पाठोऽस्ति तेषूच्चै. पाठस्याप्यस्ति ज्ञातृता। ज्ञातृताया च श्रद्धानं प्रतीती रोचनं क्रिया।२०। =कोई 'मिथ्यादृष्टि मुनि ११ अगके पाठी होते है, महाव्रतादि क्रियाओको बाह्यरूपसे पूर्णतया पालन करते है, परन्तु उन्हे अपने शुद्ध आत्माका अनुभव नही होता, इसलिए वे परिणामोके द्वारा सम्यग्ज्ञानसे रहित है।१८। ऐसी शंका नही करनी चाहिए कि 'मिथ्यादृष्टिको ११ अंगका ज्ञान केवल पठन मात्र होता है, उसके अर्थोका ज्ञान उसको नहीं होता? क्योकि शास्त्रोमें यह कथन आता है कि ऐसे मिथ्यादृष्टियोके उपदेशसे अन्य कितने ही भव्य जीवोंको सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान हो जाता है।१९। इससे सिद्ध होता है कि ऐसे मिथ्यादृष्टि मुनियोके ग्यारह अंगोका ज्ञान पाठमात्र भी होता है और उसके अर्थोका ज्ञान भी होता है, उस ज्ञानमें श्रद्धान होता है, प्रतीति होती है, रुचि होती है और पूर्ण क्रिया होती है।

* श्रुतज्ञानीमें भावश्रुत इष्ट है—दे० श्रुतकेवली/२/४।

५. श्रुतज्ञान सर्वग्राहक कैसे

ध. ९/४,१,७/५७/१ णासेसपयत्था सुदणाणेण परिच्छिज्जंति,—पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं। पण्णवणिज्जाण पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो।१७। इदि वयणादो त्ति उत्ते होदु णाम सयलपयत्थाणमणंतिमभागो दव्वसुदणाणविसओ, भावसुदणाणविसओ पुण सयलपयत्था, अण्णहा तित्थयराण वागदिसयत्ता भावप्पसंगादो। [तदो] बीजपदपरिच्छेदकारिणी बीजबुद्धि त्ति सिद्धं। =प्रश्न—श्रुतज्ञान समस्त पदार्थोको नहीं जानता है, क्योकि, वचनके अगोचर ऐसे जीवादिक पदार्थोके अनन्तवे भाग प्रज्ञापनीय अर्थात् तीर्थंकरकी सातिशय दिव्यध्वनिमें प्रतिपाद्य होते है। तथा प्रज्ञापनीय पदार्थोके अनन्तवे भाग द्वादशांग श्रुतके विषय होते है? इस प्रकारका वचन है? उत्तर—इस प्रश्नके उत्तरमें कहते है कि समस्त पदार्थोंका अनन्तवाँ भाग द्रव्य श्रुतज्ञानका विषय भले ही हो, किन्तु भाव श्रुतज्ञानका विषय समस्त पदार्थ है, क्योकि ऐसा माननेके विना तीर्थंकरोके वचनातिशयके अभावका प्रसंग होगा। [इसलिए] बीजपदोको ग्रहण करनेवाली बीजबुद्धि है, यह सिद्ध हुआ।

६. जो एकको जानता है वही सर्वको जानता है

स. सा./मू./१५ जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं। अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं।१५। =जो पुरुष आत्माको अबद्ध स्पृष्ट, अनन्य अविशेष (तथा उपलक्षणसे नियत और असयुक्त) देखता है—वह जिन शासन बाह्य श्रुत तथा अभ्यन्तर ज्ञान रूप भाव श्रुतवाला है।१५।

यो. सा. यो./९५ जो अप्पा सुद्ध वि मुणइ असुइ सरीरविभिण्णु। सो जाणइ सत्थइ सयल सासय-सुक्खहं लीणु।९५। =जो आत्माको अशुचि शरीरसे भिन्न समझता है, वह शाश्वत सुखमें लीन होकर समस्त शास्त्रोको जान जाता है।९५।

न.च./श्रुत./३/६८ पर एको भावः सर्वभावस्वभावः। सर्वे भावा एकभावस्वभावा'। एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्ध' सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धा'।१। =एक भाव सर्व भावोंके स्वभावस्वरूप है और सर्व भाव एक भावके स्वभावस्वरूप है, इस कारण जिसने तत्त्वसे एक भावको जाना उसने समस्त भावोंको यथार्थतया जाना। (ज्ञा./३५/१३/पृ. ३४४ पर उद्धृत)।

का. अ./मू./४६४ जो अप्पाणं जाणदि असुइ-सरीरा दु तच्चदो भिण्णं। जाणग-रूव सरूवं सो सत्थं जाणदे सव्वं।४६५। =जो अपनी आत्माको इस अपवित्र शरीरसे निश्चयसे भिन्न तथा ज्ञापक स्वरूप जानता है वह सब शास्त्रोको जानता है।४६५।

* जो सर्वको नहीं जानता वह एकको भी यथार्थ नहीं जानता —दे. केवलज्ञान/४/१।

७. निश्चय व्यवहार श्रुतकेवलीका समन्वय

प. प्र./मू./१/९९ जोइय अप्पे जाणिएण जगु जाणियउ हवेइ। अप्पह केरइ भावडइ बिंबिउ जेण वसेइ। =हे योगी! एक अपने आत्माके जाननेसे यह तीन लोक जाना जाता है, क्योकि आत्माके भावरूप केवलज्ञानमें यह लोक प्रतिबिंबित हुआ बस रहा है।

स. सा./आ./९-१० य' श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मान जानाति स श्रुतकेवलीति तावत्परमार्थो, य' श्रुतज्ञान सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति तु व्यवहार'। तदत्र सर्वमेव तावद ज्ञानं निरूप्यमाण किमात्मा किमनात्मा। न तावदनात्मा समस्तस्याप्यनात्मनश्चेतनेतरपदार्थपञ्चतयस्य ज्ञानतादात्म्यानुपपत्ते'। ततो गत्यन्तराभावात् ज्ञानमात्मेत्यायाति। अत' श्रुतज्ञानमप्यात्मैव स्यात्। एव सति य' आत्मानं जानाति स श्रुतकेवलीत्यायाति, स तु परमार्थ एव। एव ज्ञानज्ञानिनोर्भेदेन व्यपदिशता व्यवहारेणापि परमार्थमात्रमेव प्रतिपाद्यते, न किंचिदप्यतिरिक्तम्। अथ च य श्रुतेन केवल शुद्धमात्मान जानाति स श्रुतकेवलीति परमार्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वाद्य' श्रुतज्ञान सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति व्यवहारः परमार्थप्रतिपादकत्वेनात्मान प्रतिष्ठापयति।९-१०। =प्रथम, जो श्रुतसे केवल शुद्धात्माको जानते है वे श्रुतकेवली है वह तो परमार्थ है; और जो सर्व श्रुतज्ञानको जानते है वे श्रुतकेवली है यह व्यवहार है। यहाँ दो पक्ष लेकर परीक्षा करते है—उपरोक्त सर्वज्ञान आत्मा है या अनात्मा? यदि अनात्माका पक्ष लिया जाये तो वह ठीक नही है; क्योकि जो समस्त जड रूप अनात्मा आकाशादिक पाँच द्रव्य है, उनका ज्ञानके साथ तादात्म्य बनता ही नही। (क्योकि उनमें ज्ञान सिद्ध नहीं है) इसलिए अन्यपक्षका अभाव होनेसे 'ज्ञान आत्मा ही है, यह पक्ष सिद्ध हुआ। इसलिए श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है। ऐसा होनेसे जो आत्माको जानता है वह श्रुतकेवली है' ऐसा ही घटित होता है; और वह तो परमार्थ ही है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानीके भेदसे कहनेवाला जो व्यवहार है, उससे भी परमार्थ मात्र ही कहा जाता है, उससे भिन्न कुछ नही कहा जाता। और जो श्रुतसे केवल शुद्ध आत्माको जानते है वे श्रुतकेवली है, इस प्रकार परमार्थका प्रतिपादन करना अशक्य होनेसे, 'जो सर्व श्रुतज्ञानको जानते है वे श्रुतकेवली हैं' ऐसा व्यवहार परमार्थके प्रतिपादकत्वसे अपनेको दृढता पूर्वक स्थापित करता है।

प. वि /१/१५८ ज्ञान दर्शनमप्यशेषविषयं जीवस्य नार्थान्तर—शुद्धादेशविवक्षया स हि ततश्चिद्रूप इत्युच्यते। पर्यायैश्च गुणैश्च साधु विदते तस्मिन् गिरा-सद्गुरोर्ज्ञात किं न विलोकित न किमथ प्राप्त न किं योगिभि।१५८। =शुद्ध नयकी अपेक्षा समस्त पदार्थोको विषय करनेवाला ज्ञान और दर्शन ही जीवका स्वरूप है- जो उस जीवसे पृथक् नहीं है। इससे भिन्न कोई दूसरा जीवका स्वरूप नहीं हो सकता है। अतएव वह चिद्रूप अर्थात चेतन स्वरूप ऐसा कहा जाता है। उत्तम गुरुके उपदेशसे अपने गुणो और पर्यायोके साथ उस ज्ञान

दर्शन स्वरूप जीवके भले प्रकार जान लेनेपर योगियोंने क्या नहीं जाना, क्या नही देखा, और क्या नही प्राप्त किया ? अर्थात् सब कुछ जान, देख व प्राप्त कर लिया।१६६।

स.सा./ता. वृ./९-१०/२२/१ अयमत्रार्थ.—यो भावश्रुतरूपेण स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुद्धात्मानं जानाति स निश्चयश्रुतकेवली भवति। यस्तु स्वशुद्धात्मानं न संवेदयति न भावयति बहिर्विषयं द्रव्यश्रुतार्थं जानाति स व्यवहारश्रुतकेवली भवतीति।=यहाँ यह तात्पर्य है कि—जो भावश्रुत रूप स्व संवेदन ज्ञानके बलसे शुद्ध आत्माको जानता है वह निश्चय श्रुतकेवली है। और जो शुद्धात्माका न संवेदन करता है—न भावना भाता है, परन्तु बाह्य द्रव्य श्रुतको जानता है वह व्यवहार श्रुतकेवली है।

प. प्र./टी./१/९९/९४/१ वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन परमात्मतत्त्वे ज्ञाते सति समस्तद्वादशाङ्गस्वरूपं ज्ञातं भवति। कस्मात्। यस्माद्राघवपाण्डवादयो महापुरुषा जिनदीक्षां गृहीत्वा द्वादशाङ्गं पठित्वा द्वादशाङ्गाध्ययनफलभूते निश्चयरत्नत्रयात्मके परमात्मध्याने तिष्ठन्ति तेन कारणेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन निजात्मनि ज्ञाते सति सर्वं ज्ञातं भवतीति। अथवा निर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानन्दसुखरसास्वादे जाते सति पुरुषो जानाति। किं जानाति। वेत्ति मम स्वरूपमन्यद्देहरागादिकं परमिति तेन कारणेनात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवति। अथवा आत्मा कर्ता श्रुतज्ञानरूपेण व्याप्तिज्ञानेन कारणभूतेन सर्वं लोकालोकं जानाति तेन कारणेनात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति। अथवा वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिबलेन केवलज्ञानोत्पत्तिबीजभूतेन केवलज्ञाने जाते सति दर्पणे बिम्बवत् सर्वं लोकालोकस्वरूपं विज्ञायत इति हेतोरात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति।=वीतराग निर्विकल्पस्वसंवेदन ज्ञानसे शुद्धात्म तत्त्वके जाननेपर समस्त द्वादशांग शास्त्र जाना जाता है। क्योंकि जैसे—१ रामचन्द्र, पाण्डव, भरत, सगर आदि महान् पुरुष भी जिनराजकी दीक्षा लेकर द्वादशांगको पढकर द्वादशांग पढनेका फल निश्चय रत्नत्रय स्वरूप शुद्ध आत्माके ध्यानमें लीन हुए थे। इसलिए वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानसे जिन्होंने अपनी आत्माको जाना उन्होंने सबको जाना। २ अथवा निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न हुआ जो परमानन्द सुख रस उसके आस्वाद होनेपर ज्ञानी पुरुष ऐसा जानता है कि मेरा स्वरूप पृथक् है, और देहरागादिक मेरेसे दूसरे है, इसलिए परमात्माके जाननेसे सब भेद जाने जाते है, जिसने अपने आत्माको जाना उसने सर्व भिन्न पदार्थ जाने। ३. अथवा आत्मा श्रुतज्ञान रूप व्याप्ति ज्ञानसे सब लोकालोकको जानता है, इसलिए आत्माके जाननेसे सब जाना गया। ४ अथवा वीतराग निर्विकल्प परम समाधिके बलसे केवलज्ञानको उत्पन्न करके जैसे दर्पणमें घट पट आदि पदार्थ झलकते है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी दर्पणमें सब लोकालोक भासते है। इससे यह बात निश्चित हुईकि आत्माकेजाननेपर सब जाना जाता है।

दे अनुभव/५ अल्प भूमिकामें कथंचित शुद्धात्माका अनुभव होता है।

दे. दर्शन/२/७ दर्शन द्वारा आत्माका ज्ञान होनेपर उसमें प्रतिबिम्बित सब पदार्थोंका ज्ञान भी हो जाता है।

दे केवलज्ञान/६/६ (ज्ञेयाकारोंसे प्रतिबिम्बित निज आत्माको जानता है)

*** पूर्व श्रुतकेवलीवत् वर्तमानमें भी सम्भव है।** —दे अनुभव/५/८।

श्रुतज्ञान—इन्द्रियों द्वारा विवक्षित पदार्थको ग्रहण करके उससे सम्बन्धित अन्य पदार्थको जानना श्रुतज्ञान है। वह दो प्रकारका है—अर्थलिंगज व शब्दलिंगज। पदार्थको जानकर उसमें इष्टता अनिष्टताका ज्ञान अथवा धूमको देखकर अग्निका ज्ञान अर्थलिंगज श्रुतज्ञान है। वाचक शब्दको सुनकर या पढकर वाच्यका ज्ञान शब्दलिंगज है। वह लौकिक भी होता है लोकोत्तर भी। लोकोत्तर श्रुतज्ञान १२ अग १४ पूर्वों आदि रूपसे अनेक प्रकार है। पहला अर्थलिंगज तो क्षुद्र जीवोसे लेकर क्रमसे वृद्धिगत होता हुआ ऋद्धिधारी मुनियो तकको होता है। पर दूसरा अर्थलिंगज व शब्दलिंगज सज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंको ही सम्भव है। श्रुतकेवलीको यह उत्कृष्ट होता है।

I श्रुतज्ञान सामान्य निर्देश

१. भेद व लक्षण

१. श्रुतज्ञान सामान्यका लक्षण

१. सामान्य अर्थ

स सि /अ./सू /पृ /प. श्रूयते अनेन तत्त शृणोति श्रवणमात्र वा श्रुतम् (१/६/६४/१) श्रुतशब्दोऽयं श्रवणमुपादाय व्युत्पादितोऽपि रूढिवशात् कस्मिंश्चिज्ज्ञानविशेषे वर्तते। यथा कुशलवनकर्म प्रतीत्य व्युत्पादितोऽपि कुशलशब्दो रूढिवशात्पर्यवदाते वर्तते (१/२०/१२०/४) श्रुतज्ञानविषयोऽर्थ श्रुतम् (२/२१/१७६/७)। विशेषेण तर्कण मूहन वितर्क श्रुतज्ञानमित्यर्थः (६/४३/४५५/६)।=१. पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनता है या सुनना मात्र श्रुत कहलाता है (रा वा /१/६/२/४४/१०)। २ यह श्रुत शब्द सुनने रूप अर्थकी मुख्यतासे निष्पादित है तो भी रूढिसे उसका वाच्य कोई ज्ञान विशेष है। जैसे—कुशल शब्दका व्युत्पत्ति अर्थ कुशाका छेदना है तो भी रूढिसे उसका अर्थ पर्यवदात अर्थात् विमल या मनोज्ञ लिया जाता है। (रा. वा /१/२०/१/७०/२१), (ध. ६/४,१,४५/१६०/१); (गो जो./जी. प्र./३१५/६७३/१७) ३. श्रुतज्ञानका विषय भूत अर्थ श्रुत है। (रा. वा /२/२१/-/१३४/१८) ४. विशेष रूपसे तर्कणा करना अर्थात् ऊहा करना वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान कहलाता है। (रा. वा./६/४३/-६३४/६), (त सा /१/२४), (अन. ध./१/१/५ पर उद्धृत)।

का. अ /मू /२६२ सव्वं पि अणेयंतं परोक्ख-रूवेण जं पयासेदि। तं सुय-णाणं भण्णदि संसय-पहुदीहि परिचत्तं ।२६२। =जो परोक्ष रूपसे सब वस्तुओंको अनेकान्त रूप दर्शाता है, संशय, विपर्यय आदिसे रहित उस ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते है ।२६२।

अन ध /३/५ स्वावृत्त्यपायेऽविस्पष्टं यन्नानार्थप्ररूपणम्। ज्ञानं ·· तच्छ्रुतम ।५। =श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर नाना पदार्थोंके समीचीन स्वरूपका निश्चय कर सकनेवाले अस्पष्ट ज्ञानको श्रुत कहते है ।५।

द्र• सं /टी /५/१५/१० श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमात्·· मूर्तामूर्तवस्तुलोकालोकव्याप्तिज्ञानरूपेण यदस्पष्टं जानाति तत् श्रुतज्ञानं भण्यते।

=श्रुत ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे ··जो मूर्तिक अमूर्तिक वस्तुको लोक तथा अलोकको व्याप्ति ज्ञान रूपसे अस्पष्ट जानता हैं उसको श्रुतज्ञान कहते है।

गो. जी./जी. प्र./३१५/६७३,१६ श्रूयते श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते इति श्रुतः शब्द', तस्मादुत्पन्नमर्थज्ञानं श्रुतज्ञानमिति व्युत्पत्तेरपि अक्षरात्मकप्राधान्याश्रयणात्। =जो सुना जाता है उसको शब्द कहते है, शब्दसे उत्पन्न ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते है। इस अर्थमें अर्थात्मक श्रुतज्ञान ही प्रधान हुआ, अथवा श्रुत ऐसा रूढि शब्द है।

२. अर्थसे अर्थान्तरका ग्रहण

पं. स /प्रा./१/१२२ अत्थाओ अत्थंतर उवलंभे तं भणंति सुयणाणं। =मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थके अवलम्बनसे तत्सम्बन्धी दूसरे पदार्थका जो उपलम्भ अर्थात् ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।१२२। (ध १/१,१,११५/गा. १८३/३५९); (गो. जी /मू /३१५/-६७३); (न. च./गद्य/३६/६)

रा. वा./१/९/२७-२९/पृ./पं. इन्द्रियानिन्द्रियबलाधानात् पूर्वमुपलब्धेऽर्थे नोइन्द्रियप्राधान्यात् यदुत्पद्यते ज्ञानं तत् श्रुतम् (४८/-२९)। एक घटमिन्द्रियानिन्द्रियाभ्यां निश्चित्यायं घट इति तज्जातीयमन्यमनेकदेशकालरूपादिविलक्षणमपूर्वमधिगच्छति यत्तत् श्रुतम् (४८/३४)। अथवा इन्द्रियानिन्द्रियाभ्यामेकं जीवमजीवं चोपलभ्य तत्र सत्सख्या···आदिभिः प्रकारैरर्थप्ररूपणे कर्तव्ये यत्समर्थं तत् श्रुतम् (४९/१)। =१. शब्द सुननेके बाद जो मनकी ही प्रधानतासे अर्थ ज्ञान होता है वह श्रुत है। २. एक घडेको इन्द्रिय और मनसे जानकर तज्जातीय विभिन्न देशकालवर्ती घटोंके सम्बन्ध जाति आदिका जो विचार होता है वह श्रुत है। ३. अथवा श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मनके द्वारा एक जीवको जानकर उसके सम्बन्धके सत् सख्या · आदि अनुयोगोंके द्वारा नाना प्रकारसे प्ररूपण करनेमें जो समर्थ होता है वह श्रुतज्ञान है।

ध. १/१,१,२/९३/५ सुदणाणं णाम मदि-पुव्वं मदिणाणपडिगहियमत्थं मोत्तूणण्णत्थम्हि वावदं सुदणाणावरणीय-क्खयोवसम-जणिदं। =जिस ज्ञानमें मतिज्ञान कारण पडता है, जो मतिज्ञानसे ग्रहण किये गये पदाथको छोडकर तत्सम्बन्धित दूसरे पदार्थमें व्यापार करता है, और श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते है। (ध. १३/५,५,२१/२१०/४; ५,५,४३/२४५/४); (क. पा. १/१ १/§२८/४२/६), (क. पा. १/१-१५/§३०८/-३४०/५), (ज. प./१३/७७); (गो. जी /जी. प्र./३१५/६७२/११)।

२. शब्द व अर्थ लिंग रूप भेद व उनके लक्षण

क. पा. १/१-१५/§ ३०८-३०९/३४०-३४१/५ तं दुविहं—सद्दलिंगज, अत्थलिंगजं चेदि। तत्थ तं सद्दलिंगज त दुविहं लाइयं लोउत्तरिय चेदि। सामण्णपुरिमवयणविणिग्गयवयणकलावजणियाणं लोइयसहज। असच्चकारणविणिम्मुक्कपुरिसवयणविणिग्गयवयणकलावजणियं सुदणाणं लोउत्तरिय। धूमादिअत्थलिंगज पुणअणुमाण णाम। =श्रुतज्ञान शब्दलिंगज और अर्थलिंगजके भेदसे दो प्रकारका है। उनमें भी जो शब्दलिंगज श्रुतज्ञान है वह लौकिक और लोकोत्तरके भेदसे दो प्रकारका है। सामान्य पुरुषके मुखसे निकले हुए वचन समुदायसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह लौकिक शब्दलिंगज श्रुतज्ञान है। असत्य बोलनेके कारणोसे रहित पुरुषके मुखसे निकले हुए वचन समुदायसे जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह लोकोत्तर शब्द लिंगज श्रुतज्ञान है। तथा धूमादिक पदार्थरूप लिंगसे जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह अर्थलिंगज श्रुतज्ञान है। इसका दूसरा नाम अनुमान भी है।

ध. ६/१,९-१,१४/२१/६ तत्थ सुदणाण णाम इंदिएहि गहिदत्थादो तदो पुधभूदत्थग्गहणं, जहा सद्दादो घडादीणमुवलंभो, धूमादो अग्गिस्सुवलंभो वा। =इन्द्रियोंसे ग्रहण किये पदार्थसे उससे पृथग्भूत पदार्थका ग्रहण करना श्रुतज्ञान है। जैसे शब्दसे घट आदि पदार्थोंका जानना। अथवा धूमादिसे अग्निका ग्रहण करना। (ध १/१,१,११५/३५७/८); (ध. १३/५,५,२१/२१०/५, ५,५ ४३/२४५/५), (ज. प./१३/७८-७९) (द्र. सं./टी./४४/१८८/२)।

गो. जी./जी. प्र /३१६/६७६/३ श्रुतज्ञानस्य अनक्षरात्मकाक्षरात्मकौ द्वौ भेदौ। =अनक्षरात्मक और अक्षरात्मकके भेदसे श्रुतज्ञानके दो भेद है। [वाचक शब्दपरसे वाच्यार्थका ग्रहण अक्षरात्मक श्रुत है, और शीतादि स्पर्शमें इष्टानिष्टका होना अनक्षरात्मक श्रुत है। दे. श्रुतज्ञान/३/३]

३. द्रव्य-भाव श्रुतरूप भेद व उनके लक्षण

गो. जी./जी. प्र /३४८-३४९/७४४/१५ अङ्गबाह्यसामायिकादिचतुर्दशप्रकीर्णकभेदद्रव्यभावात्मकश्रुतं पुद्गलद्रव्यरूप वर्णपदवाक्यात्मक द्रव्यश्रुत, तच्छ्रवणसमुत्पन्नश्रुतज्ञानपर्यायरूप भावश्रुतं। =आचारांग आदि बारह अग, उत्पादपूर्व आदि चौदह पूर्व और चकारसे सामायिकादि १४ प्रकीर्णक स्वरूप द्रव्यश्रुत जानना, और इनके सुननेसे उत्पन्न हुआ जो ज्ञान सो भावश्रुत जानना। पुद्गलद्रव्यस्वरूप अक्षर पदादिक रूपसे द्रव्यश्रुत है, और उनके सुननेसे श्रुतज्ञानकी पर्याय रूप जो उत्पन्न हुआ ज्ञान सो भावश्रुत है। (द्र. स./टी./५७/-२२८/११)।

द्र. सं./टी./५८/२३६/१० वर्तमानपरमागमाभिधानद्रव्यश्रुतेन तथैव तदाधारोत्पन्ननिर्विकारस्वसंवेदनज्ञानरूपभावश्रुतेन । =वर्तमान परमागम नामक द्रव्यश्रुत से तथा उस परमागमके आधारसे उत्पन्न निर्विकार स्व-अनुभव रूप भावश्रुतसे परिपूर्ण··।

४. सम्यक् व मिथ्याश्रुतज्ञानके लक्षण

नोट— [सम्यक् श्रुतके लिए—दे. श्रुतज्ञान सामान्यका लक्षण।]

प. स /प्रा /१/११९ आभीयमासुरक्खा भारह रामायणादि उवएसा। तुच्छा असाहणीया सुयअण्णाण त्ति ण विति।११९। =चौरशास्त्र, हिंसा शास्त्र तथा महाभारत, रामायण आदिके तुच्छ और परमार्थशून्य होनेसे साधन करनेके अयोग्य उपदेशोंको श्रुताज्ञान कहते है। (ध. १/१,१,११५/गा १८१/३५९), (गो. जो /मू /३०४/६५५)।

प का./त. प्र./४१ यत्तदावरणक्षयोपशमादनिन्द्रियावलम्बाच्च मूर्तामूर्तद्रव्यं विकलं विशेषेणावबुध्यते तत् श्रुतज्ञानम्।· मिथ्यादर्शनोदयसहचरितं श्रुतज्ञानमेव कुश्रुतज्ञानम्। =उस प्रकारके (अर्थात् श्रुतज्ञानके) आवरणके क्षयोपशमसे और मनके अवलम्बनसे मूर्त-अमूर्त द्रव्यका विकल्प रूपसे विशेषत अवबोधन करता है वह श्रुतज्ञान है।· ·मिथ्यादर्शनके उदयके साथ श्रुतज्ञान ही कुश्रुतज्ञान है।

५. उपयोग लब्धि व भावना रूप भेद निर्देश

पं. का./प्रक्षेपक गा /४३ २/८६ सुदणाणं पुण णाणी भणंति लद्धी य भावणा चेव। उवओगणयवियप्पं णाणेण य वत्थु अत्थस्स।४३-२। =ज्ञानीको श्रुतज्ञान लब्धि व भावनारूपसे दो-दो प्रकारका होता है अथवा प्रमाण व नयके भेदसे दो प्रकारका होता है। सकल वस्तुको ग्रहण करनेवालेके प्रमाणरूप और वस्तुके एकदेश ग्रहण करनेवालेके नय रूप होता है।

६. धारावाही ज्ञान निर्देश

न्या. दी /१/§ १५/१३/७ एकस्मिन्नेव घटे विषयाज्ञानविघटनार्थमाद्ये ज्ञाने प्रवृत्त तेन घटप्रमितौ सिद्धायां पुनर्घटोऽय घटोऽयमित्येवमुत्पन्नान्युत्तरोत्तरज्ञानानि खलु धारावाहिकज्ञानानि भवन्ति। =एक ही घटमें घट विषयक अज्ञानके निराकरण करनेके लिए प्रवृत्त हुए पहले घट ज्ञानसे घटकी प्रमिति हो जानेपर फिर 'यह घट है' 'यह घट है' इस प्रकार उत्पन्न हुए ज्ञान धारावाहिक ज्ञान है।

७. श्रुतज्ञानमें भेद होनेका कारण

रा. वा./१/२०/६/७२/६ मतिपूर्वकत्वाविशेषात् श्रुताविशेष इति चेत्, न, कारणभेदात्तद्भेदसिद्धे ।६। प्रतिपुरुषं हि मतिश्रुतावरणक्षयोपशमो बहुधा भिन्न' तद्भेदाद् बाह्यनिमित्तभेदाच्च श्रुतस्य प्रकर्षाप्रकर्षयोगो भवति मतिपूर्वकत्वाविशेषेऽपि ।=प्रश्न—मतिज्ञान पूर्वक होनेसे सभी श्रुतज्ञानोमें अविशेषता है, अर्थात् कोई भेद नहीं है? उत्तर—नही, क्योकि कारण भेदसे कार्यके भेदका नियम सर्व सिद्ध है। चूँकि सभी प्राणियोके अपने-अपने क्षयोपशमके भेदसे, बाह्य निमित्तके भेदसे, श्रुतज्ञानका प्रकर्षापकर्ष होता है, अत मतिपूर्वक होनेपर भी सभीके श्रुतज्ञानोमें विशेषता बनी रहती है। (ध. ६/४, १,४५/१६१/१)।

२. श्रुतज्ञान निर्देश

१. श्रुतज्ञानके पर्यायवाची नाम

षं. खं १३/५,५/सू ५०/२८० पावयणं पवयणीयं पवयणट्ठो गदीसु मग्गणदा आदा परंपरलद्धी अणुत्तर पवयणं पवयणी पवयणद्धा पवयणसण्णियासो णयविधी णयंतरविधी भगविधी भंगविधिविसेसो पुच्छाविधी पुच्छाविधिविसेसोतच्चं भूद भव्वं भवियं अवितथ अविहद वेदं णाय सुद्ध सम्माइट्ठी हेदुवादो णयवादो पवरवादो मग्गवादो सुदवादो परवादो लोइयवादो लोगुत्तरीयवादो अग्ग मग्गं जहाणुमग्ग पुव्व जहाणुपुव्वं पुव्वादिपुव्व चेदि ।५०।

ध.१३/५,५,५०/२८५/१२ कथ श्रुतस्य विधिव्यपदेश । सर्वनयविषयाणामस्तित्वविधायकत्वात् । =१, प्रावचन, प्रवचनीय, प्रवचनार्थ, गतियोंमे मार्गणता, आत्मा, परम्परा लब्धि, अनुत्तर, प्रवचन, प्रवचनी, प्रवचनाद्धा, प्रवचन सनिकर्ष, नयविधि, नयान्तरविधि, भगविधि, भगविधिविशेष, पृच्छाविधि, पृच्छाविधि विशेष, तत्त्व, भूत, भव्य, भविष्यत, अवितथ, अविहत, वेद, न्याय, शुद्ध, सम्यग्दृष्टि, हेतुवाद, नयवाद, प्रवरवाद, मार्गवाद, श्रुतवाद, परवाद, लौकिकवाद, लोकोत्तरीयवाद, अग्रय, मार्ग यथानुमार्ग, पूर्व, यथानुपूर्व और पूर्वातिपूर्व ये श्रुतज्ञानके पर्याय नाम है।५०। २. प्रश्न—श्रुतकी विधि सज्ञा कैसे है। उत्तर—चूँकि वह सब नयोके विषयके अस्तित्वका विधायक है, इसलिए श्रुतकी विधि सज्ञा उचित ही है।

२. श्रुतज्ञानमें कथंचित् मति आदि ज्ञानोंका निमित्त

त. सू /१/२० श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ।२०।

स. सि /१/२०/१२०/७ मति पूर्वमस्य मतिपूर्वं मतिकारणमित्यर्थः। =१ श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। '।२०। २. मति जिसका पूर्व अर्थात् निमित्त है वह मतिपूर्व कहलाता है। जिसका अर्थ मतिकारणक होता है। तात्पर्य यह है कि जो मतिज्ञानके निमित्तसे होता है उसे श्रुतज्ञान कहते है। (प. स./प्रा./१/१२२), (रा वा /१/२०/२/७०/२४), (दे. श्रुतज्ञान/I/१/२), (ध. ६/४,१,४५/१६०/७), (ध १३/५,५,२१/२१०/७), (द्र स./टी./४४/१८८/२), (प. ध /पू /७०३, ७१७)।

श्लो. वा./२/१/७/६/५१०/७ अवधिमन पर्ययविशेषस्यानुषङ्गात् । यथैव हि मत्यार्थं परिच्छिद्य श्रुतज्ञानेन परामृशन्निर्देशादिभि प्ररूपयति तथावधिमन पर्ययेण वा। न चैवं श्रुतज्ञानस्य तत्पूर्वकत्वप्रसङ्ग' साक्षात्तस्यानिन्द्रियमतिपूर्वकत्वात परम्परया तु तत्पूर्वकत्वं नानिष्टम् । =प्रश्न—अवधि और मन पर्ययसे प्रत्यक्षकरकेउस पदार्थका श्रुतज्ञान द्वारा विचार हो जाता है तो मतिपूर्वकपनेके समान अवधि मन'पर्ययपूर्वक भी श्रुतज्ञानके होनेका प्रसग आयेगा। उत्तर—नहीं, क्योंकि अव्यवहित पूर्ववर्ती कारणको अपेक्षासे श्रुतज्ञानका कारण मतिज्ञान ही है। हाँ, परम्परासे तो उन अवधि और मन.पर्ययको कारण मानकर श्रुतज्ञानकी प्रवृत्ति होना अनिष्ट नही है।

श्लो. वा. ३/१/२०/श्लो. २०/६०५ मतिसामान्यनिर्देशान्न श्रोत्रमतिपूर्वकं। श्रुत नियम्यतेऽशेषमतिपूर्वस्य वीक्षणात् । =सूत्रकारने मतिपूर्व ऐसा निर्देश कहकर सामान्य रूपसे सम्पूर्ण मतिज्ञानोका संग्रह कर लिया है। अत केवल श्रोत्र इन्द्रियजन्य मतिज्ञानको ही पूर्ववर्त्ती मानकर श्रुतज्ञान उत्पन्न होय ऐसा नियम नही किया जा सकता है।

क. पा. १/१-१/§३४/५१/४ ण मदिणाणपुव्व चेव सुदणाणं सुदणाणादो वि सुदणाणुप्पत्तिदसणादो। =यदि कहा जाय कि मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है सो भी कहना ठीक नही है। क्योकि श्रुतज्ञानसे भी श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है।

३. श्रुतज्ञानमें मनका निमित्त

त. सू./२/२१ श्रुतमनिन्द्रियस्य ।२१। =श्रुत मनका विषय है।

दे. मतिज्ञान/३/१ ईहादिकोमनका'निमित्तपनाउपचारसे है पर श्रुतज्ञान नियमसे मनके निमित्तसे ही उत्पन्न होता है।

स. भ. त./४७/१३ अनिन्द्रियमात्रजन्यत्व श्रुतस्य स्वरूपम्। =मन मात्रसे उत्पन्न होना श्रुतज्ञानका स्वरूप है।

४. श्रुतज्ञानका विषय

दे. मतिज्ञान/२/२ सर्व द्रव्योकी असर्व पर्यायोमें वर्तता है।

रा. वा./१/२६/४/८७/२२ शब्दाश्च सर्वे सख्येया एव द्रव्यपर्यायाः पुन सख्येयासंख्येयानन्तभेदा., न ते सर्वे विशेषाकारेण तैर्विषयीक्रियन्ते। =सर्व शब्द संख्यात ही है और द्रव्योकी पर्याये सख्यात और अनन्त भेदवाली है। अत' संख्यात शब्द अनन्त पदार्थोकी स्थूल पर्यायोको ही विषय कर सकते है, सभी पर्यायोको नहीं। कहा भी है [प्रज्ञापनीय भाव अनन्त हैं और शब्द अत्यन्त अल्प है। दे. आगम/१/११]।

दे. श्रुतकेवली २/५ [द्रव्य श्रुतका विषय भले अल्प हो पर भावश्रुतका विषय अनन्त है।]

दे श्रुतज्ञान/२/५ (परोक्ष रूपसे सामान्यत. सर्व पदार्थोको ग्रहण करनेमे केवलज्ञानके समान है, पर विशेष रूपसे ग्रहण करनेसे अल्पज्ञता है।)

५. श्रुतज्ञानकी त्रिकालज्ञता

न. च वृ /१७३ मे उद्धृत गाथा सं. २ कालत्तयसंजुत्त दव्वं गिह्णेइ केवलणाणं। तत्थ णयेण वि गिह्णइ भूदोऽभूदो य वट्टमाणो वि।२। =तीनों कालोसे संयुक्त द्रव्यको केवलज्ञान ग्रहण करता है और नयके द्वारा भी भूत, भविष्य और वर्तमान कालके पदार्थोको ग्रहण किया जाता है।

दे. निमित्त/२/३ अष्टाग महानिमित्त ज्ञान त्रिकालग्राही है।

दे. द्रव्य/१/६,२/२ भविष्यत परिणामसे अभियुक्त द्रव्य द्रव्यनिक्षेपका विषय है।

६. मोक्षमार्गमें मति श्रुत ज्ञानकी प्रधानता

श्लो. वा. २/१/३/६२/१४ केवलस्य सकलश्रुतपूर्वकत्वोपदेशात् । =सम्पूर्ण पदार्थोको जाननेवाले केवलज्ञानकी उत्पत्ति तो पूर्ववर्ती पूर्ण द्वादशांग श्रुतज्ञान रूप कारणसे होती हुई मानी है।

प. ध./पू /७१६ अपि चात्मससिद्धयै नियतं हेतु मतिश्रुती ज्ञाने। प्रान्त्यद्वय विना स्यान्मोक्षो न स्यादृते मतिद्वैतम् । =आत्म सिद्धिके लिए मति श्रुतज्ञान निश्चित कारण है क्योकि अन्तके दो ज्ञानोके बिना मोक्ष हो सकता है किन्तु मति, श्रुत ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं हो सकता।

७. शब्द व अर्थ लिंगजमें शब्द लिंगज ज्ञान प्रधान

गो. जी /जी. प्र./३१५/६७३/१५ शब्दजलिङ्गजयो. श्रुतज्ञानभेदयो' मध्ये शब्दजं वर्णपदवाक्यात्मकशब्दजनितं श्रुतज्ञानं प्रमुखं प्रधान दत्त-

ग्रहणशास्त्राध्ययनादिसकलव्यवहाराणा तन्मूलत्वात्। अनक्षरात्मक लिङ्गज श्रुतज्ञानं एकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तेषु जीवेषु विद्यमानमपि व्यवहारानुपयोगित्वादप्रधान भवति। =श्रुतज्ञानके भेदोके मध्य-शब्द लिगज अर्थात् अक्षर, वर्ण, पद, वाक्य आदि रूप शब्दसे उत्पन्न हुआ जो अक्षरात्मक श्रुतज्ञान वह प्रधान है, क्योकि लेना, देना, शास्त्र पढना इत्यादि सर्व व्यवहारोका मूल अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। और जो लिंगसे अर्थात् चिह्नसे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान है वह एकेन्द्रियसे लेकर पचेन्द्रिय तकके जीवोमें होता है किन्तु उससे कुछ व्यवहारकी प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए वह अप्रधान होता है।

८. द्रव्य व भावश्रुतमें भावश्रुतकी प्रधानता

श्लो. वा. ३/१/२० श्लो. १७/६०८ मुख्यया ज्ञानात्मका भेदप्रभेदास्तस्य सूत्रिता। शब्दात्मका' पुनर्गौणा' श्रुतस्येति विभिद्यते। =इस सूत्र-में श्रुतज्ञानके भेदप्रभेद मुख्य रूपसे तो ज्ञान स्वरूप सूचित किये जाते है। हाँ, फिर शब्दात्मक भेद तो गौण रूपसे कहे गये है। इस प्रकार श्रुतके मुख्यरूपसे ज्ञानस्वरूप और गौण रूपसे शब्द स्वरूप विशेष भेद लेने चाहिए।

९. श्रुतज्ञान केवल शब्दज नहीं होता

श्लो. वा./३/१/२०/८६/६३४/२२ अथ शब्दानुयोजनादेव श्रुतमिति नियमस्तदा श्रोत्रमतिपूर्वकमेव श्रुत न चक्षुरादिमतिपूर्वकमिति सिद्धान्तविरोध; स्यात्। सांव्यवहारिक शाब्द ज्ञान श्रुतमित्यपेक्षया तथा नियमे तु नेष्टबाधास्ति चक्षुरादिमतिपूर्वकस्यापि श्रुतस्य परमार्थताभ्युपगमात् स्वसमयसप्रतिपत्ते.।

श्लो. वा. ३/१/२०/११६/६५२/१४ श्रुतं शब्दानुयोजनादेव इत्यवधारण-स्याकलङ्काभिप्रेतस्य कदाचिद्विरोधाभावात्। तथा सप्रदायस्या-विच्छेदाद्युक्त्यनुग्रहाच्च सर्वमतिपूर्वकस्यापि श्रुतस्याक्षरज्ञानत्व-व्यवस्थिते.। =१ प्रश्न—शब्दकी अनुयोजनासे ही श्रुत होता है, इस प्रकार नियम किया जायेगा तब तो श्रोत्र इन्द्रियजन्य मतिज्ञान-स्वरूप निमित्तसे ही तो श्रुतज्ञान हो सकेगा। चक्षु आदि इन्द्रियोसे श्रुतज्ञान नहीं हो सकेगा। उक्त प्रकार सिद्धान्तसे विरोध आवेगा। उत्तर—साव्यवहारिक शब्द ज्ञान श्रुत है। इस अपेक्षासे नियम किया जायेगा, तब तो इष्ट सिद्धान्तसे कोई बाधा नहीं आती है। क्योंकि चक्षु आदिसे उत्पन्न हुए मतिज्ञानको पूर्ववर्ती कारण मानकर उत्पन्न हुए भी श्रुतोंको परमार्थ रूपसे श्री अकलक देवने स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार अपने सिद्धान्तकी प्रतिपत्ति हो जाती है। २ शब्दकी अनुयोजनासे ही श्रुत होता है, इस प्रकार श्री अकलंक देवको अभिप्रेत हो रहे अवधारणका कभी भी विरोध नहीं पडता है। पूर्वसे चली आ रही तिस प्रकारकी आम्नायोंकी विच्छित्ति नही हुई है। इस कारण सम्पूर्ण मतिज्ञानोको पूर्ववर्ती कारण मानकर श्रुतको अक्षरज्ञानपना व्यवस्थित हो गया है।

३. मतिज्ञान व श्रुतज्ञानमे अन्तर

१. दोनोंमे कथंचित् एकता

दे श्रुतज्ञान/I/२/२ (मति पूर्वक उत्पन्न होता है।)

रा वा./१/९/१६/४७/२७ मतिश्रुतयो परस्परापरित्याग -'यत्र मतिस्तत्र श्रुतं यत्र श्रुतं तत्र मति' इति। =मति श्रुतका विषय बराबर है और दोनो सहभावी है, जहाँ मति है, वहाँ श्रुत है, जहाँ श्रुत है वहाँ मति है।

रा. वा./१/३०/४/९०/२५ एते हि मतिश्रुते सर्वकालमव्यभिचारिणी नारदपर्वतवत्। तस्मादनयोरन्यतरग्रहणे इतरस्य ग्रहण संनिहितं भवति। =मति और श्रुत सदा अव्यभिचारी है, नारद पर्वतकी तरह एक दूसरेका साथ नही छोडते, अत. एकके ग्रहणसे दूसरेका ग्रहण ही हो जाता है।

२. मति व श्रुतज्ञानमें भेद

स. सि /१/२०/१२०/८ यदि मतिपूर्वं श्रुतं तदपि मत्यात्मक प्राप्नोति कारणसदृश हि लोके कार्यं दृष्टम् इति। नैतदेकान्तिकम्। दण्डादि-कारणोऽयं घटो न दण्डाद्यात्मक। अपि च सति तस्मिस्तदभावात्। सत्यपि मतिज्ञाने बाह्यश्रुतज्ञाननिमित्तसंनिधानेऽपि प्रबलश्रुतावरणो-दयस्य श्रुताभाव'। श्रुतावरणक्षयोपशमप्रकर्षे तु सति श्रुतज्ञान-मुत्पद्यत इति मतिज्ञान निमित्तमात्र ज्ञेयम्। =प्रश्न—यदि श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है तो वह श्रुतज्ञान भी मत्यात्मक ही प्राप्त होता है, क्योकि लोकमें कारणके समान ही कार्य देखा जाता है। उत्तर—यह कोई एकान्त नियम नही है कि कारणके समान कार्य होता है। यद्यपि घटकी उत्पत्ति दण्डादिकसे होती है तो भी वह दण्डाद्यात्मक नहीं होता। दूसरे, मति-ज्ञानके रहते हुए भी श्रुतज्ञान नही होता। यद्यपि मतिज्ञान रहा आता है और श्रुतज्ञानके बाह्य निमित्त भी रहे आते है तो भी जिसके श्रुत-ज्ञानावरणका प्रबल उदय पाया जाता है, उसके श्रुत-ज्ञान नहीं होता। किन्तु श्रुतज्ञानका प्रकर्ष क्षयोपशम होनेपर ही श्रुतज्ञान होता है इसलिए मतिज्ञान श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्त-मात्र जानना चाहिए। (रा. वा /१/२०/३-४/७०/२८; ७-८/-७१/३१)।

रा. वा./१/९/२१-२६/४८/५ मतिश्रुतयोरेकत्वम्, साहचर्यादेकत्राव-स्थानाच्चाविशेषात् ।२१। न; अतस्तत्सिद्धे'। यत एव मतिश्रुतयो· साहचर्यमेकत्रावस्थानं चोच्यते अत एव विशेष' सिद्ध। प्रतिनियत-विशेषसिद्धयोर्हि साहचर्यमेकत्रावस्थानं च युज्यते, नान्यथेति ।२२। तत्पूर्वकत्वाच्च। ततश्चानयोर्विशेष। यत्पूर्वं यच्च पश्चात्तयोः कथमविशेष। ।२३। तत एवाविशेष., कारणसदृशत्वात् युगपद्-वृत्तेश्चेति. चेत् · तन्न, कि कारणम्। ··द्वयोर्हि सादृश्य युगपद्-वृत्तिश्चेति ।२४। स्यादेतत्-विषयाविशेषात् मतिश्रुतयोरेकत्वम्। एव हि वक्ष्यते—"मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु (त. सू /१/२६) इति, तन्न; किं कारम्। ग्रहणभेदात्। अन्यथा हि मत्या गृह्यते अन्यथा श्रुतेन ।२५। स्यादेतत्—उभयोरिन्द्रियानिन्द्रिय-निमित्तत्वादेकत्वम्। · तन्न; कि कारणम्। असिद्धत्वात्। जिह्वा हि शब्दोच्चारक्रियाया निमित्तं न ज्ञानस्य, श्रवणमपि स्वविषय-मतिज्ञाननिमित्त न श्रुतस्य, इत्युभयनिमित्तत्वमसिद्धम्। =प्रश्न—चूंकि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनो सहचारी है, और एक व्यक्ति-में युगपत पाये जाते है, अत. दोनोमे कोई विशेषता न होनेसे दोनोको एक ही कहना चाहिए। उत्तर—साहचर्य तथा एक व्यक्ति-में दोनोके युगपत रहनेसे ही यह सिद्ध होता है कि दोनो जुदे-जुदे है, क्योकि दोनो बाते भिन्न सत्तावाले पदार्थोमे ही होती है। मतिपूर्वक श्रुत होता है, इसलिए दोनोंकी कारण-कार्यरूपसे विशेषता सिद्ध है ही। प्रश्न—कारणके सदृश ही कार्य होता है, चूँकि श्रुत मति पूर्वक हुआ है, अत' उसे भी मतिरूप ही कहना चाहिए। सम्यग्दर्शन होनेपर कुमति और कुश्रुतको युगपद् ज्ञान-व्यपदेश होता है अत दोनो एक ही कहना चाहिए। उत्तर—यह प्रश्न ठीक नहीं है, क्योकि जिन कारण सदृशत्व और युगपद्वृत्ति हेतुओंसे आप एकत्व सिद्ध करना चाहते हो उन्हीसे उनमें भिन्नता सिद्ध होती है। सादृश्य और युगपद्वृत्ति पृथक्सिद्ध पदार्थोमे ही होते है। प्रश्न—मति और श्रुतज्ञानका विषय एक होनेसे दोनोंमें एकत्व है—ऐसा कहा गया है कि—मतिज्ञान व श्रुतज्ञानकी सम्पूर्ण द्रव्योमें एक देश रूपसे प्रवृत्ति होती है। (त. सू /१/२६) उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योकि दोनों के जाननेके प्रकार जुदा-जुदा है। प्रश्न—मति और श्रुत दोनों इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होते है, इसलिए दोनोमें एकत्व है। उत्तर—एक कारणता असिद्ध है। वक्ताकी जीभ शब्दके उच्चारणमें कारण होती है न कि ज्ञानमें।

श्रोताका ज्ञान भी शब्द प्रत्यक्षरूप मतिज्ञानमें निमित्त होता है न कि अर्थज्ञानमें, अतः श्रुतमें मनोनिमित्तता असिद्ध है।

रा. वा./१/२०/५/७१/११ नायमेकान्तोऽस्ति–कारणसदृशमेव कार्यम् इति। कुतः। तत्रापि सप्तभङ्गीसंभवात्। कथम्। घटवत्। यथा घट. कारणेन मृत्पिण्डेन स्यात्सदृशः स्यान्न सदृश इत्यादि।.. तथा श्रुतं सामान्यादेशात् स्यात्कारणसदृशं यतो मतिरपि ज्ञानं श्रुतमपि। अन्तरहिताभिमुखग्रहणनानाप्रकारार्थप्ररूपणसामर्थ्यादिपर्यायादेशात् स्यान्न कारणसदृशम्। =यह कोई नियम नहीं है कि कारणके सदृश ही कार्य होना चाहिए। क्योंकि यहाँपर भी सप्तभंगीकी योजना करनी चाहिए। घडेकी भाँति जैसे पुद्गल द्रव्यकी दृष्टिमे मिट्टी रूप कारणके समान घडा होता है। पर पिण्ड और घट पर्यायोंकी अपेक्षा दोनों विलक्षण हैं।.. उसी तरह चैतन्य द्रव्यकी मति और श्रुत दोनों एक हैं, क्योंकि मति भी ज्ञान है और श्रुत भी ज्ञान है। किन्तु तत्तत् ज्ञान पर्यायोंकी दृष्टिसे दोनों ज्ञान जुदा-जुदा है।

श्लो. वा./३/१/६/३०/२४/२२ न मतिस्तत्स्यात्तर्कात्मिकाया स्वार्थानुमानात्मिकायाश्च तथा भावरहितत्वात्। न हि यथा श्रुतमनन्तव्यञ्जनपर्यायसमाक्रान्तानि सर्वद्रव्याणि गृह्णाति न तथा मतिः। =तर्कस्वरूप अथवा स्वार्थानुमानस्वरूप भी उस मतिज्ञानमें श्रुतज्ञानके समान सर्व तत्त्वोंका ग्राहकपना नहीं है, जिस प्रकार अनन्त व्यंजन पर्यायोसे चारों ओर घिरे हुए सम्पूर्ण द्रव्योंको श्रुतज्ञान ग्रहण करता है, तिस प्रकार मतिज्ञान नहीं जानता।

३. श्रोतज मतिज्ञान व श्रुतज्ञानमें अन्तर

रा. वा./१/९/३०/४६/४ श्रुत्वा यदवधारयति तत् श्रुतमिति केचिन्मन्यन्ते; तन्न युक्तम्; कुतः। मतिज्ञानप्रसङ्गात्। तदपि शब्दं श्रुत्वा 'गोशब्दोऽयम्' इति प्रतिपद्यते। श्रुतं पुनस्तस्मिन्निन्द्रियानिन्द्रियगृहीतागृहीतपर्यायसमूहात्मनि शब्दे तदभिधेये च श्रोत्रेन्द्रियव्यापारमन्तरेण जीवादौ नयादिभिरधिगमोपायैर्यथात्म्येनाऽवबोधः।

रा. वा./१/२०/६/७१/२५ स्यादेतत्–श्रोत्रमतिपूर्वस्यैव श्रुतत्वं प्राप्नोति। कुतः। तदर्थत्वात्। श्रुत्वा अवधारणाद्धि श्रुतमित्युच्यते, तेन चक्षुरादिमतिपूर्वस्य श्रुतत्वं न प्राप्नोति, तन्न, किं कारणम्। उक्तमेतत्–'श्रुतशब्दोऽयं रूढिशब्द' इति। रूढिशब्दाश्च स्वोत्पत्तिनिमित्तक्रियानपेक्षाः प्रवर्तन्त इति सर्वमतिपूर्वस्य श्रुतत्वसिद्धिर्भवति। =१. प्रश्न–सुनकर निश्चय करना श्रुत है? उत्तर–ऐसा कहना युक्त नहीं है। यह तो मतिज्ञानका लक्षण है, क्योंकि वह भी शब्दको सुनकर 'यह गो शब्द है' ऐसा निश्चय करता ही है। किन्तु श्रुतज्ञान मन और इन्द्रियके ज्ञान द्वारा गृहीत या अगृहीत पर्याय वाले शब्द या उसके वाच्यार्थका श्रोत्रेन्द्रियके व्यापारके बिना ही नय आदि योजनाके द्वारा विभिन्न विशेषोंके साथ जानता है। २ प्रश्न–श्रोत्रेन्द्रिय जन्य मतिज्ञानसे जो उत्पन्न हो उसे ही श्रुत कहना चाहिए, क्योंकि सुनकर जो जाना जाता है वही श्रुत होता है। इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय आदिसे श्रुत नहीं हो सकेगा? उत्तर–श्रुत शब्द श्रुतज्ञान विशेषमें रूढ होनेके कारण सभी मतिज्ञान पूर्वक होनेवाले श्रुतज्ञानोंमें व्याप्त है। (भ आ./वि./१६४/४०६/२१)।

श्लो. वा./३/१/६/३३/२७/३ केचिदाहुर्मतिश्रुतयोरेकत्वं श्रवणनिमित्तत्वादिति, तेऽपि न युक्तिवादिनः। श्रुतस्य साक्षाच्छ्रवणनिमित्तत्वासिद्धेः तस्यानिन्द्रियवत्त्वाद्दृष्टार्थसजातीयनानार्थपरामर्शनस्वभावतया प्रसिद्धत्वात्। =प्रश्न–कर्ण इन्द्रियको निमित्त पाकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं, इस कारण दोनोंका एकपना है? उत्तर–आप युक्तिवादी नहीं है, क्योंकि कर्ण इन्द्रियको साक्षात् निमित्त मानकर श्रुतज्ञानका उत्पन्न होना असिद्ध है।.. श्रुतज्ञानकी अनिन्द्रियवालपना यानी मनको निमित्त मानकर और प्रत्यक्षसे नहीं देखे गये सजातीय और विजातीय अनेक अर्थोंका विचार करना रूप स्वभावोंमे सहितपने करके प्रसिद्धि हो रही है।

गो. जी./जी. प्र./३१५/६७३/१६ तत्र जीवोऽस्तीत्युक्ते जीवोऽस्तीति शब्दज्ञानं श्रोत्रेन्द्रियप्रभवं मतिज्ञानं भवति ज्ञानेन जीवोऽस्तीति शब्दवाच्यरूपे आत्मास्तित्वे वाच्यवाचकसंबन्धसंकेतसंकलनपूर्वकं यत् ज्ञानमुत्पद्यते तदक्षरात्मकं श्रुतज्ञानं भवति, अक्षरात्मकशब्दसमुत्पन्नत्वेन कार्ये कारणोपचारात्। वातशीतस्पर्शज्ञानेन वातप्रकृतिकस्य तत्स्पर्शे अमनोज्ञज्ञानमनक्षरात्मकं लिङ्गजं श्रुतज्ञानं भवति, शब्दपूर्वकत्वाभावात्। ='जीवः अस्ति' ऐसा शब्द कहनेपर कर्ण इन्द्रिय रूप मतिज्ञानके द्वारा 'जीव अस्ति' यह शब्द ग्रहण किया। इस शब्दसे जो 'जीव नाम पदार्थ है' ऐसा ज्ञान हुआ सो श्रुतज्ञान है। शब्द और अर्थके ऐसा वाच्य वाचक सम्बन्ध है। सो यहाँ 'जीव. अस्ति' ऐसे शब्दका जानना तो मतिज्ञान है, और उसके निमित्तसे जीव नामक पदार्थका जानना सो श्रुतज्ञान है। ऐसे ही सर्व अक्षरात्मक श्रुतज्ञानका स्वरूप जानना। अक्षरात्मक शब्दसे समुत्पन्न ज्ञान, उसको भी अक्षरात्मक कहा। यहाँपर कार्यमें कारणका उपचार किया है, परमार्थसे ज्ञान कोई अक्षर रूप नहीं है।' जैसे–शीतल पवनका स्पर्श होनेपर 'तहाँ शीतल पवनका जानना तो मतिज्ञान है, और उस ज्ञानसे वायुकी प्रकृतिवालेको यह पवन अनिष्ट है' ऐसा जानना श्रुतज्ञान है, सो यह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है, क्योंकि यह अक्षरके निमित्तसे उत्पन्न नहीं हुआ है।

४. मनोमति ज्ञान व श्रुतज्ञानमें अन्तर

प. का./ता. वृ./४३/ प्रक्षेपक १-२/८५/१६ तन्मतिज्ञानं तच्च पुनस्त्रिविध उपलब्धिर्भावना तथोपयोगश्च.. अर्थग्रहणशक्ति रूपलब्धिर्ज्ञातेऽर्थे पुन पुनश्चिन्तनं भावना नीलमिदं पीतमिदं इत्यादिरूपेणार्थग्रहणव्यापार उपयोगः।१। श्रुतज्ञानं...लब्धिरूपं च भावनारूपं चैव।.. उपयोगविकल्पं नयविकल्पं च उपयोगशब्देनात्र वस्तुग्राहकं प्रमाण भण्यते नयशब्देन तु वस्त्वेकदेशग्राहको ज्ञातुरभिप्रायो विकल्प।. यद्भावश्रुतं तदेवोपादेयं। =मतिज्ञान तीन प्रकारका है–उपलब्धि, भावना और उपयोग। अर्थग्रहणकी शक्तिको लब्धि कहते है, जाने हुए अर्थका पुनः पुनः चिन्तवन करना भावना कहलाता है. और यह नीला है, यह पीला है इत्यादि रूपसे अर्थ ग्रहणके व्यापारको उपयोग कहते है।. श्रुतज्ञान दो प्रकारका है–लब्धिरूप और भावनारूप ही, तथा उपयोग विकल्प और नय विकल्प। उपयोग शब्दसे यहाँ वस्तु ग्राहक प्रमाण कहा जाता है। और नय शब्दसे तो वस्तुका एक देश ग्राहक ज्ञाताका अभिप्राय रूप विकल्प ग्रहण किया जाता है। यह भावश्रुत ही उपादेय है।

५. ईहादि मतिज्ञान श्रुतज्ञानमें अन्तर

रा. वा./१/९/२८/४८/३१ स्यादेतत्–ईहादीनामपि श्रुतव्यपदेशः प्राप्तः, तेऽप्यनिन्द्रियनिमित्ता इति; तन्न; किं कारणम्। अवगृहीतमात्रविषयत्वात्। इन्द्रियेणावगृहीतो योऽर्थस्तन्मात्रविषया ईहादयः, श्रुतं पुनर्न तद्विषयम्। किं विषयं तर्हि श्रुतम्। अपूर्वविषयम्। =प्रश्न–ईहा आदि ज्ञानका भी श्रुत व्यपदेश प्राप्त होता है, क्योंकि वे भी मनके निमित्तसे उत्पन्न होते हैं? उत्तर–ऐसा नहीं है क्योंकि वे मात्र अवग्रहके द्वारा गृहीत ही पदार्थको जानते है, जबकि श्रुतज्ञान अपूर्व अर्थको विषय करता है। (क. पा./१/१-१५/§३०८/३४०/१); (ध. ६/१,९-१४/१७/४)।

श्लो. वा./३/१/६/३२/२६/२२ नहि यादृशमतीन्द्रियनिमित्तत्वमहीयांस्तादृश श्रुतस्यापि। =यद्यपि ईहा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ही मनसे होते है, किन्तु जिस प्रकार ईहा ज्ञानका निमित्तपन मनको

प्राप्त है, उस सरीखा श्रुतज्ञानका भी निमित्तपना मनमें नहीं है। केवल सामान्य रूपसे उस मनका निमित्तपना तो मति और श्रुतके तदात्मकपनका गमन हेतु नहीं है।

दे मतिज्ञान/३/१ ईहादिको अनिन्द्रियका निमित्तत्व उपचारसे है पर श्रुतज्ञान अनिन्द्रिय निमित्तक ही है।

४. श्रुतज्ञान व केवलज्ञानमें कथंचित् समानता-असमानता

१ श्रुत भी सर्व पदार्थ विषयक है

दे ऋद्धि/२/२/३ केवलज्ञानके विषयभूत अनन्त अर्थको श्रुतज्ञान परोक्ष रूपसे ग्रहण कर लेता है।

दे श्रुतज्ञान/२/५ केवलज्ञानकी भाँति श्रुतज्ञान भी मनके द्वारा त्रिकाली पदार्थोंको ग्रहण कर लेता है।

प्र. सा /त. प्र /२३५ श्रमणानां ज्ञेयत्वमापद्यन्ते स्वयमेव, विचित्रगुण-पर्यायविशिष्टसर्वद्रव्यव्यापकानेकान्तात्मकश्रुतज्ञानोपयोगी भूयो विपरिणमनात्। अतः न किंचिदप्यागमचक्षुषामदृश्यं स्यात्।=वे (विचित्रगुणपर्यायो सहित समस्त पदार्थ) श्रमणोको स्वयमेव ज्ञेयभूत होते है, क्योकि श्रमण विचित्र गुणपर्यायवाले सर्वद्रव्योंमें व्यापक अनेकान्तात्मक श्रुतज्ञानोपयोग रूप होकर परिणमित होते है। इससे (यह कहा है कि) आगम चक्षुओंको आगम रूप चक्षु वालोको कुछ भी अदृश्य नहीं है।

प्र. सा /ता वृ./गा./पृ / पं. अत्राह शिष्यः—आत्मपरिज्ञाने सति सर्व-परिज्ञानं भवतीत्यत्र व्याख्यान, तत्र तु पूर्वसूत्रे भणित सर्वपरिज्ञाने सत्यात्मपरिज्ञान भवतीति। यद्येव तर्हि छद्मस्थाना सर्वपरिज्ञान नास्त्यात्मपरिज्ञान कथ भविष्यति। आत्मपरिज्ञानाभावे चात्म-भावना कथ। तदभावे केवलज्ञानोत्पत्तिर्नास्तीति। परिहारमाह-परोक्षप्रमाणभूतश्रुतज्ञानेन सर्वपदार्था ज्ञायन्ते। कथमिति चेत्—लोकालोकादिपरिज्ञान व्याप्तिज्ञानरूपेण छद्मस्थानामपि विद्यते, तच्च व्याप्तिज्ञान परोक्षाकारेण केवलज्ञानविषयग्राहक कथंचिदा-त्मेव भण्यते। (४६/६५/१३) सर्वे द्रव्यगुणपर्याया' परमागमेन ज्ञायन्ते। कस्मात्। आगमस्य परोक्षरूपेण केवलज्ञानसमानत्वात् पश्चादागमाधारेण स्वसवेदनज्ञाने जाते स्वसवेदनज्ञानबलेन केवल-ज्ञाने च जाते प्रत्यक्षा अपि भवन्ति। (२३५/३२५/१३-)।=प्रश्न—आत्माके जाने, जानेपर सर्व जाना जाता है, ऐसा यह व्याख्यान है, और पूर्वसूत्रमे सर्वका ज्ञान होनेपर आत्माका ज्ञान होता है, ऐसा है तो छद्मस्थोके सर्वका ज्ञान तो होता नहीं है, तो आत्मज्ञान कैसे होगा? और आत्मज्ञानके अभावमें आत्माकी भावनाकैसेसम्भव है, तथा भावनाके अभावमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति नही हो सकती है? उत्तर—परोक्ष प्रमाणभूत श्रुतज्ञानके द्वारा सर्व पदार्थ जाने जाते है, क्योकि लोकालोकका परिज्ञान व्याप्ति रूपसे छद्मस्थोंके भी पाया जाता है। और वह केवलज्ञानको विषय करनेवाला व्याप्ति ज्ञान परोक्ष रूपसे कथचित् आत्मा ही है। सर्व द्रव्य गुण और पर्याय परमागमसे जाने जाते है, क्योंकि आगमके परोक्षरूपसे केवलज्ञानसे समानपना होनेके कारण, आगमके आधारसे पीछे स्वसवेदन ज्ञानके हो जानेपर, और स्वसवेदन ज्ञानके बलसे केवलज्ञानके हो जानेपर समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष भी हो जाते है।

प का /ता वृ /९६/१६६/१४ यत्पुनर्द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वरूपपरमागम-सज्ञ तच्च मूर्तामूर्तोभयपरिच्छित्तिविषये व्याप्तिज्ञानरूपेण परोक्ष-मपि केवलज्ञानसदृशमित्यभिप्राय।=द्वादशाग अर्थात् १२ अग चौदह पूर्वरूप परमागम सज्ञावाला द्रव्य श्रुत है, वह मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकारके द्रव्योके ज्ञानके विषयमें परोक्ष होनेपर भी व्याप्ति ज्ञान रूपसे केवलज्ञानके सदृश है, ऐसा अभिप्राय है।

दे श्रुतज्ञान/I/२/४ श्रुतज्ञान सर्व पदार्थ विषयक है।

२. दोनोंमें प्रत्यक्ष परोक्ष मात्रका अन्तर है

आप्त. मी./१०५ स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वे प्रकाशने। भेदः साक्षाद-साक्षाच्च, ह्यवस्त्वन्यतम भवेत्।१०५।=स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनो सर्व तत्त्वोका प्रकाशन करनेवाले है। इन दोनोमें केवल परोक्ष व प्रत्यक्ष रूप जानने मात्रका भेद है। इन दोनोमेसे यदि एक हो, और अन्यतम न हो तो, वह अवस्तु ठहरे। (गो जी./मू./३६६/७६५)।

दे. अनुभव/४ श्रुतज्ञानमें केवल ज्ञानवत् प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

३. समन्वय

ध. १५/१/४/४ मदिसुदणाणाणं सव्वदव्वविसयत्तं किण्ण वुच्चदे, तासिं मुत्तामुत्तासेसदव्वेसु वावारुवलभादो। ण एस दोसो, तेसिं दव्वाण-मणतेसु पज्जाएसु तिकालविसएसु तेहि सामण्णेणावगएसु विसेस-सरूवेण वावाराभावादो। भावे वा केवलणाणेण समाणत्त तेसिं पावेज्ज। ण च एव, पचणाणुवदेसस्स अभावप्पसगादो।=प्रश्न—मतिज्ञान व श्रुतज्ञान समस्त द्रव्योको विषय करनेवाले है, ऐसा क्यों नही कहते, क्योकि उनका मूर्त व अमूर्त सर्व द्रव्योमें व्यापार पाया जाता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, उन द्रव्योकी त्रिकाल विषयक अनन्त पर्यायोंमें उन ज्ञानोका सामान्य रूपसे व्यवहार नही है। अथवा यदि उनमें उनकी विशेष रूपसे भी प्रवृत्ति स्वीकार की जाय तो वे दोनो ज्ञान केवलज्ञानकी समानताको प्राप्त हो जावेगे। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योकि, वैसा होनेपर पाँच ज्ञानोंका जो उपदेश प्राप्त है उसके अभावका प्रसग आता है।

५. मति श्रुत ज्ञानकी कथंचित् प्रत्यक्षता-परोक्षता

१. मति श्रुत ज्ञान कथंचित् परोक्ष हैं

प्र सा /मू /५७ परदव्व ते अक्खाणेव सहावोत्ति अप्पाणो भणिदा। उवलद्ध तेहि कध पच्चक्ख अप्पणो होंति।५७।=वे इन्द्रियाँ पर द्रव्य है, उन्हे आत्मस्वभाव स्वरूप नही कहा है। उनके द्वारा ज्ञात आत्माका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है।

स सि /१/११/१०१/६ अत' पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्यात्मनो मतिश्रुतं उत्पद्यमान परोक्षमित्याख्यायते।=मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञाना-वरण कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माके इन्द्रिय और मन तथा प्रकाश और उपदेशादिक बाह्य निमित्तोकी अपेक्षा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उत्पन्न होते है अत' ये परोक्ष कहलाते है। (रा वा /१/११/६/५२/२४) (और भी दे. परोक्ष/४)।

क पा./१/१-१/§१६/२४/३ मति-सुदणाणाणि परोक्खाणि, पाएण तत्थ अविसदभावदंसणादो।=मति और श्रुत ये दोनो ज्ञान परोक्ष है, क्योकि इन दोनोमें प्राय' अस्पष्टता देखी जाती हे।

२. इन्द्रिय ज्ञानको प्रत्यक्ष माननेमें दोष

स. सि./१/१२/१०३/७ स्यान्मतमिन्द्रियव्यापारजनित ज्ञान प्रत्यक्षं व्यतीतेन्द्रियविषयव्यापार परोक्षमित्येतदविसवादि लक्षणमभ्यु-पगन्तव्यमिति। तदयुक्तम्, आप्तस्य प्रत्यक्षज्ञानाभावप्रसङ्गात्। यदि इन्द्रियनिमित्तमेव ज्ञान प्रत्यक्षमिष्यते एव सति आप्तस्य प्रत्यक्षज्ञान न स्यात्। न हि तस्येन्द्रियपूर्वोऽर्थाधिगम। अथ तस्यापि करण-पूर्वकमेव ज्ञान कल्प्यते, तस्यासर्वज्ञत्व स्यात्। तस्य मानस प्रत्यक्ष-मिति चेत्, मनःप्रणिधानपूर्वकत्वात् ज्ञानस्य सर्वज्ञत्वाभाव एव। आगमतस्तत्सिद्धिरिति चेत्। न, तस्य प्रत्यक्षज्ञानपूर्वकत्वात्। योगिप्रत्यक्षमन्यज्ज्ञान दिव्यमप्यस्तीति चेत्। न तस्य प्रत्यक्षत्वं; इन्द्रियनिमित्तत्वाभावात्, अक्षमक्षं प्रति यद्वर्तते तत्प्रत्यक्षमित्यभ्यु-

पगमात्। =प्रश्न—जो ज्ञान इन्द्रियोंके व्यापारसे उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है और जो इन्द्रियोंके व्यापारसे रहित है वह परोक्ष है। प्रत्यक्ष व परोक्षका यह अविसंवादी लक्षण मानना चाहिए? उत्तर—कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त लक्षणके माननेपर आप्तके प्रत्यक्ष ज्ञानका अभाव प्राप्त होता है। यदि इन्द्रियोंके निमित्तसे होनेवाले ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा जाता है तो ऐसा माननेपर आप्तके प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि आप्तके इन्द्रियपूर्वक पदार्थका ज्ञान नहीं होता। कदाचित् उसके भी इन्द्रिय पूर्वक ही ज्ञान पाया जाता है तो उसके सर्वज्ञता नहीं रहती। प्रश्न—उसके मानस प्रत्यक्ष होता है? उत्तर—मनके प्रयत्नसे ज्ञानकी उत्पत्ति माननेपर सर्वज्ञत्वका अभाव ही होता है। प्रश्न—आगमसे सर्व पदार्थोंका ज्ञान हो जायेगा? उत्तर—नहीं, क्योंकि सर्वज्ञता प्रत्यक्षज्ञान पूर्वक प्राप्त होती है। प्रश्न—योगी-प्रत्यक्ष नामका एक अन्य दिव्यज्ञान है? उत्तर—उसमें प्रत्यक्षता नहीं बनती, क्योंकि वह इन्द्रियोंके निमित्तसे नहीं होता है। जिसकी प्रवृत्ति प्रत्येक इन्द्रियसे होती है वह प्रत्यक्ष है ऐसा आपके मतमें स्वीकार भी किया है। (रा. वा /१/१२/६-६/५३-१४)।

३. परोक्षता व अपरोक्षताका समन्वय

न्या. दी./२/§ १२/३४/१ इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त देशत 'सांव्यवहारिकम्'। इद चामुख्यप्रत्यक्षम्, उपचारसिद्धत्वात्। वस्तुतस्तु परोक्षमेव, मतिज्ञानत्वात्। =इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होनेवाला एक देश स्पष्ट सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान अमुख्य प्रत्यक्ष है—गौण रूपसे प्रत्यक्ष है, क्योंकि उपचारसे सिद्ध होता है, वास्तवमें तो परोक्ष ही है।

दे. परोक्ष/४ (इन्द्रिय ज्ञान परमार्थसे परोक्ष है व्यवहारसे प्रत्यक्ष है।)

दे. अनुभव/४ वह बाह्य विषयोंको जानते समय परोक्ष है और स्वसवेदनके समय प्रत्यक्ष है।

II अर्थलिंगज श्रुतज्ञान विशेष निर्देश

१. भेद व लक्षण

१. अर्थ लिंगज २० प्रकारका है

प. खं. १३/५, ५/सू. ४७/२६० तस्सेव सुदणाणावरणीयस्स कम्मस्स वीसदिविधा परूवणा कायव्वा भवदि।४७। पुव्वं संजोगक्खरमेत्ताणि सुदणाणावरणाणि परूविदाणि। संपहि ताणि चेव सुदणाणावरणाणि वीसदिविधाणि त्ति भण्णमाणे एदस्स सुत्तस्स पुव्वसुत्तेण विरोहो किण्ण जायदे। ण एस दोसो, भिण्णाहिप्पायंतादो। पुव्विल्लसुत्तमक्खरणिबंधणभेदपरूवयं, एदं पुण खओवसमगदभेदमस्सिदूण आवरणभेदपरूवय। तम्हा दोसो णत्थि त्ति घेत्तव्वो। =श्रुतज्ञानावरणीय कर्मकी २० प्रकारकी प्ररूपणा करनी चाहिए।४७। प्रश्न—पहले जितने सयोगाक्षर होते है उतने श्रुतज्ञानावरण कर्म कहे गये है। अब वे ही श्रुतज्ञानावरण २० प्रकारके है, ऐसा कथन करनेपर इस सूत्रका पूर्व सूत्रके साथ विरोध क्यों नहीं होता। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि भिन्न अभिप्रायसे यह सूत्र कहा गया है। पूर्व सूत्र अक्षर निमित्तक श्रुतभेदोंका कथन करता है, परन्तु यह सूत्र क्षयोपशमका अवलम्बन लेकर आवरणके भेदोंका कथन करता है। इसलिए कोई दोष नहीं है। ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

२. अर्थ लिंगजके २० भेदोंका नाम निर्देश

प ख १३/५,५/गा १ व सू ४८।२६० पज्जय-अक्खर पद-संघादय-पडिवत्ति-जोगदाराइ। पाहुडपाहुडवत्थू पुव्वसमासाय बोद्धव्वा।१। पज्जयावरणीय पज्जयसमासावरणीय अक्खरावरणीयं अक्खरसमासावरणीयं पदावरणीयं पदसमासावरणीय संघादावरणीयं संघादसमासावरणीयं पडिवत्तिआवरणीयं पडिवत्तिसमासावरणीयं अणियोगद्दारावरणीयं अणियोगद्दारसमासावरणीयं पाहुडपाहुडावरणीय पाहुडपाहुडसमासावरणीयं पाहुडावरणीयं पाहुडसमासावरणीयं वत्थुआवरणीयं वत्थुसमासावरणीय पुव्वावरणीयं पुव्वसमासावरणीयं चेदि।४८। =१. पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, सघात समास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनुयोगद्वार, अनियोद्वारसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृत-प्राभृतसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व और पूर्व समास, ये श्रुतज्ञानके बीस भेद जानने चाहिए।१। २. पर्याय ज्ञानावरणीय, पर्यायसमास ज्ञानावरणीय, अक्षरावरणीय, अक्षरसमासावरणीय, पदावरणीय, पदसमासावरणीय, संघातावरणीय, संघातसमासावरणीय, प्रतिपत्ति-आवरणीय, प्रतिपत्तिसमासावरणीय, अनुयोगद्वारावरणीय, अनुयोगद्वारसमासावरणीय, प्राभृतप्राभृतावरणीय, प्राभृतप्राभृत समासावरणीय, प्राभृतावरणीय, प्राभृतसमासावरणीय, वस्तु आवरणीय, वस्तुसमासावरणीय, पूर्वावरणीय, पूर्वसमासावरणीय, ये श्रुतावरणके बीस भेद हैं।४८। (ह. पु./१०/१२-१३); (ध. ६/१, ९-१,१४/२१/८), (ध. १३/५,५,१४,५/४८०/१२); (गो. जी./मू/३१७-३१८/६७७)।

३. बीस भेदोंके लक्षण

ह पु./१०/१४-२६ श्रुतज्ञानविकल्प. स्यादेकहस्वाक्षरात्मकः। अनन्तानन्तभेदाणुपुद्गलस्कन्धसंचयः।१४। अनन्तानन्तभागैस्तु भिद्यमानस्य तस्य च। भागः पर्याय इत्युक्त' श्रुतभेदो ह्यनल्पश.।१५। सोऽपि सूक्ष्मनिगोदस्यालब्धपर्याप्तदेहिन.। सम्भवी सर्वथा तावान् श्रुतावरणवर्जित।१६। सर्वस्यैव हि जीवस्य तावन्मात्रस्य नावृतिः। आवृतौ तु न जीव स्यादुपयोगवियोगत।१७। जीवोपयोगशक्तेश्च न विनाश. सयुक्तिक.। स्यादेवात्यभ्ररोधेऽपि सूर्याचन्द्रमसो. प्रभा।१८। पर्यायानन्तभागेन पर्यायो युज्यते यदा। स पर्यायसमासः स्यात् श्रुतभेदो हि सावृति.।१९। अनन्तसङ्ख्यसङ्ख्येयभागवृद्धिक्षयान्वित। सङ्ख्येयासङ्ख्यकानन्तगुणवृद्धिक्रमेण च।२०। स्यात्पर्यायसमासोऽसौ यावदक्षरपूर्णता। एकैकाक्षरवृद्ध्या स्यात् तत्समास' पदावधि।२१। पदमर्थपदं ज्ञेयं प्रमाणपदमित्यपि। मध्यमं पदमित्येवं त्रिविधं तु पदस्थितम्।२२। एकद्वित्रिचतु'पञ्च षट्सप्ताक्षरमर्थवत्। पदमाद्य द्वितीयं तु पदमष्टाक्षरात्मकम्।२३। कोट्यश्चैव चतुस्त्रिंशत् तच्छतान्यपि षोडश। त्र्यशीतिश्च पुनर्लक्षा' शतान्यष्टौ च सप्तति.।२४। अष्टाशीतिश्च वर्णा' स्युर्मध्यमे तु पदे स्थिता। पूर्वाङ्गपदसङ्ख्या स्यान्मध्यमेन पदेन सा।२५। एकैकाक्षरवृद्ध्या तु तत्समासभिदस्तत। इत्थं पूर्वसमासान्तं द्वादशाङ्ग' श्रुतं स्थितम्।२६। =श्रुतज्ञानके अनेक विकल्पोंमें एक विकल्प एक हस्व अक्षर रूप भी है। इस विकल्पमें द्रव्यकी अपेक्षा अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुओंसे निष्पन्न स्कन्धका सचय होता है।१४। इस एक हस्वाक्षर रूप विकल्पके अनेक बार अनन्तानन्त भाग किये जावें तो उनमें एक भाग पर्याय नामका श्रुतज्ञान होता है।१५। वह पर्याय ज्ञान सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके होता है और श्रुतज्ञानावरणके आवरणसे रहित होता है।११६। सभी जीवोंके उतने ज्ञानके ऊपर कभी आवरण नहीं पडता। यदि उसपर भी आवरण पड जावे तो ज्ञानोपयोगका सर्वथा अभाव हो जायेगा और ज्ञानोपयोगका अभाव होनेसे जीवका अभाव हो जायेगा।१७। यह निश्चयसे सिद्ध है कि जीवकी उपयोग शक्तिका कभी विनाश नहीं होता। जिस प्रकार कि मेघका आवरण होनेपर भी सूर्य और चन्द्रमाकी प्रभा कुछ अंशोंमें प्रगट रही आती है उसी प्रकार श्रुतज्ञानका आवरण होनेपर भी पर्याय नामका ज्ञान प्रकट रहा आता है।१८। जब यही पर्याय ज्ञान पर्याय ज्ञानके अनन्तवे भागके साथ मिल जाता है तब यह

पर्यायसमास नामका श्रुतज्ञान कहलाने लगता है, यह श्रुतज्ञान आवरणसे सहित है।१६। यह पर्याय-समास-ज्ञान अनन्तभागवृद्धि, असंख्यभाग वृद्धि, सख्यातभागवृद्धि तथा अनन्तभाग हानि, असंख्यात भागहानि, एवं संख्यात भाग-हानिसे सहित है। पर्यायज्ञानके ऊपर संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुण वृद्धिके क्रमसे वृद्धि होते-होते जबतक अक्षर ज्ञान पूर्णता होती है तब तकका ज्ञान **पर्याय समास ज्ञान** कहलाता है। उसके बाद अक्षरसमासज्ञान प्रारम्भ होता है उसके ऊपर पद ज्ञान तक एक-एक अक्षर की वृद्धि होती है। इस वृद्धि प्राप्त ज्ञानको **अक्षर-समास ज्ञान** कहते है। अक्षर समासके बाद पदज्ञान होता है। ।२०-२१। अर्थपद, प्रमाणपद, और मध्यम पदके भेदसे पद तीन प्रकारका है।२२। इनमें एक, दो, तीन, चार, पाँच और छह व सात अक्षर तकका पद अर्थपद कहलाता है। आठ अक्षर रूप प्रमाण पद होता है और मध्यम पदमें सोलह सौ चोतीस करोड तिरासी लाख सात हजार आठसौ अठासी अक्षर होते है, और अंग तथा पूर्वोंके पदकी संख्या इसी मध्यम पदसे होती है।२३-२४। एक अक्षरकी वृद्धिकर पद समास लेकर पूर्व-मास पर्यन्त समस्त द्वादशाग श्रुत स्थित है।२६। (ध १३/५,५,४८/२६२-२७१), (ध, ६/१,६-१,१४/२१-२५०), (गो जी./मू./३२२-३४६)।

४. उपरोक्त ज्ञानोकी वह संज्ञाएँ क्यो

ध. ६/१,६-१,१४/२७/७ कधमेदस्स अक्खरववएसो। ण, दव्वसुदपडिबद्धेयक्खरुप्पण्णस्स उवयारेण अक्खरववएसादो। =प्रश्न—उक्त प्रकारके इस श्रुतज्ञानकी 'अक्षर' ऐसी सज्ञा कैसे हुई। उत्तर—नही, क्योंकि, द्रव्य श्रुत प्रतिबद्ध एक अक्षरसे उत्पन्न श्रुतज्ञानकी उपचारसे 'अक्षर' ऐसी सज्ञा है।

ध १३/५,५,४८/पृ/पं, कध तस्स अक्खरसण्णा। खरणेण विणा एगसरूवेण अवट्ठाणादो। केवलणाणमक्खरं, तत्थ वड्ढि-हाणीणमभावादो। दव्वट्ठियणए सुहुमणिगोदणाण त चेवे त्ति व अक्खर। (२६२।५) को पज्जओ णाम। णाणाविभागपडिच्छेदपक्खेवो पज्जओ णाम। तस्स समासो जेसु णाणट्ठाणेसु अत्थि तेसिं णाणट्ठाणाणं पज्जयसमासो त्ति सण्णा (२६४।२)। =प्रश्न—इसकी (सूक्ष्म निगोदियाके ज्ञानकी) अक्षर सज्ञा किस कारणसे है। उत्तर—क्योंकि यह ज्ञान नाशके बिना एक स्वरूपसे अवस्थित रहता है। अथवा केवलज्ञान अक्षर है, क्योकि उसमें वृद्धि और हानि नहीं होती। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा चूँकि सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तकका ज्ञान भी वही है, इसलिए भी इस ज्ञानको अक्षर कहते है। प्रश्न=पर्याय किसका नाम है। उत्तर—ज्ञानाविभागप्रतिच्छेदोके प्रक्षेपका नाम पर्याय है। उनका समास जिन ज्ञानस्थानोंमें होता है उन ज्ञानस्थानोंमें पर्याय समास संज्ञा है। परन्तु जहाँ एक ही प्रक्षेप होता है उस ज्ञानकी पर्याय सज्ञा है, क्योकि, एक पर्यायमें उनका समास नहीं बन सकता।

दे, पद/६ एक पदके १६३४८३०७८८८ अक्षरोसे होनेके कारण ज्ञानको उपचारसे पद ज्ञान कह देते है।

५. अक्षर ज्ञानमें कौन सा अक्षर इष्ट है

ध. १३/५,५,४८/२६५/५ एदेसु तिसु अक्खरेसु केणेत्थ अक्खरेण पयदं। लद्धि अक्खरेण, ण सेसेहि, जडत्तादो। =प्रश्न—इन तीन अक्षरोमेंसे (लब्ध्यक्षर, निर्वृत्यक्षर, और संस्थानाक्षरमेंसे) प्रकृतमें कौनसे अक्षरसे प्रयोजन है। उत्तर—लब्धि अक्षरसे प्रयोजन है,शेष अक्षरोंसे नहीं। क्योंकि वे जड स्वरूप हैं।

२. अर्थलिंगज निर्देश

१. लब्ध्यक्षर ज्ञानका प्रमाण

ध. १३/५,५,४८/२६२/७ किमेदस्स पमाण। केवलणाणस्स अणंतिमभागो। =प्रश्न—इसका (लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञानका) प्रमाण क्या है। उत्तर—इसका प्रमाण केवल-ज्ञानका अनन्तवाँ भाग है।

२. लब्ध्यक्षर ज्ञान सदा निरावरण होता है

ध. १३/५,५,४८/२६२/७ एद णिरावरणं, 'अक्खरस्साणंतिमभागो णिच्चुग्घाडिओ' त्ति वयणादो एदम्मि आवरिदे जीवाभावप्पसगादो वा। एदम्हि लद्धि अक्खरे सव्वजीवरासिणा भागे हिदे सव्वजीवरासीदो अणतगुणणाणाविभागपडिच्छेदा आगच्छति। =यह (लब्ध्यक्षर) ज्ञान निरावरण है, क्योकि अक्षरका अनन्तवाँ भाग नित्य उद्घाटित (प्रगट) रहता है। ऐसा आगम वचन है। अथवा इसके आवृत होनेपर जीवके अभावका प्रसग आता है। इस लब्ध्यक्षर ज्ञानमें सब जीव राशिका भाग देनेपर सब जीव राशिसे अनन्तगुणे ज्ञानाविभागप्रतिच्छेद होते है (१३/४,२,१४,४/४७६/५), (और भी दे. श्रुतज्ञान/II/१/३)।

गो. जी /मू /३१६-३२० सुहुमणिगोदअपज्जत्तस्स जादस्स पढमसमयम्हि। हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाड णिरावरणं।३१६। सुहमणिगोद अपज्जत्तगेसु सगसभवेसु भमिऊण। चरिमापुण्णतिवक्काणादिमवक्कट्ठियेव हवे।३२०। =सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें सबसे जघन्य ज्ञान होता है। इसीको प्राय' लब्ध्यक्षर ज्ञान कहते है। इतना ज्ञान हमेशा निवारण तथा प्रकाशमान रहता है।३१६। सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके अपने अपने जितने भव (६०१२) सम्भव हैं,उनमें भ्रमण करके अन्तके अपर्याप्त शरीरको तीन मोडाओ के द्वारा ग्रहण करनेवाले जीवके प्रथम मोडा के समयमें सर्वजघन्य ज्ञान होता है।

३. पर्याय आदि ज्ञानोमें वृद्धि क्रम

ध. ६/१,६-१,१४/२१/११ तस्स (केवलणाणस्स) अणंतिमभागो पज्जाओणाम मदिणाणं। त च केवलणाणं व णिरावरणमक्खर च। एदम्हादो सुहुमणिगोदलद्धिअक्खरादो जमुप्पज्जइ सुदणाण त पि पज्जाओ उच्चदि। तदो अणतभागवड्ढी असखेज्जभागवड्ढी सखेज्जभागवड्ढी, सखेज्जगुणवड्ढी असंखेज्जगुणवड्ढी, अणंतगुणवड्ढी त्ति एसा एक्का छवड्ढी। एरिसाओ असंखेज्जलोगमेत्तीओ छवड्ढीओ गतूण पज्जायसमाससुदणाणस्स अपच्छिमो वियप्पो होदि। तमणंतेहि रूवेहि गुणिदे अक्खर णाम सुदणाण होदि। एदस्सुवरि अक्खरवड्ढी चेव होदि, अवराओ वड्ढीओ णत्थि त्ति आइरियपरपरागदुवदेसादो। केइ पुणं आइरिया अक्खरसुदणाणं पि छव्विहाए वड्ढीए वड्ढदि ति भणंति, णेद घडदे, सयलसुदणाणस्स संखेज्जदिभागादो अक्खरणाणादो उवरि छवड्ढीणं संभवाभावा। =केवलज्ञान अक्षर कहलाता है उसका अनन्तवाँ भाग पर्याय नामका मतिज्ञान है, वह पर्याय नामका मतिज्ञान केवलज्ञानके समान निरावरण है और अविनाशी है। इस सूक्ष्म निगोद लब्धि अक्षरसे जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह पर्याय ज्ञान है, इस पर्याय श्रुतज्ञानसे जो अनन्तवे भागसे अधिक श्रुतज्ञान होता है वह पर्याय समास कहलाता है। अनन्त भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, सख्यात गुणवृद्धि, असख्यात गुणवृद्धि, और अनन्तगुणवृद्धि होती है इस प्रकार की असंख्यात लोक प्रमाण षड्वृद्धियाँ ऊपर जाकर पर्याय समास नामक श्रुतज्ञान का अन्तिम विकल्प होता है। उस

अन्तिम विकल्पको अनन्त रूपोंसे गुणित करनेपर अक्षर-नामक श्रुतज्ञान होता है।... इस अक्षर श्रुतज्ञानके ऊपर एक एक अक्षरकी वृद्धि होती है। अन्य वृद्धियाँ नहीं होती है, इस प्रकार परम्परागत उपदेश पाया जाता है। कितने ही आचार्य ऐसा कहते है कि अक्षर-श्रुतज्ञान भी छह प्रकारकी वृद्धिसे बढता है। किन्तु उनका यह कथन घटित नही होता है, क्योंकि समस्त श्रुतज्ञानके संख्यातवें भागरूप अक्षर-ज्ञानसे ऊपर छह प्रकारकी वृद्धियोंका होना सम्भव नही है।

ध. १३/५,५,४८/२६८/३ अक्खरणाणादो उवरि छव्विहवड्ढि परूविद-वेयणावक्खाणेण सह किण्ण विरोहो। ण, भिण्णाहिप्पायत्तादो। एग-क्खरक्खओवसमादो जेसिमाइरियाणमहिप्पाएण उवरिमक्खओवसमा छव्विहवड्ढीए वड्ढिदा अत्थि तमस्सिय तं वक्खाणं तत्थ परूविदं। एगक्खरसुदणाणं जेसिमाइरियाणमहिप्पाएण सयलसुदणाणस्स सखेज्जदिभागो चेव तेसिमहिप्पाएणेदं वक्खाणं। तेण ण दोण्णं विरोहो। = प्रश्न—अक्षर-ज्ञानके ऊपर छह प्रकारकी वृद्धिका कथन करनेवाले वेदना अनुयोगद्वारके व्याख्यानके साथ इस व्याख्यानका विरोध क्यो नही होता? उत्तर—नहीं, क्योंकि उसका इससे भिन्न अभिप्राय है। जिन आचार्योंके अभिप्रायानुसार एक अक्षरके क्षयोपशमसे आगेके क्षयोपशम छह वृद्धियो द्वारा वृद्धिको लिये हुए होते हैं उन आचार्योंके अभिप्रायको ध्यानमें रखकर वेदना अनुयोगद्वारमें यह व्याख्यान किया है। किन्तु जिन आचार्योंके अभिप्रायानुसार एक अक्षर श्रुतज्ञान समस्त श्रुतज्ञानके संख्यातवें भागप्रमाण ही होता है। उन आचार्योंके अभिप्रायानुसार यह व्याख्यान किया है, इसलिए इन दोनों व्याख्यानोंमें विरोध नही है।

गो जी./मू./३२२-३३२ अवरुवरिम्मि अणंतमसंखं संखं च भागवड्ढीए। संखमसंखमणंतं गुणवड्ढी होंति हु कमेण।३२२। जीवाणं च य रासी असंखलोगा वरं खु संखेज्जं। भागगुणम्हि य कमसो अवट्ठिदा होंति छट्ठाणा।३२३। उव्वकं चउरंकं पणछस्सत्तक अट्ठअंक च। छव्वड्ढीणं सण्णा कमसो संदिट्ठिकरणट्ठं।३२४। अङ्गुलअसंखभागे पुव्वंगवड्ढीगदे दु परवड्ढी। एक्कं वारं होदि हु पुणो पुणो चरिमउड्ढित्ती।३२५। आदिमछट्ठाणम्हि य पंच य वड्ढी हवंति सेसेसु। छव्वड्ढीओ होंति हु सरिसा सव्वत्थ पदसंखा।३२६। छट्ठाणाण आदि अट्ठकं होदि चरिममुव्वकं। जम्हा जहण्णणाणं अट्ठक होदि जिणदिट्ठं।३२७। एक्कं खलु अट्ठकं सत्तंकं कडयं तदो हेट्ठा। रूवहियकडएण य गुणिदकमा जावमुव्वकं।३२८। सव्वसमासो णियमा रूवाहियकडयस्स वग्गस्स। विंदस्स य सवग्गो होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।३२९। उक्कस्ससंखमेत्तं तत्तिचउत्थेकदालछप्पण्णं। सत्तदसमं च भागं गंतूण य लद्धिअक्खरं दुगुणं।३३०। एवं असंखलोगा अणक्खरप्पे हवंति छट्ठाणा। ते पज्जायसमासा अक्खरगं उवरि वोच्छामि।३३१। चरिमुव्वंकेण वट्टिदअत्थक्खरगुणिदचरिममुव्वंकं। अत्थक्खरं तु णाणं होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।३३२। = सर्वजघन्य पर्याय ज्ञानके ऊपर क्रमसे अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि ये छह वृद्धि होती है।३२२। अनन्तभाग वृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि इनका भागहार और गुणाकार समस्त जीवराशि प्रमाण अवस्थित है। असंख्यातभाग वृद्धि और असंख्यात गुणवृद्धि इनका भागहार और गुणाकार असंख्यात लोकप्रमाण अवस्थित है। संख्यात भागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि इनका भागहार और गुणाकार उत्कृष्ट संख्यात अवस्थित है।३२३। लघुरूप संदृष्टिके लिए क्रमसे छह वृद्धियोंकी ये छह संज्ञा है। अनन्तभाग वृद्धिकी उर्वक, असंख्यात भागवृद्धिकी चतुरङ्क, संख्यात भागवृद्धिकी पञ्चाङ्क, संख्यात गुणवृद्धिकी षडङ्क, असंख्यात गुणवृद्धिकी सप्ताङ्क, अनन्तगुण वृद्धिकी अष्टांक।३२४। सूच्यंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण पूर्व वृद्धि होनेपर एक बार उत्तर वृद्धि होती है। यह नियम अन्तकी वृद्धि पर्यन्त समझना चाहिए।३२५। असंख्यात लोक प्रमाण षट्स्थानोंमेंसे प्रथमषट्स्थानोंमें पाँच ही वृद्धि होती है, अष्टांक वृद्धि नहीं होती। शेष सम्पूर्ण षट्स्थानोंमें अष्टांक सहित छह वृद्धि होती है। सूच्यंगुलका असंख्यातवाँ भाग अवस्थित है इसलिए पदोंकी संख्या सब जगह सदृश ही समझनी चाहिए।३२६। सम्पूर्ण षट्स्थानोंमें आदिके स्थानको अष्टांक, और अन्तके स्थानको उर्वंक कहते है, क्योंकि जघन्य पर्यय ज्ञान भी अगुरुलघु गुणके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा अष्टांक हो सकता है।३२७। एक षट्स्थानमें एक ही अष्टांक होता है। और सप्तांक सूच्यंगुलके असंख्यातमें भागमात्र होते हैं। इसके नीचे षडंक, पंचांक, चतुरंक, उर्वंक ये एक एक अधिक बार सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागसे गुणित क्रम हैं।३२८। एक अधिक काण्डकके वर्ग और घनको परस्पर गुणा करनेसे जो प्रमाण लब्ध आवे उतना ही एक षट्स्थान पतित वृद्धियोंके प्रमाणका जोड है।३२९। एक अधिक काण्डकसे गुणित सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण अनन्त भाग वृद्धिके स्थान, और सूच्यंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यात भागवृद्धिके स्थान, इन दो वृद्धियोंको जघन्य ज्ञानके ऊपर हो जानेपर एक बार संख्यात भागवृद्धिका स्थान होता है, इसके आगे उक्त क्रमानुसार उत्कृष्ट संख्यात मात्र पूर्वोक्त 'संख्यातवृद्धिके हो जानेपर उसमें प्रक्षेपक वृद्धिके होनेसे लब्ध्यक्षरका प्रमाण दूना हो जाता है।३३०। इस प्रकारसे अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानके असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थान होते हैं, ये सब ही पर्याय समास ज्ञानके भेद हैं।३३१। और भी दे० श्रुतज्ञान/II/१/३। अन्तके उर्वंकका अर्थाक्षर समूहमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको अन्तके उर्वंकसे गुणा करनेपर अर्थाक्षर ज्ञानका प्रमाण होता है।३३२। (विशेष—दे. नीचे यंत्र) एक स्थानकी संदृष्टि तदनुसार है :—

३३४	३३४	३३५	३३४	३३४	३३५	३३४	३३४	३३६
३३४	३३४	३३५	३३४	३३४	३३५	३३४	३३४	३३६
३३४	३३४	३३५	३३४	३३४	३३५	३३४	३३४	३३७
३३४	३३४	३३५	३३४	३३४	३३५	३३४	३३४	३३६
३३४	३३४	३३५	३३४	३३४	३३५	३३४	३३४	३३६
३३४	३३४	३३५	३३४	३३४	३३५	३३४	३३४	३३७
३३४	३३४	३३५	३३४	३३४	३३५	३३४	३३४	३३६
३३४	३३४	३३५	३३४	३३४	३३५	३३४	३३४	३३६
३३४	३३४	३३५	३३४	३३४	३३५	३३४	३३४	३३८

(क. पा. ५/४-१२/§५७२/पृ. ३४२); (गो. जी./भाषा./३२६/६६४)।

III शब्द लिंगज श्रुतज्ञान विशेष

१. भेद व लक्षण

१. लोकोत्तर शब्द लिंगजके सामान्य भेद

त. सू./१/२० श्रुतं...द्व्यनेकद्वादशभेदम् ।२०।

स. सि./१/२०/१२३/२ अङ्गबाह्यमङ्गप्रविष्टमिति ।=१. श्रुतज्ञानके दो भेद—अंग बाह्य व अंग प्रविष्ट ये दो भेद हैं। (रा. वा./१/२०/११/७२/२३); (क. पा. १/१-१/§१७/२५/१); (ध. १/१,१,२/९६/६), (ध. १/१,१,११५/३५७/८); (ध. ६/४,१,४५/१८७/१२)। २. अथवा अनेक भेद और बारह भेद हैं।

२. अंग सामान्य व विशेषके लक्षण

१. अंग सामान्यकी व्युत्पत्ति

ध. ६/४,१,४५/१९३/६ अंगसुदमिदि गुणणाम, अङ्गति गच्छति व्याप्नोति त्रिकालगोचराशेषद्रव्य-पर्यायमित्यङ्गशब्दनिष्पत्ते। =अंगश्रुत यह गुणनाम है, क्योंकि, जो तीनों कालकी समस्त द्रव्य वा पर्यायोंको 'अङ्गति' अर्थात् प्राप्त होता है या व्याप्त करता है वह अंग है, इस प्रकार अंग शब्द सिद्ध हुआ है।

गो. जी./जी. प्र./३५०/७४७/१७ अङ्ग्यते मध्यमपदैर्लक्ष्यते इत्यङ्गं। अथवा आचारादिद्वादशशास्त्रसमूहरूपश्रुतस्कन्धस्य अङ्गं अवयवः एकदेश आचाराद्येकैकशास्त्रमित्यर्थः। ='अङ्ग्यते' अर्थात् मध्यम पदोंके द्वारा जो लिखा जाता है वह अंग कहलाता है। अथवा समस्त श्रुतके एक एक आचारादि रूप अवयवको अंग कहते हैं। ऐसे अंग शब्दकी निरुक्ति है।

२. अंग बाह्य व अंग प्रविष्ट

रा. वा./१/२०/१२-१३/पृ./पंक्ति आचारादि द्वादशविधमङ्गप्रविष्टमित्युच्यते (७२/२५) यद्गणधरशिष्यप्रशिष्यैरारातीयैरधिगतश्रुतार्थतत्त्वैः कालदोषादल्पमेधायुर्बलानां प्राणिनामनुग्रहार्थमुपनिबद्धं संक्षिप्ताङ्गार्थवचनविन्यासं तदङ्गबाह्यम्। (७८/३)=आचारांग आदि १२ प्रकारका ज्ञान अंगप्रविष्ट कहलाता है। (७२/२५) गणधर देवके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा अल्पायु-बुद्धि बलवाले प्राणियोंके अनुग्रहके लिए अंगोंके आधारसे रचे गये संक्षिप्त ग्रन्थ अंगबाह्य हैं।

दे. श्रुतज्ञान/II/१/२ पूर्व ज्ञानका लक्षण।
दे. अग्रायणी/अग्रायणीके लक्षणका भावार्थ।

३. अंग प्रविष्ट व अंग बाह्यके भेद

१. अंगप्रविष्टके भेद

स. सि./१/२०/१२३/३ अङ्गप्रविष्टं द्वादशविधम्। तद्यथा, आचारः सूत्रकृतं स्थानं समवायः व्याख्याप्रज्ञप्तिः ज्ञातृधर्मकथा उपासकाध्ययनं, अन्तकृद्दशं अनुत्तरोपपादिकदशं प्रश्नव्याकरणं विपाकसूत्रं दृष्टिप्रवाद इति। =अंगप्रविष्टके बारह भेद हैं—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्न व्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। (रा. वा./१/२०/१२/७२/२६); (ध. १/१,१,२/९९/१); (ध ४/१,४४/१९६); (ध. ६/४,१,४५/१९७/१); (क. पा. १/१-२/§१८/२६/२); (गो. जी./मू./३५६-३५७/७६०)।

२. दृष्टिवादके पाँच भेद

स. सि./१/२०/१२३/५ दृष्टिवादः पञ्चविधः—परिकर्म सूत्रं प्रथमानुयोगः पूर्वगतं चूलिका चेति। =दृष्टिवादके पाँच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। (रा. वा./१/२०/१३/७४/१०); (ह. पु./१०/६१); (ध. १/१,१,२/१०६/४), (ध. ६/४,१,४०/२०४/११); (क. पा. १/१-१/§१९/२६/५); (गो. जी./मू./३६१-३६२/७७२)।

३. पूर्वगतके १४ भेद

स. सि./१/२०/१२३/६ तत्र पूर्वगतं चतुर्दशविधम्—उत्पादपूर्वं, आग्रायणीय, वीर्यानुप्रवादं अस्तिनास्तिप्रवादं ज्ञानप्रवादं सत्यप्रवादं आत्मप्रवाद कर्मप्रवादं प्रत्याख्याननामधेयं विद्यानुप्रवादं कल्याणनामधेयं प्राणावाय क्रियाविशालं लोकबिन्दुसारमिति। =पूर्वगतके चौदह भेद हैं—उत्पादपूर्व, अग्रायणीय, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्ति प्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्याननामधेय, विद्यानुवाद, कल्याणनामधेय, प्राणावाय, क्रियाविशाल, और लोकबिन्दुसार। (रा. वा./१/२०/१२/७४/११); (ध. १/१,१,२/११४/३); (ध ६/४,१,४५//२१२/५), (क. पा. १/१-१/§२०/२६/७); (गो. जी./मू./३४५-३४६/७४१)।

४ चूलिकाके पाँच भेद

ह. पु./१०/१२३ जलस्थलगताकाशरूपमायागता पुनः। चूलिका पञ्चधान्वर्थसंज्ञा भेदवती स्थिता।१२३। =चूलिका पाँच भेदवाली है—जलगता, स्थलगता, आकाशगता, रूपगता और मायागता। ये समस्त भेद सार्थक भेदवाले हैं।१२३। (ध. १/१,१,२/११३/१), (ध. ६/४,१,४५/२०६/१०)।

५. अग्रायणी पूर्वके भेद

ध. १/१,१,२/१२३/२ तस्स अग्गेणियस्स पंचविहो उवक्कमो, आणुपुव्वी णाम पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि। =अग्रायणीय पूर्वके पाँच उपक्रम हैं—आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता, अर्थाधिकार। (ध. ६/४,१,४५/२२६/६)।

६. अंग बाह्यके भेद

रा. वा./१/२०/१४ ७८/६ तदङ्गबाह्यमनेकविधम्-कालिकमुत्कालिकमित्येवमादिविकल्पात्। स्वाध्यायकाले नियतकालं कालिकम्। अनियतकालमुत्कालिकम्। तद्भेदा उत्तराध्ययनादयोऽनेकविधाः। =कालिक, उत्कालिकके भेदसे अंग बाह्य अनेक प्रकारके हैं। स्वाध्याय कालमें जिनके पठन-पाठनका नियम है उन्हें कालिक कहते हैं, तथा जिनके पठन पाठनका कोई नियत समय न हो वे उत्कालिक हैं। उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थ अंगबाह्य अनेक प्रकार हैं। (स. सि./१/२०/१२३/२)।

ध १/१,१,१/९६/६ तत्थ अंगबाहिरस्स चोद्दस अत्थाहियारा। तं जहा, सामाइयं चउवीसत्थओ वंदणा पडिक्कमणं वेणइयं किदियम्मं दसवेयालियं उत्तरज्झयणं कप्पववहारो कप्पाकप्पियं महाकप्पियं पुंडरीयं महापुंडरीयं णिसिहियं चेदि। =अंगबाह्यके चौदह अर्थाधिकार हैं। वे इस प्रकार हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धका। (ध. ६/४,१,४५/१८७/१२), (क. पा./१/१-१/-§१७/२५/१), (गो. जी./मू./३६७-३६८/७८९)।

४. अंग प्रविष्टके भेदोंके लक्षण

१. १२ अंगोंके लक्षण

रा. वा./१/२०/१२/—७२/२८ से ७४/९ तक—आचारे चर्याविधानं शुद्ध्यष्टकपञ्चसमितित्रिगुप्तिविकल्पं कथ्यते। सूत्रकृते ज्ञानविनयप्रज्ञापना कल्प्याकल्प्यच्छेदोपस्थापना व्यवहारधर्मक्रियाः प्ररूप्यन्ते। स्थाने अनेकाश्रयाणामर्थानां निर्णयः क्रियते। समवाये सर्वपदार्थानां

समवायश्चिन्त्यते । स चतुर्विध'–द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पैः। तत्र धर्माधर्मास्तिकायलोकाकाशैकजीवाना तुल्यासंख्येयप्रदेशत्वात् एकेन प्रमाणेन द्रव्याणां समवायनाद् द्रव्यसमवाय ।· ·व्याख्याप्रज्ञप्तौ षष्टिव्याकरणसहस्राणि 'किमस्ति जीव·, नास्ति' इत्येवमादीनि निरूप्यन्ते। ज्ञातृधर्मकथायाम् आख्यानोपाख्यानाना बहुप्रकाराणां कथनम्। उपासकाध्ययने श्रावकधर्मलक्षणम्। · ऋषभादीनां तीर्थेषु · दश दशानागरा दशदश दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य कृत्स्नकर्मक्षयादन्तकृतः दश अस्यां वर्ण्यन्ते इति अन्तकृद्दशा। · एवमृषभादीना···तीर्थेषु·· दश दश अनागारा दश दश दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य विजयाद्यनुत्तरेषूत्पन्ना इत्येवमनुत्तरौपपादिका दशास्या वर्ण्यन्त इत्यनुत्तरौपपादिकदशा। · ·प्रश्नाना व्याकरणं प्रश्नव्याकरणम्, तस्मिंल्लौकिकवैदिकानामर्थानां निर्णय' विपाकसूत्रे सुकृतदुष्कृतानां विपाकश्चिन्त्यते। द्वादशमङ्गं दृष्टिवाद इति। ·· दृष्टिशतानां त्रयाणां त्रिषष्ट्युत्तराणा प्ररूपण निग्रहश्च दृष्टिवादे क्रियते। =आचारांगमें चर्याका विधान आठ शुद्धि, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि रूपसे वर्णित है। सूत्रकृतांगमें ज्ञान-विनय, क्या कल्प्य है क्या अकल्प्य है, छेदोपस्थापनादि, व्यवहारधर्मकी क्रियाओका निरूपण है। स्थानांगमें एक-एक दो-दो आदिके रूपसे अर्थोंका वर्णन है। समवायांगमें सब पदार्थोंकी समानता रूपसे समवायका विचार किया गया है। जैसे धर्म-अधर्म लोकाकाश और एक जीवके तुल्य असंख्यात प्रदेश होनेसे इनका द्रव्यरूपसे समवाय कहा जाता है। (इसी प्रकार यथायोग्य क्षेत्र, काल, व भावका समवाय जानना) व्याख्याप्रज्ञप्तिमें 'जीव है कि नहीं' आदि साठ हजार प्रश्नोंके उत्तर है। ज्ञातृधर्मकथामें अनेक आख्यान और उपाख्यानोका निरूपण है। उपासकाध्ययनमें श्रावकधर्मका विशेष विवेचन किया गया है। अन्तकृद्दशांगमें प्रत्येक तीर्थंकरके समयमें होने वाले उन दश-दश अन्तकृत् केवलियोंका वर्णन है जिनने भयंकर उपसर्गोंको सहकर मुक्ति प्राप्त की। · अनुत्तरोपपादिकदशांगमें प्रत्येक तीर्थंकरके समयमें होने वाले उन दश-दश मुनियोका वर्णन है जिनने दारुण उपसर्गोंको सहकर···पाँच अनुत्तर विमानोमें जन्म लिया। प्रश्न व्याकरणमें युक्ति और नयोके द्वारा अनेक आक्षेप और विक्षेप रूप प्रश्नोका उत्तर दिया गया है। विपाक-सूत्रमें पुण्य और पापके विपाकका विचार है। बारहवाँ दृष्टि प्रवाद अग है, इसमें ३६३ मतोंके निरूपण पूर्वक खण्डन है (३६३ मतोके लिए दे० एकान्त/५/२)। (ह पु./१०/२७-४६), (ध. १/१,१,२/-९९-१०९), (ध ९/४,१,४५/१९७-२०३), (गो. जी./जी. प्र/३५६-३५७/७६०-७६६)।

२ दृष्टिवादके प्रथम तीन भेदोंके लक्षण

ध. १/१,१,२/१०९-१११/४ तस्स पच अत्थाहियारा हवति, परियम्म-सुत्त-पढमाणियोग-पुव्वगय-चूलिया चेदि। जं तं परियम्मं पंचविह। तं जहा, चदपण्णत्ती सूरपण्णत्ती जंबूदीवपण्णत्ती दीवसायरपण्णत्ती वियाहपण्णत्ती चेदि। तत्थ चदपण्णत्तो णाम·· चंदायु-परिवारिद्धि गइ-बिंबुस्सेह-वण्णण कुणइ। सूरपण्णत्ती सूरस्सायु-भोगोवभोग - परिवारिद्धि - गइ - बिंबुस्सेह दिण-किरणुज्जोववण्णणं कुणइ। जबूदीवपण्णत्ति...जबूदीवे णाणाविह-मणुयाण भोगकम्म-भूमियाणं अण्णेसिं च पव्वद दह-णइ· ·वण्णणं कुणइ। दीवसायरपण्णत्तीदीवसायरपमाणं अण्ण पि दीवसायरं तब्भूदत्थं बहुभेयं वण्णेदि। वियाहपण्णत्ती णाम··· अजीवदव्वं भवसिद्धियअभवसिद्धिय-रासिं च वण्णेदि। सुत्तं अबंधओ अवलेवओ अकत्ता अभोत्ता णिग्गुणो सव्वगओ ··अप्पेति वण्णेदि। ···पढमाणियागो पंच-सहस्सपदेहि · पुराण वण्णेदि। =दृष्टिवादके पाँच अधिकार हैं, परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। उनमेंसे चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति, इस तरह परिकर्मके पाँच भेद है। चन्द्रप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म चन्द्रमाकी आयु, परिवार, ऋद्धि, गति और बिम्बकी ऊँचाई आदिका वर्णन करता है। सूर्यप्रज्ञप्ति सूर्यकी आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, बिम्बकी ऊँचाई आदिका वर्णन करता है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति जम्बूद्वीपस्थ भोगभूमि और कर्मभूमिमें उत्पन्न हुए नाना प्रकारके मनुष्य तथा दूसरे तिर्यंच आदिका पर्वत, द्रह, नदी आदिका वर्णन करता है। सागर प्रज्ञप्ति नामका परिकर्म द्वीप और समुद्रोंके प्रमाणका तथा द्वीपसागरके अन्तर्भूत नानाप्रकारके दूसरे पदार्थोंका वर्णन करता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल भव्यसिद्ध और अभव्यसिद्ध जीव, इन सबका वर्णन करता है। सूत्र नामका अर्थाधिकार जीव अबन्धक ही है, अवलेपक ही है, अकर्ता ही है, अभोक्ता ही है, इत्यादि रूपसे ३६३ मतोका पूर्वपक्ष रूपसे वर्णन करता है। (३६३ मतोके लिए दे० एकान्त/५/२) प्रथमानुयोग पुराणोंका वर्णन करता है। (ह. पु./१०/६३-७१), (ध. ९/४,१,४५/२०६-२०९), (गो जी./जी. प्र./३६१-३६२/७७२)।

३. दृष्टिवादके चौथे भेद पूर्वगतके १४ भेद, व लक्षण

रा. वा/१/२०/१२/—७४/११ से ७८/२ तक तत्र पूर्वगत चतुर्दशप्रकारम्। ··· ···कालपुद्गलजोवादीनां यदा यत्र यथा च पर्यायेणोत्पादो वर्ण्यते तदुत्पादपूर्वं। क्रियावादादीनां प्रक्रिया अग्रायणीव अङ्गादीनां स्वसमयविषयश्च यत्र ख्यापितस्तदग्रायणम्। छद्मस्थकेवलिनां वीर्यं सुरेन्द्रदैत्याधिपानां ऋद्धयो नरेन्द्रचक्रधरबलदेवानां च वीर्यलाभो द्रव्याणां सम्यक्त्वलक्षणं च यत्राभिहित तद्वीर्यप्रवादम्। पञ्चानामस्तिकायानामर्थो नयानां चानेकपर्यायैः···यत्रावभासित तदस्तिनास्तिप्रवादम्। पञ्चानामपि ज्ञानाना ·इन्द्रियाणां च प्राधान्येन यत्र विभागो विभावित' तज्ज्ञानप्रवादम्। वाग्गुप्तिसंस्कारकारणप्रयोगो द्वादशधा भाषावक्तारश्चानेकप्रकारमृषाभिधान·· यत्र प्ररूपित' तत् सत्यप्रवादम्।·· यत्रात्मनोऽस्तित्वनास्तित्व·· धर्मा षड्जीवनिकाय-भेदाश्च युक्तितो निर्दिष्टा. तदात्मप्रवादम्। बन्धोदयोपशमनिर्जरा-पर्याया···स्थितिश्च यत्र निर्दिश्यते तत्कर्मप्रवादम्। व्रत-नियम-प्रतिक्रमण श्रामण्यकारणं च परिमितापरिमिताद्रव्यभावप्रत्याख्यानं च यत्राख्यातं तत्प्रत्याख्याननामधेयम्। ·· अष्टौ महानिमित्तानि तद्विषयो रज्जुराशिविधि' क्षेत्र श्रेणी लोकप्रतिष्ठा सस्थानं समुद्घातश्च यत्र कथ्यते तद्विद्यानुवादम्। रविशशि-ग्रहनक्षत्रताराणा चारोपपादगतिविपर्ययफलानि शकुनव्याहृतम् अर्हद्-बलदेव-वासुदेव-चक्रधरादीना गर्भावतरणादिमहाकल्याणानि च यत्रोक्तानि तत् कल्याणनामधेयम्। कायचिकित्साद्यष्टाङ्ग-आयुर्वेद' भूतिकर्म-जाङ्गुलिकप्रक्रम प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तारेण वर्णितस्तत् प्राणावायम्। लेखादिका· कलाद्वासप्तति', गुणाश्चतुःषष्टिस्त्रैणा', शिल्पानि काव्यगुणदोषक्रियाछन्दोविचिति-क्रियाफलोपभोक्तारश्च यत्र व्याख्याताः तत्क्रियाविशालम्। यत्राष्टौ व्यवहाराश्चत्वारि बीजानि परिकर्मराशिक्रियाविभागश्च सर्वश्रुत-सम्पदुपदिष्टा तत्खलु लोकबिन्दुसारम्। =पूर्वगतके उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद है—उत्पादपूर्वमें जीव पुद्गलादिका जहाँ जब जैसा उत्पाद होता है उस सबका वर्णन है। अग्रायणी पूर्वमें क्रियावाद आदिकी प्रक्रिया और स्वसमयका विषय विवेचित है। वीर्यप्रवादमें छद्मस्थ और केवलीकी शक्ति सुरेन्द्र असुरेन्द्र आदिकी ऋद्धियाँ नरेन्द्र चक्रवर्ती बलदेव आदिकी सामर्थ्य द्रव्योके लक्षण आदिका निरूपण है। अस्तिनास्तिप्रवादमें पाँचों अस्तिकायोंका और नयोंका अस्ति-नास्ति आदि अनेक पर्यायो द्वारा विवेचन है। ज्ञानप्रवादमें पाँचों ज्ञानों और इन्द्रियोंका विभाग आदि निरूपण है। · सत्यप्रवाद पूर्वमें वाग्गुप्ति, वचन संस्कारके कारण, वचन प्रयोग बारह प्रकारकी भाषाएँ, दस प्रकारके सत्य, वक्ताके प्रकार आदि-

का विस्तारसे विवेचन है। आत्म प्रवादमें आत्म द्रव्यका और छह जीव निकायोका अस्ति नास्ति आदि विविध भगोसे निरूपण है। कर्मप्रवादमें कर्मोंकी बन्ध उदय उपशम आदि दशाओका और स्थिति आदिका वर्णन है। प्रत्याख्यान प्रवादमें व्रत-नियम, प्रतिक्रमण, तप, आराधना आदि तथा मुनित्वमें कारण द्रव्योंके त्याग आदिका विवेचन है। विद्यानुवाद पूर्वमें समस्त विद्याएँ आठ महा निमित्त, रज्जुराशिविधि, क्षेत्र, श्रेणी, लोक प्रतिष्ठा, समुद्घात आदिका विवेचन है। कल्याणवाद पूर्वमें सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारागणोके चार क्षेत्र, उपपादस्थान, गति, वक्रगति तथा उनके फलोका, पक्षीके शब्दोका और अरिहन्त अर्थात् तीर्थंकर, बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती आदिके गर्भावतार आदि महाकल्याणकोंका वर्णन है। प्राणावाय पूर्वमें शरीर चिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद, भूतिकर्म, जांगुलिक्क्रम (विषविद्या) और प्राणायामके भेद-प्रभेदोका विस्तारसे वर्णन है। क्रिया विशाल पूर्वमें लेखन कला आदि बहत्तर कलाओका, स्त्री सम्बन्धी चौसठ गुणोंका, शिल्पकलाका, काव्य सम्बन्धी गुण-दोष विधिका और छन्द निर्माण कलाका विवेचन है। लोकबिन्दुसारमें आठ व्यवहार, चार बीज, राशि परिकर्म आदि गणित तथा समस्त श्रुत-सम्पत्तिका वर्णन है। (ह. पु./१०/७५-१२२), (ध. १/१,१,२/-११४-१२२), (ध. ६/४,१,४५/२१२-२२४/१२), (गो. जी./जी. प्र./-६६५-६६६/७७८)।

४. दृष्टिवादके ५वें भेद रूप ५ चूलिकाओंके लक्षण

ध. १/१,१,२/११३/२ जलगया जलगमण-जलत्थंभण कारण मत-तंत-तवच्छरणाणि वण्णेदि। थलगया णाम भूमि-गमण कारण-मत-तंत-तवच्छरणाणि वत्थु-विज्जं भूमि-संबधमण्णं पि सुहासुह-कारणं वण्णेदि। मायागया इंदजाल वण्णेदि। रूवगया सीह-हय-हरिणादि-रूवायारेण परिणमण-हेदु-मत-तंत-तवच्छरणाणि चित्त-कट्ठ-लेप्प-लेण-कम्मादि-लक्खणं च वण्णेदि। आयासगया णाम आगास-गमण णिमित्त-मत-तंत तवच्छरणाणि वण्णेदि। =जलगता चूलिका—जलमें गमन, जलस्तम्भनके कारण भूत मन्त्र तन्त्र और तपश्चर्या रूप अतिशय आदिका वर्णन करती है। स्थलगता चूलिका—पृथिवीके भीतर गमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणरूप आश्चर्य आदिका तथा वास्तु विद्या और भूमि सम्बन्धी दूसरे शुभ-अशुभ कारणोका वर्णन करती है। मायागता चूलिका—इन्द्रजाल आदिके कारणभूत मन्त्र और तपश्चरणका वर्णन करती है। रूपगता चूलिका—सिंह, घोडा और हरिण आदिके स्वरूपके आकार रूपसे परिणमन करनेके कारणभूत मन्त्र-तन्त्र और तपश्चरण तथा चित्र-काष्ठ-लेप्य-लेन कर्म आदिके लक्षणका वर्णन करती है। आकाशगता चूलिका—आकाशमें गमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका वर्णन करती है। (ह. पु./१०/-१२४), (ध. ६/४,१,४५/२०६-२१०), (गो. जी./जी. प्र./३६१-३६२/७७३/५)।

५. अंग बाह्यके भेदोंके लक्षण

ध. १/१,१,२/९६-९८/६ ज सामाइय तं णाम ट्ठवणा-दव्वखेत्त-काल-भावेसु-समत्तविहाणं वण्णेदि। चउवीसत्थओ चउवीसण्ह तित्थयराणं वेदण-विहाण-तण्णाम सठाणुस्सेह-पच-महाकल्लाण-चोत्तीस-अइसयसरूवं तित्थयर-वंदणाए सहलत्त च वण्णेदि। वंदणा एग-जिण-जिणालय-विसय-वंदणाए णिरवज्ज-भावं वण्णेइ। पडिक्कमणं कालं पुरिम च अस्सिऊण सत्तविह-पडिक्कमणाणि वण्णेइ। वेणइयं णाण-दंसण-चरित्त-तवोवयारविणए वण्णेइ। किदियम्म अरहंत-सिद्ध-आइरिय बहुसुद-साहूणं पूजाविहाण वण्णेइ। दसवेयालिय आयार-गोयर-विहिं वण्णेइ। उत्तरज्झयणं उत्तर-पदाणि वण्णेइ। कप्पववहारो साहूणं जोग्गमाचरणं अकप्प-सेवणाए पायच्छित्तं च वण्णेइ। कप्पाकप्पियं साहूणं जं कप्पदि ज च ण कप्पदि त सव्वं वण्णेदि। महाकप्पियं कालसघडणाणि अस्सिऊण साहु-पाओग्ग-दव्व-खेत्तादीणं वण्णणं कुणइ। पुंडरीयं चउव्विह देवेसुववादकारण-अणुट्ठाणाणि वण्णेइ। महापुंडरीय सयलिंद-पडिइंदे उप्पत्तिकारणं वण्णेइ। णिसिहियं वहुविह-पायच्छित्त-विहाण-वण्णण कुणइ।—सामायिक नामका अगबाह्य समता भावके विधानका वर्णन करता है। चतुर्विशति स्तव चौबीस तीर्थंकरोंकी वन्दना करनेकी विधि, उनके नाम, संस्थान, उत्सेध, पाँच महाकल्याणक, चौतीस अतिशयोंके स्वरूप और तीर्थंकरोकी वन्दनाकी सफलताका वर्णन करता है। वन्दना एक जिनेन्द्र देव सम्बन्धी और उन एक जिनेन्द्र देवके अवलम्बनसे जिनालय सम्बन्धी वन्दनाका वर्णन करता है। सात प्रकारके प्रतिक्रमणोका प्रतिक्रमण वर्णन करता है। वैनयिक पाँच प्रकारकी विनयोका वर्णन करता है। कृतिकर्म अरहन्त, सिद्ध आचार्य और साधुकी पूजाविधिका वर्णन करता है। दश वैकालिकोका दशवैकालिक वर्णन करता है। तथा वह मुनियोकी आचार विधि और गोचरविधिका भी वर्णन करता है। जिसमें अनेक प्रकारके उत्तर पढनेको मिलते है उसे उत्तराध्ययन कहते है। इसमें चार प्रकारके उपसर्ग कैसे सहन करने चाहिए? बाईस प्रकारके परिषहोको सहन करनेकी विधि क्या है? इत्यादि प्रश्नोके उत्तरोंका वर्णन किया गया है। कल्प्य व्यवहार साधुओंके योग्य आचरणका और अयोग्य आचरणके होने पर प्रायश्चित्त विधिका वर्णन करता है। कल्प्याकल्प्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा मुनियोके लिए यह योग्य है और यह अयोग्य है' इस तरह इन सबका वर्णन करता है। महाकल्प्य काल और सहननका आश्रय कर साधुके योग्य द्रव्य और क्षेत्रादिका वर्णन करता है। पुण्डरीक भवनवासी आदि चार प्रकारके देवोंमें उत्पत्तिके कारण रूप, दान, पूजा, तपश्चरण आदि अनुष्ठानोका वर्णन करता है। महापुण्डरीक समस्त इन्द्र और प्रतीन्द्रोमें उत्पत्तिके कारण रूप तपो विशेष आदि आचरणका वर्णन करता है। निषिद्धि अर्थात् बहुत प्रकारके प्रायश्चित्तके प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको निषिद्धिका कहते है। (ह. पु/१०/१२६-१३८), (ध ६/४,१,४५/१८८ १९१), (गो. जी./जी. प्र./३६७-३६८/७८६)।

२. शब्द लिगज निर्देश

१. बारह अंगोंमें पद संख्या निर्देश

(ह. पु/१०/२७-४५), (ध. १/१,१,२/९९-१०७), (ध. ६/४,१,४५/१९७-२०३), (गो. जी/जी. प्र/३५६-३६०/७६०-७७०)।

क.	नाम	पद संख्या	क.	नाम	पद संख्या
१	आचारांग	१८०००	७	उपासकाध्ययन	११७००००
२	सूत्रकृतांग	३६०००	८	अन्तकृद्दशाग	२३२८०००
३	स्थानाग	४२०००	९	अनुत्तरोपपादिक-दशांग	९२४४०००
४	समवायांग	१६४०००	१०	प्रश्न व्याकरण	९३१६०००
५	व्याख्या प्र०	२२८०००	११	विपाक सूत्र	१८४०००००
	(श्वे. भगवतीसूत्र)	८४०००	१२	दृष्टिवाद	१०८६८५६०५
६	ज्ञातृधर्मकथा	५५६०००		कुलपद	११२८३५८०५

२. दृष्टिवाद अंगमें पद संख्या निर्देश

(ह. पु./१०/६३-७१, १२४); (ध. १/१,१,२/१०९-११३); (ध. ९/४,१,४५/२०६-२१०); (गो. जी./मू./३६३-३६४/७७५)।

क्र.	नाम	पद संख्या	क्र.	नाम	पदसंख्या
१	परिकर्म -		४	पूर्वगत	देखोअगला शीर्षक
	१ चन्द्र प्रज्ञप्ति	३६०५०००	५	चूलिका-	
	२ सूर्य प्रज्ञप्ति	३०३०००		१ जलगता	२०९८९२०५
	३ जम्बू द्वीप ,,	३२५०००		२ स्थलगता	,,
	४ द्वीप समुद्र ,,	५२३६०००		३ आकाशगता	,,
	५ व्याख्या ,,	८४३६०००		४ रूपगता	,,
२	सूत्र	८८०००००		५ मायागता	,,
३	प्रथमानुयोग	५०००	६	कुलजोड	१०४८९६०२५

३. चौदह पूर्वोंमें पदादि संख्या निर्देश

(ह. पु./१०/७५-१२०); (ध. १/१,१,२/११४-१२२); (ध ९/४,१,४५/२१२-२२४,२२९), (क पा. १/१-१/§२०/२६/१०); (गो. जी./मू /३६५-३६६/७७)।

क्र.	नाम	वस्तुगत		प्राभृत	पद संख्या
		दि०	श्वे०		
१	उत्पाद पूर्व	१०		२००	१००००००००
२	अग्रायणीयपूर्व	१४		२८०	९६०००००
३	वीर्यानुवाद पूर्व	८		१०८	७००००००
४	अस्तिनास्ति प्रवाद	१८		३८०	६००००००
५	ज्ञान प्रवाद	१२		२४०	९९९९९९९
६	सत्यप्रवाद	१२		४०	१०००००६
७	आत्म प्रवाद	१६		३२०	२६००००००
८	कर्म प्रवाद	२०		४००	१८००००००
९	प्रत्याख्यानप्रवाद	३०	२०	६००	८४०००००
१०	विद्यानुवाद	१५		३००	११००००००
११	कल्याण नामधेय	१०		२००	२६००००००
१२	प्राणावाय	१०		२००	१३००००००
१३	क्रिया विशाल	१०		२००	९०००००००
१४	लोक बिन्दुसार	१०	२०	२००	१२५००००००

४. अंग बाह्यके चौदह भेदोंमें पद संख्या निर्देश

ह. पु./१०/१२७-१२८ त्रयोदश सहस्राणि पञ्चशत्येकविंशतिः। कोटी च पदसंख्येय वर्णाः सप्तैव वर्णिता ।१२७। पञ्चविंशतिलक्षाश्च त्रयस्त्रिंशच्छतानि च। अशीतिः श्लोकसंख्येय वर्णाः पञ्चदशात्र च ।१२८। = अंगबाह्य श्रुतज्ञानके समस्त अक्षरोंका संग्रह आठ करोड एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर प्रमाण है (८०१०८१७५) ।१२७। और इसके समस्त श्लोकोंकी संख्या पच्चीस लाख तीन हजार तीन सौ अस्सी तथा शेष पन्द्रह अक्षर प्रमाण है ।१२८। (२५०३३८०+१५ अक्षर)।

५. यहाँपर मध्यम पदसे प्रयोजन है

ध. १३/५,५,४८/२६६/७ एदेसु केण पदेण पयदं। मज्झिमपदेण। वुत्त च–तिविहं पदमुद्दिट्ठं पमाणपदमत्थमज्झिमपद च। मज्झिम-पदेण वुत्ता पुव्वंगाणं पदविभागो ।१९। =प्रश्न–इन पदों (अर्थपद, प्रमाणपद, मध्यमपद) मेंसे प्रकृतमें किस पदसे प्रयोजन है। उत्तर–मध्यम पदसे प्रयोजन है, कहा भी है–पद तीन प्रकारका कहा गया है अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यमपद। इनमेंसे मध्यम पदके द्वारा पूर्व और अंगोंका पदविभाग कहा गया है ।१९।

६. इन ज्ञानोंका अनुयोग आदि ज्ञानोंमें अन्तर्भाव

ध. १३/५,५,४८/२७६/१ अंगबाहिरचोद्दसपइण्णयज्झाया आयारादिएक्कारसगाइं परियम्म-सुत्तपढमाणियोगचूलियाओ च कत्थ तब्भावं गच्छंति। ण अणियोगद्दारे तस्स समासे वा, तस्स पाहुड-पाहुडादि बद्धत्तादो। ण पाहुडपाहुडे तस्समासे वा, तस्स पुव्वगयअवयवत्तादो। ण च परियम्मसुत्त-पढमाणियोग-चूलियाओ एक्कारस अंगाइं वा पुव्वगयावयवा। तदो ण ते कत्थ वि लय गच्छंति। ण एस दोसो, अणियोगद्दार-तस्समासाणं च अंतब्भावादो। ण च अणियोगद्दार तस्समासेहि पाहुडपाहुडावयवेहि चेव होदव्वमिदि णियमो अत्थि, विप्पडिसेहाभावादो। अधवा, पडिवत्ति-समासे एदेसिमंतब्भावो वत्तव्वो। पच्छाणुपुव्वीए पुण विवक्खियाए पुव्वसमासे अंतब्भावं गच्छंति त्ति वत्तव्वं। =प्रश्न–अंगबाह्य, चौदह प्रकीर्णकाध्याय, आचार आदि ११ अग, परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग और चूलिका, इनका किस श्रुतज्ञानमें अन्तर्भाव होता है। प्रथमानुयोग या अनुयोगद्वारसमासमें तो इनका अन्तर्भाव हो नहीं सकता, क्योंकि ये दोनो प्राभृतप्राभृत श्रुतज्ञानसे प्रतिबद्ध है। प्राभृतप्राभृत या प्राभृत प्राभृतसमासमें भी इनका अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि ये पूर्वगतके अवयव है। परन्तु परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, चूलिका और ११ अग ये पूर्वगतके अवयव नहीं हैं। इसलिए इनका किसी भी श्रुतज्ञानके भेदमें अन्तर्भाव नहीं होता है। उत्तर–यह कोई दोष नहीं है, क्योकि, अनुयोगद्वार और अनुयोगद्वारसमासमें इनका अन्तर्भाव होता है। अनुयोगद्वार और अनुयोगद्वारसमास प्राभृत प्राभृतके अवयव होने चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि इसका कोई निषेध नहीं किया है। अथवा प्रतिपत्तिसमास श्रुतज्ञानमें इनका अन्तर्भाव कहना चाहिए। परन्तु पश्चादानुपूर्वीकी विवक्षा करनेपर इनका पूर्वसमास श्रुतज्ञानमें अन्तर्भाव होता है, यह कहना चाहिए।

श्रुतज्ञान व्रत—इस व्रतकी विधि दो प्रकारसे वर्णन की गयी है–लघु व बृहद्।

१. लघु विधि—१२ वर्ष व ८ माह पर्यन्त - सोलह पडिमाके, तीन तीजके, ४ चौथके, ५ पंचमीके, ६ छठके, ७ सप्तमीके, ८ अष्टमीके, ९ नवमीके, १० दशमीके, ११ एकादशीके, १२ द्वादशीके, १३ त्रयोदशीके, १४ चतुर्दशीके, पन्द्रह पूर्णिमाओंके और १५ अमावस्याओंके, इस प्रकार कुल १४८ उपवास करे। प्रत्येक उपवासके साथ १ पारणा आवश्यक है। कुल उपवास १४८ करे। तथा 'ॐ ह्रीं द्वादशांगश्रुतज्ञानाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (कि० सिंह कृत क्रियाकोष); (व्रतविधान सं./पृ. १७१)।

२. वृहद् विधि—६ वर्ष ७ माह पर्यन्त निम्न प्रकार उपवास करे मतिज्ञानके २८ पडिमाके २८ उपवास २८ पारणा; ग्यारह अंगोंके ११ एकादशियोंके ११ उपवास ११ पारणा; परिकर्मके २ दोजके २ उपवास २ पारणा; ८८ सूत्रके ८८ अष्टमियोंके ८८ उपवास ८८ पारणा; प्रथमानुपयोगका १ नवमीका १ उपवास १ पारणा; १४ पूर्वके १४ चतुर्दशियोंके १४ उपवास १४ पारणा; पाँच चूलिकाके

पंचमियोंके ५ उपवास ५ पारणा; अवधिज्ञानके ६ षष्ठियोंके ६ उपवास ६ पारणा; मन पर्यय ज्ञानके २ चौथोंके २ उपवास २ पारणा, केवलज्ञानके १ दशमीका १ उपवास १ पारणा। इस प्रकार कुल १५८ उपवास करे। तथा 'ओं ह्रीं श्रुतज्ञानाय नम' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान सं /१३२); (सुदृष्टि तरंगिनी)।

श्रुत ज्ञानावरण—दे. ज्ञानावरण।

श्रुत ज्ञानी—दे श्रुतकेवली।

श्रुत तीर्थ—दे. इतिहास/४।

श्रुत पंचमी व्रत—पाँच वर्ष तक प्रतिवर्ष ज्येष्ठ शुक्ला ५ को श्रुतावतारके उपलक्षमें उपवास करे। 'ओं ह्रीं द्वादशांगश्रुतज्ञानाय नम' इस मन्त्रको त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान सं /पृ १०)।

श्रुत भावना—दे. भावना/१।

श्रुत मूढ—दे. मूढ।

श्रुतवाद—ध. १३/५,५,५०/२८७/१२ श्रुतं द्विविध-अङ्गप्रविष्टमङ्गबाह्यमिति। तदुच्यते कथ्यते अनेन वचनकलापेनेति श्रुतवादो द्रव्यश्रुतम्। सुदवादो त्ति गदं। =श्रुत दो प्रकारका है—अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य। इसका कथन जिस वचन कलापके द्वारा किया जाता है वह द्रव्यश्रुत श्रुतवाद कहलाता है। इस प्रकार श्रुतवादका कथन किया।

श्रुतसागर—नन्दिसंघ बलात्कार गण की सूरत शाखा।में। (दे. इतिहास) आप विद्यानन्दि स. २ के शिष्य तथा श्रीचन्द्रके गुरु थे। कृति—यशस्तिलक चम्पूकी टीका यशस्तिलकचन्द्रिका, तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरी). तत्त्वत्रय प्रकाशिका (ज्ञानार्णवके गद्य भागकी टीका), प्राकृत व्याकरण, जिनसहस्रनाम टीका, विक्रमप्रबन्धकी टीका, औदार्यचिन्तामणि, तीर्थदीपक, श्रीपाल चरित, यशोधर चरित, महाभिषेक टीका (पं. आशाधरके नित्यमहोद्योतकी टीका), श्रुतस्कन्ध पूजा, सिद्धचक्राष्टकपूजा, सिद्धभक्ति, बृहत् कथाकोष, षट् प्राभृतकी टीका। व्रत कथाकोष। समय—महाभिषेक टीका वि १५८२ में लिखी गयी है। तदनुसार इनका समय वि. १५४४-१५९० (ई. १४८७-१५३३); (सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम/प्र./२ टिप्पण प्रेमीजी), (पं. वि./प्र. ३५/A.N. Up); (प.पु प्र./६३ A.N. Up) (ती /३/३९१), (जै /२/३७६) (दे इतिहास/७/४)।

श्रुतस्कंध पूजा—दे. पूजापाठ।

श्रुतस्कंध व्रत—इस व्रतकी विधि उत्तम, मध्यम व जघन्यके भेदसे तीन प्रकारकी है—उत्तमविधि—भाद्रपद कृ १ से आश्विन कृ. २ तक ३२ दिनमें एक उपवास एक पारणा क्रमसे १६ उपवास करे। मध्यमविधि—भाद्रपद कृ. ६ से शुक्ला १५ तक २० दिनमें उपरोक्त ही प्रकार १० उपवास करे। लघुविधि—भाद्रपद शुक्ला १ से आश्विन कृ १ तक १६ दिनोंमें उपरोक्त ही प्रकार ८ उपवास करे। तीनों ही विधियोंमें 'ओं ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भूतस्याद्वादनयगर्भितद्वादशांग श्रुतज्ञानाय नम' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान स./७०); (किशनसिंह कृत क्रिया कोष)।

श्रुतावतार—१. भगवान् महावीरके पश्चात् केवली व श्रुतकेवलियोंकी मूल परम्पराको ही श्रुतावतार नामसे कहा गया है।—दे. इतिहास/४/१। २ आ. इन्द्रनन्दि (ई. श. १०-११) द्वारा रचित प्राकृत गाथाबद्ध भगवान् महावीरके निर्वाणसे ६८३ वर्ष पर्यन्तकी मूलसंघकी पट्टावली। ३ आ. श्रीधर (ई. श. १४) द्वारा रचित प्राकृत छन्दबद्ध ग्रन्थ।

श्रुतिगम्य—रा. वा./४/४२/१५/२५८/२७ अनपेक्षितवृत्तिनिमित्त-श्रुति-मात्र-प्रापित' श्रुतिगम्य'। =अनपेक्षित रूपसे प्रवृत्तिमें कारण व श्रुतिमात्रसे बोधित श्रुतिगम्य है।

श्रुतिकल्याण व्रत—दे. कल्याणक व्रत।

श्रेढि—Arithmetical and Geometrical progression.

श्रेणिक—म. पु./७४/श्लोक सं. पूर्व भव सं. २ में खदीरसार नामक भील था।३८६। पूर्व भवमें सौधर्म स्वर्गमें देव था (४०६) वर्तमान भवमें राजा कुणिकका पुत्र था (४१४) मगधदेशका राजा था। उज्जैनी राजधानी थी। पहले बौद्ध था, पीछे अपनी रानी चेलनाके उपदेशसे जैन हो गया था। और भगवान् महावीरका प्रथम भक्त बन गया था। जिनधर्मपर अपनी दृढ आस्थाके कारण इसे तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध हो गया था। इसके जीवनका अन्तिम भाग बहुत दुखद बीता है, इसके पुत्रने इसे बन्दी बनाकर जेलमें डाल दिया था और उसके भयसे ही इसने आत्महत्या कर ली थी, जिसके कारण कि यह प्रथम नरकको प्राप्त हुआ। और वहाँसे आकर अगले युगमें प्रथम तीर्थंकर होगा। भगवान् वीरके अनुसार इसका समय वी. नि २० वर्ष से १० वर्ष पश्चात् तक माना जा सकता है। ई. पू. ५४६-५१६।

श्रेणी—Series (ज. प /प्र १०८)।

श्रेणी—श्रेणी नाम पंक्तिका है। इस शब्दका प्रयोग अनेक प्रकरणोंमें आता है। जैसे आकाश प्रदेशोंकी श्रेणी, राजसेनाकी १८ श्रेणियाँ, स्वर्ग व नरकके श्रेणीबद्ध विमान व बिल, शुक्लध्यान गत साधुकी उपशम व क्षपक श्रेणी, अनन्तरोपनिधा व परम्परोपनिधा श्रेणी प्ररूपणा आदि। उपशम श्रेणीसे साधु नीचे गिर जाता है, पर क्षपक श्रेणीसे नहीं। वहाँ उसे नियमसे मुक्ति होती है।

*	क्षपक श्रेणीसे तद्भव मुक्तिका नियम। —दे. अपूर्वकरण/४।
*	क्षपक श्रेणीमें आयुकर्मकी प्रदेश निर्जरा ही होती है। —दे. निर्जरा/३/२।
३	**उपशम श्रेणी निर्देश**
*	चारित्र मोहका उपशमन विधान। —दे. उपशम।
*	यदि मरण न हो तो ११वाँ गुणस्थान अवश्य प्राप्त होता है। —दे. अपूर्वकरण/४।
१	उपशम व क्षायिक दोनों सम्यक्त्वमें सम्भव है।
२	उपशम श्रेणीसे नीचे गिरनेका नियम।
३	उपशान्त कषायसे गिरनेका कारण व विधान।
*	उपशम श्रेणीमें मरण सम्भव है, मरकर देव ही होता है। —दे. मरण/३।
*	द्वितीयोपशम सम्यक्त्वसे सासादन गुणस्थानकी प्राप्ति सम्बन्धी दो मत। —दे. सासादन/२।
४	गिरकर असयत होनेवाले अल्प है।
*	अधिकसे अधिक उपशम श्रेणी माडनेकी सीमा। —दे. संयम/२।
५	पुनः उसी द्वितीयोपशमसे श्रेणी नहीं मांड सकता है।
*	गिर जानेपर भी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त द्वितीयोपशम सम्यक्त्व रहता है। —दे. मरण/३/

१. श्रेणी सामान्य निर्देश

१. श्रेणी प्ररूपणाके भेद व भेदोंके लक्षण

ष. ख./११/४,२,६/सू २५२ व टी/३५२ तेसि दुविधा सेडिपरूवणा अणंतरोवणिधा परंपरोवणिधा।२५२। जत्थ णिरंतर थोवबहुत्तपरिक्खा कीरदे सा अणंतरोवणिधा। जत्थ दुगुण-चदुगुणादि परिक्खा कीरदि सा परंपरोवणिधा। =श्रेणीप्ररूपणा दो प्रकार की है—अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा।२५२। (ध. १०/४,२,४,२८/६३/१) जहाँ पर निरन्तर अल्पबहुत्वकी परीक्षा की जाती है वह अनन्तरोपनिधा कही जाती है। जहाँपर दुगुणत्व और चतुर्गुणत्व आदिकी परीक्षा की जाती है वह परम्परोपनिधा कहलाती है।

२. राजसेनाकी १८ श्रेणियोंका निर्देश

ति. प./२/४३-४४ करितुरयरहाहिवई सेणवईपदत्तिसेट्ठिदंडवई। सुद्दक्खत्तियवइसा हवंति तह महयरा पवरा।४३। गणरायमंतितलवरपुरोहियामत्तयामहामत्ता। बहुविह पइण्णया य अट्ठारस होंति सेणीओ।४४। =हस्ती, तुरग (घोडा), और रथ, इनके अधिपति, सेनापति, पदाति (पादचारीसेना), श्रेष्ठि (सेठ), दण्डपति, शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य, महत्तर, प्रवर अर्थात् ब्राह्मण, गणराज, मन्त्री, तलवर (कोतवाल), पुरोहित, अमात्य और महामात्य, वह बहुत प्रकारके प्रकीर्णक ऐसी अठारह प्रकारकी श्रेणियाँ है।४३-४४। (ध. १/१,१,१/गा. ३६/५७)।

ध. १/१,१,१/गा ३७ ३८/५७— हय-हत्थि-रहाणहिवा सेणावइ-मंति-सेट्ठि-दंडवई। सुद्द-क्खत्तिय बम्हण-वइसा तह महयरा चेव।३७। गणरायमच्च-तलवर-पुरोहिया दप्पिया महामत्ता। अट्ठारह सेणीओ पयाइणामीलिया होंति।३८। =घोडा, हाथी, रथ, इनके अधिपति, सेनापति, मन्त्री, श्रेष्ठी, दण्डपति, शूद्र, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, महत्तर, गणराज, अमात्य, तलवर, पुरोहित, स्वाभिमानी, महामात्य और पैदल सेना, इस तरह सब मिलाकर अठारह श्रेणियाँ होती हैं। ।३७-३८।

३. आकाश प्रदेशोंका श्रेणी-निर्देश

स. सि./२/२६/१८३/७ लोकमध्यादारभ्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च आकाशप्रदेशाना क्रमसंनिविष्टाना पङ्क्ति श्रेणी इत्युच्यते। =लोकमध्यसे लेकर ऊपर नीचे और तिरछे क्रमसे स्थित आकाश प्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणी कहते है। (रा. वा./२/२६/१/१३७/१६); (ध. १/१,१,६०/३००/४)।

ध. ६/४,१,४५/२२३/३ पटसूत्रवच्चर्मवियववद्वानुपूर्व्विणोर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यवस्थिता आकाशप्रदेशपङ्क्तय श्रेणय। =वस्त्र तन्तुके समान अथवा चर्मके अवयवके समान अनुक्रमसे ऊपर नीचे और तिरछे रूपसे व्यवस्थित आकाश प्रदेशोंकी पंक्तियाँ श्रेणियाँ कहलाती हैं।

४. श्रेणिबद्ध विमान व बिल

द्र.स./टी /११६/१ . विदिक्चतुष्टये प्रतिदिशं पङ्क्तिरूपेण यानि··· बिलानि (विमानानि वा)··तेषामत्र श्रेणीबद्धसंज्ञा। =चारों विदिशाओंमें-से प्रत्येक विदिशामें पंक्ति रूप जो···बिल (अथवा विमान) है··उनकी श्रेणीबद्ध सज्ञा है।

त्रि. सा./पं. टोडरमल/४७६ पटल-पटल प्रति तिस इन्द्रक विमानकी पूर्वादिक च्यारि दिशानिविषै जे पंक्तिबंध बिमान (अथवा बिल) पाईए तिनका नाम श्रेणीबद्ध विमान है।

विशेष दे० नरक/५/३; स्वर्ग/५/३,५।

५. उपशम व क्षपक श्रेणीका लक्षण

रा. वा /९/१/१८/५९०/१ यत्र मोहनीयं कर्मोपशमयन्नात्मा आरोहति सोपशमकश्रेणी। यत्र तत्क्षयमुपगमयन्नुद्गच्छति सा क्षपकश्रेणी। =जहाँ मोहनीयकर्मका उपशम करता हुआ आत्मा आगे बढता है वह उपशम श्रेणी है, और जहाँ क्षय करता हुआ आगे जाता है वह क्षपक श्रेणी है।

६. उपशम व क्षपक श्रेणीमें गुणस्थान निर्देश

रा वा./९/१/१८/५९०/७ इत ऊर्ध्वं गुणस्थानानां चतुर्णां द्वे श्रेण्यौ भवत —उपशमकश्रेणी क्षपकश्रेणी चेति। =इसके (अप्रमत्त संयतसे) आगेके चार गुणस्थानोंकी दो श्रेणियाँ हो जाती हैं—उपशमश्रेणी, और क्षपकश्रेणी। (गो. क /जी. प्र./३३६/४८७/८)।

२. क्षपक श्रेणी निर्देश

१. अबद्धायुष्कको ही क्षपक श्रेणीकी सम्भावना

ध. १२/४,२ १३,६२/४१२/८ बद्धाउआण खवगसेडिमारुहणाभावादो। =बद्धायुष्क जीवोंके क्षपक श्रेणिपर आरोहण सम्भव नहीं है।

गो. क /जी प्र./३३६/४८७/८ चतुर्गुणस्थानेष्वेकत्र क्षपितसप्तकस्य नरकतिर्यग्देवायुषा चाबद्धायुष्कत्वेनासत्त्वात्। =जिसने असंयतादिक गुणस्थानमेंसे किसी एकमें (प्रकृतियोंका) क्षय किया है, और देव, तिर्यंच और नरकायुका जिसके सत्त्व न हो, और जिसके आयुबन्ध नहीं हुआ हो वही क्षपक श्रेणिको माँडता है।

२ क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही माँड सकता है

ध १/१,१ १६/१८२/६ सम्यक्त्वापेक्षया तु क्षपकस्य क्षायिको वा भावः दर्शनमोहनीयक्षयमविधाय क्षपकश्रेण्यारोहणानुपपत्तेः। =सम्यक्-

दर्शनकी अपेक्षा तो क्षपकके क्षायिकभाव होता है, क्योंकि, जिसने दर्शनमोहनीयका क्षय नहीं किया है वह क्षपक श्रेणीपर नहीं चढ सकता है। (ध. १/१,१,१८/१८८/२)।

३. क्षपकोंकी संख्या उपशमकोंसे दुगुनी है

ध. ५/१,८,२४६/३२३/१ णाणवेदादिसव्ववियप्पेसु उवसमसेडि चडंतजीवेहिंतो खवगसेडि चढतजीवा दुगुणा त्ति आइरिओवदेसादो। —ज्ञानवेदादि सर्व विकल्पोंमें उपशम श्रेणीपर चढने वाले जीवोंसे क्षपक श्रेणीपर चढनेवाले जीव दुगुने होते है, इस प्रकार आचार्योंका उपदेश पाया जाता है।

३. उपशम श्रेणी निर्देश

१. उपशम व क्षायिक दोनों सम्यक्त्वमें सम्भव है

ध. १/१,१,१६/१८२/७ उपशमकस्यौपशमिक. क्षायिको वा भाव', दर्शनमोहोपशमक्षयाभ्यां विनोपशमश्रेण्यारोहणानुपलम्भात्। —उपशमकके औपशमिक या क्षायिक भाव हाता है, क्योंकि जिसने दर्शनमोहनीयका उपशम अथवा क्षय नहीं किया है, वह उपशम श्रेणीपर नहीं चढ सकता।

ध. १/१,१,१८/१८८/३ उपशमक' औपशमिकगुणः क्षायिकगुणो वा द्वाभ्यामपि सम्यक्त्वाभ्यामुपशमश्रेण्यारोहणसंभवात्। —उपशम श्रेणी वाला औपशमिक तथा क्षायिक इन दोनों भावोंसे युक्त है, क्योंकि दोनों ही सम्यक्त्वोसे उपशम श्रेणीका चढना सम्भव है।

२. उपशम श्रेणीसे नीचे गिरनेका नियम

रा. वा /१०/१/३/६४०/८ उपशान्तकषाय ·आयुषः क्षयात म्रियते। अथवा पुनरपि कषायानुदीरयन् प्रतिनिवर्त्तते। —उपशान्त कषायका आयुके क्षयसे मरण हो सकता है। अथवा फिर कषायोंकी उदीरणा होनेसे नीचे गिर जाता है।

ध. ६/१,९-८,१४/३१७/६ ओवसमियं चारित्त ण मोक्खकारणं, अतोमुहुत्तकालादो उवरि णिच्छएण मोहोदयणिबंधणत्तादो। —औपशमिक चारित्र मोक्षका कारण नहीं है, क्योंकि, अन्तर्मुहूर्त कालसे ऊपर निश्चयत मोहके उदयका कारण होता है।

ल. सा./मू. व जी. प्र./३०४/३८४ अंतोमुहुत्तमेत्तं उवसतकसायवीयरायद्धा।· ।३०४।· 'तत' परं कषायाणा नियमेनोदयासंभवात्। द्रव्यकर्मोदये सति संक्लेशपरिणामलक्षणभावकर्मण. तयो कार्यकारणभावप्रसिद्ध'। —उपशान्त कषाय वीतराग ग्यारहाँ गुणस्थानका काल अन्तर्मुहूर्त है, इसलिए तत्पश्चात द्रव्यकर्मके उदयके निमित्तसे संक्लेश रूप भाव प्रगट होते है।

३. उपशान्त कषायसे गिरनेका कारण व मार्ग

ध. ६/१,९-८,१४/३१७/८ उवसतकसायस्स पडिवादो दुविहो, भवक्खयणिबंधणो उवसामणद्धाखयणिबंधणो चेदि। तत्थ भवक्खएण पडिवदिदस्स सव्वाणि करणाणि देवेसुप्पण्णपढमसमए चेव उग्घाडिदाणि। ·उवसतो अद्धाखएण पदतो लोभे चेव पडिवददि, सुहुमसापराइयगुणमगंतूण गुणतरगमणाभावा। —उपशान्त कषायका वह प्रतिपात दो प्रकार है—भवक्षयनिबन्धन और उपशमनकालक्षयनिबन्धन। इनमें भवक्षयसे प्रतिपातको प्राप्त हुए जीवके देवोंमें उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें ही बन्ध, । (गिरकर असंयत गुणस्थानको प्राप्त होता है। —दे० मरण/३) उपशान्त कषाय कालके क्षयसे प्रतिपातको प्राप्त होने वाला उपशान्त कषाय जीव लोभमें अर्थात् सूक्ष्म साम्परायिक गुणस्थानमें गिरता है, क्योंकि सूक्ष्म साम्परायिक गुणस्थानको छोडकर अन्य गुणस्थानोंमें जानेका अभाव है।

गो क./जी प्र /५५०/७४३/६ उपशान्तकषाये आ तच्चरमसमयं· क्रमेणावतरन् अप्रमत्तगुणस्थानं गत.। प्रमत्ताप्रमत्तपरावृत्तिसहस्राणि कुर्वन् संक्लेशवशेन प्रत्याख्यानावरणोदयाद्देशसंयतो भूत्वा पुन' अप्रत्याख्यानावरणोदयादसंयतो भूत्वा च। —उपशान्त कषायके अन्तसमय पर्यन्त अनुक्रमसे उत्तर अप्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त हुआ। तहाँ अप्रमत्तसे प्रमत्तमें हजारों बार गमनागमन कर, पीछे संक्लेश वश प्रत्याख्यानावरण कर्मके उदयसे देशसंयत होकर अथवा अप्रत्याख्यानके उदयसे असंयत होकर ·।

ल. सा./जी. प्र./३०८,३१०/३६० उपशान्तकषायपरिणामस्य द्विविध' प्रतिपात' भवक्षयहेतु. उपशमनकालक्षयनिमित्तकश्चेति। आयु-क्षये सति उपशान्तकषायकाले मृत्वा देवासयतगुणस्थाने प्रतिपतति। एवं प्रतिपतिते तस्मिन्नेवासयतप्रथमसमये सर्वाण्यपि बन्धनोदीरणासंक्रमणादीनि कारणानि नियमेनोद्घाटितानि स्वस्वरूपेण प्रवृत्तानि भवन्ति। यथाख्यातचारित्रविशुद्धिबलेनोपशान्तकषाय उपशमितानां तेषा पुनर्देवासयते संक्लेशवशेनानुपशमनरूपोद्घाटनसंभवात ।३०८। आयुषि सत्यद्धा क्षयेऽन्तर्मुहूर्तमात्रोपशान्तकषायगुणस्थानकालावसाने सति प्रतिपतन् स उपशान्तकषाय. प्रथम नियमेन सूक्ष्मसांपरायगुणस्थाने प्रतिपतति। ततोऽनन्तरमनिवृत्तिकरणगुणस्थाने प्रतिपतति। तदन्वपूर्वकरणगुणस्थाने प्रतिपतति। तत पश्चादप्रमत्तगुणस्थाने अध.प्रमत्तकरणपरिणामे प्रतिपतति। एवमध प्रवृत्तकरणपर्यन्तमनेनैव क्रमेण नान्यथेति निश्चेतव्यम्। —उपशान्त कषायसे प्रतिपात दो प्रकार है—एक आयु क्षयसे, दूसरा कालक्षयसे। १ उपशान्त कषायके कालमें प्रथमादि अन्त पर्यन्त समयोमें जहाँ-तहाँ आयुके विनाशसे मरकर देव पर्याय सम्बन्धी असंयत गुणस्थानमें गिरता है। तहाँ असंयतका प्रथम समयमें नियमसे बन्ध, उदीरणा, संक्रमण आदि समस्त करण उघाडता है। अपने-अपने स्वरूपसे प्रगट वर्ते है। यथाख्यात विशुद्धिके बलसे उपशान्त कषाय गुणस्थानमें जो उपशम किये थे, उनका असंयत गुणस्थानमें संक्लेशके बलसे अनुपशमन रूप उघाडना सम्भव है ।३०८। २ और आयुके शेष रहनेपर कालक्षयसे अन्तर्मुहूर्त मात्र उपशान्त कषायका काल समाप्त होनेपर वह उपशामक गिरकर नियमसे सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानको प्राप्त होता है। फिर पीछे अनिवृत्तिकरणको प्राप्त होता है। और इसके पश्चात् क्रमसे अपूर्वकरण, अध'प्रवृत्तकरण रूप अप्रमत्तको प्राप्त होता है। अध प्रवृत्तकरण तक गिरनेका यही निश्चित क्रम है। [आगे यदि विशुद्धि हो तो ऊपरके गुणस्थानमें चढता है, यदि संक्लेशतायुक्त हो तो नीचेके गुणस्थानको प्राप्त होता है। कोई नियम नहीं है। (दे० सम्यग्दर्शन/IV/२/३)]।

क्रमश —

ल. सा /जी प्र /३१०-३४४ का भावार्थ—संक्लेश व विशुद्धि उपशान्त कषायसे गिरनेमें कारण नहीं है क्योंकि वहाँ परिणाम अवस्थित विशुद्धता लिये है। वहाँसे गिरनेमें कारण तो आयु व कालक्षय ही है ।३१०। इन १०,९,८ व ७ गुणस्थानोंमें पृथक्-पृथक् क्रियाविधान उतरते समय प्रतिस्थान आरोहककी अपेक्षा दूनी अवस्थिति वा दूना अनुभाग हो है। स्थिति बन्धापसरणकी बजाय स्थितिबन्धोत्सरण हो है। अर्थात् आरोहकके आठ अधिकारोंसे उलटा क्रम है।

क्रमशः—

ल सा /जी प्र./३४५/४३६/१ विरताविरतगुणस्थानाभिमुख सन् संक्लेशवशेन प्राक्तनगुणश्रेण्यायामात् संख्यातगुणं गुणश्रेण्यायामं करोति पुन' स एव यदि परावृत्योपशमकक्षपकश्रेण्यारोहणाभिमुखो भवति तदा विशुद्धिवशेन प्राक्तनगुणश्रेण्यायामात संख्यातगुणहान गुणश्रेण्यायाम करोति। —उपशामक जीव गिरकर यदि विरताविरत

गुणस्थानको सन्मुख होय तो संक्लेशताके कारण पूर्व गुणश्रेणि आयामसे सख्यात गुण बंधता गुणश्रेणि आयाम करता है। और यदि पलट कर उपशम व क्षपक श्रेणी चढनेको सन्मुख होय तो विशुद्धिके कारण सख्यात गुणा घटता गुणश्रेणि आयाम करता है।

४. गिर कर असंयत होनेवाले अल्प हैं

ध ४/१,३,८२/१३५/४ उवसमसेढोदो ओदरीय उवसमसम्मत्तेण सह असंजम पडिवण्णजीवाणं सखेज्जत्तुवलंभादो। =उपशम श्रेणिसे उतरकर उपशम सम्यक्त्वके साथ असयम भावको प्राप्त होनेवाले जीवोकी संख्या सख्यात ही पायी जाती है।

५. पुनः उसी द्वितीयोपशमसे श्रेणी नहीं मांड सकता

ध ५/१,६,३७४/१७०/२ हेट्ठा ओइण्णस्स वेदगसम्मत्तमपडिवज्जिय पुव्वुवसमसम्मत्तेणुवसमसेढोसमारुहणे सभवाभावादो। त पि कुदो उवसमसेडी समारुहणपाओग्गकालादो सेसुवसमसम्मत्तद्धाए त्थोवत्तुवलंभादो। =उपशम श्रेणीसे नीचे उतरे हुए जावके वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त हुए विना पहलेवाले उपशम सम्यक्त्वके द्वारा पुन उपशम श्रेणीपर समारोहणकी सम्भावनाका अभाव है। प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है। उत्तर—क्योकि, उपशम श्रेणीके समारोहण योग्य कालसे शेप सम्यक्त्वका काल अल्प है।

श्रेणीचारण ऋद्धि—दे ऋद्धि।

श्रेणीबद्ध—बिल दे० नरक/५/३, स्वर्ग विमान—दे. स्वर्ग/५/२।

श्रेणीबद्ध कल्पना—classify (ध, ५/प्र, २८)।

श्रेयस्कर—लौकान्तिक देवोका एक भेद—दे लौकांतिक।

श्रेयांस—म पु /सर्ग/श्लोक—पूर्वके दसवें भवमे धातकोखण्डमें एक गृहस्थकी पुत्री थी। पुण्यके प्रभावसे नवमें भवमें वणिक् सुता निर्नामिका हुई। वहाँसे व्रतोके प्रभावसे आठवे भवमें श्रीप्रभ विमानमें देवी हुई (८/१८५-१८८); (अर्थात् ऋषभदेवके पूर्वके आठवे भवमें ललितांगदेवकी स्त्री) सातवें भवमें श्रीमती (६/६०) छठेमें भोगभूमि में (८/३३) पाँचवेंमें स्वयप्रभदेव (६/१८६) चौथेमें केशव नामक राजकुमार (१०/१८६) तीसरेमें अच्युत स्वर्गमें प्रतीन्द्र (१०/१७१) दूसरेमें धनदेव (११/१४) पूर्व भवमें अच्युत स्वर्गमें अहमिन्द्र हुआ (१०/१७२)। (इनके सर्वभव ऋषभदेवसे सम्बन्धित है। सर्व भवोके लिए दे. ४७/३६०-३६२)। वर्तमान भवमे राजकुमार थे। भगवान् ऋषभदेवको आहार देकर दानप्रवृत्तिके कर्ता हुए (२०/८८,१२८) अन्तमें भगवान्के समवशरणमें दीक्षा ग्रहण कर गणधर पद प्राप्त किया (२४/१७४) तथा मोक्ष प्राप्त किया (४७/९९)।

श्रेयांस नाथ—म पु./५७/श्लोक—पूर्वके दूसरे भवमें नलिनप्रभ राजा थे (२-३)। दीक्षा लेकर सोलह कारण भावनाओका चिन्तवन कर तीर्थंकर प्रकृतिका वन्ध किया। अन्तमें समाधि मरणकर पूर्व भवमें अच्युतेन्द्र हुए (१२-१४)। वर्तमान भवमे ११वे तीर्थंकर हुए। विशेष—दे तीर्थंकर/५।

श्रोता—वीतराग वाणीको सुननेकी योग्यता आत्मकल्याणकी जिज्ञासाके बिना नही होती। अत वे ही शास्त्रके वास्तविक श्रोता है तथा उपदेशके पात्र है अन्य लौकिक व्यक्ति उपदेशके अयोग्य हैं।

१ अव्युत्पन्न आदिकी अपेक्षा श्रोताओके भेद व लक्षण

ध. १/१,१,१/३०/७ त्रिविधा. श्रोतार, अव्युत्पन्न अवगतावशेषविवक्षितपदार्थ एकदेशतोऽवगतविवक्षितपदार्थ इति। तत्र प्रथमोऽव्युत्पन्नत्वान्नाध्यवस्यतीति। विवक्षितपदस्यार्थ द्वितीय' सशेते कोऽर्थोऽस्य पदस्याधिकृत इति, प्रकृतार्थादन्यमर्थमादाय विपर्यस्यति वा। द्वितीयवत्तृतीयोऽपि सशेते विपर्यस्यति वा। =श्रोता तीन प्रकारके होते हैं—पहला अव्युत्पन्न अर्थात वस्तु स्वरूपसे अनभिज्ञ, दूसरा सम्पूर्ण विवक्षित पदार्थको जाननेवाला और तीसरा एकदेश विवक्षित पदार्थको जाननेवाला। इनमेंसे पहला श्रोता अव्युत्पन्न होनेके कारण विवक्षित पदार्थके अर्थको कुछ भी नहीं समझता है। दूसरा 'यहाँपर इस पदका कौनसा अर्थ अधिकृत है' इस प्रकार विवक्षित पदार्थके अर्थमें सन्देह करता है, अथवा प्रकरण प्राप्त अर्थको छोडकर दूसरे अर्थको ग्रहण करके विपरीत समझता है। दूसरी जातिके समान तीसरी जातिके श्रोता भी प्रकृत पदके अर्थमें या तो सन्देह करता है अथवा विपरीत निश्चय कर लेता है (गो, क /जी. प्र /५०/५१/३)।

२. मिट्टी आदि श्रोताके भेद व लक्षण

म. पु /१/१३९ मृच्चालिन्यजमार्जारशुककङ्कशिलाहिभि.। गोहंसमहिषच्छिद्रघटदशजलौकके' ।१३९।=मिट्टी, चलना, बकरा, बिलाव, तोता, बगुला, पाषाण, सर्प, गाय, हस, भैंसा, फूटा घडा, डांस और जोक इस तरह चौदह प्रकारके श्रोताओंके दृष्टान्त समझने चाहिए। भावार्थ—१. जैसे मिट्टी पानीका संसर्ग रहते हुए कोमल रहती है बादमें कठोर हो जाती है, उसी प्रकार जो श्रोता शास्त्र सुनते समय कोमल परिणामी रहते हैं बादमें कठोर परिणामी हो जावें वे श्रोता मिट्टीके समान है। २. जिस प्रकार चलनी सारभूत आटेको नीचे गिरा देती है और छोकको बचा लेती है, उसी प्रकार जो श्रोता वक्ताके उपदेशमेंसे सारभूत तत्त्वको छोडकर निस्सार तत्त्वको ग्रहण करते है वे चलनीके समान श्रोता है। ३. जो अत्यन्त कामी है अर्थात् शास्त्रके उपदेशमें शृंगारका वर्णन सुनकर जिनके परिणाम शृंगार रूप हो जावें वे अजके समान श्रोता है। ४. जैसे अनेक उपदेश मिलनेपर भी बिलाव अपनी हिंसक प्रवृत्ति नहीं छोडता, सामने आते ही चूहेपर आक्रमण कर देता है उसी प्रकार जो श्रोता बहुत प्रकारसे समझानेपर भी क्रूरताको नही छोडें, अवसर आनेपर क्रूर प्रवृत्ति करने लगें, वे मार्जारके समान है। ५. जैसे तोता स्वय ज्ञानसे रहित है, दूसरोके समझानेपर कुछ शब्द मात्र ग्रहण कर पाते है वे शुकके समान श्रोता है। ६. जो बगुलेके समान बाहरसे भद्र परिणामी मालूम होते है, परन्तु जिनका अन्तरंग दुष्ट हो वे बगुलाके समान श्रोता है। ७ जिनके परिणाम हमेशा कठोर रहते है, तथा जिनके हृदयमें समझाये जानेपर भी जिनवाणी रूप जलका प्रवेश नहीं हो पाता वे पाषाणके समान श्रोता है। ८ जैसे साँपको पिलाया हुआ दूध भी विष रूप हो जाता है, वैसे ही जिनके सामने उत्तमसे उत्तम उपदेश भी खराब असर करता है वे सर्पके समान श्रोता है। ९ जैसे गाय तृण खाकर दूध देती है, वैसे ही जो थोडा सा उपदेश सुनकर बहुत लाभ लिया करते है वे गायके समान श्रोता है। १०. जो केवल सार वस्तुको ग्रहण करते है वे हसके समान श्रोता है। ११. जैसे भैंसा पानी तो थोडा पीता है पर समस्त पानीको गंदला कर देता है इसी प्रकार जो श्रोता उपदेश तो अल्प ग्रहण करते है, परन्तु अपने कुतर्कोंसे समस्त सभामें क्षोभ पैदा कर देते है वे भैंसाके समान श्रोता है। १२ जिनके हृदयमें कुछ भी उपदेश नहीं ठहरे वे सछिद्रघटके समान है। १३ जो उपदेश तो बिलकुल ही ग्रहण न करे परन्तु सारी सभा को बिलकुल व्याकुल कर दे वे डाँसके समान श्रोता है। १४. जो गुण छोडकर सिर्फ अवगुणोको ही ग्रहण करें वे जोकके समान श्रोता है।१३९।

३. मिट्टी आदि उत्तम, मध्यम, जघन्य विभाग

म पु /१/१४०-१४१ श्रोतार. समभावा' स्युरुत्तमाधममध्यमा'। अन्यादृशोऽपि सन्त्येव तत्कि तेषामियत्तया।१४०। गोहससदृशान्प्राहुरुत्तमान्मृच्छुकोपमान्। माध्यमान्विदुरन्यैश्च समकक्ष्योऽधमो मत।।१४१।=ऊपर कहे हुए श्रोताओके उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन-तीन भेद होते है। इनके अतिरिक्त अन्य भी भेद है, उनकी

गणना करनेसे क्या लाभ ।१४०। इनमें जो श्रोता गाय और हंसके समान हैं, वे उत्तम कहलाते हैं, जो मिट्टी और तोताके समान हैं वे मध्यम कहलाते है। बाकीके सब श्रोता अधम माने गये है ।१४१।

४. सच्चे श्रोताका स्वरूप

क. पा १/१/७/४ ण च मिस्सेसु सम्मत्तत्थित्तमसिद्धं, अहेदुदिट्ठिवाद-सुणणण्णहाणुववत्तीदो तेसिं तदत्थित्तसिद्धीदो। =शिष्योंमें सम्यक् श्रद्धाका अस्तित्व असिद्ध है सो बात नहीं है, क्योंकि अहेतुवाद ऐसे दृष्टिवाद अंगका सुनना सम्यक्त्वके बिना बन नहीं सकता है। इसलिए उनमें सम्यक्त्वका अस्तित्व सिद्ध है।

ध. १२/४,२,१३ ६६/४१४/१० धारणगहणसमत्थाणं चेव सजदाणं विणयालंकाराणं वक्खाणं कादव्वमिदि भणिदं होदि। =धारण व अर्थग्रहणमें समर्थ तथा विनयसे अलंकृत ही संयमीजनोंके लिए व्याख्यान करना चाहिए, यह अभिप्राय है।

म. पु /१/१४५ १४६ श्रोता शुश्रूषताद्यैः स्वैर्गुणैर्युक्तः प्रशस्यते। ।१४५। शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा। स्मृत्यूहापोहनिर्णीती श्रोतुरष्टौ गुणान् विदुः ।१४६। =जो श्रोता शुश्रूषा आदि गुणोंसे युक्त होता है वही प्रशंसनीय माना जाता है।१४५। शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, स्मृति, ऊह, अपोह और निर्णीत (तत्त्वाभिनिवेश सा ध.) ये श्रोताओंके आठ गुण जानने चाहिए।१४६। (सा. ध./१/७)।

पु सि उ./७४ अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य। जिनधर्मदेशनाया भवन्ति शुद्धा धियः ।७४। =दुःखदायक, दुस्तर और पापोंके स्थान इन आठ पदार्थोंको परित्याग करके निर्मल बुद्धिवाले पुरुष जिनधर्मके उपदेशके पात्र होते हैं।

आ. अनु /७ भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन् दुःखाद्भृशं भीतिवान्, सौख्यैषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्। धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितं गृह्णन् धर्मकथाश्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः ।७। =जो भव्य है, मेरे लिए हितकारक मार्ग कौन सा है इसका विचार करनेवाला है, दुःखसे अत्यन्त डरा हुआ है, यथार्थ सुखका अभिलाषी है, श्रवण आदि रूप बुद्धिसे सम्पन्न है, तथा उपदेशको सुनकर और उसके विषयमें स्पष्टतासे विचार करके जो युक्ति व आगमसे सिद्ध ऐसे सुखकारक दयामय धर्मको ग्रहण करनेवाला है, ऐसे दुराग्रहसे रहित शिष्य धर्मकथाके सुननेका अधिकारी माना गया है।७।

सा. ध./२/१६ यावज्जीवमिति त्यक्त्वा, महापापानि शुद्धधीः। जिनधर्मश्रुतेर्योग्यः स्यात्कृतोपनयो द्विजः ।१६। =अनन्त संसारके कारणभूत मद्यपानादिक पापोंको जीवनपर्यन्तके लिए छोड़कर, सम्यक्त्वके द्वारा विशुद्ध बुद्धिवाला और किया गया है यज्ञोपवीत संस्कार जिसका ऐसा ब्राह्मण, वैश्य व क्षत्रिय जैनधर्मको सुननेका अधिकारी होता है।१६।

न्या. दी./३,§ ८०/१२४/४ सदुपदेशात्प्रागतनमज्ञानस्वभावं हन्तुमुपरितननयमर्थज्ञानस्वभावं स्वीकर्तुं च यः समर्थः आत्मा स एव शास्त्राधिकारीति। =समीचीन उपदेशसे पहलेके अज्ञान स्वभावको नाश करने और आगेके तत्त्वज्ञान स्वभावको प्राप्त करनेमें जो समर्थ आत्मा है वही शास्त्रका अधिकारी है।

५. उपदेशके अयोग्य पात्र

ध. १२/४,२,१३,६६/गा. ४/४१४ बुद्धिविहीने श्रोतरि वक्तृत्वमनर्थकं भवति पुंसाम्। नेत्रविहीने भर्तरि विलासलावण्यवत्स्त्रीणाम् ।४। =जिस प्रकार पतिके अन्धा होनेपर स्त्रियोंका विलास व सुन्दरता व्यर्थ है, इसी प्रकार श्रोताके मूर्ख होनेपर पुरुषोंका वक्तापना व्यर्थ है।

सा. ध /१/६ कुधर्मस्थोऽपि सद्धर्मं लघुकर्मतया द्विषन्। भद्रः स देश्यो द्रव्यत्वान्नाभद्रस्तद्विपर्ययात् ।६। =मिथ्यामतमें स्थित जीव मिथ्यात्वकी मन्दतामें जैनधर्मसे द्वेष न करनेवाला व्यक्ति भद्र है वह उपदेशका पात्र है, उससे विपरीत अभद्र है तथा उपदेश पानेका अधिकारी नहीं है।६।

६. अनिष्णातको सिद्धान्त शास्त्र सुनना योग्य नहीं

भ. आ /वि /४६१/६७५ पर उद्धृत—सव्वेण वि जिणवयणं सोदव्वं सड्ढिदेण पुरिसेण। छेदसुदस्स हु अत्थो ण होदि सव्वेण णादव्वो ।४६१। =श्रद्धावान् सर्व पुरुष जिनवचन सुन सकते हैं, परन्तु प्रायश्चित्त शास्त्रका अर्थ सर्व लोगोंको जाननेका अधिकार नहीं है।

दे. श्रावक/४/६ गणधर प्रत्येक बुद्ध आदि द्वारा रचित प्रायश्चित्त शास्त्रका देशव्रतीको पढ़नेका अधिकार नहीं है।

ध. १/१,१,२/१०६/३ विक्खेवणी णाम कहा जिणवयणमयाणंतस्स ण कहेयव्वा। =जिसका जिन वचनमें प्रवेश नहीं है, ऐसे पुरुषको विक्षेपणी कथाका उपदेश नहीं करना चाहिए।

सा ध./७/५० स्यान्नाधिकारी सिद्धान्त-रहस्याध्ययनेऽपि च ।५०। =सिद्धान्त शास्त्र और प्रायश्चित्त शास्त्रोंके अध्ययन करनेके विषयमें श्रावकको अधिकार नहीं है।

७. निष्णातको सर्वशास्त्र पढ़ने योग्य है

ध. १/१ १,२/१०६/५ गहिद-समयस्स तव सील-णियम-जुत्तस्स पच्छा विक्खेवणी कहा कहेयव्वा। =जिसने स्व समयको जान लिया है, जो तप, शील और नियमसे युक्त है, ऐसे पुरुषको ही पश्चात् विक्षेपणी कथाका (भी) उपदेश देना चाहिए।

सा. ध./२/२१ तत्त्वार्थं प्रतिपद्य तीर्थकथनादादाय देशव्रतं, तद्दीक्षाग्रधृतापराजितमहामन्त्रोऽस्तदुर्दैवतः। आङ्गं पौर्वमथार्थसंग्रहमधीत्याधीतशास्त्रान्तरं, पर्वान्ते प्रतिमासमाधिमुपयन्, धन्यो निहन्त्यंहसी ।२१। =धर्माचार्य या गृहस्थाचार्यके उपदेशसे सातों तत्त्वोंको ग्रहणकर, एकदेशव्रतकी दीक्षाके पहले धारण किया है महामन्त्र जिसने ऐसा छोड़ दिया है मिथ्यादेवोंका आराधन जिसने, ऐसा द्वादशांग सम्बन्धी और चतुर्दशपूर्व सम्बन्धी शास्त्रोंको पढ़कर, पढ़े हैं न्याय आदिक शास्त्र जिसने ऐसा पर्वके दिन प्रतिमायोगको धारण करनेवाला पुण्यात्मा द्रव्य व भाव पापोंको नष्ट करता है।२१।

८ शास्त्र श्रवणमें फलेच्छाका निषेध

म पु./१/१४३ श्रोता न चैहिकं किंचित्फलं वाञ्छेत्कथाश्रुतौ। नेच्छेद्वक्ता च सत्कारधनभेषजसंश्रयान् ।१४३। =श्रोताओंको शास्त्र सुननेके बदले किसी सांसारिक फलकी चाह नहीं करनी चाहिए, इसी प्रकार वक्ताको भी श्रोताओंसे सत्कार, धन, औषधि और आश्रय (घर) आदि की इच्छा नहीं करनी चाहिए।

श्रोत्र इन्द्रिय—दे. इन्द्रिय/१।

श्लक्ष्णकूला—शिखरी पर्वतस्थ एक कूट व तन्निवासी एक देव। —दे. लोक/७।

श्लेष—औदारिक शरीरमें श्लेष (कफ) का निर्देश। —दे. औदारिक/१।

श्लेष संबन्ध—प ख /१२/५,६/सू. ४३/४१—जो सो संसिलेसबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—जहा कट्ठ-जदूणं अण्णोण्णसंसिलेसिदाणं बंधो संभवदि सो सव्वो संसिलेसबंधो णाम ।४३। =जो संश्लेष बन्ध है उसका यह निर्देश है—जैसे परस्पर सश्लेषको प्राप्त हुए काष्ठ और लाखका बन्ध होता है वह सब सश्लेषबन्ध है।४३।

रा. वा./५/२४/१/४८८/३ जतुकाष्ठादिसंश्लेषणात्संश्लेषबन्धः। =लाख काठ आदिका संश्लेष बन्ध है।

ध १२/५,६,३१/३७/६ रज्जु-वरत्त-कट्ठादीहि विणा अल्लीवणविसेसेहि विणा जो चिक्कण-अचिक्कणदव्वाणं चिक्कणदव्वाण वा परोप्परेण बंधो

सो ससिलेसबधो णाम । =रस्सी, वस्त्र और काष्ठ आदिकके बिना तथा अल्लीवणविशेषके बिना जो चिक्कण और अचिक्कण द्रव्योका अथवा चिक्कण द्रव्योका परस्पर बध होता है वह संश्लेषबंध कहलाता है।

स. सा./ता. वृ./५७/९६/१५ क्षीरनीरसश्लेषस्तथा। =दूध और जलका परस्पर सम्बन्ध संश्लेष है।

श्लोक वार्तिक—आ. उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्रकी आ. विद्यानन्द (ई. ७७५-८४०) कृत विस्तृत टीका है। (ती./२/३६१)।

श्लोहित—एक ग्रह—दे. ग्रह।

श्वसना—भरत क्षेत्रस्थ आर्य खण्डकी एक नदी—दे. मनुष्य/४।

श्वसा धारणा—दे. वायु।

श्वासोच्छ्वास—१.—दे. उच्छ्वास, २. कालका एक प्रमाण विशेष। अपरनाम उच्छ्वास. वा नि:श्वास। —दे. गणित/I/१।

श्वेतकुमार—वैराट राजाका पुत्र था। भीष्म द्वारा युद्धमे मारा गया था। (पा पु/१९/१६१-१६५)।

श्वेतकेतु—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

श्वेतपंचमीव्रत—आषाढ, कार्तिक व फाल्गुन, तीनोमें-से किसी भी मासमें प्रारम्भ करके ६५ महीनो तक बराबर प्रत्येक मास शु. ५ को उपवास करे। तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (वसुनन्दि श्रावकाचार/३५३-३६२), (धर्मपरीक्षा/२०/१४), (व्रत-विधान संग्रह/पृ. ८८)।

श्वेतवाहन—चम्पा नगरीका राजा था। दीक्षा धारण कर एक मासका उपवास किया। चर्यामें 'मेरे पुत्रने गृहस्थोको मेरे लिए आहारदान करनेको मना किया है' ऐसा सुनकर वापस लौट आये। श्रेणिक महाराज द्वारा शका निवारण कर दिये जाने पर इनका रोष दूर हुआ। अनन्तर केवलज्ञान प्राप्त किया। (दे० म. पु./७६/-८-२९)।

श्वेताम्बर—दिगम्बर मान्यताके अनुसार भगवान् वीरके पश्चात् मूल सघ दिगम्बर ही था। पीछे कुछ शिथिलाचारी साधुओने श्वेताम्बर सघकी स्थापना की। श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार जिन कल्प व स्थविर कल्प दोनो ही प्रकारके सघ विद्यमान थे। जम्बू स्वामीके पश्चात् काल प्रभावसे जिनकल्पका विच्छेद हो गया और स्थविर कल्प ही शेष रह गया। पीछे शिवभूति नामक एक साधु जिनकल्पके पुनरावर्तनके उद्देश्यसे नग्न हो गया। उसके द्वारा ही दिगम्बर मतका प्रचार हुआ। श्वेताम्बरमें-से ढूंढिया मतकी उत्पत्तिके विषयमें दोनो ही सम्प्रदाय सहमत है।

१	श्वेताम्बर मतका स्वरूप।
२	दिगम्बरके अनुसार श्वेताम्बर मतकी उत्पत्ति।
३	अर्ध फालक संघकी उत्पत्ति।
४	श्वेताम्बरोंके विविध गच्छ।
५	अर्ध फालक व श्वेताम्बर विषयक समन्वय।
६	प्रवर्तकों विषयक समन्वय।
७	उत्पत्तिकाल विषयक समन्वय।
८	दिगम्बर मतकी प्राचीनता।

९	श्वेताम्बरके अनुसार दिगम्बर मतकी उत्पत्ति। १. द्विविध कल्प निर्देश। २ जिन कल्पका विच्छेद। ३. उपकरण व उनकी सार्थकता। ४. दिगम्बर मत प्रवर्तक शिवभूति मुनिका परिचय। ५. शिवभूति द्वारा दिगम्बर मतकी उत्पत्ति।
१०	ढूंढिया पन्थ। १. दिगम्बरके अनुसार उत्पत्ति। २ श्वेताम्बरके अनुसार उत्पत्ति। ३ स्वरूप।

१. श्वेताम्बर मतका स्वरूप

स. सि./८/१/५ सग्रन्थ' निर्ग्रन्थ.। केवली कवलाहारी। स्त्री सिध्यति। एवमित्यादि विपर्यय'। =सग्रन्थको निर्ग्रन्थ मानना, केवलीको कवलाहारी मानना और स्त्री सिद्ध होती है इत्यादि मानना विपरीत मिथ्यादर्शन है। (रा. वा/८/१/२८/५६४/२०), (त. सा/५/६)।

द. सा./मू./१३-१४तेणकियं मयमेयं इत्थीणं अत्थि तब्भवे मोक्खो। केवलणाणीण पुण अण्णक्खाण तहा रोगो।१३। अंबरसहिओ वि जई सिज्झई वीरस्स गब्भचारत्तं। परलिंगे विय मुत्ते फासुयभोज्जं च सव्वत्था १४। =उसने (आचार्य जिनचन्द्रने) यह मत चलाया कि स्त्रियोको तद्भवमें मोक्ष प्राप्त हो सकता है। केवलज्ञानी भोजन करते है तथा उन्हे रोग भी होता है।१३। वस्त्रधारी तथा अन्य लिग वाले भी मुक्ति प्राप्त कर सकते है। भगवान् वीरके गर्भका सचार हुआ था। अर्थात् पहले एक ब्राह्मणीके गर्भमें आये और पीछे क्षत्रियाणीके गर्भमें चले गये। मुनिजन किसीके घर भी प्रासुक्त भोजन कर सकते है।

द. पा./टी./११/११/११ श्वेतवासस' सर्वत्र भोजनं गृहन्ति, प्रासुकं मांसभक्षिणां गृहे दोषो नास्तीति वर्णलोप. कृत:। =श्वेताम्बर साधु सर्वत्र भोजन करना उचित मानते है। उनकी समझमें मांस भक्षकोके यहाँ भी प्रासुक भोजन करनेमें दोष नही है।

गो. जी./जी. प्र./१६ इन्द्र. श्वेताम्बरगुरुः तदादय संशयितमिथ्यादृष्टय:। =इन्द्र श्वेताम्बरोका गुरु था। उनको आदि लेकर सशयित मिथ्यादृष्टि है।

द. सा./प्र /५० प्रेमीजी—दर्शनसार ग्रन्थमें तथा गोम्मटसारकी टीकामें जो श्वेताम्बरोकी गणना सांशयिक मिथ्यादृष्टियोमें की सो ठीक नहीं है। वास्तवमें उनकी गणना विपरीत मतमें हो सकती है ऐसा उपरोक्त सर्वार्थसिद्धिके उद्धरणसे स्पष्ट है।

२. दिगम्बरके अनुसार श्वेताम्बर मतकी उत्पत्ति

दिगम्बर मतके अनुसार श्वेताम्बर मतकी उत्पत्ति कैसे हुई, उसके सम्बन्धमें ही नीचे दो कथाएँ दी जाती है।—

द. सा/मू./११-१२ एक्कसए छत्तीसे बिक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो सघो।११। सिरि भद्दबाहुगणिनो सीसो णामेण सत्ति आइरिओ। तस्स य सीसो दुट्ठो जिणचंदो मदचारित्तो।१२। तेण किय मयमेय···। १३। =इसी बात को और भी विस्तृत रूपसे इन्हीं देवसेनाचार्यने अपने भावसग्रह नामक ग्रन्थमें एक कथाके रूपमें दिया है। उसका संक्षिप्त सार निम्न है—

भावसंग्रह/५२-७५ विक्रम संवत् १३६ में सौराष्ट्र देशके वल्लभीपुर नगरमें श्वेताम्बर संघ उत्पन्न हुआ। इस संघके प्रवर्तक भद्रबाहु गणी जो एक निमित्तज्ञानी थे (पंचम श्रुतकेवलीसे भिन्न थे) उनके शिष्य शान्त्याचार्य, तथा उनके भी शिष्य जिनचन्द्र थे। उज्जैनी नगरीमें १२ वर्षीय दुर्भिक्षके सम्बन्धमें आचार्य भद्रबाहुकी भविष्य-वाणी सुनकर सर्व आचार्य अपने-अपने संघको लेकर वहाँसे विहार कर गये।५३-५५। भद्रबाहुके शिष्य शान्ति नामके आचार्य सौराष्ट्र देशके वल्लभीपुर नगरमें आये।५६। परन्तु वहाँ भी भारी दुष्काल पड़ा।५७। परिस्थितिवश सिंह वृत्ति छोड़कर साधुओंने वस्त्र, पात्र आदि धारण कर लिये और वसतिकामें-से भोजन माँग कर लाने लगे।५८-५९। दुर्भिक्ष समाप्त हो जाने पर जब शान्त्याचार्यने पुनः उन्हें शुद्ध चारित्र पालनेका आदेश दिया तो उनके शिष्य जिनचन्द्रने उन्हें जानसे मार दिया और स्वयं संघ नायक बन गया।६०-६१। शान्त्याचार्य मरकर व्यन्तर हुआ और संघ पर उपद्रव करने लगा, जिसे शान्त करनेके लिए जिनचन्द्रने उसकी एक कुलदेवताके रूपमें पूजा प्रचलित कर दी। जो आज तक श्वेताम्बर सम्प्रदायमें चली आ रही है।७०-७५।

३. अर्धफालक संघकी उत्पत्ति

भद्रबाहु चरित्र/तृ परिच्छेद—बिलकुल उपरोक्त प्रकारकी कथा कुछ उचित परिवर्तनोंके साथ भट्टारक श्री रत्ननन्दिने भद्रबाहु चरित्रमें दी है। उसका सारांश यह है कि—"पंचम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामीके मुखसे उज्जैनीमें पड़ने वाले १२ वर्षीय दुर्भिक्षके सम्बन्धमें सुनकर भी तथा अन्य संघोंके दक्षिणकी ओर विहार कर जाने पर भी रामल्य, स्थूलभद्र व स्थूलाचार्य नामके आचार्योंने जाना स्वीकार न किया। दुर्भिक्ष पड़ा और परिस्थिति वश उन्होंने कुछ शिथिलाचार अपना लिये। वे लोग पात्र ग्रहण करके भोजन माँगनेके लिए वसतिकामें जाने लगे और अपनी नग्नताको उतने समय छिपानेके लिए, एक वस्त्रका टुकड़ा भी अपने पास रखने लगे, जिसे वसतिकामें जाते समय वे अपने आगे ढँक लेते थे और लौटनेपर पृथक् कर देते थे। इस कारण इस संघका नाम अर्धफालक पड़ गया। तत्पश्चात् सुभिक्ष हो जाने पर जब दक्षिणसे वह मूल संघ लौट आया तब स्थूलाचार्यने अपने संघसे पुनः पहला मार्ग अपनानेको कहा। संघने उन्हें जानसे मार दिया। वे व्यन्तर हो गये और संघ पर उपद्रव करने लगे, जिसे शान्त करनेके लिए संघने उनकी अपने कुलदेवताके रूपमें पूजा करनी प्रारम्भ कर दी। ४५० वर्ष तक यह संघ इसी अर्धफालकके रूपमें घूमता रहा। तत्पश्चात् वि. सं. १३६ में सौराष्ट्र देशकी वल्लभीपुरी नगरीको प्राप्त हुआ। उस समय इस संघके आचार्य जिनचन्द्र थे। वल्लभीपुर नरेशकी रानी उज्जैनी नरेशकी पुत्री थी। उज्जैनीमें रहते उसने इन्हीं साधुओंके पास विद्याध्ययन किया था। अतः विनयपूर्वक अपने यहाँ बुलानेकी इच्छा करने लगी। परन्तु राजाको उनका वह वेष पसन्द न था, अतः उसने उन साधुओंके पास कुछ वस्त्र भेज दिये, जिसे जिनचन्द्रने राजा व रानीकी प्रसन्नताके अर्थ ग्रहण करनेकी आज्ञा दे दी। बस तभी इस संघका नाम श्वेताम्बर पड़ गया।

हरिषेण कृत कथा कोष/५८-५९/वृ ३१८ "यावत्र शोभन कालं जायते साधवः स्फुटम्। तावच्च वामहस्तेन पुरः कृत्वाऽर्धफालकम् ।५८। भिक्षापात्रं समादाय दक्षिणेन करेण च। गृहीत्वा नक्तमाहारं कुरुध्वं भोजनं दिने ।५९।"—१२ वर्षीय दुर्भिक्षके समय १२००० साधुओंके साथ श्रुतकेवली भद्रबाहु और विशाखाचार्य (चन्द्र गुप्त) दक्षिण-पथ को चले गए और अपने संघ को यह आदेश दिया कि जब तक सुभिक्ष न हो जाये तब तक साधुओंको चाहिए कि वे अपना बायाँ हाथ आगे करके उस पर एक अर्धफालक (कपड़ेका टुकड़ा) लटका लें। तथा दायें हाथसे भिक्षा द्वारा आहार ग्रहण करके, उसे दिनके समय अपनी वसतिका में बैठ कर खा लें।

४. श्वेताम्बरोंके विविध गच्छ

श्वेताम्बरोंमें विविध गच्छ प्रसिद्ध हैं, यथा—चैत्यवासी गच्छ, उपकेशगच्छ, खरतर गच्छ, तपा गच्छ, पार्श्वचन्द्र गच्छ, सार्धपौर्णमीयक गच्छ, आंचलिक गच्छ, आगमिक गच्छ आदि। इनमेंसे आज खरतर, तपा व आंचलिक गच्छ ही उपलब्ध होते हैं। प्रत्येक गच्छकी समाचारी जुदी है तथा उनके श्रावकोंकी सामायिक प्रतिक्रमण आदि विषयक विधियाँ भी जुदी हैं। कोई कल्याणकके दिन छह मानता है तो कोई पाँच। कोई पर्युषणका अन्तिम दिन भाद्रपद शु ४ मानता है और कोई भाद्रपद शु. ५।

'धर्मसागर' कृत पट्टावलीके अनुसार वी नि ८८२ में चैत्य-वास प्रारम्भ हुआ। 'जिन वल्लभ सूरि' कृत संघपट्टकी भूमिकामें भी चैत्यवासका कुछ इतिहास उल्लिखित है। अनेकान्त वर्ष ३ अंक ८-९ के 'यति समाज' शीर्षकमें श्री अगरचन्द नाहटाने श्वेताम्बर चैत्यवासियों पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

अणहिलपुर पट्टण राजा दुर्लभदेवकी सभामें वर्द्धमान सूरिके शिष्य जिनेश्वर सूरि द्वारा परास्त हो जाने पर यह चैत्यवासी गच्छ ही खरतर नामसे पुकारा जाने लगा।

वि सं. १२८५ में श्री जगच्चन्द्र सूरिके उग्र तपसे प्रभावित होकर मेवाड़के राजाने उसके गच्छको 'तपा गच्छ' नाम प्रदान किया।

मुखपट्टीके बदले अंचलका अर्थात् वस्त्रके छोरका उपयोग किया जानेके कारण 'आंचलिक गच्छ' प्रसिद्ध हुआ है।

५. अर्धफालक व श्वेताम्बर विषयक समन्वय

द. सा /प्र /६० प्रेमी जी—अब इस बातपर विचार करना है कि भाव-संग्रहकी कथामें (भद्रबाहु चरित्रके कर्ताने) इतना परिवर्तन क्यों किया। हमारी समझमें इसका कारण भद्रबाहुका और श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्तिका समय है। भाव संग्रहके कर्ताने तो भद्रबाहुको केवल निमित्तज्ञानी लिखा है, पर रत्ननन्दि उन्हें (श्रुतावतारके अनुसार) पंचम श्रुतकेवली लिखते हैं। दिगम्बर ग्रन्थोंके अनुसार श्रुतकेवलीका शरीरान्त वी. नि. १६२ में हुआ है। (दे. इतिहास/४/१ और श्वेताम्बरों की उत्पत्ति वी नि ६०६ (वि. १३६) में बतायी गयी है। दोनोंके बीचमें इस ४५० वर्षके अन्तरको पूरा करनेके लिए ही रत्ननन्दिने श्वेताम्बरसे पहले अर्धफालक उत्पन्न होनेकी कल्पना की है। दूसरे श्वेताम्बर मत जिनचन्द्रके द्वारा वल्लभी-पुरमें प्रगट हुआ था, अतएव यह आवश्यक हुआ कि दुर्भिक्षके समय जो मत प्रगट हुआ था उसका स्थान व प्रवर्तक इससे भिन्न बताया जाये। इसलिए अर्धफालककी उत्पत्ति उज्जैनीमें बतायी गयी और इसके प्रवर्तक आचार्यका नाम भी स्थूलभद्र रखा, जो कि श्वेताम्बर आम्नायमें अति प्रसिद्ध है। उज्जैनी नगरीमें वी. नि. १६२ में उत्पन्न होनेके पश्चात् वह संघ अर्धफालकके रूपमें ४५० वर्ष तक विहार करता रहा। अर्धफालक संघवाले साधु जब वस्तिकामें भोजन लेने जाते थे, तो एक वस्त्रके टुकड़ेको वे अपनी बायीं भुजापर लटका कर रखते थे, जिससे उनकी नग्नता छिप जाये। चर्यासे लौटनेपर उस वस्त्रको पुनः पृथक् करके वे दिगम्बर हो जाते थे। यही संघ कालयोगसे वी. नि. ६०६ में वल्लभीपुरीमें प्राप्त हुआ। उस समय उस संघका आचार्य जिनचन्द्र था, जिसने उपरोक्त कथनानुसार इसे श्वेताम्बरके रूपमें प्रवर्तित कर दिया। इस प्रकार इसकी संगति भद्रबाहु श्रुतकेवली तथा १२ वर्षीय दुर्भिक्षके साथ भी बैठ जाती है। श्वेताम्बरोंके आदि गुरु स्थूलभद्रके साथ वल्लभीपुरके साथ, भावसंग्रह व दर्शनसारके अनुसार जिनचन्द्र के साथ व वी. नि. ६०६ के साथ भी बैठ जाती है। यद्यपि प्रेमीजी रत्ननन्दि

भट्टारककी इस कल्पनाको निर्मूल बताते है, और कहते हैं कि अर्धफालक नामका कोई भी सम्प्रदाय नही हुआ (द. सा /प्र /६१) परन्तु उनका ऐसा कहना योग्य नही, क्योकि मथुराके कंगाली टीलेसे उपलब्ध कुशन कालीन (ई. २४०-३२० वी. नि. ५६७-८४७) कुछ प्राचीन आयाग पट्ट मिले है। जिनको पुरातत्त्व विभागने अर्धफालक मतका सिद्ध किया है। क्योकि उनमे कुछ नग्न साधु अपने बाये हाथपर एक कपडाडाल कराउस कपडेके द्वारा अपनी नग्नता छिपाते दिखाये गये है। वे साधु कपडा तो अपने बायें हाथपर लटकाये है और कमण्डल या भिक्षापात्र अपने दाहिने हाथमे लिये हुए हैं (भद्रबाहु चरित्र/प्र. उदयलाल) Dr. Buhler in Indian antiquity. Vol 2, Page 136 At his (Nemisha's) left knee stands a small nacked male characterised by the cloth in his left hand as an ascetic with uplifted right hand.

अर्थात् उसके बायी ओर एक छोटी-सी नग्न पुरुषाकृति है जिसके बाये हाथपर एक कपडा है और एक साधुके रूपमे उसका दायाँ हाथ ऊपरको उठा हुआ है। जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १० खण्ड २ पृ. ८० के फुटनोटमें डॉ वासुदेवशरण अग्रवालके अनुसार पट्टमें नीचे एक स्त्री और उसके सामने एक नग्न श्रमण अंकित है। वह एक हाथमे सम्मार्जिनी और बायें हाथमें एक कपडा लिये हुए है। शेष शरीर नग्न है।

भद्रबाहु चरित्र /प्र. उदयलाल—आगे चलकर वि १३६ (वी.नि.६०६) में वह प्रगट रूपसे श्वेताम्बर सम्प्रदायमे प्रवर्तित हो गया। प्रारम्भमें उसका उल्लेख 'निर्ग्रन्थ श्वेतपट्ट महाश्रमण संघ' के नामसे होता था। उपरान्त वही श्वेताम्बर कहलाया। इसी प्रकार दिगम्बर सम्प्रदाय भी पहले 'निर्ग्रन्थ श्रमण संघ' के नामसे पुकारा जाता था। उपरान्त वह दिग्वास और फिर दिगम्बर कहलाने लगा।

६. प्रवर्तकों विषयक समन्वय

दिगम्बर ग्रन्थ दर्शनसारके अनुसार श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रवर्तक शान्त्याचार्यके शिष्य तथा भद्रबाहु प्रथम (पंचम श्रुतकेवली) के प्रशिष्य जिनचन्द्र थे। **नन्दी संघ की गुर्वावली के अनुसार जिनचन्द्र भद्रबाहु द्वि के प्रशिष्य थे प्रथम के नहीं। ये कुन्दकुन्द के गुरु थे। (दे. इतिहास ७/२)** परन्तु श्वेताम्बर ग्रन्थोमें इस नामके आचार्योका कही भी उल्लेख नही मिलता। दूसरी तरफ श्वेताम्बर आम्नायके अनुसार दिगम्बर सम्प्रदायके प्रवर्तक शिवभूति या सहस्रमलको बताया है, परन्तु दिगम्बर ग्रन्थोमें इस नामके आचार्योका कही पता नहीं चलता। भद्रबाहु चरित्रके कर्ता रत्ननन्दि 'रामल्य' व स्थूलभद्रको इसका प्रवर्तक बताते है। इन्द्र श्वेताम्बरगुरु. तदादय; सशयमिथ्यादृष्टय (गो. जी./जी. प्र./१६) में टीकाकारने श्वेताम्बर सम्प्रदायका प्रवर्तक 'इन्द्र' नामके आचार्यका बताया है। प्रेमी जीको गोम्मटसारके टीकाकारका मत इष्ट है (द.सा /प्र.६० प्रेमी जी)।

७. उत्पत्ति काल विषयक समन्वय

द. सा./प्र. ६० प्रेमीजी—दिगम्बर व श्वेताम्बर सम्प्रदाय कब हुए यह विषय बहुत ही गहरी अन्धेरीमें छिपा हुआ है। श्रुतावतारमें बतायी गयी गुर्वावलीमें गौतमसे लेकर जम्बू स्वामी तकको परम्परा दोनो ही सम्प्रदायको ज्यूँ की त्यूँ मान्य है। इससे आगेके ५ श्रुतकेवलियोके नाम दिगम्बर सम्प्रदायमें कुछ और श्वेताम्बर सम्प्रदायमे कुछ और है। परन्तु भद्रबाहुको अवश्य दोनो स्वीकार करते है। इससे पता चलता है कि भद्रबाहुके पश्चात् ही दोनो जुदा जुदा हो गये है। दूसरी बात यह भी है कि श्वेताम्बर मान्य सूत्र ग्रन्थोकी रचनाका काल वी. नि. ६८० वि. स. ५१० के लगभग है। उस समय वे वल्लभीपुरमें देवर्धिगणी क्षमाश्रमणकी अध्यक्षतामे परिस्थिति वश संगृहीत किये गये थे। **श्वेताम्बरोंके अनुसार संकलन का यह कार्य क्योंकि वि. श. २ में किया गया था इसलिए उसकी उत्पत्ति का काल वि. १३६ भी माना जा सकता है। संघ की स्थापना के तुरन्त पश्चात् अपनी मान्यताओं को वैध सिद्ध करने के लिये सूत्र संग्रह का विचार बहुत संगत है।**

[दिगम्बराचार्य श्वेताम्बरोकी उत्पत्ति वि. सं. १३६ (वी. नि. ६०६) में बता रहे है और श्वेताम्बराचार्य दिगम्बरोको उत्पत्ति वि. स. १३९ (वी. नि. ६०९) में बता रहे हैं। १२ वर्षीय दुर्भिक्ष जो कि संघ विभेदमें प्रधान निमित्त है वी. नि. ६०६ (वि स. १३६) में पडा था। इन सब बातोको देखते हुए भद्रबाहु चरित्रकी मान्यता कुछ युक्त जँचती है, कि वि. पू. ३३० में अर्धफालक संघ उत्पन्न हुआ, और धीरे-धीरे वि. सं. १३६ में श्वेताम्बरके रूपमें परिवर्तित हो गया। श्वेताम्बर ग्रन्थोमें दिगम्बर मतकी उत्पत्ति भी उसी समय (वि. १३९) में बताया जाना भी इसी बातकी सिद्धि करता है कि वि स. १३६ में ही वह उत्पन्न हुआ था। अपने उत्पन्न होते ही उन्हे अपनेको मूलसंघी सिद्ध करनेके लिए दिगम्बरकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें यह कथा गढ़नी पडी होगी। इसके अतिरिक्त भी दिगम्बर मतकी प्राचीनता निम्नमे दिये गये प्रमाणोसे सिद्ध होती है।]

८ दिगम्बर मतकी प्राचीनता

१. श्वेताम्बर मान्य कथाको स्वीकार कर ले तो शिवभूतिने जिनकल्प (दिगम्बर मत) को स्वीकार किया था, उसका कारण इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि जिनकल्पी मार्गसे भ्रष्ट साधुओमें फिरसे जिनकल्प (दिगम्बरता) का प्रचार किया जाये। कथाके अनुसार शिवभूति गुरुके मुखसे जिनकल्पका उपदेश सुनकर उसे धारण करनेमें निश्चलप्रतिज्ञ हुए थे। इससे पता चलता है कि शिवभूतिमे पहले भी जिनकल्प अवश्य था जो इस समय शिथिल हो चुका था। २. श्वेताम्बर ग्रन्थोमे ऐसा उल्लेख पाया जाता है—"संयमो जिनकल्पस्य दु साध्योऽय ततोऽधुना। व्रत स्थविरकल्पस्य तस्मादस्माभिराश्रितम्। तथा – दुर्धरो मूलमार्गोऽय न धर्तुं शक्यते तत.।" इस उद्धरणसे स्पष्ट कहा गया है कि जिनकल्प ही मूलमार्ग है, परन्तु कालकी करालताके कारण आज उसका धारण किया जाना शक्य नही है। इसीलिए हमने स्थिरकल्पनाका आश्रय लिया है। इधर तो श्वेताम्बराचार्य ऐसा लिखते है दूसरी तरफ दिगम्बराचार्य क्या कहते है—

र. क. श्रा /१० विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः। ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते।१०।=जो विषयोकी आशाके वश न हो और परिग्रहसे रहित तथा ज्ञान-ध्यान-तपमे लवलीन हो वह तपस्वी गुरु प्रशसनीय है। ३ इसके अतिरिक्त विक्रमादित्यकी सभाके नवरत्नोमें से वराहमिहिर भी नग्न साधुओका उल्लेख करते देखे जाते है—

विष्णोर्भागवतामयश्च सवितुर्विप्रा विदुर्ब्राह्मण मातृणामिति मातृमण्डलविद, शभो सभस्माद्द्विज.॥ शाक्याः सर्वहिताय शान्तमनसो नग्ना जिनाना विदुर्ये यं देवमुपाश्रिता स्वविधिना ते तस्य कुर्यु क्रियाम्।" =भाव यह है कि वैष्णव लोग विष्णुकी प्रतिष्ठा करे, सूर्योपजीवी लोग सूर्यकी उपासना करें; विप्र लोग ब्रह्माकी करे; ब्रह्माणी व इन्द्राणी प्रभृति सप्त मातृमण्डलकी उनके माननेवाले अर्चा करें, बौद्ध लोग बुद्धकी प्रतिष्ठा करे, नग्न (दिगम्बर साधु) लोग जिन भगवान्की पर्युपासना करें। थोडे शब्दोंमें यो कहिए कि जिस-जिस देवके जो उपासक है वे उस उसकी अपनी-अपनी विधिसे उपासना करें। ४. महाभारत जो कि वेदव्यास जी द्वारा ईसवी पूर्व बहुत प्राचीन कालमें रचा गया था, वह भी दिगम्बर मतका उल्लेख करता है। यथा—

"साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रातिष्ठतोत्तङ्कस्ते कुण्डले गृहीत्वा सोऽपश्यदथ पथि नग्नं क्षपणकमागच्छन्तं मुहुर्मुहुर्दृश्यमानमदृश्यमानं च। (महाभारत परिच्छेद ३) =इसके अतिरिक्त भी महापुराणअश्वमेधाधिकारमें ४६।७।पृ. ६२०१ पर दिगम्बरत्व व अस्नानत्वका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। तथा ४६।९८।पृ. ६११६ पर दिगम्बर साधु सरीखी ही आहार विहार चर्या आदि सम्बन्धी उल्लेख पाया जाता है।

५. इसके अतिरिक्त भी दिगम्बराम्नायमें कुन्दकुन्द प्रभृति आचार्योंकृत ईसवी पहिली शताब्दीके ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, जब कि श्वेताम्बरोंके इतने प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त नहीं है।

९. श्वेताम्बरके अनुसार दिगम्बर मतकी उत्पत्ति

यह सारा विषय उत्तराध्ययन सूत्र/अध्याय ३/चूर्ण सूत्र १७८ की श्री शांति सूरिकृत संस्कृत वृत्तिके तथा उसमें उद्धृत विविध आगमोक्त गाथाओंके आधारपर संकलित किया गया है।

१. द्विविध कल्प निर्देश

दिगम्बर मतकी उत्पत्तिसे पूर्व दिगम्बर व श्वेताम्बर ऐसे दो सम्प्रदायोंका नाम नहीं था, परन्तु साधुओंके दो कल्प अवश्य थे—स्थविर कल्प व जिन कल्प, जिनके लक्षण व भेद निम्न प्रकार हैं।

उत्तराध्ययन टीका/पृ. "स्थविराश्च स्थिरीकरणकारिण। (पृ. १५२)। य' स्याज्जिन इव प्रभु। (पृ. १७६ पर उद्धृत श्लोक)। स च प्रथमसंहनन एव (टीका पृ. १७६)।"—तात्पर्य यह कि—

विषय	स्थविर कल्प	जिन कल्प
१	हीन संहननधारी	उत्तम सहननधारी
२	अपवादानुसारी मृदु आचारवान्	जिनेन्द्र प्रभुवत् उत्सर्ग मार्गानुसारी कठोर आचारवान्।
३	मन्दिर मठ आदिमें ससंघ आवास	एकाकी वन विहारी
४	श्रावकोंके भोजन कालमें भिक्षावृत्ति	श्रावकजन खा पीकर निवृत्त हो चुकें ऐसे तीसरे पहरमें भिक्षा वृत्ति। बचा खुचा मिला तो ले लिया अन्यथा उपवास किया।
५	रोग आदि होनेपर उसका उपचार करते हैं	उपचार न करते है न करवाते है
६	आँखमें रजाणु पड जानेपर अथवा पाँवमें शूल लग जानेपर उसे निकालते या निकलवाते हैं	न निकालते है न निकलवाते है
७	सिंह आदिके समक्ष आ जानेपर भागकर अपनी रक्षा करते है।	वहाँ ही ध्यानस्थ होकर खडे रह जाते है।
८	साँझ पडनेपर भी उचित स्थान की खोज करते है	जहाँ दिन छिपा वहीं खडे हो जाते है।

इस प्रकारके शक्तिकृत भेदके अतिरिक्त इनमें बाह्य वेषकृत कोई भेद नहीं होता। बाह्य वेषकी अपेक्षा दोनों ही चार-चार प्रकारके होते है। यथा—

उत्तराध्ययन/पृ. १७६ पर उद्धृत गाथा—जिणकप्पिया व दुविहा पाणिपाया पडिग्गहधरा य। पाउरजमया उरणा एक्केक्का ते भवे दुविहा। य एतान् वर्जयेद्दोषान् धर्मोपकरणादृते। तस्य त्वग्रहणं युक्त, य स्याज्जिन इव प्रभु'। =जिनकल्पी साधु चार प्रकारके होते है—सवस्त्र पाणिपात्राहारी, अवस्त्र पाणिपात्राहारी, सवस्त्र पात्रधारी और अवस्त्र परन्तु पात्रधारी। जो आचार विषयक निम्न दोषोंको बिना उपकरणोंके ही टालनेको समर्थ है, उनके लिए तो इनका न ग्रहण करना ही योग्य है, परन्तु जो ऐसा करनेको समर्थ नहीं वे उपकरण ग्रहण करते है।

२. जिनकल्पका विच्छेद

उत्तराध्ययन/टीका/पृ. एष व्युच्छिन्न। (१७६)। न चेदानीं तदस्तीति। (१८०)। =वीर निर्वाणके ६२ वर्ष पश्चात् जम्बू स्वामीके निर्वाण पर्यन्त ही जिनकल्पकी उपलब्धि होती थी। उसके पश्चात् इस कालमें उत्तम संहनन आदिके अभावके कारण उसकी व्युच्छित्ति हो गयी है।

३. उपकरण व उनकी सार्थकता

उत्तराध्ययन/पृ. १७६ पर उद्धृत - "जन्तवो बहवरसन्ति दुर्दर्शा मासचक्षुषाम्। तेभ्य स्मृत दयार्थं तु रजोहरणधारणम्।१। सन्ति सपातिमा सत्त्वा सूक्ष्माश्च व्यापिनोऽपरे। तेषा रक्षानिमित्त च विज्ञेया मुखवस्त्रिका।२। किंच—भवन्ति जन्तवो यस्मादन्नपानेषु केषुचित्। तस्मात्तेषां परीक्षार्थं पात्रग्रहणमिष्यते।४। अपरं च—सम्यक्त्वज्ञानशीलानि तपश्चेतीह सिद्धये। तेषामनुग्रहार्थाय स्मृत चीवरधारणम्।५। शीतवातातपैर्दंशमशकैश्चापि खेदित। मा सम्यक्त्वादिषु ध्यान न सम्यक् संविधास्यति।६। तस्य त्वग्रहणे युत स्यात क्षुद्रप्राणिविनाशनम्। ज्ञानाध्यानोपघातो वा महान् दोषस्तदैव तु।७।" =बहुतसे जन्तु ऐसे होते है जो इन चर्मचक्षुओंसे दिखाई नहीं देते। विहार शय्या आसन आदि रूप प्रवृत्तियोंमें उनकी रक्षाके अर्थ रजोहरण है। वायुमण्डलमें सर्वत्र ऐसे सूक्ष्म जीव व्याप्त है जो मुखमें अथवा भोजन पान आदिमे स्वत. पडते रहते है। उनकी रक्षाके लिए मुखवस्त्रिका है। बहुत सम्भव है कि भिक्षामे प्राप्त अन्न पान आदिकमें कदाचित् कोई जन्तु पडे हो। अत ठीक प्रकारसे देख शोधकर खानेके लिए पात्रोंका ग्रहण इष्ट है। इनके अतिरिक्त सम्यक्त्व, ज्ञान, शील व तपकी सिद्धिके अर्थ वस्त्र ग्रहण की आज्ञा है, ताकि ऐसा न हो कि कही शीत वात आतप डांस व मक्खी आदिकी बाधाओंसे खेदित होनेपर कोई इनमें ठीक प्रकारसे ध्यान व उपयोग न रख सके। ये सभी पदार्थ बाह्याभ्यन्तर सयमके उपकारी होनेसे उपकरण सज्ञाको प्राप्त होते है, जिनका ग्रहण न करनेपर, क्षुद्र प्राणियोंका विनाश तथा ज्ञान ध्यान आदिका उपघात रूप महान् दोष प्राप्त होते है।

उत्तराध्ययन/टीका/पृ. १७६ "धर्मोपकरणमेवैतत न तु परिग्रहस्तथा।"

दश वैकालिक सूत्र/अ. ६ गा. १६ "ज पि वत्थं य पायं वा, केवल पायपुछण। तेऽपि सजमलज्जट्ठा, धारेन्ति परिहरन्ति य।" =अर्थात्—मूर्च्छारहित साधुके लिए ये सब धर्मोपकरण है न कि परिग्रह, क्योंकि मूर्च्छाको परिग्रह सज्ञा प्राप्त होती है वस्तुको नहीं। वस्त्र व पात्रादि इन उपकरणोंको साधुजन सयमकी रक्षार्थ तथा लज्जा निवारणके लिए धारण करते है, और उनके प्रति इतने अनासक्त रहते है कि समय आनेपर जीर्ण तृणकी भाँति वे इनका त्याग भी कर देते है।

४. दिगम्बर मत प्रवर्तक शिवभूतिका परिचय

उत्तराध्ययन/चूर्णसूत्र १६४ का उपोद्घात/पृ. १५१ "जमालिप्रभृतीना निह्नवानां शिष्यास्तद्भक्तियुक्तितया स्वयमागमानुसारिमतयोऽपि गुरुप्रत्ययाद्विपरीतमर्थं प्रतिपन्न'।"

उत्तराध्ययन/चूर्णसूत्र १७८/पृ. १७६ पर उद्धृत "छव्वाससएहिं णवोत्तरेहिं सिद्धिगयस्स वीरस्स। तो बोडियाण दिट्ठी रहवीपुरे समुप्पणा।" =श्वेताम्बर आगममें यत्र तत्र जमालि आदि सात तथा शिवभूति नामक अष्टम निह्नवोंका कथन अत्यन्त प्रसिद्ध है। निह्नव सज्ञाको प्राप्त ये स्थविरकल्पी साधु तथा इनके शिष्य यद्यपि आगमके प्रति भक्ति युक्त होनेके कारण स्वय आगमानुसारी बुद्धिवाले होते है,

परन्तु गुरु आज्ञासे विपरीत अर्थका प्रतिपादन करनेके कारण संघसे बहिष्कृत कर दिये जानेपर स्वय स्वच्छन्द रूपसे अपने-अपने मतोंका प्रसार करते है, जिनसे विभिन्न सम्प्रदायो व मतमतान्तरोकी उत्पत्ति होती है। भगवान् वीरके निर्वाण होनेके ६०६ वर्ष पश्चात् अर्थात् वि. स. १३६ में 'रथवीपुर' नामक नगरमे वोटिक (दिगम्बर) मतवाला अष्टम निह्नव शिवभूति उत्पन्न हुआ।

उत्तराध्ययन/चूर्णसूत्र १७८/पृ. १७६-१८० का भावार्थ=यह शिवभूति अपनी गृहस्थावस्थामें अत्यन्त स्वच्छन्द वृत्तिवाला एक राजसेवक था, जिसने किसी समय राजाके एक शत्रुको जीतकर राजाको प्रसन्न किया और उपलक्ष्यमें उससे नगरमें स्वच्छन्द घूमनेकी आज्ञा प्राप्त कर ली। वह रात्रिको भी इधर-उधर घूमता रहता था, जिसके कारण उसकी स्त्री व माता उससे तग आ गयी, और एक रात्रिको जब वह घर आया तो उन्होने द्वार नही खोले। शिवभूति क्रुद्ध होकर उपाश्रयमें चला गया और गुरुके मना करनेपर भी 'खेलमल्लक' नामक किसी साधुसे दीक्षा लेकर स्वय केशलोच कर लिया। कुछ काल पश्चात् ससंघ विहार करता हुआ जब वह पुन इस नगरमें आया तो राजाने अपना प्रिय जान उसे एक रत्न कम्बल भेट किया। गुरुकी आज्ञाके बिना भी उसने वह रत्न कम्बल ग्रहण कर लिये और उसे गुरुसे छिपाकर अपने पास रखता रहा। एक दिन जब वह भिक्षाचर्याके लिए बाहर गया था, तब गुरुने इस परिग्रहसे उसकी रक्षा करनेके लिए उसकी पोटलीमें-से वह कम्बल निकाल लिया और बिना पूछे उसमेंसे फाडकर साधुओके पॉव पोछनेके आसन बना दिये। अत' शिवभूति भीतर ही भीतर गुरुके प्रति रुष्ट रहने लगा।

५ शिवभूतिसे दिगम्बर मतकी उत्पत्ति .

उत्तराध्ययन/चूर्ण सूत्र १७८/पृ. १७६—"इत्यादि सो (सिवभूइ) किं एस एवं ण कोरइ। तेहिं भणियं—एष व्युच्छिन्न'। मम न व्युच्छिद्यते इति स एव परलोकार्थिना कर्त्तव्य'।

उत्तराध्ययन/चूर्ण सूत्र १७८/१८० "न चेदानीं तदस्तीत्यादिकया प्रागुक्तया च युक्त्योच्यमानोऽसौ कर्मोदयेन चीवरादिकं त्यक्त्वा गतः। तस्योत्तरा भगिनी, उद्याने स्थितं वन्दिका गता, त च दृष्ट्वा तयापि चीवरादिकं सर्वं त्यक्त, तदा भिक्षार्थे प्रविष्टा गणिकया दृष्टा। मास्मासु लोको विरङ्क्षीत्त इति उरसि तस्या' पोतिका बद्धा। सा नेच्छति, तेन भणितं—तिष्ठतु एषा तव देवता दत्ता। तेन च द्वौ शिष्यौ प्रव्रजितौ—कौण्डिन्य' कोटिवीरश्च, तत' शिष्याणा परम्परा स्पर्शो जात'।"—

उत्तराध्ययन। चूर्णसूत्र १७८/पृ. १८० पर उद्धृत—"उहाए पण्णत्तं बोडियसिवभूइ उत्तरा हि इम। मिच्छादंसणमिणमो रहवीपुरे समुप्पण्णं।१। बोडियसिवभूइओ बोडियलिंगस्स होई उप्पत्ती। कोडिण्णकोट्टवीरा परंपराफासमुप्पन्ना।२।"=एक दिन गुरु जब पूर्वोक्त प्रकार जिनकल्पके स्वरूपका कथन कर रहे थे, तब शिवभूतिने उनसे पूछा कि किस कारणसे अब आप साधुओको जिनकल्पमें दीक्षित नही करते है। 'वह मार्ग अब व्युच्छिन्न हो गया है', गुरुके ऐसा कहनेपर वह बोला कि भले ही दूसरोके लिए व्युच्छिन्न हो गया हो, परन्तु मेरे लिए वह व्युच्छिन्न नही हुआ है। सर्वथा निष्परिग्रही होनेसे परलोकार्थीके लिए वही ग्रहण करना कर्त्तव्य है।—"हीन संहननके कारण इस कालमें वह सम्भव नहीं है", गुरुके पूर्वोक्त प्रकार ऐसा समझानेपर भी मिथ्यात्व कर्मोदयवश उसने गुरुकी बात स्वीकार नही की, और वस्त्र त्यागकर अकेला वनमें चला गया। उसके पीछे उसकी बहन भी उसकी वन्दनार्थ उद्यानमें गयी और उसे देखकर वस्त्र त्याग नग्न हो गयी। एक दिन जब वह भिक्षार्थ नगरमें प्रवेश कर रही थी, तो एक गणिकाने उसे एक साडी पहना दी, जिसे देवता प्रदत्त कहकर शिवभूतिने ग्रहण करनेकी आज्ञा दे दी। शिवभूतिने कौडिन्य व कोटिवीर नामक दो शिष्योको दीक्षा दी जिनकी परम्परामें ही यह वोटिक या दिगम्बर सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ है।

१०. ढूंढिया पंथ

१ दिगम्बरके अनुसार उत्पत्ति :

कुछ काल पश्चात् इसी श्वेताम्बर संघमेंसे ढूंढिया पंथ अपरनाम स्थानकवासी मतकी उत्पत्ति हुई। यथा—

भद्रबाहु चरित्र /४/१५७/१६१ मृते विक्रमभूपाले सप्तविंशतिसंयुते। दशपञ्चशतेऽब्दानामतीते शृणुतापरम् ।१५७। लुङ्कामतमभूदेकं लोपक धर्मकर्मण'। देशेऽत्र गौर्जरे ख्याते विद्वत्ताजितनिर्जरे।१५८। अणहिल्लपत्तने रम्ये प्राग्वाटकुलजोऽभवत्। लुङ्काऽभिधो महामानी श्वेतांशुकमहाश्रयी।१५९। दुष्टात्मा दुष्टभावेन कुपित' पापमण्डित'। तीव्रमिथ्यात्वपाकेन लुङ्काम्तमकल्पयत् ।१६०। तन्मतेऽपि च भूयासो मतभेदा' समाश्रिता ।१६१।=विक्रमकी मृत्युके १५२७ वर्ष बाद धर्म कर्मका सर्वथा नाश करनेवाला एक लुङ्कामत (ढूंढिया मत) प्रगट हुआ। इसीकी विशेष व्याख्या यों है कि—गुर्जर देश (गुजरात) में एक अणहिल नामका नगर है। उसमें प्राग्वाट (कुलम्बी) कुलमें लुङ्का नामका धारक एक श्वेताम्बरी हुआ है। उस दुष्ट आत्माने कुपित होकर तीव्र मिथ्यात्वके उदयसे खोटे परिणामोके द्वारा लुङ्कामत चलाया। उनमें भी पीछे अनेक भेद हो गये।

द. पा./टी /११/११/१२ तन्मध्ये श्वेताम्बराभासा उत्पन्नाः।=उनमेंसे (श्वेताम्बरियोमेंसे) ही श्वेताम्बराभास (ढूंढिया मत) उत्पन्न हुआ।

२. श्वेताम्बरायाम्नायके अनुसार उत्पत्ति :

विक्रम स १४७२ में इस मतके सस्थापक लोकाशाहका जन्म हुआ। यह व्यक्ति अहमदाबादमें ग्रन्थ लिखनेका व्यवसाय करता था। एक बार एक ग्रन्थ लिखनेको उजरतके विषयमें किसी यतिसे उसकी कहा सुनी हो गयी, जिसके कारण उसने मूर्तिपूजाको तथा कुछ आचार विचारोको आगम विरुद्ध बताकर एक स्वतन्त्रमतका प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया उसने २२ शिष्योको दीक्षित किया, जिनकी परम्परामें 'लोकागच्छ'की उत्पत्ति हुई। पीछे इसमें भी अनेको भेद प्रभेद उत्पन्न हो गये।

सूरतके एक साधुने इस लोकामतमे भी कुछ सुधार करके 'ढूंढिया' नामक एक नये सम्प्रदायको जन्म दिया, जिससे कि पूर्ववर्ती भी सभी लोकानुयायी ढूंढिया नामसे प्रसिद्ध हो गये। स्थानकोमें रहनेके कारण इसके साधु स्थानकवासी कहलाते है। इसी सम्प्रदायमें आचार्य भिक्षुने तेरहपन्थकी स्थापना की।

३. स्वरूप

भद्रबाहु चरित्र/४/१६१ सुरेन्द्रार्चा जिनेन्द्रार्चा तत्पूजा दानमुत्तमम्। समुत्थाप्य स पापात्मा प्रतापो जिनसूत्रतः ।१६१।=जिन सूर्यसे प्रतिकूल होकर, देवताओंसे भी पूजनीय जिन प्रतिमाकी पूजा दानादि सब कर्मोका उत्थापन करके वह पापात्मा जिन भगवान्के व्रतोंसे प्रतिकूल हो गया।

द. पा /टी./११/११/१२ तन्मध्ये श्वेताम्बराभासा उत्पन्नास्ते त्वतीव पापिष्ठा' देवपूजादिकं किल पापकर्मेदमिति कथयन्ति, मण्डलवत्सर्वत्र भाण्डप्रक्षालनोदकं पिबन्ति इत्यादि, बहुदोषबन्त'।=उन (श्वेताम्बरो) मेंसे श्वेताम्बराभासी (ढूंढिया मती) उत्पन्न हुए। वे तीव्र पापिष्ठ होकर देव पूजादिकको भी पापकर्म बताने लगे। मण्डल मतकी भाँति बर्तनोके धोवनका पानी पीने लगे। इस प्रकार बहुत दोषवन्त हो गये।

नोट—यह सम्प्रदाय श्वेताम्बर मान्य आगम सूत्रोमेंसे ३२ को मान्य करता है। परन्तु श्वेताम्बराचार्यों कृत उनकी टीकाएँ इसे मान्य नही है।

[ष]

षंड—दे. नपुंसक।

षडावश्यक—दे. आवश्यक।

षट् कर्म—दे सावद्य/३।

षट् काय—दे. काय।

षट् काल—दे. काल/४।

षट्खंड—भरतादि १७० कर्मभूमियों रूप क्षेत्रोंमेंसे प्रत्येकमें दो-दो नदियाँ व एक-एक विजयार्ध पर्वत है। जिनके कारण वह छह खण्डोंमें विभाजित हो जाता है। इन्हे ही षट् खण्ड कहते है। इनमें-से एक आर्य व शेष पाँच म्लेच्छ खण्ड है। इन्हीं षट् खण्डोको चक्रवर्ती जीतता है। विजयार्ध तथा आर्य खण्ड सहित तीन खण्डों-को अर्ध चक्रवर्ती जीतता है।—दे. म्लेच्छ खण्ड।

षट् खंडागम—यह कर्म सिद्धान्त विषयक ग्रन्थ है। इसकी उत्पत्ति मूल द्वादशांग श्रुतस्कन्धसे हुई है (दे. श्रुतज्ञान)। इसके छह खण्ड है—१ जीवट्ठाण, २ खुद्दाबन्ध, ३ बन्धस्वामित्व विचय, ४ वेदना, ५ वर्गणा, ६ महाबन्ध। मूल ग्रन्थके पाँच खण्ड प्राकृत भाषामें सूत्र निबद्ध है। इनमें पहले खण्डके सूत्र पुष्पदन्त (ई१०६-१३६) आचार्यके बनाये हुए है। पीछे उनका शरीरान्त हो जानेके कारण शेष चार खण्डोंके पूरे सूत्र आ. भूतबलि (ई१३६-१५६) ने बनाये थे। छठा खण्ड सविस्तर रूपसे आ. भूतबलि द्वारा बनाया गया है। अत. इसके प्रथम पाँच खण्डोपर तो अनेकों टीकाएँ उपलब्ध है, परन्तु छठे खण्डपर वीरसेन स्वामीने संक्षिप्त व्याख्याके अतिरिक्त और कोई टीका नहीं की है। १. सर्व प्रथम टीका आ कुन्दकुन्द (ई १२७-१७९) द्वारा इसके प्रथम तीन खण्डोंपर रची गयी थी। उस टीकाका नाम 'परिकर्म' था। २. दूसरी टीका आ. समन्तभद्र (ई. श २) द्वारा इसके प्रथम पाँच खण्डोंपर रची गयी। ३. तीसरी टीका आ. शामकुण्ड (ई श ३) द्वारा इसके पूर्व पाँच खण्डोंपर रची गयी है। ४. चौथी टीका आ. वीरसेन स्वामी (ई ७७०-८२७) कृत है। (विशेष दे० परिशिष्ट)।

षट्गुणहानि वृद्धि—१. अविभाग प्रतिच्छेदोंमें हानि वृद्धिका नाम ही षट्गुण हानि वृद्धि है

पं. का./त. प्र /८४ धर्म' (द्रव्य) अगुरुलघुभिर्गुणैरगुरुलघुत्वाभिधानस्य स्वरूपप्रतिष्ठत्वनिबन्धनस्य स्वभावस्याविभागपरिच्छेदै' प्रतिसमय-सभवत्षट्स्थानपतितवृद्धिहानिभिरनन्तै. सदा परिणतत्वा-दुत्पादव्ययत्वेऽपि। =धर्म (धर्मास्तिकाय) अगुरुलघुगुणो रूपसे अर्थात अगुरुलघुत्व नामका जो स्वरूपप्रतिष्ठत्वके कारणभूत स्वभाव उसके अविभागप्रतिच्छेदो रूप जो कि प्रतिसमय होनेवाली षट्स्थानपतित वृद्धि हानिवाले अनन्त है उनके रूपसे सदैव परिण-मित होनेके उत्पाद-व्यय स्वभाववाला है।

गो. जी /जी प्र /५६६/१०१५/५ धर्माधर्मादीनां अगुरुलघुगुणाविभाग-प्रतिच्छेदः स्वद्रव्यत्वस्य निमित्तभूतशक्तिविशेषा षड्वृद्धिभिर्वर्ध-मानषड्हानिभिश्च हीयमाना परिणमन्ति। =धर्म और अधर्म द्रव्योके अपने द्रव्यत्वको कारणभूत शक्ति विशेष रूप जो अगुरुलघु नामक गुणके अविभाग प्रतिच्छेदसे अनन्त भाग वृद्धि आदि, तथा षट्स्थान हानिके द्वारा वर्धमान और हीयमान होता है।

२ एक समयमें एक ही वृद्धि या हानि होती है

ष खं, १०/४,२,४/सू. व टी./२०२-२०५/४९९ 'तिण्णिवड्ढितिण्णि-हाणीओ केवचिर कालादो होंति। जहण्णेण एगसमयं' ।२०२।—असंखेज्जभागवड्ढीए जहण्णेण एगसमयमच्छिदूणं विदिए समए सेसतिण्णं वड्ढीणमेगवड्ढि चदुण्णं हाणीणमेगतमहाणिं वा गदस्स असंखेज्जभागवड्ढिकालो जहण्णेण एगसमओ होदि। एव सेसदो-वड्ढीण तिण्णिहाणीणं च एगसमयपरूवणा कादव्वा। 'उक्कस्सेण आवलियाए असंखेज्जदिभागो ।२०३।'—एक्का जीवो जम्हि कम्हि वि जोगट्ठाणे ट्ठिदो असखेज्जभागवड्ढिजोगं गदो। तत्थ एकसमय-मच्छिदूण विदियसमए तत्तो असंखेज्जदिभागुत्तरजोग गदो। एवं दोण्णमसखेज्जभागवड्ढिसमयाणमुवलद्धी जादा। 'असखेज्जगुण-वड्ढिहाणी केवचिर कालादो होंति। जहण्णेण एगसमओ ।२०४।'—असंखेज्जगुणवड्ढिमसखेज्जगुणहाणि वा एगसमयं काऊण अणप्पिद-दवड्ढि-हाणीण गदस्स एगसमओ होदि। 'उक्कस्सेण अतोमुहुत्त ।२०५।' ='तीन वृद्धियाँ और तीन हानियाँ कितने काल तक होती है। जघन्यसे एक समय होती हैं।२०२।—असंख्यात भाग वृद्धि हानेपर जघन्यसे एक समय रहकर द्वितीय समयमें शेष तीन वृद्धिमें किसी वृद्धि अथवा चार हानियोमें किसी एक हानिको प्राप्त होनेपर असख्यात भागवृद्धिका काल जघन्यसे एक समय होता है। इसी प्रकार शेष दो वृद्धियो और तीन हानियोके एक समयकी प्ररूपणा करनी चाहिए। 'उत्कर्षसे उक्त हानि-वृद्धियोका काल आवलीके असख्यातवे भाग प्रमाण है।२०३।'—एक जीव जिस किसी भी योगस्थानमे स्थित होकर असख्यात भागवृद्धिको प्राप्त हुआ। वहाँ एक समय रहकर दूसरे समयमें उससे असंख्यातवें भागसे अधिक योगको प्राप्त हुआ। इस प्रकार असख्यात भाग वृद्धिके दो समयोंकी उपलब्धि हुई। (इसी प्रकार तीन आदि समयोंमें आवली पर्यन्त लागू कर लेना)। 'असंख्यात गुणवृद्धि और हानि कितने काल तक होती है। जघन्यसे एक समय होती है।२०४।'—असंख्यात गुणवृद्धि अथवा असख्यात गुण हानिको एक समय करके अविवक्षित वृद्धि या हानिको प्राप्त होनेपर एक समय होता है। 'उक्त वृद्धि व हानि उत्कर्षसे अन्तर्मुहूर्त काल तक रहती है।२०५।'

३. स्थिति आदि बन्धोमें वृद्धि-हानि सम्बन्धी नियम

ध ६/१,९-४,३/१८३/१ एत्थगुणहाणीओ णत्थि, पलिदोवमस्स असं-खेज्जदिभागमेत्तट्ठिदीए विणा गुणहाणीए असभवादो। =यहाँ अर्थात इस जघन्य स्थितिमें गुणहानियाँ नहीं होती है, क्योकि, पल्योपमके असख्यातवे भाग मात्र स्थितिके बिना गुण-हानिका होना सम्भव नहीं है।

ध. १२/४,२,१३,२६५/४६१/१३ खविदकम्मसिए जदि सुट्ठु बहुगी दव्ववड्ढी होदि तो एगसमयपबद्धमेत्ता चेव होदि त्ति गुरुवएसादो। =क्षपित कर्मांशिकके यदि बहुत अधिक द्रव्यकी (प्रदेशोंकी) वृद्धि होती है तो वह एक समय प्रबद्ध प्रमाण ही होती है, ऐसा गुरुका उपदेश है।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. छह वृद्धि हानियोंका क्रम, अर्थ, संहनानी व यन्त्र। —दे. श्रुतज्ञान/II/२/३।
२. अनुभाग काण्डकोंमें षट्गुण हानियाँ। —दे. ध. १२/१५७-२०२।
३. अध्यवसाय स्थानोंमें वृद्धि हानियाँ। —दे. वह वह नाम।
४. व्यंजन पर्यायमें अन्तर्लीन अर्थ पर्याय। —दे. पर्याय/३/८।
५. अशुद्ध पर्यायोंमें भी एक दो आदि समयोंके पश्चात् हानिवृद्धि होती है। —दे. अवधिज्ञान/२/२।

षड्क—सख्यात गुण वृद्धिकी संज्ञा है।—दे श्रुतज्ञान II/२/३।

षड्ज—एक स्वर—दे. 'स्वर'।

षड् दर्शन—दे. दर्शन।

षड् दर्शन समुच्चय—श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रसूरि (ई. ४८०-५२८) द्वारा रचित संस्कृत सूत्र बद्ध ग्रन्थ है। इसमें जैन, बौद्ध चार्वाक, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और मीमांसक इन छह दर्शनोंका संक्षिप्त वर्णन है।

षड्रसी-व्रत—उत्कृष्ट/२४वर्ष,मध्यम १२ वर्ष व जघन्य १ वर्षमें ज्येष्ठ कृ. १ से ज्येष्ठ पूर्णिमा तक—कृ. १ को उपवास, २-१५ तक एकाशन: शु. १ को उपवास, २-१५ तक एकाशन करे। 'ओं ह्री श्री वृषभजिनाय नम:' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान सं./४३)।

षण्णवति प्रकरण—आ सोमदेव (ई. ९४३-९६८) कृत न्याय विषयक एक ग्रन्थ है।

षष्ठभक्त—दो उपवास—दे प्रोषधोपवास/१।

षष्ठ बेला—बेला अर्थात् दो उपवासको षष्ठ भक्त कहते है। —दे बेलाव्रत।

षष्ठी व्रत—६ वर्ष तक प्रतिवर्ष श्रावण शु. ६ के दिन उपवास करे। तथा 'ओं ह्री श्री नेमिनाथाय नम:' इस मन्त्रका त्रिकाल जप करे। (व्रत विधान सं /१२२)।

षाष्ठिक पद्धति—Sexagesimal Measure (ज. प./प्र.१०८)।

षोडशकारण धर्म चक्रोद्धार यन्त्र—दे. यन्त्र।

षोडशकारण भावना—दे. भावना।

षोडश कारण भावना व्रत—१६ वर्ष तक, वा ५ वर्ष तक, अथवा जघन्य एक वर्ष तक प्रतिवर्ष भाद्रपद, माघ व चैत्र, इन तीनों महीनोंमें कृ. १ से लेकर अगले महीनेकी कृ. १ तक ३२ दिन तक क्रमश: ३२ उपवास, वा १६ उपवास, १६ पारणा, अथवा जघन्य विधिसे ३२ एकाशना करे।
जाप्य—'ओं ह्रीं दर्शविशुद्धयादिषोडशकारणेभ्यो नम:।' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान सं./पृ. ३८)।

[स]

संकट हरण व्रत—तीन वर्ष तक प्रतिवर्ष भाद्रपद, माघ व चैत्र-मासमें शु. १३ से शु. १५ तक उपवास। तथा 'ओं ह्रां, ह्रीं ह्रूं, ह्रौं ह्र: असि आ उसा सर्व शान्ति कुरु कुरु स्वाहा' इस मंत्रका त्रिकाल जप करे। (व्रत विधान सं./४२)।

संकर दोष—स्या मं /२४/२९२/१० येनात्मना सामान्यस्याधिकरणं तेन सामान्यस्य विशेषस्य च, येन च विशेषस्याधिकरणं तेन विशेषस्य सामान्यस्य चेति सङ्करदोष.। =स्याद्वादियोंके मतमें अस्तित्व और नास्तित्व एक जगह रहते है। इसलिए अस्तित्वके अधिकरणमें अस्तित्व और नास्तित्वके रहनेसे, और नास्तित्वके अधिकरणमें नास्तित्व और अस्तित्वके रहनेसे स्याद्वादमें संकर दोष आता है। (ऐसी शंकामें संकर दोषका स्वरूप प्रकट होता है।)
स. भ. त /८२/६ सर्वेषां युगपत्प्राप्ति, संकर। =(उपरोक्तवत्) सम्पूर्ण स्वभावोंकी युगपत् प्राप्ति हो जाना संकर है। (श्लो, वा. ४/न्या. ४५६/५५१/१८ पर भाषामें उद्धृत)।

संकलन—Addition जमा करना।·दे, गणित/II/१/३।

संकलन धन—दे. गणित/II/१/३।

संकलन वार—दे गणित/II/१।

संकलित धन—Sum of series (ज. प./प्र. १०८)।

संकल्प—पं. का /ता. वृ./७/११/७ बहिर्द्रव्ये चेतनाचेतनमिश्रे ममेदमित्यादि परिणाम. संकल्प'। =चेतन-अचेतन-मिश्र, इन बाह्य पदार्थोंमें 'ये मेरे है' ऐसी कल्पना करना सकल्प है।
प. प्र./टी /१/१६ बहिर्द्रव्यविषये पुत्रकलत्रादिचेतनाचेतनरूपे ममेदमिति स्वरूप: संकल्प। =स्त्री-पुत्र आदि चेतन, अचेतन, बाह्य पदार्थोंमें 'ये मेरे है' ऐसा विचारना सो सकल्प है। (द्र. सं /टी./४१/१७४/१)।

संकुट—जीवको संकुट कहनेकी विवक्षा—दे. जीव/१/३।

संकेत—Symbol Notation (ध. ५/प्र. २८)। २ गणित सम्बन्धी विशेष शब्दोकी सहनानियाँ —दे. गणित/I/२।

संकेत क्रम—Scale of Notation (ध. ५/प्र. २८)।

संकोच—जीवकी संकोच विस्तार शक्ति—दे. जीव/३।

संक्रमण—जीवके परिणामोंके वशसे कर्म प्रकृतिका बदलकर अन्य प्रकृति रूप हो जाना सक्रमण है। इसके उद्वेलना आदि अनेकों भेद हैं। इनका नाम वास्तवमें सक्रमण भागाहार है। उपचारसे इनको संक्रमण कहनेमें आता है। अत इनमें केवल परिणामोंकी उत्कृष्टता आदि होके प्रति सकेत किया गया है। ऊँचे परिणामोंसे अधिक द्रव्य प्रतिसमय संक्रमित होनेके कारण उसका भागाहार अल्प होना चाहिए। और नीचे परिणामोंसे कम द्रव्य संक्रमित होनेके कारण उसका भागाहार अधिक होना चाहिए। यही बात इन सब भेदोंके लक्षणोंपर से जाननी चाहिए। उद्वेलना विध्यात व अध:प्रवृत्त इन तीन भेदोंमें भागहानि क्रमसे द्रव्य संक्रमाया जाता है, गुणश्रेणी संक्रमणमें गुणश्रेणी रूपसे और सर्वसंक्रमणमें अन्तका बचा हुआ सर्व द्रव्य युगपत् संक्रमा दिया जाता है।

१. संक्रमण सामान्य निर्देश

१. संक्रमण सामान्यका लक्षण

क. पा. १/१, १८/§३११/३ अंतरकरणे कए ज णवुंसयवेयक्खवण तस्स 'सकमणं' ति सण्णा।=अन्तरकरण कर लेनेपर जो नपुंसकवेदका (क्षपकके जो) क्षपण होता है यहाँ उसकी (उस कालकी) संक्रमण संज्ञा है।

गो. क./जी. प्र /४३८/५६१/१४ परप्रकृतिरूपपरिणमन सक्रमणम्।=जो प्रकृति पूर्वमे बँधी थी उसका अन्य प्रकृति रूप परिणमन हो जाना संक्रमण है। (गो. क /जी. प्र /४०६/५७३/५)।

२. संक्रमणके भेद

१. सामान्य सक्रमणके भेद

ध. १५/२८२-२८४
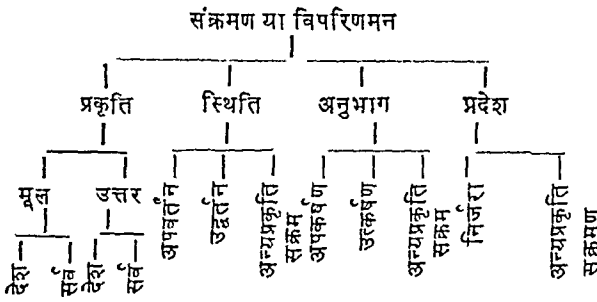
गो. जी /मू /५०४/६०३ सकमणं सट्ठाणपरट्ठाणं होदि।=सक्रमण दो प्रकारका है—स्वस्थान संक्रमण और परस्थान सक्रमण [इसके अतिरिक्त आनुपूर्वी सक्रमण (ल. सा./मू./२४६), फालिसक्रमण और काण्डक सक्रमण (गो. क /जी. प्र /४१२/५७५) का निर्देश भी आगममें पाया जाता है।]

२. भागाहार संक्रमणके भेद

ध. १६/गा. १/४०६ उव्वेलणविज्झादो अधापवत्तो गुणो य सव्वो य। (सकमणं)…।४०६।=उसके (भागाहार या सक्रमणके) उद्वेलन, विध्यात, अधःप्रवृत्त, गुणसंक्रम, और सर्वसक्रमणके भेदसे पाँच प्रकार है।४०६। (गो. क./मू./४०६)।

३. पाँचों संक्रमणोंका क्रम

गो. क./मू. व जी. प्र /४१६ बंधे अधापवत्तो विज्झादं सत्तमोत्ति हु अबंधे। एत्तो गुणो अबंधे पयडीण अप्पसत्थाण।४१६। प्रकृतीनां बन्धे सति स्वस्वबन्धव्युच्छित्तिपर्यन्तमध प्रवृत्तसक्रमण स्यात न मिथ्यात्वस्य। …बन्धव्युच्छित्तौ सत्यामसयताद्यप्रमत्तपर्यन्तं विध्यातसक्रमणं स्यात्। इत अप्रमत्तगुणस्थानादुपर्युपशान्तकषायपर्यन्त बन्धरहिताप्रशस्तप्रकृतीनां गुणसंक्रमण स्यात्। ततोऽन्यत्रापि प्रथमोपशमसम्यक्त्वग्रहणप्रथमसमयादन्तर्मुहूर्तपर्यन्त पुन मिश्रसम्यक्त्वप्रकृत्यो पूरणकाले मिथ्यात्वक्षपणायामपूर्वकरणपरिणामान्मिथ्यात्वचरमकाण्डकद्विकचरमफालिपर्यन्त च गुणसंक्रमण स्यात्। चरमफालौ सर्वसक्रमण स्यात्।=प्रकृतियोंके बध होनेपर अपनी-अपनी बध व्युच्छित्ति पर्यन्त अध प्रवृत्त सक्रमण होता है परन्तु मिथ्यात्व प्रकृतिका नही होता। और बन्धकी व्युच्छित्ति होनेपर असंयतसे लेकर *अप्रमत्तपर्यन्त विध्यातनामा सक्रमण होता है।* तथा अप्रमत्तसे आगे उपशान्त कषाय पर्यन्त बन्ध रहित अप्रशस्त प्रकृतियोका गुणसंक्रमण होता है। इसी तरह प्रथमोपशम सम्यक्त्व आदि अन्य जगह भी गुणसक्रमण होता है ऐसा जानना। तथा मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृतिके पूरण कालमें और मिथ्यात्वके क्षय करनेमें अपूर्वकरण परिणामोंके द्वारा मिथ्यात्वके अन्तिम काण्डककी उपान्त्य फालिपर्यन्त गुणसंक्रमण और अन्तिम फालिमें सर्व सक्रमण होता है।

४. सम्यक्त्व व मिश्र प्रकृतिकी उद्वेलनामे चार संक्रमणोंका क्रम

गो. क./मू./४१२-४१३ मिच्छेसमिस्साणं अधापवत्तो मुहुत्तअतोत्ति। उव्वेलणं तु तत्तो दुचरिमकंडोत्ति णियमेण।४१२। उव्वेलणपयडीणं गुणं तु चरिमम्हि कडये णियमा। चरिमे फालिम्मि पुणो सव्व च र होदि संकमणं।४१३।=मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेपर सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्रमोहनीयका अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त तक अधःप्रवृत्त संक्रमण होता है। और उद्वेलन नामा संक्रमण द्विचरम काण्डक पर्यन्त नियमसे प्रवर्तता है।४१२। उद्वेलन प्रकृतियोका अन्तके काण्डकमे नियमसे गुण सक्रमण होता है। और अन्तकी फालिमें सर्व सक्रमण होता है।४१३।

२. संक्रमण योग्य प्रकृतियाँ

१. केवल उद्वेलना योग्य प्रकृतियाँ

पं. सं./प्रा./२/८ आहारय-वेउव्विय-णिर-णर-देवाण होति जुगलाणि। सम्मत्तुच्च मिस्सं एया उव्वेलणा-पयडी।=आहारक युगल (आहारक शरीर-आहारक अगोपाग), वैक्रियिक युगल (वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक-अंगोपांग), नरक युगल (नरकगति, नरक गत्यानुपूर्वी), नरयुगल (मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी), देवयुगल, (देवगति, देवगत्यानुपूर्वी), सम्यक्त्व प्रकृति, मिश्रप्रकृति और उच्चगोत्र ये तेरह उद्वेलन प्रकृतियाँ है। (गो. क /मू /४१५/५७७)

२. केवल विध्यात योग्य प्रकृतियाँ

गो. क./मू /४२६ सम्मत्तूणुव्वेलणथीणतितीसं च दुक्खवीस च। वज्जोरालदुतित्थ मिच्छं विज्झादसत्तट्ठी।४२६।=सम्यक्त्व मोहनीयके बिना उद्वेलन प्रकृतियाँ १२ (दे. संक्रमण/२/१), स्त्यानगृद्धि तीन आदिक ३० प्रकृतियाँ (दे सक्रमण/२/१२), असाता वेदनीय आदिक २० प्रकृतियाँ (दे. संक्रमण/२/६), वज्रर्षभनाराचसहनन, औदारिक युगल, तीर्थंकर प्रकृति और मिथ्यात्व प्रकृति ये (१२+३०+२०+५=) ६७ प्रकृतियाँ विध्यात संक्रमणवाली है।

३. केवल अध.प्रवृत्त योग्य प्रकृतियाँ

गो. क./मू/४१६-४२०/५८० सुहुमस्स बधघादी साद संजलणलोहपंचिंदी। तेजदुसमवण्णचऊ अगुरुलहुपरघादउस्सासं।४१६। सत्थगदी तसदसय णिमिणुगुदाले अधापवत्तो दु।४२०।=सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानमें बधव्युच्छिन्न होनेवाली घातिया कर्मोकी १४ प्रकृतियाँ (दे. प्रकृतिबध/७/२) साता वेदनीय, सज्वलन लोभ, पचेन्द्रिय जाति, तैजस, कार्मण, समचतुरस्र, वर्णादि ४, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस आदि १० (दे. उदय/६/१) और निर्माण इन ३६ प्रकृतियोमे अध प्रवृत्त सक्रमण है।

गो क./मू /४२७/५८४ मिच्छूणिगिवीससय अधापवत्तस्स होति पयडीओ।…।४२७।=मिथ्यात्व प्रकृतिके बिना १२१ प्रकृतियाँ अध.प्रवृत्त संक्रमणकी होती है।

४. केवल गुण संक्रमण योग्य प्रकृतियाँ

गो. क /मू /४२७-४२८/५८४-५८५ सुहुमस्स बधघादिप्पहुदी उगुदालं-रालदुगतित्थ।४२७। वज्ज संजलणति ऊणा गुणसंकमस्स पयडीओ

पगहत्तरिसंखाओ पगडोणियमं विजाणाहि ।४२८। —सूक्ष्म साम्पराय में बँधनेवाली घातिया कर्मोकी १४ प्रकृतियोंको आदि लेकर (दे. संक्रमण/२/३ में केवल अध:प्रवृत्त संक्रमणमें योग्य) ३६ प्रकृतियाँ, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, तीर्थंकर, वज्रर्षभनाराच, पुरुषवेद, संज्वलन क्रोधादि तीन, (३६+८) ४७ प्रकृतियों को कम करके (१२२—४७) शेष ७५ प्रकृतियाँ गुण संक्रमण की है। ४२७-४२८।

५. केवल सर्वसंक्रमण योग्य प्रकृतियाँ

गो. क./मू./४१७/५७६ तिरियेयारुव्वेल्लणपयडी संजलणलोहसम्ममिस्सूणा। मोहा थीणतिगं च य बावण्णे सव्वसंकमणं ।४१७। —तिर्यगेकादश (दे. उदय/६/१), उद्वेलनकी १३ (दे. संक्रमण/२/१), संज्वलन लोभ, सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र, इन तीन के बिना मोहनीयकी २५ और स्त्यानगृद्धि आदिक ३ (स्त्यानगृद्धि, प्रचला-प्रचला, निद्रानिद्रा) प्रकृतियाँ, ये (११+१३+२५+३) ५२ प्रकृतियोंमें सर्वसंक्रमण होता है ।४१७।

६. विध्यात व अध:प्रवृत्त इन दोके योग्य

गो.क./मू./४२१/५८३ ओरालदुगे वज्जे तित्थे विज्झादधापवत्तो य ।४२१। —औदारिक शरीर-अंगोपांग, वज्रर्षभनाराच संहनन तीर्थंकर प्रकृति—इन चारोमें विध्यातसंक्रमण और अध:प्रवृत ये दो संक्रमण है।

७. अधःप्रवृत्त व गुण इन दो के योग्य

गो. क./मू./४२१-४२२/५८१ · णिद्दा पयला असुहं वण्णचउक्कं च उवघादे ।४२१। सत्तण्हं गुणसंकममधापवत्तो य। ।४२२। —निद्रा, प्रचला, अशुभ वर्णादि चार, और उपघात, इन सात प्रकृतियो के गुणसंक्रमण और अध:प्रवृत्त संक्रमण पाये जाते है।

८. अधःप्रवृत्त और सर्व इन दोके योग्य

गो. क./मू./४२४/५८३ संजलणतिये पुरिसे अधापवत्तो य सव्वो य ।४२४। —संज्वलन क्रोध, मान, माया तथा पुरुषवेद इन चारोमे अध:प्रवृत्त और सर्व संक्रमण ये दो ही संक्रमण पाये जाते है।

९. विध्यात अधःप्रवृत्त व गुण इन तीनके योग्य

गो. क./मू. ४२२-४२३। · दुक्खमसुहगदी। संहदि संठाणदसं णीचापुण्णथिरछक्कं च ।४२२। वीसण्हं विज्झादं अधापवत्तो गुणो य। ।४२३। —असाता वेदनीय, अप्रशस्त विहायोगति, पहलेके बिना पाँच संहनन व पाँच संस्थान ये १०, नीचगोत्र, अपर्याप्त और अस्थिरादि ६, इस प्रकार २० प्रकृतियोंके विध्यातसंक्रमण, अध:प्रवृत्त संक्रमण, सर्वसंक्रमण ये तीन है।

१०. अधःप्रवृत्त गुण व सर्व इन तीनके योग्य

गो. क./मू./४२५/५८३ हस्सरदि भयजुगुच्छे अधापवत्तो गुणो सव्वो ।४२५। —हास्य, रति, भय और जुगुप्सा—इन चार प्रकृतियोमे अध:प्रवृत्त, गुण और सर्वसंक्रमण ये तीन संक्रमण पाये जाते है ।४२५।

११. विध्यात गुण और सर्व इन तीनके योग्य

गो. क./मू./४२३/५८२ विज्झादगुणे सव्वं सम्मे···।४२३। —मिथ्यात्व प्रकृतिमें विध्यात, गुण और सर्वसंक्रमण ये तीन है ।४२३।

१२. उद्वेलनाके बिना चारके योग्य

गो. क./मू./४२०-४२१/५८१ थीणतिनारक्सायां संढित्थी अरइ सोगो य ।४२०। तिरियेयारं तीसे उव्वेलणहीणचारि संकमणा।·· ।४२१। —स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, (संज्वलनके बिना) १२ कषाय, नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, अरति, शोक, और तिर्यक् एकादशकी ११ (दे. उदय ६/१) इन तीस (३०) प्रकृतियोंमें उद्वेलन संक्रमणके बिना चार संक्रमण होते है।

१३. विध्यातके बिना चारके योग्य

गो. क./मू. ४२३/५८२ सम्मे विज्झादपरिहीणा ।४२३। —सम्यक्त्व मोहनीयमें विध्यातके बिना सर्व संक्रमण पाये जाते है।

१४. पाँचोंके योग्य

गो. क./मू./४२४/५८३ संजलणतिये पुरिसे अधापवत्तो य सव्वो य ।४२४। —सम्यक्त्व मोहनीयके बिना १२ उद्वेलन प्रकृतियोमें (दे. संक्रमण/२/१) पाँचों ही संक्रमण होते है।

३. प्रकृतियोंके संक्रमण सम्बन्धी कुछ नियम व शंका

१. बध्यमान व अबध्यमान प्रकृति सम्बन्धी

ध. १६/४०६/४ बंधे अधापवत्तो 'बंधे अधापवत्तो' जत्थ जासिं पयडीणं बंधो संभवदि तत्थ तासिं पयडीण बंधे संते असंते वि अधापमत्तसंकमो होदि। एसो णियमो बंधपयडीणं, अबंधपयडीण णत्थि। कुदो। सम्मत्त-सम्मामिच्छत्तेसु वि अधापमत्तसंकमुवलंभादो।

ध. १६/४२०/५ तिण्णि संजलण-पुरिसवेदाणमधापवत्तसंकमो सव्वसंकमो चेदि दोण्णि संकमा होंति। तं जहा—तिण्णं संजलणाणं पुरिसवेदस्स मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति अधापवत्तसंकमो। —१. बन्धके होनेपर अध:प्रवृत्त संक्रमण होता है। (गो. क./मू./४१६) २. 'बंधे अधापवत्तो'का स्पष्टीकरण करते हुए बतलाते है कि जहाँ जिन प्रकृतियोका बन्ध संभव है वहाँ उन प्रकृतियोंके बन्धके होनेपर और उसके न होनेपर भी अध:प्रवृत्त संक्रमण होता है। यह नियम बन्ध प्रकृतियोके लिए है, अबन्ध प्रकृतियोके लिए नही है, क्योंकि सम्यक्त्व, और सम्यग्मिथ्यात्व इन दो अबन्ध प्रकृतियोमे भी अध:प्रवृत्तसंक्रमण पाया जाता है। ३. तीन संज्वलन और पुरुषवेदके अध:प्रवृत्तसंक्रम और सर्व-संक्रम ये दो संक्रम होते हैं। यथा—तीन संज्वलन कषायों और पुरुष वेदका मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिकरण तक अध:प्रवृत्त संक्रम होता है। (गो. क./मू./४२४)।

गो. क./मू. व जी. प्र./४१० बंधे संकामिज्जदि णोबंधे ।४१०। बंधे बध्यमानमात्रे संक्रामति इत्ययमुत्सर्गविधि. क्वचिदबध्यमानेऽपि संक्रमात्, नोबन्धे अबन्धे न संक्रामति इत्यनर्थकवचनाद्दर्शनमोहनीयं बिना शेष कर्म बध्यमानमात्रे एव संक्रामतीति नियमो ज्ञातव्य.। —जिस प्रकृतिका बन्ध होता है, उसी प्रकृतिका संक्रमण भी होता है यह सामान्य विधान है क्योंकि कहींपर जिसका बन्ध नही उसमें भी संक्रमण देखा जाता है। जिसका बन्ध नहीं होता उसका संक्रमण भी नही होता। इस वचनका ज्ञापन सिद्ध प्रयोजन यह है कि दर्शनमोहके बिना शेष सब प्रकृतियाँ बन्ध होनेपर संक्रमण करती है ऐसा नियम जानना।

२. मूल प्रकृतियोंमें परस्पर संक्रम नही होता

ध. १६/४०८/१० जं पदेसग्गं अण्णपयडिं संकामिज्जदि एसो पदेससंकमो। एदेण अट्ठपदेण मूलपयडिसंकमो णत्थि। उत्तरपयडिसंकमे पयदं। —जो प्रदेशाग्र अन्य प्रकृतिमें संक्रान्त किया जाता है इसका नाम प्रदेश संक्रम है। इस अर्थपदके अनुसार मूलप्रकृति संक्रम नही है। उत्तरप्रकृति संक्रम प्रकरण प्राप्त है।

गो. क./मू. व जी. प्र./४१०/५७४ णत्थि मूलपयडीणं। संकमणं ।४१०। मूलप्रकृतीनां परस्परसंक्रमणं नास्ति, उत्तरप्रकृतीनामस्तीत्यर्थः।

=मूल प्रकृतियोका परस्पर संक्रमण नही होता। अर्थात् ज्ञानावरणी कभी दर्शनावरणी रूप नही होती। साराश यह हुआ कि उत्तर प्रकृतियोमे ही सक्रमण होता है।

३. उत्तर प्रकृतियोंमें संक्रमण सम्बन्धी कुछ अपवाद

ध. १६/३४१/१ दंसणमोहणीयं चारित्तमोहणीए ण संकमदि, चारित्तमोहणीयं पि दंसणमोहणीए ण सकमदि। कुदो। साभावियादो।... चदुण्णमाउआणं सकमो णत्थि। कुदो। साभावियादो। =दर्शन मोहनीय चारित्र मोहनीयमें सक्रान्त नहीं होती, और चारित्र मोहनीय भी दर्शनमोहनीयमें संक्रान्त नही होती, क्योंकि ऐसा स्वभाव है।... चारो आयुकर्मका संक्रमण नहीं होता क्योंकि ऐसा स्वभाव है। (गो. क./मू./४१०/५७४)।

क पा. ३/३,२२/§४११-४१२/२३४/४ दंसणमोहणीयस्स चारित्तमोहणीयसंकमाभावादो। कसायाणं णोकसाएसु णोकसायाणं च कसाएसु कुदो सकमो। ण एस दोसो, चारित्तमोहणीयभावेण तेसि पच्चासत्तिसंभवादो। मोहणीयभावेण दंसणचारित्तमोहणीयाणं पच्चासत्ति अत्थि त्ति अण्णोण्णेसु संकमो किण्ण इच्छदि। ण, पडिसेज्झमाणदसणचारित्ताण भिण्णजादित्तणेण तेसिं पच्चासत्तीए अभावादो। =दर्शनमोहनीयका चारित्र मोहनीयमें सक्रमण नही होता है। प्रश्न—कषायोका नोकषायोमें और नोकषायोका कषायोमें संक्रमण किस कारणसे होता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि दोनो चारित्रमोहनीय है, अत. उनमें परस्परमे प्रत्यासत्ति पायी जाती है, इसलिए उनका परस्परमें सक्रमण हो जाता है। प्रश्न—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ये दोनो मोहनीय है, इस रूपसे इनकी भी प्रत्यासत्ति पायी जाती है, अत. इनका परस्परमें संक्रमण क्यो नहीं स्वीकार किया जाता है? उत्तर—नही, क्योंकि परस्परमे प्रतिषेध्यमान दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीयके भिन्न जाति होनेसे उनकी परस्परमें प्रत्यासत्ति नहीं पायी जाती, अत इनका परस्परमें सक्रमण नही होता है।

४. दर्शनमोह त्रिकका स्व उदय कालमें ही संक्रमण नहीं होता

गो. क./मू./४११/५७५ सम्म मिच्छं मिस्स सगुणट्ठाणम्मि णेव सकमदि।...।४११। =सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय अपने-अपने असंयतादि गुणस्थानोंमें तथा मिथ्यात्व गुणस्थानमें और मिश्रमें नहीं संक्रमण करती।

५. प्रकृति व प्रदेश संक्रमणमें गुणस्थान निर्देश

क. पा. ३/३,२२/§३४८/३८८/१० ण, तत्थ दंसणमोहणीयस्स सकमाभावेण सम्मत्त-मामिच्छत्ताण...। =सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें दर्शनमोहनीयका संक्रमण नही होता।

गो. क./मू. व जी. प्र./४११/५७४ सासणमिस्से णियमा दंसणतियसकमो णत्थि ।४११। ..सासादनमिश्रयोर्नियमेन दर्शनमोहत्रयस्य संक्रमणं नास्ति। असंयतादिचतुर्ष्वस्तीत्यर्थ.। =सासादन गुणस्थानमें नियमसे दर्शनमोह त्रिकका संक्रमण नही होता। असंयतादि (४-७) में होता है।

गो. क./मू./४२६ बंधपदेसाण पुण सकमणं सुहुमरागोत्ति ।४२६।

गो. क./मू. व टी./४४२/५६४ आदिमसत्तेव तदो सुहुमकसायोत्ति संकमेण विणा। छच्च सजोगित्ति।...।४४२। तत्रापि सक्रमकरणं विना षडेव सयोगपर्यन्त भवन्ति। =बन्धरूप प्रदेशोका सक्रमण भी सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान पर्यन्त है। क्योंकि 'बंधे अधापवत्तो' इस गाथासूत्रके अभिप्रायसे स्थितिबन्ध पर्यन्त ही संक्रमण संभव है।४२६। उस अपूर्वकरण गुणस्थानके ऊपर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान पर्यन्त आदिके सात ही करण होते है। उससे आगे सयोग केवली तक संक्रमणके बिना छह ही करण होते है।४४२।

६. संक्रमण द्वारा अनुदय प्रकृतियोंका भी उदय

क पा. ३/३,२२/§४३०/२४४/६ उदयाभावेण उदयनिसेयट्ठिदी परसरूवेण गदाए...। =जिस प्रकृतिका उदय नहीं होता उसकी उदय निषेक स्थितिके उपान्त्य समयमें पररूपसे सक्रामित हो जाती है।

७. अचलावली पर्यन्त संक्रमण सम्भव नहीं

क. पा ३/३,२२/§४११/२३३/४ अचलावलियमेत्त कालं बद्धसोलसकसायाणमुक्कस्सट्ठिदीए णोकसाएसु सकमाभावादो। कुदो एसो णियमो। साहावियादो। =बधी हुई सोलह कषायोंकी उत्कृष्ट स्थितिका अचलावली काल तक नौकषायोंमें सक्रमण नहीं होता। प्रश्न—विवक्षित समयमें बधे हुए कर्मपुंजका अचलावली कालके अनन्तर ही पर प्रकृतिरूपसे सक्रमण होता है ऐसा नियम क्यों? उत्तर—स्वभावसे ही यह नियम है।

८. संक्रमण पश्चात् आवली पर्यन्त प्रकृतियों की अचलता

ध. ६/१, ६-८,१६/गा. २१/३४६ संकामेदुक्कड्डदि जे अंसे ते अवट्ठिदा होंति। आवलियं ते काले तेण परं होंति भजिदव्वा ।२१। =जिन कर्म प्रदेशोका संक्रमण अथवा उत्कर्षण करता है वे आवलीमात्र काल तक अवस्थित अर्थात् क्रियान्तर परिणामके बिना जिस प्रकार जहाँ निक्षिप्त है उसी प्रकार ही वहाँ निश्चल भावसे रहते है। इसके पश्चात् उक्त कर्मप्रदेश वृद्धि, हानि एवं अवस्थानादि क्रियाओंसे भजनीय है।२१।

४. उद्वेलना संक्रमण निर्देश

१. उद्वेलना संक्रमणका लक्षण

नोट—[करण परिणामों अर्थात् परिणामोंकी विशुद्धि व संक्लेशसे निरपेक्ष कर्म परमाणुओका अन्य प्रकृतिरूप परिणमन हो जाना, अर्थात् रस्सीका बट खोलनेवत् उसी प्रकृतिरूप हो जाना जिसमें कि संक्रम कर पहले कभी इस प्रकृतिरूप परिणमन किया था, सो उद्वेलना संक्रमण है। इसका भागाहार अंगुल/अस. है, अर्थात् सबसे अधिक है। अर्थात् प्रत्येक समय बहुत कम द्रव्य इसके द्वारा परिणमाया जाना सम्भव है। यह बात ठीक भी है, क्योंकि बिना परिणामों रूप प्रयत्न विशेषके धीरे-धीरे ही कार्यका होना सम्भव है।

जो प्रकृति उस समय नहीं बँधती है और न ही उसको बाँधनेकी उस जीवमे योग्यता है उन्हीं प्रकृतियोंकी उद्वेलना होती है। मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होती है। यह काण्डकरूप होती है अर्थात् प्रथम अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा विशेष चयहीन क्रमसे तथा द्वितीय अन्तर्मुहूर्तमें उससे दुगुने चयहीन क्रमसे होती है। अध प्रवृत्त पूर्वक ही होती है। उपान्त्य काण्डक पर्यन्त ही होती है। यह प्रकृतिके सर्वहीन निषेकोंको परिणमानेपर होता है, थोडे मात्रपर नहीं। प्रत्येक काण्डक पल्य/असं. स्थिति वाला होता है।]

गो. क./जी. प्र./३४९/५०३/२ वल्वजरज्जुभावविनाशवत् प्रकृतेरुद्वेल्लनं भागाहारेणापकृष्य परप्रकृतिता नीत्वा विनाशनमुद्वेल्लनं ।३४९। =जैसे जेवडी (रस्सी)के बटनेमें जो बल दिया था पीछे उलटा घुमानेसे वह बल निकाल दिया। इसी प्रकार जिस प्रकृतिका बध किया था, पीछे परिणाम विशेषसे भागाहारके द्वारा अपकृष्ट करके, उसको अन्य प्रकृतिरूप परिणमाके उसका नाश कर दिया (फल-उदयमें नहीं आने दिया, पहले ही नाश कर दिया।) उसे उद्वेलन संक्रमण कहते हैं।

गो. क./जी. प्र./४१३/५७६/८ करणपरिणामेन विना कर्मपरमाणूनां परप्रकृतिरूपेण निक्षेपणमुद्वेल्लनसंक्रमणं नाम। =अध प्रवृत्त आदि तीन करणरूप परिणामोके बिना ही कर्मप्रकृतियोंके परमाणुओका अन्य प्रकृतिरूप परिणमन होना वह उद्वेलन संक्रमण है।

२. मार्गणा स्थानोंमें उद्वेलना योग्य प्रकृतियाँ

गो. क./मू /३५१, ६१३, ६१६ चदुगतिमिच्छे चउरो इगिविगले छप्पि तिण्णि तेउदुगे। ।३५१। वेदगजोग्गे काले आहारं उवसमस्स सम्मत्त। सम्मामिच्छं चेगे विगलेवेगुव्वछक्क तु ।६१४। तेउदुगे मणुवदुग उच्च उव्वेल्लदे जहण्णिदर। पल्लासंखेज्जदिम उव्वेल्लण-कालपरिमाण ।६१६। =चारो गतिवाले मिथ्यादृष्टि जीवोके चार (आहारक द्विक, सम्यक्त्व, मिश्र) प्रकृतियाँ, पृ., अप., वन., तथा विकलेन्द्रियों में देवद्वि., वै. द्वि., नरकद्वि-ये छह प्रकृतियाँ, तेजकाय व वायुकाय इन दोनोके (उच्चगोत्र, मनुष्य द्विक) ये तीन प्रकृतियाँ उद्वेलनके योग्य है।३५१। वेदक सम्यक्त्व योग्य कालमें आहारक द्विकको उद्वेलना, उपशम कालमें सम्यक्त्व प्रकृति वा सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिकी उद्वेलना करता है। और एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय पर्यायमें वैक्रियिक षट्कको उद्वेलना करता है।६१४। तेजकाय और वायुकायके मनुष्यगति युगल और उच्चगोत्र—इन तीन-की उद्वेलना होती है, उस उद्वेलनाके कालका प्रमाण जघन्य अथवा उत्कृष्ट पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण है।६१६।

३. मिथ्यात्व व मिश्र प्रकृतिकी उद्वेलना योग्य काल

क.पा २/२.२२/§१२३/१०५/१ एइंदिएसु सम्मत्त-सम्मामिच्छत्तविहत्ती० जह० एगसमओ, उक्क० पलिदोवमस्स असखे० भागो। =एकेन्द्रियोंमें सम्यक्प्रकृति व सम्यग्मिथ्यात्वकी विभक्तिका जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्टकाल पल्योपमके असंख्यातवें भागमात्र है। [क्योंकि यहाँ उपशम सम्यक्त्व प्राप्तिकी योग्यता नहीं है, इसलिए इस कालमें वृद्धि सम्भव नही। यदि सम्यक्त्व प्राप्त करके पुन नवीन प्रकृतियो-की सत्ता कर ले तो क्रम न टूटनेके कारण इस कालमें वृद्धि होनी सम्भव है। यदि ऐसा न हो तो अवश्य इतने कालमें उन प्रकृतियोकी उद्वेलना हो जाती है। जिन मार्गणाओमें इनका सत्त्व अधिक कहा है वहाँ नवीन सत्ताकी अपेक्षा जानना। दे. अन्तर/२।]

ध. ५/१.६,७/१०/८ सम्मत्त-सम्मामिच्छत्तट्ठिदीए पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्तकालेण विणा सागरोवमस्स वा सागरोवमपुधत्तस्स वा हेट्ठा पदणाणुववत्तीदो। =सम्यक्त्व और सम्यक्त्वमिथ्यात्व प्रकृतिकी स्थितिका, पल्योपमके असख्यातवें भागमात्र कालके बिना सागरोपमके, अथवा सागरोपमपृथक्त्वके नीचे पतन नहीं हो सकता है।

गो. क./मू /६१७/८२१ पल्लासखेज्जदिम ठिदिमुव्वेल्लदि मुहुत्तअतेण। संखेज्जसायरठिदिं पल्लासखेज्जकालेण। =पल्यके असख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिकी अन्तर्मुहूर्त कालमें उद्वेलना करता है। अतएव एक सख्यात सागरप्रमाण मनुष्यद्विकादिकी सत्तारूप स्थितिकी उद्वेलना त्रैराशिक विधिसे पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण कालमें ही कर सकता है, ऐसा सिद्ध है।

४. यह मिथ्यात्व अवस्थामें होता है

क. पा २/२.२२/§३३७/१२६/२ पंचिदियतिरि० अपज्ज० सव्वपयडीणं णत्थि अंतर। एव···सम्मादि० खइय० वेदग० उवसम० सासण० सम्मामि० मिच्छादि० अणाहारएत्ति वत्तव्वं। =पचेन्द्रिय तिर्यंच लब्धि अपर्याप्तकोके सभी प्रकृतियोका अन्तरकाल नहीं है। इसी प्रकार··सम्यग्दृष्टि, क्षायिक सम्यग्दृष्टि, वेदक सम्यग्दृष्टि, उपशम सम्यग्दृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, मिथ्यादृष्टि, और अनाहारक जीवोके कहना चाहिए। [इस प्रकरणसे यह जाना जाता है कि इन दो प्रकृतियोकी उद्वेलना मिथ्यात्वमें ही होती है, वेदक सम्यक्त्वावस्थामें नहीं, और उपशम सम्यक्त्व हुए बिना मिथ्यात्वावस्थामें ही इनका पुनः सत्त्व नहीं होता। न ही इनका सत्त्व प्राप्त हो जानेपर उपशम सम्यक्त्व हुए बिना मार्गमेंसे ही पुन. मिथ्यात्वको प्राप्त होता है। और भी दे. अगला शीर्षक]।

५. सम्यक् व मिश्र प्रकृतिकी उद्वेलनाका क्रम

क. पा २/२.२२/§२४८/१११/६ अट्ठावीससतकम्मिओ उव्वेलिद-सम्मत्तो मिच्छाइट्ठी सत्तावीसविहत्तिओ होदि। =अट्ठाईस प्रकृतियोकी सत्तावाला मिथ्यादृष्टि जीव (पहले) सम्यक्त्व प्रकृतिकी उद्वेलना करके सत्ताईस प्रकृतियोकी सत्तावाला होता है [तत्पश्चात् सम्यग्मिथ्यात्वकी भी उद्वेलना करके २६ प्रकृति स्थानका स्वामी हो जाता है।] (क पा ३/§३७३/२०५/६)।

५ विध्यात संक्रमण निर्देश

१. विध्यात संक्रमणका लक्षण

नोट—[अपकर्षण विधानमे बताये गये स्थिति व अनुभाग काण्डक व गुणश्रेणीरूप परिणामोमें प्रवृत्त होना विध्यात संक्रमण है। इसका भागाहार भी यद्यपि अंगुल/असख्यात भाग है, परन्तु यह उद्वेलनाके भागाहारसे असख्यात गुणहीन है, अत इसके द्वारा प्रति समय उठाया गया द्रव्य बहुत अधिक है। मिथ्यात्व व मिश्र मोह इन दो प्रकृतियोंको जब सम्यक्प्रकृतिरूपसे परिणमाता है तब यह सक्रमण होता है। वेदक सम्यक्त्ववालेको तो सर्व ही अपनी स्थिति कालमें वहाँ तक होता रहता है जब तक कि क्षपणा प्रारम्भ करता हुआ अधःप्रवृत्त परिणामका अन्तिम समय प्राप्त होता नहीं। उपशम सम्यक्त्वके भी अपने सर्व कालमें उसी प्रकार होता रहता है, परन्तु यहाँ प्रथम अन्तर्मुहूर्तमें गुणसक्रमण करता है पश्चात् उसका काल समाप्त होनेके पश्चात् विध्यात प्रारम्भ होता है।]

गो. क./जी. प्र /४१३/५७६/८ विध्यातविशुद्धिकस्य जीवस्य स्थित्यनु-भागकाण्डकगुणश्रेण्यादिपरिणामेष्वतीतेषु प्रवर्तनाद्विध्यातसक्रमणं णाम। =मद विशुद्धतावाले जीवकी, स्थिति अनुभागके घटाने रूप भूतकालीन स्थिति काण्डक और अनुभाग काण्डक तथा गुणश्रेणी आदि परिणामोमें प्रवृत्ति होना विध्यात सक्रमण है।

६. अध प्रवृत्त संक्रमण निर्देश

१. अधःप्रवृत्त संक्रमणका लक्षण

नोट—[सत्ताभूत प्रकृतियोका अपने अपने बंधके साथ संभवती यथा-योग्य प्रकृतियोमें उनके बंध होते समय ही प्रवेश पा जाना अध.-प्रवृत्त है। इसका भागाहार पल्य/असंख्यात, जो स्पष्टत' ही विध्यातसे असख्यातगुणा हीन है। अत इसके द्वारा प्रतिक्षण ग्रहण किया गया द्रव्य विध्यात की अपेक्षा बहुत अधिक है।

बधकालमें या उस प्रकृतिकी बधकी योग्यता रखनेपर उस ही गुणस्थानमें होता है जिसमें कि वह प्रकृति बन्धसे व्युच्छिन्न नहीं हुई है, थोड़े द्रव्यका होता है सर्व द्रव्यका नही, क्योंकि इसके पीछे उद्वेलना या गुण संक्रमण या विध्यात सक्रमण प्रारम्भ हो जाते है। क्रोधको प्रत्याख्यानादि स्व जाति भेदोंमें अथवा मान आदि विजाति भेदोमें परिणमाता है। यह नियमसे फालीरूप होता है। अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही होता है। काण्डकरूप सक्रमण और फालिरूप सक्रमणमें इतना भेद है कि फालिरूपमें तो अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त बराबर भागाहार हानि क्रमसे उठा-उठाकर साथ-साथ सक्रमाता है और काण्डक रूपमें वर्तमान समयसे लेकर एक-एक अन्तर्मुहूर्तकाल बीतने-पर भागाहार क्रमसे इकट्ठा द्रव्य उठाता है अर्थात् सक्रमण करनेके

लिए निश्चित करता है। एक अन्तर्मुहूर्त तक संक्रमानेके लिए जो द्रव्य निश्चित किया उसे काण्डक कहते है। उस द्रव्यको अन्तर्मुहूर्त-काल पर्यन्त विशेष चय हानि क्रमसे खपाता है। उसके समाप्त हो जानेपर अगले अन्तर्मुहूर्तके लिए अगला काण्डक उठाता है।]

गो. क./जी. प्र./४१३/५७६/६ बन्धप्रकृतीनां स्वबन्धसंभवविषये यः प्रदेशसंक्रमः तदधःप्रवृत्तसंक्रमणं नाम। =बंध हुई प्रकृतियोंका अपने बंधमें संभवती प्रकृतियोंमें परमाणुओंका जो प्रदेश संक्रम होना वह अधः प्रवृत्त संक्रमण है।

२. यह नियमसे फालीरूप होता है

गो. क./जी. प्र./४१२/५७५/७ तत्राधःप्रवृत्तसंक्रमः फालिरूपेण उद्वेलन-संक्रमः काण्डकरूपेण वर्तते। =(मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेपर सम्यक्त्व व मिश्रका अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् उपान्त काण्डक पर्यन्त) अधःप्रवृत्तसंक्रमण फालिरूपसे प्रवर्तता है और उद्वेलना संक्रमण काण्डक रूपसे प्रवर्तता है।

३. मिथ्यात्व प्रकृतिका नहीं होता

गो. क./जी. प्र./४१६/५७८/७ अधः प्रवृत्तसंक्रमणः स्यात् न मिथ्यात्वस्य, 'सम्मं मिच्छं मिस्सं सगुणट्ठाणम्मि णेव सकमदीति' निषेधात् (गो क./४११) =(प्रकृतियोंके बन्ध होनेपर अपनी-अपनी व्युच्छित्ति पर्यन्त) अधः प्रवृत्त संक्रमण होता है, परन्तु मिथ्यात्व प्रकृतिका नहीं होता। क्योंकि 'सम्म मिच्छं मिस्सं' इत्यादि गाथाके द्वारा इसका निषेध पहले बता चुके है (दे. संक्रमण/३/४)।

४. सम्यक्त्व व मिश्र प्रकृतिके अधःप्रवृत्त संक्रम योग्य काल

गो. क./मू./४१२/५७५ मिच्छे सम्मिस्साण अधःपवत्तो मुहुत्तअंतोत्ति। =मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेपर सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्रमोहनीयका अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त तक अधःप्रवृत्त संक्रमण होता है।

७. गुण संक्रमण निर्देश

१. गुण संक्रमणका लक्षण

नोट—[प्रति समय असंख्यात गुणश्रेणी क्रमसे परमाणु प्रदेश अन्य प्रकृतिरूप परिणमावे सो गुण संक्रमण है। इसका भागहार भी यद्यपि पल्य/असंख्यात है परन्तु अधःप्रवृत्तसे असंख्यात गुणहीन हीन है। इसलिए इसके द्वारा प्रतिसमय ग्रहण किया गया द्रव्य बहुत ही अधिक होता है। उपान्त्य काण्डक पर्यन्त विशेष हानि क्रमसे उठाता हुआ चलता है। (यहाँ तक तो उद्वेलना संक्रमण है), परन्तु अन्तिम काण्डककी अन्तिम फालि पर्यन्त गुणश्रेणी रूपसे उठाता है।

जिन प्रकृतियोंका बन्ध हो रहा हो उनका गुण संक्रमण नहीं हो सकता, अबन्धरूप प्रकृतियोंका होता है और स्व जातिमें ही होता है। अपूर्वकरणके प्रथम समयमें गुण संक्रम नहीं होता। अनन्तानुबन्धीका गुण संक्रमण विसंयोजना कहलाता है।]

गो. क./जी. प्र./४१३/५७६/६ प्रतिसमयमसंख्येयगुणश्रेणिक्रमेण यत्प्रदेश-संक्रमणं तद् गुणसंक्रमणं नाम। =जहाँपर प्रतिसमय असंख्यात गुणश्रेणीक्रमसे परमाणु-प्रदेश अन्य प्रकृतिरूप परिणमे सो गुण-संक्रमण है।

२. बन्धवाली प्रकृतियोंका नहीं होता

ल. सा./जी. प्र./७५/१०६/१७ अप्रशस्तानां बन्धोज्झितप्रकृतीनां द्रव्यं प्रतिसमयमसंख्येयगुणं बध्यमानसजातीयप्रकृतिषु संक्रामति। पूर्व-स्वरूपं गृह्णातीत्यर्थः। =बन्ध अयोग्य अप्रशस्त प्रकृतियोंका द्रव्य, समय-समय प्रति असंख्यातगुणा क्रम लिये जिनका बन्ध पाया जाता है ऐसी स्वजाति प्रकृतियोंमें संक्रमण करता है, अपने स्वरूपको छोडकर तद्रूप परिणमन करता है।

ल. सा./जी. प्र./२२४/२८०/८ बन्धवत्प्रकृतीनां गुणसंक्रमो नास्ति। =जिनका बन्ध पाया जाता है ऐसी प्रकृतियोंका संक्रमण नहीं होता।

३. गुण संक्रमण योग्य स्थान

ल. सा./जी. प्र./७५-७६/१०६/११०/१६ गुणसंक्रमः अपूर्वकरणप्रथमसमये नास्ति तथापि स्वयोग्यावसरे भविष्यत' (७५) एवंविधं प्रतिसमयमसंख्येयगुणं संक्रमणं प्रथमकषायाणामनन्तानुबन्धिनां विसंयोजने वर्तते। मिथ्यात्वमिश्रप्रकृत्योः क्षपणायां वर्तते। इतरासां प्रकृतीनामुभयश्रेण्यामुपशमकश्रेण्या क्षपकश्रेण्यां च वर्तते।७६। =गुण संक्रमण अपूर्वकरणके पहले समयमें नहीं होता है। अपने योग्यकालमें होता है।७५। असंख्यातगुणा क्रम लिये जो हो उसको गुण संक्रमण कहते है। सो अनन्तानुबन्धी कषायोंको गुणसंक्रमण उनकी विसंयोजनामें होता है। मिथ्यात्व और मिश्रप्रकृतिका गुण संक्रमण उनकी क्षपणामें होता है, और अन्य प्रकृतियोंका गुणसंक्रमण उपशम व क्षपक श्रेणीमें होता है।

४. गुण संक्रमण कालका लक्षण

ल. सा./भाषा/१२८/१६१/६ मिश्र मोहनीय (या विवक्षित प्रकृतिका) गुण संक्रमण कर यावत् सम्यक्त्व मोहनीयरूप (या यथा योग्य किसी अन्य विवक्षित प्रकृतिरूप) परिणमै तावत् गुणसंक्रमण काल कहिये।

८. गुणश्रेणी निर्देश

१. गुणश्रेणी विधानमें तीन पर्वोंका निर्देश

ल. सा./मू./५८३/६६५ गुणसेढि अंतरट्ठिदि विदियट्ठिदि इदिहवंति पव्वतिया।...।५८३। =गुणश्रेणीमें तीन पर्व होते है—गुणश्रेणी, अन्तर स्थिति और द्वितीय स्थिति। अपकृष्ट किया हुआ द्रव्य इन तीनोंमें विभक्त किया जाता है।

२. गुणश्रेणी निर्जराके आवश्यक अधिकार

नोट—[गुणश्रेणी शीर्ष, गुणश्रेणी आयाम, गलितावशेषगुणश्रेणी आयाम और अवस्थित गुणश्रेणी आयाम इतने अधिकार है।]

३. गुणश्रेणीका लक्षण

ध. १२/४,२,७,१७५/८०/६ गुणो गुणगारो, तस्स सेडी ओली पंती गुण-सेडी णाम। दंसणमोहुवसामयस्स पढमसमए णिज्जिण्णदव्वं थोवं। विदियसमए णिज्जिण्णदव्वमसंखेज्जगुणं। तदियसमए णिज्जिण्ण-दव्वमसंखेज्जगुणं। एवं णेयव्वं जाव दंसणमोहउवसामगचरिम-समओ त्ति। एसा गुणागारपंती गुणसेडि त्ति भणिदं। गुणसेडीए गुणो गुणसेडिगुणो, गुणसेडिगुणगारो त्ति भणिदं होदि। =गुण शब्दका अर्थ गुणकार है। तथा उसकी श्रेणी, आवलि या पंक्तिका नाम गुणश्रेणी है। दर्शनमोहका उपशम करनेवाले जीवका प्रथम समयमें निर्जराको प्राप्त होनेवाला द्रव्य स्तोक है। उसके द्वितीय समयमें निर्जराको प्राप्त हुआ द्रव्य असंख्यात गुणा है। उससे तीसरे समयमें निर्जराको प्राप्त हुआ द्रव्य असंख्यात गुणा है। इस प्रकार दर्शनमोह उपशामकके अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए। यह गुणकार पंक्ति गुणश्रेणि है। यह उक्त कथनका तात्पर्य है। तथा गुणश्रेणिका गुण गुणश्रेणिगुण अर्थात् गुणश्रेणि गुणकार कहलाता है।

क्ष. सा./मू./५८३/६६५ सुहुमगुणादो अहिया अवट्ठिदुदयादि गुणसेढी।५८३। =यावत् अपकृष्ट किया द्रव्य सूक्ष्मसे लेकर असंख्यातगुणा

क्रम लिये अवस्थितादि आयाममें दिया जाता है उसका नाम गुण-श्रेणी है।

४. गुणश्रेणी निर्जराका लक्षण

गो. जी./भाषा/६७/१७२/११ उदयावलि कालके पीछे अन्तर्मुहूर्त मात्र जो गुणश्रेणिका आयाम कहिए काल प्रमाण ताविषै दिया हुआ द्रव्य सो तिस कालका प्रथमादि समयविषै जे पूर्वे निषेक थे, तिनकी साथि क्रमतें असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा होइ निर्जरै हैं सो गुणश्रेणी निर्जरा (है।)

५. गुणश्रेणी शीर्षका लक्षण

ध. ६/१,६-८,१२/२६१/११ सम्मत्तस्स चरिमट्ठिदिखंडगे पढमसमय-आगाइदे ओवट्टिज्जमाणसु ट्ठिदिसु जं पदेसग्गमुदए दिज्जदि तं थोवं, से काले असंखेज्जगुणं। ताव असंखेज्जगुणं जाव ट्ठिदिखंड-गस्स जहण्णियाए वि ट्ठिदीए चरिमसमयं अपत्तं त्ति। सा चेव ट्ठिदी गुणसेडी सीसयं जादा। =सम्यक्त्व प्रकृतिके अन्तिम स्थिति काण्डकके प्रथम समयमें ग्रहण करनेपर अपवर्तन की गयी स्थितियों-मे-से जो प्रदेशाग्र उदयमें दिया जाता है, वह अल्प है, अनन्तर समयमें असंख्यात गुणित प्रदेशाग्रोंको देता है। इस क्रमसे तब तक असंख्यात गुणित प्रदेशाग्रोंको देता है जब तक कि स्थितिकाण्डककी जघन्य भी स्थितिका अन्तिम समय नहीं प्राप्त होता है। वह स्थिति ही गुणश्रेणिशीर्ष कहलाती है।

ल. सा./भाषा/१३५/१८६/१ गुणश्रेणि आयामका अन्तका निषेक ताकौ इहाँ गुणश्रेणि शीर्ष कहते हैं।

६. गुणश्रेणी आयामका लक्षण

क्ष. सा./२६९/भाषा उदयावलिसे बाह्य गलितावशेष रूप जो यह गुण-श्रेणि आयाम है ता विषै अपकर्ष किया द्रव्यका निक्षेपण हो है।

७. गलितावशेष गुणश्रेणी आयामका लक्षण

ल. सा./भाषा/१४३/१९८/२—उदयादि वर्तमान समय तै लगाय यहाँ गुणश्रेणी आयाम पाइये तातै उदयादि कहिये, अर एक एक समय व्यतीत होते एक एक समय गुणश्रेणि आयाम विषै घटता जाय (उपरितन स्थितिका समय गुणश्रेणी आयाममें न मिले) तातै गलितावशेष कहा है। ऐसै गलितावशेष गुणश्रेणी आयाम जानना।

ल. सा./वचनिका/२२/४ गलितावशेष गुणश्रेणीका प्रारम्भ करनेकौ प्रथम समय विषै जो गुणश्रेणि आयामका प्रमाण था, तामै एक-एक समय व्यतीत होतै ताके द्वितीयादि समयनिविषै गुणश्रेणि आयाम क्रमतें एक-एक निषेक घटता होइ अवशेष रहै ताका नाम गलितावशेष है। (ध. ६/१,६–८,६/२३० पर विशेषार्थ)।

८. अवस्थित गुणश्रेणि आयामका लक्षण

ल. सा./जी. प्र./१३०/१७१/६ सम्यक्त्वप्रकृतेरष्टवर्षस्थितिकरणसमयादू-र्ध्वमपि न केवलमष्टवर्षमात्रस्थितिकरणसमय एवोदयाद्यवस्थितिगुण-श्रेणिरित्यर्थः। =सम्यक्त्व मोहनीयकी अष्ट वर्ष स्थिति करनेके समयतें लगाय उपरि सर्व समयनिविषै उदयादि अवस्थिति गुण-श्रेणि आयाम है।

ल. सा./भाषा/१२८/१६१/१८... इहाँ तें पहिलै (सम्यक्त्व मोहकी, क्षपणा विधानके द्वारा, अष्टवर्ष स्थिति अवशेष रखनेके समय तै पहिलै) तो उदयावलि तै बाह्य गुणश्रेणि आयाम था। अब इहाँ तै लगाइ उदयरूप वर्तमान समय तै लगाइ ही गुणश्रेणि आयाम भया तातै याको उदयादि कहिये। अर (उदयादि गुणश्रेणी आयाम तै) पूर्वै तो समय व्यतीत होतै गुणश्रेणि आयाम घटता होता जाता था, अब (उदयावलिमें-से) एक समय (उदय विषै) व्यतीत होतै उपरितन स्थितिका एक समय मिलाय गुणश्रेणि आयामका प्रमाण समय व्यतीत होतै भी जेताका तैता रहै। तातै अवस्थित कहिये तातै याका नाम उदयादि अवस्थिति गुण-श्रेणि आयाम है।

ल. सा./वचनिका/२२/७ अवस्थित गुणश्रेणि आयामका प्रारम्भ करने-का प्रथम समय द्वितीयादि समयनिविषै गुणश्रेणि आयाम जेता-का तेता रहै। ज्यूँ ज्यूँ एक एक समय व्यतीत होइ त्यूँ त्यूँ गुणश्रेणि आयामके अनन्तरवर्ती ऐसा उपरितन स्थितिका एक एक निषेक गुणश्रेणि आयाम विषै मिलता जाइ तहाँ अवस्थित गुण-श्रेणि आयाम कहिये है।

९. गुणश्रेणी आयामोंका यन्त्र
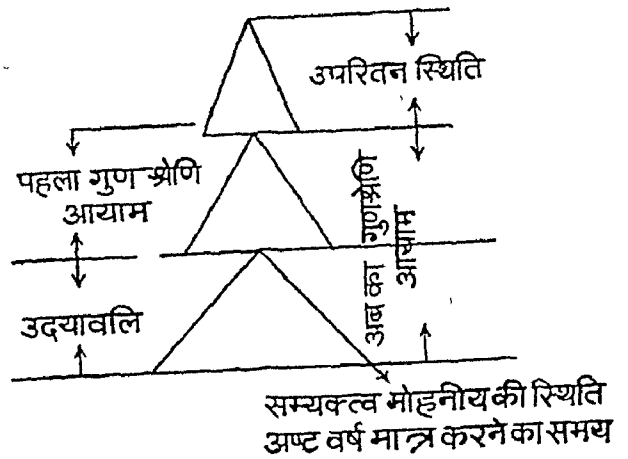
१०. अन्तरस्थिति व द्वितीय स्थितिका लक्षण

क्ष. सा./भाषा/५८३/६९५/१६ ताके उपरिवर्ती (गुणश्रेणिके ऊपर) जिनि निषेकनिका पूर्वै अभाव किया था तिनका प्रमाण रूप अन्तर-स्थिति है। ताकै उपरिवर्ती अवशेष सर्वस्थिति ताका नाम द्वितीय स्थिति है।

११. गुणश्रेणि निक्षेपण विधान

क्ष. सा./५८६/६९८–७०० का भावार्थ—प्रथम समय अपकर्षण किया द्रव्य तैं द्वितीयादि समयनि विषै असंख्यात गुण द्रव्य लिये समय प्रति-समय द्रव्यको अपकर्षण करै है और उदयावली विषै, गुणश्रेणि आयाम विषै और उपरितन (द्वितीय) स्थिति विषै निक्षेपण करिये है। अन्तरायामके प्रथम स्थितिके प्रथम निषेक पर्यन्त गुण-श्रेणि शीर्षपर्यन्त तो असंख्यात गुणक्रम लिये द्रव्य दीजिये है, ताकै उपरि (अन्तर स्थिति व द्वितीय स्थितिमें) संख्यातगुणा घटता द्रव्य दीजिये है।

१२. गुणश्रेणी निर्जरा विधान

ध. ६/१,६–८,५/२२४–२२७/५ उदयपयडीणमुदयावलियबाहिर ट्ठिद-ट्ठिदीणं पदेसग्गमोकड्डुणभागहारेण खंडिदेयखंड असंखेज्जलोगेण भाजिदेगभागं घेत्तूण उदए बहुगं देदि। विदियसमए विसेसहीणं देदि। एवं विसेसहीणं विसेसहीणं देदि जाव उदयावलियचरिम-समओ त्ति। एस कमो उदयपयडीण चेव, ण सेसाणं, तेसिमुद-यावलियब्भंतरे पढमाणपदेसग्गाभावा। उदइल्लाणमणुदइल्लाण च पयडीणं पदेसग्गमुदयावलियबाहिरट्ठिदीसु ट्ठिदमोकड्डुणभागहारेण खंडिदेगखंडं घेत्तूण उदयावलियबाहिरट्ठिदिम्हि असंखेज्जसमय-पबद्धे देदि। तदो उवरिमट्ठिदीए तत्तो असंखेज्जगुणे देदि।

तदियट्ठिदीए तत्तो असंखेज्ज गुणे देदि। एवमसंखेज्जगुणाए सेडीए णेदव्व जाव गुणसेडीचरिमसमओ त्ति। तदो उवरिमाणंतराए ट्ठिदीए असंखेज्जगुणहीणं दव्वं देदि। तदुवरिमट्ठिदीए विसेसहीणं देदि। एवं विसेसहाण विसेसहीणं चेव पदेसग्गं णिरंतरं देदि जाव अप्पप्पणो उक्कीरिदट्ठिदिमावलियकालेण अपत्तोत्ति। णवरि उदयावलियबाहिरट्ठिदिमसंखेज्जलोगेण खंडिदेगखंडं समऊणावलियाए वे त्तिभागे अइच्छाविय समयाहियतिभागे णिक्खिवदि पुव्वं व विसेसहीणक्कमेण। तदो उवरिमट्ठिदीए एसो चेव णिक्खेवो। णवरि अइच्छावणा समउतरा होदि। एव णेयव्व जाव अइच्छावणा आवलियमेत्ता जादा त्ति। तदो उवरिमणिक्खेवो चेव वड्ढदि जाव उक्कस्सणिक्खेवं पत्तो त्ति। जासि ट्ठिदीण पदेसग्गस्स उदयावलियब्भंतरे चेव णिक्खेवो तासि पदेसग्गस्स ओकड्डणभागाहारो असंखेज्जा लोगा। एवमुवरिमसव्वसमएसु कीरमाणगुणसेडीणमेसो चेव अत्थो वत्तव्वो। =उदयमें आयी हुई प्रकृतियोकी उदयावलीसे बाहर स्थित स्थितियोके प्रदेशाग्रको निषेकोको) अपकर्षण भागाहार (पल्य/असं.) के द्वारा खण्डित करके, एक खण्डको असंख्यात लोकसे भाजित करके एक भागको ग्रहण कर उदयमें बहुत प्रदेशाग्रको देता है। दूसरे समयमें विशेष हीन प्रदेशाग्रको देता है। इस प्रकार उदयावलीके अन्तिम समय तक विशेष हीन देता हुआ चला जाता है। यह क्रम उदयमें आयी हुई प्रकृतियोका ही है, शेष (सत्तावाली) प्रकृतियोका नही, क्योकि उनमें उदयावलीके भीतर आने वाले प्रदेशाग्रोका अभाव है।

उदयमें आयी हुई और उदयमें नही आयी हुई प्रकृतियोके प्रदेशाग्रोंको तथा उदयावलीके बाहरकी स्थितिमें स्थित प्रदेशाग्रोको (पूर्वोक्त प्रकार) अपकर्षण भागाहारके द्वारा खण्डित करके एक खण्डको ग्रहण कर असंख्यात समय प्रबद्धोको उदयावलीके बाहरकी स्थितिमें देता है। इससे ऊपरकी स्थितिमें उससे भी असंख्यात गुणित समय प्रबद्धोको देता है। तृतीय स्थितिमें उससे भी असंख्यात गुणित समय प्रबद्धोको देता है। इस प्रकार यह क्रम असंख्यात गुणित श्रेणीके द्वारा गुणश्रेणीके अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए।

उससे ऊपरकी अनन्तर स्थितिमे असंख्यात गुणित हीन द्रव्यको देता है। उससे ऊपरकी स्थितिमें विशेषहीन द्रव्यको देता है। इस प्रकार विशेष हीन विशेष हीन ही प्रदेशाग्रको निरन्तर तब तक देता है, जब तक कि अपनी अपनी उत्कीरित स्थितिको आवलि मात्र कालके द्वारा प्राप्त न हो जाये। विशेष बात यह है कि उदयावलिसे बाहरकी स्थितिके एक समय कम २/३ का अतिस्थापन करके (प्रारम्भ का) एक समय अधिक आवलिके त्रिभागमें पूर्वके समान विशेषहीन क्रमसे निक्षिप्त करता है। उससे ऊपरकी स्थितिमें (भी) यही (विशेष हीन क्रम वाला) निक्षेप है। केवल विशेषता यह है कि अतिस्थापना एक समय अधिक होती है। इस प्रकार यह क्रम तब तक ले जाना चाहिए जब तक कि अतिस्थापना पूर्णावली मात्र हो जाती है। उससे ऊपर उपरिम विशेष ही उत्कृष्ट निक्षेप प्राप्त होने तक बढता जाता है।

जिन स्थितियोंके प्रदेशाग्रोका उदयावलीके भीतर ही निक्षेप करता है, उन स्थितियोके प्रदेशाग्रोका अपकर्षण भागाहार असंख्यात लोक प्रमाण है। इस प्रकारसे सर्व समयोंमें को जाने वाली गुणश्रेणियोका यही अर्थ कहना चाहिए। (ल. सा./जी. प्र./६८-७४) विशेषता यह है कि प्रथम समयमें अपकर्षण दे० अपकर्षण।

१३ गुणश्रेणी विधान विषयक यंत्र

१४. नोकर्मकी गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती

ध. ९/४,१,७१/३५२/१ णोकम्मस्स गुणसेडीए णिज्जराभावादो। =नोकर्मकी गुणश्रेणी रूपसे निर्जरा नहीं होती।

९. सर्व-संक्रमण निर्देश

१. सर्व संक्रमणका लक्षण

नोट—[अन्तकी फालीमें शेष बचे सर्व प्रदेशोका अन्य प्रकृतिरूप होना सर्व संक्रमण है। क्योकि इसका भागाहार एक है।]

गो. क/जी प्र./४१३/५७६/१० चरमकाण्डकचरमफाले सर्वप्रदेशाग्रस्य यत्संक्रमण तत् सर्वसंक्रमणं णाम। =अन्तके काण्डकको अन्तकी फालिके सर्व प्रदेशोमेंसे जो अन्य प्रकृतिरूप नही हुए है उन परमाणुओका अन्यप्रकृति रूप होना वह सर्व संक्रमण है।

१०. आनुपूर्वी व स्तिवुक संक्रमण

१. आनुपूर्वी संक्रमणका लक्षण

ल सा./जी प्र./२४९/३०५/१ स्त्रीनपुंसकवेदप्रकृत्योर्द्रव्यं नियमेन पुंवेद एव संक्रामति। पुंवेदहास्यादिषण्णोकषायाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानक्रोधद्वयद्रव्यं नियमेन संज्वलनक्रोध एव संक्रामति। संज्वलनक्रोधाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानमानद्वयद्रव्यं नियमेन संज्वलनमानेएव संक्रामति संज्वलनमायाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानलोभद्वयद्रव्यं संज्वलन लोभेएव नियमत संक्रामतिइत्यानुपूर्व्या संक्रमो। =जो स्त्री, नपुंसक वेद प्रकृतिके द्रव्यको तो पुरुषवेदमें ही संक्रमण करता है। और पुरुष, हास्यादि छह, तथा अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान क्रोधका संज्वलन क्रोधमें, संज्वलन क्रोध, अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान मान का संज्वलन मान ही संक्रमण करता है। और संज्वलन मान व अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान मायाका संज्वलन मायामें ही संक्रमण करता है। संज्वलन माया अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान लोभका संज्वलन लोभ हीमें नियमसे संक्रमण होता है, अन्यथा नहीं होता है, यह आनुपूर्वी संक्रमण है।

२. स्तिवुक संक्रमणका लक्षण

ल सा./जी. प्र./२७३/३३०/६ सज्वलनक्रोधस्य समयो नोच्छिष्टावलिमात्रनिषेकद्रव्यमपि संज्वलनमानस्योदयावल्यां समस्थितिनिषेकेषु प्रतिसमयमेकैकनिषेकक्रमेण सक्रम्य उदयमागमिष्यति। संज्वलनक्रोधोच्छिष्टावलिनिषेका' मानोदयावलिनिषेकेषु सक्रम्य अनन्तरसमयेषूदयमिच्छन्तीति तात्पर्यम्। अयमेव थिउक्कसक्रम इति भण्यते। =संज्वलन क्रोधका एक समय कम उच्छिष्टावलिमात्र निषेक द्रव्य भी, अपनी समान स्थिति लिये जे सज्वलन मानकी उदयावलीके निषेक उनमें समय-समय एक-एक निषेकके अनुक्रमसे सक्रमण होकर अनन्तर समयमें उदय होता है। तात्पर्य यह है कि उच्छिष्टावलि प्रमाण सज्वलन क्रोधका द्रव्य मानकी उदयावलि निषेकोमें सक्रमण करके अनन्तर समयमें उदयमें आते है। यह ही थिउक्क (स्तिवुक) सक्रमण है।

ध. ६/१,९-८,१८/२११/८ विशेषार्थ—गति जाति आदि पिड प्रकृतियोंमेंसे जिस किसी विवक्षित एक प्रकृतिके उदय आनेपर अनुदय प्राप्त शेष प्रकृतियोंका जो उसी प्रकृतिमें सक्रमण होकर उदय आता है, उसे स्तिवुक सक्रमण कहते हैं। जैसे—एकेन्द्रिय जीवोके उदय प्राप्त एकेन्द्रिय जाति नामकर्ममें अनुदय-प्राप्त द्वीन्द्रिय जाति आदिका सक्रमण होकर उदयमें आना।

संक्रांति—१. स. सि /९/४४/४५५/१० संक्रान्ति परिवर्तनम्। द्रव्य विहाय पर्यायमुपैति पर्यायं त्यक्त्वा द्रव्यमित्यर्थसंक्रान्ति.। एक श्रुतवचनमुपादाय वचनान्तरमालम्बते तदपि विहायान्यदिति व्यञ्जनसंक्रान्ति'। काययोगं त्यक्त्वा योगान्तर गृह्णाति योगान्तर च त्यक्त्वा काययोगमिति योगसक्रान्ति। =संक्रान्तिका अर्थ परिवर्तन है। द्रव्यको छोडकर पर्यायको प्राप्त होता है और पर्यायको छोडकर द्रव्यको प्राप्त होता है। यह अर्थ सक्रान्ति है। एक श्रुत वचनका आलम्बन लेकर दूसरे वचनका आलम्बन लेता है और उसे भी त्यागकर अन्य वचनका आलम्बन लेता है यह व्यंजन सक्रान्ति है। काययोगको छोडकर दूसरे योगको स्वीकार करता है और दूसरे योगको छोडकर काययोगको स्वीकार करता है। यह योग सक्रान्ति है। (रा. वा./९/४४/१/६३४/१०), (भा पा /टी /७८/२२७), २ ध्यानमें योग संक्राति सम्बन्धी शका समाधान—दे. शुक्लध्यान/४।

संक्लिष्ट हस्तकर्म—दे. हस्तकर्म।

संक्लेश— दे विशुद्धि।

संक्षेप सम्यग्दर्शन—दे. सम्यग्दर्शन/I/१।

संख्या—लोकमें जीव किस-किस गुणस्थान व मार्गणा स्थान आदिमें कितने कितने है इस बातका निरूपण इस अधिकारमें किया गया है। तहाँ अल्प संख्याओका प्रतिपादन तो सरल है पर असख्यात व अनन्तका प्रतिपादन क्षेत्रके प्रदेशो व कालके समयोके आश्रयपर किया जाता है।

१. संख्या सामान्य निर्देश

१. सख्या व संख्या प्रमाण सामान्यका लक्षण

स. सि./१/८/२९/६ संख्या भेदगणना। =सख्यासे भेदोकी गणना ली जाती है। (रा वा /१/८/३/४१/२६)।

ध. १/१,१,७/गा. १०२/१५८ अत्थित्तस्स य तहेव परिमाण।१०२। (टीका) संताणियोगम्हि जमत्थित्तं उत्तं तस्स पमाणं परूवेदि दव्वाणियोगो। =सत् प्ररूपणामें जो पदार्थोका अस्तित्व कहा गया

है उनके प्रमाणका वर्णन करनेवाली संख्या (द्रव्यानुयोग) प्ररूपणा करती है।

२. संख्या प्रमाणके भेद

ति. प/४/३०६/१७६/१ एत्थ उक्कस्ससंखेज्जयजाणणिमित्तं जंबूदीववित्थारं सहस्सजोयण उव्वेधपमाणचत्तारिसरावया कादव्वा। सलागा पडिसलागा महासलागा ऐदे तिण्णि वि अवट्ठिदा चउत्थो अणवट्ठिदो। एदे सव्वे पण्णाए ठविदा। एत्थ चउत्थसरावयअब्भंतरे दुवे सरिसवे-त्थुदे त जहण्णं संखेज्जयं जादं। एदं पढमवियप्पं तिण्णि सरिसवे-च्छुहदे अजहण्णमणुक्कस्ससंखेज्जयं। एव सरावए पुण्णे एदमुवरिमज्झिमवियप्पं। ... तदो एगरूवमवणीदे जादमुक्कस्ससंखेज्जयं। जम्हि-जम्हि संखेज्जयं मग्गिज्जदि तम्हि-तम्हि य जहण्णमणुक्कस्स-संखेज्जयं गंतूण घेत्तव्वं। त कस्स विसओ। चोद्दसपुव्विस्स। = यहाँ उत्कृष्ट सख्यातके जाननेके निमित्त जम्बूद्वीपके समान विस्तारवाले (एक लाख योजन) और हजार योजन प्रमाण गहरे चार गड्ढे करना चाहिए। इनमें शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका ये तीन गड्ढे अवस्थित और चौथा अनवस्थित है। ये सब गड्ढे बुद्धिसे स्थापित किये गये है। इनमेसे चौथे कुण्डके भीतर दो सरसोंके डालनेपर वह जघन्य सख्यात होता है। यह संख्यातका प्रथम विकल्प है। तीन सरसोके डालनेपर अजघन्यानुत्कृष्ट (मध्यम) सख्यात होता है। इसी प्रकार एक-एक सरसोके डालनेपर उस कुण्डके पूर्ण होने तक यह तीनसे ऊपर सब मध्यम सख्यातके विकल्प होते हैं। (रा वा/३/३८/५/२०६/१८)। दे गणित/I/१/५।

३. संख्या व विधानमें अन्तर

रा. वा/१/८/१५/४३/४ विधानग्रहणादेव सख्यासिद्धिरिति, तन्न, किं कारणम्। भेदगणनार्थत्वात्। प्रकारगणनं हि तत्, भेदगणनार्थमिद-मुच्यते-उपशमसम्यग्दृष्टय इयन्त', क्षायिकसम्यग्दृष्टय एतावन्त इति। = प्रश्न — विधानके ग्रहणसे ही सख्याकी सिद्धि हो जाती है। उत्तर ऐसा नही है क्योंकि विधानके द्वारा सम्यग्दर्शनादिकके प्रकारोकी गिनती की जाती है — इतने उपशम सम्यग्दृष्टि है, इतने क्षायिक सम्यग्दृष्टि है आदि।

४. कोडाकोडी रूप सख्याओका समन्वय

ध ७/२,५,२१/२५८/३ एसो उवदेसो कोडाकोडाकोडाकोडिए हेट्ठदो त्ति सुत्तेण कधं ण विरुज्झदे। ण, एगकोडाकोडाकोडाकोडिमादि कादूण जाव रूवूणदसकोडाकोडाकोडाकोडि त्ति एद सव्व पि कोडाकोडा-कोडाकोडि त्ति गहणादो। = प्रश्न — यह उपदेश कोडाकोडाकोडा-कोडी नीचे इस सूत्रसे कैसे विरोधको प्राप्त न होगा। उत्तर — नहीं, क्योंकि, एक कोडाकोडाकोडाकोडीको आदि करके एक कम दश कोडाकोडाकोडाकोडी तक इस सबको भी कोडाकोडाकोडाकोडी रूपसे ग्रहण किया गया है।

२. संख्या प्ररूपणा विषयक कुछ नियम

१. कालकी अपेक्षा गणना करनेका तात्पर्य

ष ख. ३/१,२/सू. ३/२७ अणंताणंताहि ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीहि ण अवहिरंति कालेण।३।

ध. ३/१,२,३/२८/३ कधं कालेण मिणिज्जते मिच्छाइट्ठी जीवा। अणंता-णंताणं ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीणं समए ठवेदूण मिच्छाइट्ठिरासिं च ठवेऊण कालम्हि एगो समयो मिच्छाइट्ठिरासिम्हि एगो जीवो अवहिरिज्जदि। एवमवहिरिज्जमाणे अवहिरिज्जमाणे सव्वे समया अवहिरिज्जंति, मिच्छाइट्ठिरासी ण अवहिरिज्जदि। = १ कालकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त अवसर्पिणियों और उत्सर्पिणियोंके द्वारा अपहृत नही होते है।३। २. प्रश्न — काल प्रमाणकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीवोका प्रमाण कैसे निकाला जाता है? उत्तर — एक ओर अनन्तानन्त अवसर्पिणियों और उत्सर्पिणियोंके समयोंको स्थापित करके और दूसरी ओर मिथ्यादृष्टि जीवोंकी राशिको स्थापित करके कालके समयोंमेंसे एक-एक समय और उसीके साथ मिथ्यादृष्टि जीव राशिके प्रमाणमेंसे एक-एक जीव कम करते जाने चाहिए। इस प्रकार उत्तरोत्तर कालके समय और जीव राशिके प्रमाणको कम करते हुए चले जानेपर अनन्तानन्त अवसर्पिणियों और उत्सर्पिणियोंके सब समय समाप्त हो जाते है, परन्तु मिथ्या-दृष्टि जीव राशिका प्रमाण समाप्त नहीं होता।

२. क्षेत्रकी अपेक्षा गणना करनेका तात्पर्य

ष. ख ३/१,२/सू. ४/३२ खेत्तेण अणंताणंता लोगा।४।

ध ३/१,२,४/३२-३३/६ खेत्तेण कधं मिच्छाइट्ठिरासी मिणिज्जदे। वुच्चदे — जधा पत्थेण जव-गोधूमादिरासी मिणिज्जदि तधा लोगेण मिच्छाइट्ठिरासी मिणिज्जदि (३२/६) एक्केक्कम्मि लोगागासपदेसे एक्केक्क मिच्छाइट्ठिजीवं णिक्खेविऊण एक्को लोगो इदि मणेण संकप्पेयव्वो। एवं पुणो पुणो मिणिज्जमाणे मिच्छाइट्ठिरासी अणंत-लोगमेत्ता होदि। = १ क्षेत्र प्रमाणकी अपेक्षा अनन्तानन्त लोकप्रमाण मिथ्यादृष्टि जीव राशिका प्रमाण है।४। २. प्रश्न — क्षेत्र प्रमाणके द्वारा मिथ्यादृष्टि जीवराशि कैसे मापी अर्थात् जानी जाती है। उत्तर — जिस प्रकार प्रस्थसे गेहूँ जौ आदिकी राशिका माप किया जाता है, उसी प्रकार लोकप्रमाणके द्वारा मिथ्यादृष्टि जीवराशि मापी अर्थात् जानी जाती है (३२/६) लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर एक-एक मिथ्यादृष्टि जीवको निक्षिप्त करके एक लोक हो गया इस प्रकार मनसे सकल्प करना चाहिए इस प्रकार पुन -पुन. माप करनेपर मिथ्यादृष्टि जीवराशि अनन्तानन्त लोकप्रमाण होती है।

३. संयम मार्गणामें संख्या सम्बन्धी नियम

ध ७/२,११,१७४/५६८/१ जस्स संजमस्स लद्धिट्ठाणाणि बहुआणि तत्थ जीवा वि बहुआ चेव, जत्थ थोवाणि तत्थ थोवा चेव होंति त्ति। = जिस सयमके लब्धिस्थान बहुत हैं उसमे जीव भी बहुत ही है, तथा जिस सयममें लब्धिस्थान थोडे हैं उसमे जीव भी थोड़े ही हैं।

४. उपशम व क्षपक श्रेणीका संख्या सम्बन्धी नियम

ध. ५/१,८,२८६/३२३/१ णाण वेदादिसव्ववियप्पेसु उवसमसेडि चढंत-जीवेहिंतो खवगसेडि चढतजीवा दुगुणा त्ति आइरिओवदेसादो। = ज्ञान वेदादि सर्व विकल्पोमें उपशम श्रेणीपर चढनेवाले जीवोंसे क्षपक श्रेणीपर चढनेवाले जीव दुगुणे होते है, इस प्रकार आचार्योंका उपदेश पाया जाता है।

५ सिद्धोंकी संख्या सम्बन्धी नियम

ध. १४/५,६,११६/१४३/१० सव्वकालमदीदकालस्स सिद्धा असंखेज्जदि भागो चेव छम्मासमतरिय णिव्वुइगमणणियमादो। = सिद्ध जीव सर्वदा अतीतकालके असंख्यातवें भागप्रमाण ही होते हैं, क्योंकि छह महीनेके अन्तरसे मोक्ष जानेका नियम है।

६. संयतासंयत जीव असंख्यात कैसे हो सकते है

ध ५/१,८,१०/२४८/४ माणुसखेत्तब्भतरे चेव संजदासजदा होंति, णो बहिद्धा, भोगभूमिम्हि संजमासंजमभावविरोहा। ण च माणुसखेत्त-ब्भतरे असंखेज्जाणं संजदासंजदाणमत्थि संभवो, तेत्तियमेत्ताण-मेत्थावट्ठाणविरोहा। तदो संखेज्जगुणेहि संजदासजदेहि होदव्व-मिदि। ण, सयंपहपव्वदपरभागे असंखेज्ज जोयणवित्थडे कम्मभूमि-पडिभाए तिरिक्खाणमसंखेज्जाणं संजमासंजमगुणसहिदाणमुवलंभा। = प्रश्न — संयतासयत मनुष्यक्षेत्रके भीतर ही होते है, बाहर नहीं, क्योंकि, भोगभूमिमें संयमासयमके उत्पन्न होनेका विरोध है। तथा मनुष्य क्षेत्रके भीतर असख्यात संयतासयतोंका पाया जाना सम्भव

नहीं है, क्योंकि, उतने संयतासंयतोंका यहाँ मनुष्य क्षेत्रके भीतर अवस्थान माननेमें विरोध आता है। इसलिए प्रमत्त संयतोंसे संयतासंयत संख्यात गुणित होना चाहिए। उत्तर—नहीं, क्योंकि, असंख्यात योजन विस्तृत एवं कर्म भूमिके प्रतिभागरूप स्वयंप्रभ पर्वतके परभागमें संयमासंयम गुणसहित असंख्यात तिर्यंच पाये जाते हैं।

७. सम्यग्दृष्टि २, ३ ही हैं ऐसा कहनेका प्रयोजन

का अ/मू व टीका/२७९ विरला णिसुणहि तच्चं विरला जाणंति तच्चदो तच्चं। विरला भावहि तच्चं विरलाणं धारणा होदि ।२७९।—विद्यन्ते कति नात्मबोधविमुखाः सन्देहिनो देहिनः, प्राप्यन्ते कतिचित् ... आत्मज्ञा परमप्रबोधसुखिनः प्रोन्मीलदन्तर्दृशो, द्वित्राः स्युर्बहवो यदि त्रिचतुरास्ते पञ्चधा दुर्लभाः । =जगतमें विरले ही मनुष्य तत्त्वको सुनते हैं, विरले ही जानते हैं, उनमेंसे विरले ही तत्त्वकी भावना करते हैं, और उनमेंसे तत्त्वकी धारणा विरले ही मनुष्योंको होती है।२७९।—कहा भी है—आत्म ज्ञानसे विमुख और सन्देहमें पड़े हुए प्राणी बहुत हैं, जिनको आत्माके विषयमें जिज्ञासा है ऐसे प्राणी क्वचित् कदाचित् ही मिलते हैं किन्तु जो आत्म-प्रदेशोंसे सुखी है तथा जिनकी अन्तर्दृष्टि खुली है ऐसे आत्मज्ञानी पुरुष दो तीन अथवा बहुत हुए तो तीन चार ही होते हैं, किन्तु पाँचका होना दुर्लभ है। (अर्थात् अत्यल्प होते हैं)।

८. लोभ कषाय क्षपकोंसे सूक्ष्मसाम्परायकी संख्या अधिक क्यों—

ध.ख व धवला टी/१ ८/सू १९९/३१२ णवरि विसेसा, लोभकसाईसु सुहुमसांपराइय-उवसमा विसेसाहिया ।१९९।—दोउवसामगपवेसए-हिंतो संखेज्जगुणे दोगुणट्ठाणपवेसयखवए पेक्खिदूण कध सुहुमसांपरा-इयउवसामया विसेसाहिया। ण एस दोसो, लोभकसाएण खवएसु पविसंतजीवे पेक्खिदूण तेसिं सुहुमसांपराइयउवसामएसु पवि-संताण चउवण्णपरिमाणाण विसेसाहियत्ताविरोहा। कुदो। लोभ-कसाईसु त्ति विसेसणादो। =केवल विशेषता यह है कि लोभ-कषायी जीवोंमें क्षपकोंसे सूक्ष्मसाम्परायिक उपशामक विशेष अधिक है।१९९। प्रश्न—अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण, इन दो उपशामक गुणस्थानोंमें प्रवेश करनेवाले जीवोंसे संख्यातगुणित प्रमाणवाले इन्हीं दो गुणस्थानोंमें प्रवेश करनेवाले क्षपकोंको देखकर अर्थात् उनकी अपेक्षासे सूक्ष्मसाम्परायिक उपशामक विशेष अधिक कैसे हो सकते है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि लोभकषायके उदयसे क्षपकोंमें प्रवेश करनेवाले जीवोंको देखते हुए लोभकषायके उदयसे सूक्ष्म साम्परायिक उपशामकोंमें प्रवेश करनेवाले और चौपन संख्या रूप परिमाणवाले उन लोभकषायी जीवोंके विशेष अधिक होनेमें कोई विरोध नहीं है, कारण कि 'लोभकषायी जीवोंमें' ऐसा विशेषण पद दिया गया है।

९. वर्गणाओंका संख्या सम्बन्धी दृष्टिभेद

ध. १४/५,६,११३/१६८/५ बादरणिगोदवग्गणाए सव्वेगसेडिवग्गणाओ असंखेज्जगुणाओ। सेडीए असंखेज्जदिभागो। के वि आइरिया असंखेज्जपदरावलियाओ गुणगारो त्ति भणंति तण्ण घडदे, चुलिया-सुत्तेण सह विरोहादो। =बादरनिगोद वर्गणाकी सब एकश्रेणि वर्गणाएँ असंख्यात गुणी हैं। जगश्रेणिके असंख्यातवें भाग प्रमाण गुणकार है। कितने ही आचार्य असंख्यात प्रतरावलि प्रमाण गुण-कार है ऐसा कहते है, परन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि चूलिका सूत्रके साथ विरोध आता है।

१०. जीवोंके प्रमाण सम्बन्धी दृष्टिभेद

दे स्वर्ग/२/२ [एक दृष्टिसे स्वर्गवासी इन्द्र व प्रतीन्द्र १४ और दूसरी दृष्टि से १६ हैं]।

ध. ३/१,२,१२/गा ४५-४६/९४ ति.. दि वदंति केई चउरुत्तरमत्थपंचसं केई। उवसामगेसु एदं खवगाणं जाण तद्दुगुणं ।४५। चउरुत्तरतिण्णि-सय पमाणमुवसामगाणं केई तु। तं चेव य पंचूणं भणंति केई तु परिमाणं ।४६। =कितने ही आचार्य उपशामक जीवोंका प्रमाण ३०० कहते हैं। कितने ही आचार्य ३०४ कहते हैं, और कितने ही आचार्य २९९ कहते हैं। इस प्रकार यह उपशामक जीवोंका प्रमाण है, क्षपकोंका इससे दूना जानो।४५। कितने ही आचार्य उपशामक जीवों-का प्रमाण ३०४ कहते हैं और कितने २९९ कहते हैं।४६।

ध ३/१,२,८७/३३७/२ के वि आइरिया सलागरासिस्स अद्धे गदे तेउक्का-इयरासी उप्पज्जदि त्ति भणंति। के वि तं णेच्छंति। कुदो। अद्धुट्ठरासिसमुदायस्स वग्गसमुट्ठिदत्ताभावादो। =कितने आचार्य चौथी बार स्थापित शलाकाराशिके आधे प्रमाणके व्यतीत होनेपर तेजस्कायिक जीवराशि उत्पन्न होती है, ऐसा कहते हैं। परन्तु कितने ही आचार्य इस कथनको नहीं मानते हैं, क्योंकि साढे तीन बार राशिका समुदाय वर्गधारामें उत्पन्न नहीं है।

गो जी/मू/१६३ तिगुणा सत्तगुणा वा सव्वट्ठा माणुसीपमाणदो। =मनुष्य स्त्रियोंका जितना प्रमाण है उससे तिगुना अथवा सतगुणा सर्वार्थसिद्धिके देवोंका प्रमाण है।

३ संख्या विषयक प्ररूपणाएँ

१. सारणीमें प्रयुक्त संकेत सूची

अन्तर्मु.	अन्तर्मुहूर्त [आ/अस] (ध ७/२,५,५५/२६७/१)
अन.	मध्यम अनन्तानन्त (ध ७/२,५,११७/२८५/५)
अनं. लो.	अनन्तानन्त लोक (विशेष दे. संख्या/२/२)
अनपहृत	(दे. संख्या/२/१)
अप	अपर्याप्त
अपहृत	प्रतिसमय एक एक जीव निकालते जानेपर विवक्षित कालके समय समाप्त हो जाते हैं और उसके साथ जीव भी समाप्त हो जाते हैं।
अस.	मध्यम असंख्यातासंख्यात (ध. ३/१,२,१५/१२९/६)
आ./अस.	आवली/अस. रूप असंख्यात आवली (ध. ७/२,५,५५/२६१/१)
पल्य/अन्तर्मु. या पल्य/अमं.	पल्य— आ/अस रूप अस आवली (ध. ७/२,५,५५/२६७/१)
उत. अव.	उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी
उत्तरोत्तर असं या सं बहुभाग	आगेसे पूर्ववाली राशिके अवशेष उतनेवाँ भाग

उप	उपशामक	पृ	पृथक्त्व अर्थात् ३ से ९ अथवा नरक पृथि
एके	एकेन्द्रिय	पृथि.	पृथिवीकायिक
+कुछ	विवक्षित राशिमें कुछ अधिक	वन.	वनस्पतिकायिक
गु. स.	गुणस्थान	बहु.	बहुभाग
चतु	चतुरिन्द्रिय	बहुभाग	राशि- राशि/भागाहार
ज प्र.	जगत्प्रतर	बा	बादर
जल	जलकायिक	मनु.	मनुष्य
ज. श्रे	जगश्रेणी	यो.	योनिमति तिर्यंच
तिर्य.	तिर्यंच	ल पृ.	लक्ष पृथक्त्व
तेज	तेजकायिक	वायु.	वायुकायिक
त्री.	त्रीन्द्रिय	स.	संख्यात
द्वी.	द्वीन्द्रिय	सा	सामान्य
नि.	निगोद शरीर	सा.धा	साधारण शरीर
प.	पर्याप्त		
पचे.	पंचेन्द्रिय	सू.	सूक्ष्म

२. जीवोंकी संख्या विषयक ओघ प्ररूपणा

१. जीव सामान्यकी अपेक्षा

प्रमाण—१ ष. खं. ३/१,२/सूत्र/पृष्ठ, २, ध. ३/१,२,६/गा. ३८-४०/८७, ३, ध. ३/१,२/पृष्ठ, ४, ध. ३/१, २, १२/गा. ४५-४८/९४-९६; ५. गो. जी./मू. व टी./६२४-६४२/१०७७-१०९४।

अंक-। संदृष्टि—पल्य = ६५५३६, अन्तर्मुहूर्त = सासादनके योग्य ३२; मिश्रयोग्य १६; असयत योग्य ४; संयतासंयत योग्य १२८।

स.	गुणस्थान	मूल प्ररूपणा		विशेष प्ररूपणा		
		ष. खं./३/सू./पृ.	संख्या	प्रमाण स.	अपेक्षा	विशेष विवरण
१	मिथ्यादृष्टि	२/१०	अनं.	३/२६	द्रव्य	मध्यम अनतानंत
		३/२७	अनं. उत अवसे अनपहृत	३/२८	काल	(दे. संकेत सूची)
		४/३२	अनं. लो	३/३२	क्षेत्र	(" ")
		५/३८	तीनोका ज्ञान	३/३९	भाव	द्रव्य, क्षेत्र व काल प्ररूपणाका ज्ञान
२	सासादन	६/६३	पल्य / असं.	सूत्र	काल	पल्य / स्व योग्य अन्तर्मु. (विशेष दे, संकेत सूची)
				२	अंक-सदृष्टि	६५५३६−३२=२०४८ (दे, उपरोक्त सकेत)
३	मिश्र	६/६३	पल्य / असं	२	अक-संदृष्टि	६५५३६−१६=४०९६
४	अविरत	'	"	"	"	६५५३६÷४=१६३८४
५	संयतासंयत	"	"	"	"	६५५३६−१२८=५१२ [स्वयंभूरमण द्वीप सागरकी अपेक्षा—दे संख्या/२/६१]
६	प्रमत्त	७/८८	कोटि पृ.	३/८९	गणना	५९३९८२०६
७	अप्रमत्त	७/८९		३/९०	"	२९६९९१०३ (प्रमत्तसे आधे)
८	चारों उप— वेशापेक्षा (विशेष दे. अगला उपशीर्षक)	९/९०	१-५४	३/९०	"	उपशम श्रेणीयोग्य लगातार ८ ही समय उत्कृष्ट होते है। तहाँ प्रथमादि समयोमें जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त क्रमसे—१-१६; १-२४; १-३०; १-३६; १-४२; १-४८ व १-५४ जीव प्रवेश करते है।
	संचयापेक्षया	१०/९१	सं.	४	"	२९९ या ३०० या ३०४ (विशेष दे. संख्या/२/१०)
९	चारों क्षपक—					
	प्रवेशापेक्षा (विशेष दे. अगला उपशीर्षक)	११/९२	१-१०८	३/९२	गणना	उपशामकोंसे दूने (दे. सख्या/२/४+उपरोक्त उपशामकोकी प्ररूपणा)
	संचयापेक्षा	१२/९३	स.	४	'	उपशामकोंसे दुगुने अर्थात ५९८ या ६०० या ६०८ (उपरोक्तवत)
१०	सयोगी—					
	प्रवेशापेक्षा	१३/९५	१-१०८	३/९५	"	उपरोक्त क्षपकवत्
	संचयापेक्षा	१४/९५	ल. पृ.	४	"	८९८५०२
११	अयोगी—					
	प्रवेशापेक्षा	११/९२				——→ उपरोक्त क्षपकोवत ←——
	सचयापेक्षा	१२/९३				——→ उपरोक्त क्षपकोंवत ←——

२. तीर्थंकर आदि पुरुष विशेषोंकी अपेक्षा

(ध. ५/१,८,२४६/३२३/१)

सं.	नाम	युगपद् उपशम-श्रेणीमें प्रवेश	युगपद् क्षपक-श्रेणीमें प्रवेश	सं.	नाम	युगपत उपशम श्रेणीमें प्रवेश	युगपत् क्षपक-श्रेणीमें प्रवेश
१	तीर्थंकर	३	६	६	जघन्य अवगाहना	२	४
२	प्रत्येकबुद्ध	५	१०	७	पुरुष वेदोदय सहित	५४	१०८
३	बोधित बुद्ध	५४	१०८	८	स्त्री वेदोदय सहित	१०	२०
४	उत्कृष्ट अवगाहना	१	२	९	नपुंसक वेदोदय सहित	५	१०
५	मध्यम अवगाहना	४	८				

३. जीवोंकी संख्या विषयक सामान्य विशेष आदेश प्ररूपणा

प ख. ३/१,२/ पुस्तक स. सूत्र स/पृष्ठ स ; प ख. ७/२, ५/ पुस्तक सं. सू. सं./पृष्ठ स

मार्गणा	गुण स्थान	द्रव्यकी अपेक्षा: प. ख	द्रव्यकी अपेक्षा: प्रमाण	क्षेत्रकी अपेक्षा: प ख	क्षेत्रकी अपेक्षा: प्रमाण	अस का प्रमाण	कालकी अपेक्षा: प खं.	कालकी अपेक्षा: प्रमाण
१ गति मार्गणा								
१ नरक गति —		(ति. प/२/१९९-२०१), (गो जी/मू. व जी प्र/१५३-१५४/३७६)						
सामान्य		७ २/२४४	अस	७ ४-५/२४२	अस जगश्रेणी	ज प्र/अस	७ ३/२४४	अस. उत अव से अपहृत
प्रथम पृथिवी		७ ७/२४७	—	—	→ सामान्य वत् ←	—	—	—
२-७ में प्रत्येक पृ.		७ ६/२४८	अस	७ ११-१२/२४९	ज श्रे — अस	अस करोडयोजन,	७ १०/२४८	अस उत अव से अपहृत
द्वितीय पृथिवी		"	"	{७ १३/२४९ की टीका}	ज श्रे — ज श्रे. का १२वा वर्गमूल		"	",
तृतीय पृथिवी		"	"	"	ज श्रे — ज श्रे „ १० „ „		"	"
चतुर्थ पृथिवी		"	"	"	ज. श्रे. — ज श्रे „ ८ „ „		"	"
पचम पृथिवी		"	"	"	ज. श्रे. — ज श्रे. „ ६ „ „		"	"
षष्ठ पृथिवी		"	"	"	ज श्रे — ज श्रे „ ३ „ „		"	"
सप्तम पृथिवी		"	"	"	ज श्रे ÷ ज श्रे. „ २ „ „		"	"
सामान्य	१	३ १५/१२५	अस.	३ १७/१३१	अस. ज. श्रे.	ज प्र./असं	३ १६/१२९	अस उत. अव. से अपहृत
	२-४	३ १८/१२६	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
प्रथम पृथिवी	"	३ १९/१६१	—	—	→ " ←	—	—	—
२-७ पृथिवी (प्रत्येक)	१	३ २०/१२८	अस	३ २२/१६९	ज. श्रे — अस	अस करोडयोजन	३ २१/१२८	असं उत. अव. से अपहृत
	२-४	३ २३/२०६	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
२ तिर्यंच गति —		(गो. जी./मू. व. जी प्र/१५५-१५६/३७९-३८०) (विशेष दे भागाभाग)						
सामान्य		७ १५/२५०	अन	७ १७/२५१	अन लो.		७ १६/२५१	अनं. उत अव. से अनपहृत
५चे तिर्य सामान्य		७ १८-१९/२५२	अस.	७ २१/२५३	ज प्र. — देव अवहार काल/अस		७ २०/२५२	असं. उत अव. से अपहृत
„ „ पर्याप्त		"	"	"	ज. प्र. — देव अवहार काल/स.		"	"
„ „ योनिमति		"	"	"	ज प्र —(देव अवहार काल × स)		"	"
„ „ अपर्याप्त		"	"	"	ज. प्र —(देव अवहार काल×अस)		"	"

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा ष. ख.	द्रव्यकी अपेक्षा प्रमाण	क्षेत्रकी अपेक्षा ष. खं.	क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	अवं का प्रमाण	कालकी अपेक्षा ष. ख.	कालकी अपेक्षा प्रमाण
सामान्य	१-५	$३_{२}\frac{२४}{२०५}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
पचें. तिर्य. सामान्य	१	$३_{२}\frac{२५}{२०७}$	असं.	$३_{२}\frac{२७}{२१२}$	ज. प्र. — देव अवहार काल / असं.		$३_{२}\frac{२६}{२१७}$	असं उत्त अव से अपहृत पल्य/असं = पल्य — आ/असं.
	२-५	$३_{२}\frac{२८}{२१६}$	पल्य/असं.	—				
,, ,, पर्याप्त	१	$३_{२}\frac{२९}{२१६}$	असं.	$३_{२}\frac{३१}{२२८}$	ज. प्र — देव अवहार काल / सं		$३_{२}\frac{३०}{२२७}$	असं उत्त अव. से अपहृत
	२-५	$३_{२}\frac{३२}{२२९}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
,, योनिमति	१	$३_{२}\frac{३३}{२२९}$	असं.	$३_{२}\frac{३५}{२३०}$	ज प्र — (देव अवहार काल×सं)		$३_{२}\frac{३४}{२३०}$	असं उत्त अव. से अपहृत
	२-५	$३_{२}\frac{३६}{२३७}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
पचें. तिर्य. अपर्याप्त	१	$३_{२}\frac{३७}{२३२}$ (गो. जी./मू. व जीव प्र /१५७-१५६)	असं.	$३_{२}\frac{३९}{२३२}$	ज. प्र — (देव अवहारकाल×असं)		$३_{२}\frac{३८}{२३६}$	असं उत्त. अव. से अपहृत
३ मनुष्य गति — सामान्य		$७_{२}\frac{२३}{२५४}$	असं.	$७_{२}\frac{२५-२६}{२५५}$	ज. श्रे. — असं.	असं करोड योजन	$७_{२}\frac{२४}{२५५}$	असं. उत्त. अव. से अपहृत
मनु. अपर्याप्त			,,	,,	,,		,,	,,
मनु. पर्याप्त		$७_{२}\frac{२९}{२५७}$	कोडाकोडाकोडी व कोडाकोडाकोडाकोडी के बीचमें					
		टी./२५७	अर्थात —	७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६–				
मनुष्यणी		टी /२५९	उपरोक्त × ३/४ =	[५९४२११२१८८५६९८२५३१९५१५७९६२७५२ (ति. प /४/२९२९)]				
पुरुष व नपुंसक		,,	उपरोक्त × १/४ =	[१९८०७०४०६२८५६६०८४३९८३८५९८७५८४ (ति प /४/२९२७)]				
मनुष्य सामान्य	१	$३_{२}\frac{४०}{२४४}$	असं.	$३_{२}\frac{४२}{२४८}$	ज श्रे — असं	असं करोड योजन	$३_{२}\frac{४५}{२४८}$	असं उत्त. अव से अपहृत
	२-५	$३_{२}\frac{४३}{२५१}$	सं.	—	[मतान्तरकी अपेक्षा ५० करोड] [मतान्तरकी अपेक्षा १०० करोड]			
	२	(ध. ३/१,२,४३/ गा. ६८-६६/२५२)	५२ करोड					
	३		१०४ ,,					
	४		७०० ,,					
	५		१३ ,,					

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा: प. ग.	द्रव्यकी अपेक्षा: प्रमाण	क्षेत्रकी अपेक्षा: प. नं.	क्षेत्रकी अपेक्षा: प्रमाण	क्षेत्रकी अपेक्षा: असं का प्रमाण	कालकी अपेक्षा: प. ख.	कालकी अपेक्षा: प्रमाण
सनत्कुमार-सहस्रार		७ ५/२ १/६	—	—	→ सप्तम नरकवत् ←	—	—	—
आनत-अपराजित		७ ५/२ ३/६	पल्य/अस.				७ ५/२ ४/६	(पल्य/अन्तर्मु) से अपहृत अंतर्मु = $\frac{आ.}{असं}$ (टी.पृ.२६७)
सर्वार्थसिद्धि		७ ५/२ ६/६	असं.					
देव सामान्य	१	३ ५/२ ३/६	अस.	३ ५/२ ५/६	ज प्र.–(२५६ सूच्यंगुल)^{२}		५ ४/२ ६	असं. उत. अवसे अपहृत
	२–४	३ ५/२ ६/६	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
	४	टी./२६६	भागहार = असंयत सम्यग्दृष्टि सामान्यका भागहार + यही भागहार ÷ $\frac{आ.}{असं}$					
	३	,,	,, = असंयत सम्यग्दृष्टि का उपरोक्त भागाहार × $\frac{आ.}{असं}$					
	२	,,	,, = तीसरे गुणस्थानका उपरोक्त भागहार×सं.					
भवनवासी	१	३ ५/२ ७/७	असं.	३ ५/२ ३/७	ज प्र /असं. प्रमाण असं ज. श्रे		३ ५/२ ८/७	असं उत. अवसे अपहृत
	२–४	३ ६/२ ०/७	—	—	→ उपरोक्त सामान्यवत् ←	—	—	—
व्यन्तर	१	३ ६/२ १/७	असं.	३ ६/२ ३/७	ज. प्र.–(सं. सौ योजन)^{२}		३ ६/२ २/७	पल्य/असं उत अवसे अपहृत पल्य/असं = पल्य – $\frac{आ}{असं}$
	२–४	३ ६/२ ४/७	पल्य/असं.					
ज्योतिष	१–४	३ ६/२ ५/७	—	—	→ देव सामान्यवत् ←	—	—	—
सौधर्म-ईशान	१	३ ६/२ ६/७	असं	३ ६/२ ८/७	ज. प्र /असं प्रमाण असं ज. श्रे.		३ ६/२ ७/७	असं उत अवसे अपहृत
	२–४	३ ६/२ ९/८	—	—	→ देव सामान्यवत् ←	—	—	—
सनत्कुमार-सहस्रार	१	३ ७/२ ०/८	—	—	→ सप्तम पृथिवीवत् ←	—	—	—
सनत्कुमार-माहेन्द्र	१			टी /२८०	ज. श्रे /असं	(ज. श्रे.)$^{१/११}$		
ब्रह्मब्रह्मोत्तर	१			,,	,,	(ज. श्रे.)$^{१/९}$		
लान्तवकापिष्ठ	१			,,	,,	(ज. श्रे.)$^{१/७}$		
शुक्र-महाशुक्र	१			,,	,,	(ज. श्रे.)$^{१/५}$		
शतार-सहस्रार	१			,,	,,	(ज. श्रे.)$^{१/४}$		
सनत्कुमारसे सहस्रार	२–४	टी./२८१	—	—	→ सप्तम नरकवत् ←	—	—	—
आनत-उपरिम ग्रैवेयक	१–४	३ ७/२ १/८	पल्य/असं				३ ७/२ १/८	पल्य/अंतर्मुसे अपहृत पल्य/अंतर्मु = पल्य ÷ $\frac{आ.}{असं}$

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		ष. खं.	प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण	अप. का प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण
अनुदिश-अपराजित	४	३ ७२/२८२	पल्य/अस.				३ ७२/२८२	(पल्य/अंतर्मु.) से अपहृत —पल्य/अंतर्मु.= पल्य + आ./असं
सर्वार्थसिद्धि	४	३ ७३/२८३ टी /२८६	स. मनुष्यणीसे तिगुने—[१७८२६६६६७०६४७६६८८४७३८८७६६६]					
२. इन्द्रिय मार्गणा :—		(गो जी./मू व टी./१७५—१८०), (ति. प /५/२८०)						
एकेन्द्रिय सामान्य		७ ५८/२६७	अनं	७ ६०/२६८	अनं. लो		७ ५९/२६८	अनं. उत्त. अवसे अनपहृत
एकेन्द्रिय पर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
बा. एके. सामान्य	✓	,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, पर्याप्त	×	,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
सूक्ष्म ,, सामान्य	×	,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
द्वीन्द्रिय सामान्य		७ ६२/२६९	असं.	७ ६४/२७०	ज. प्र. ÷ (सूच्यंगुल/असं)^2	आ/अस.	७ ६३/२६९	असं उत्त. अव. से अपहृत
,, पर्याप्त		,,	,,	,,	ज प्र. ÷ (सूच्यंगुल/स)^2		,,	,,
,, अपर्याप्त	✓	,,	,,	,,	ज. प्र ÷ (सूच्यंगुल/अस)^2	आ./असं.	,,	,,
त्रीन्द्रिय सामान्य		,,	,,	,,	द्वीन्द्रिय सामान्यवत्		,,	,,
,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,, पर्याप्त ,,		,,	,,
,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,, अपर्याप्त ,,		,,	,,
चतुरिन्द्रिय सामान्य		,,	,,	,,	,, सामान्य ,,		,,	,,
,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,, पर्याप्त ,,		,,	,,
,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,, अपर्याप्त ,,		,,	,,

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		ष. खं	प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण	अस. का प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण
पंचेन्द्रिय सामान्य		७ ६२/२६९	असं.	७ ६४/२७०	द्वीन्द्रिय सामान्यवत्		७ ६३/२६९	अस. उत. अव. से अपहृत
,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,, पर्याप्त ,,		,,	,,
,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,, अपर्याप्त ,,		,,	,,
{ एकेन्द्रियके उपरोक्त सर्व विकल्प	१	३ ७४/३०८	अनं.	३ ७६/३०७	अनं. लोक.		३ ७५/३०९	अनं. उत. अव. से अनपहृत
{ विकलेन्द्रियके उपरोक्त सर्व विकल्प	१	३ ७७/३१०	असं.	७ ७९/३१३	उपरोक्त सामान्य विकल्पोंवत्		३ ७८/३१२	अस. उत. अव. से अपहृत
पंचेन्द्रिय सामान्य	१	३ ८०/३१४	असं.	३ ८२/३१४	ज. प्र ÷ (सूच्यगुल/असं)[२]		३ ८१/३१४	असं. उत. अव. से अपहृत
,, पर्याप्त	,,	,,	,,	,,	ज. प्र ÷ (सूच्यगुल/स)[२]		,,	,,
,, ,,	२–१४	३ ८३/३१७	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
,, अपर्याप्त	१	३ ८४/३१७	अस.	३ ८६/३१८	ज. प्र. ÷ (सूच्यगुल/असं)[२]		३ ८५/३१७	असं. उत. अव. से अपहृत
३. काय मार्गणा :–		(विशेष दे. ध. ३/१,२/८७/३३४-३४८)		(मू आ./१२०१-१२०६); (ति प./५/२८७);		(गो. जी./मू./२०४-२१४/४५२-४६६)		
पृथिवी कायिक सामान्य		७ ६६/२७१	अस. लोक.	ध. ३/पृ. ३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं		ध. ३/पृ. ३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं
बादर पृथिवी ,, ,,		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, ,, पर्याप्त		७ ६८/२७१	असं.	७ ७०/२७२	ज. प्र. ÷ (सूच्यंगुल/अस)[२]		७ ६६/२७२	असं उत अव. से अपहृत
,, ,, ,, अपर्याप्त		७ ६६/२७१	असंलोक.	ध. ३/पृ. ३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं		ध. ३/पृ. ३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं
सूक्ष्म ,, ,, सामान्य		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, ,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, ,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
अप् कायिक सामान्य		,,	,,	,,	,,		,,	,,

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		प. खं.	प्रमाण	प.खं.	प्रमाण	अस का प्रमाण	प. खं.	प्रमाण
बादर अप् कायिक सामान्य		७ ६६/२ ७१	अस लोक	ध.३/पृ ३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं		ध ३/पृ.३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं
" " " पर्याप्त		७ ६८/२ ७१	अस.	७ ७०/२ ७२	ज. प्र – (सूच्यगुल/असं.)^2		७ ६९/२ ७२	अस उत. अवसे अपहृत
" " " अपर्याप्त		७ ६३/२ ७१	अस लोक	ध.३/पृ ३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं		ध ३/पृ.३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं
सूक्ष्म " " सामान्य		"	"	"	"		"	"
" " " पर्याप्त		"	"	"	"		"	"
" " " अपर्याप्त		"	"	"	"		"	"
तेज " सामान्य		"	"	"	"		"	"
बादर तेज. " "		"	"	"	"		"	"
" " " पर्याप्त		७ ७२-७३/२ ७३	(असं. आवली)^2 (आ.^{3} से नीचे)	"	"		"	"
" " " अपर्याप्त		७ ६६/२ ७१	अस. लोक	"	"		"	"
सूक्ष्म " " सामान्य		"	"	"	"		"	"
" " " पर्याप्त		"	"	"	"		"	"
" " " अपर्याप्त		"	"	"	"		"	"
वायु " सामान्य		"	"	"	.		"	"
बादर वायु " "		"	"	"	"		"	"
" " " पर्याप्त		७ ७५/२ ७३	अस.	७ ७७-७८/२ ७२	लोक/अस, प्रमाण असं ज.प्र.		७ ७६/२ ७४	अस. उत अवसे अपहृत
" " " अपर्याप्त		७ ६६/२ ७१	अस लोक	ध ३/पृ ३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं		ध.३/पृ.३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं
सूक्ष्म " " सामान्य		"	"	"	"		"	"
" " " पर्याप्त		"	"	"	"		"	"
" " " अपर्याप्त		"	"	"	"		"	"
वनस्पति " सामान्य		७ ९०/२ ७५	अन.	७ ८३/२ ७६	अनं. लोक		७ ९१/२ ७५	अनं. उत अवसे अनपहृत
बादर वनस्पति " "		"	"	"	"		"	"
" " " पर्याप्त		"	"	"	"		"	"
" " " अपर्याप्त		"	"	"	"		"	"
सूक्ष्म " " सामान्य		"	"	"	"		"	"
" " " पर्याप्त		"	"	"	"		"	"
" " " अपर्याप्त		"	"	"	"		"	"
निगोद " " सामान्य		"	"	"	"		"	"

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		प. ख.	प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण	अस. का प्रमाण	ष. ख	प्रमाण
बादर निगोद सामान्य		७ ५०/२७५	अन. लोक	७ ५२/२७६	अनं. लोक		७ ६१/२७८	अनं. उत. अवसे अनपहृत
,, ,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
सूक्ष्म ,, सामान्य		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
बादर बन प्रत्येक सामान्य		७ ६६/२७१	असं लोक	ध ३/पृ ३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं		ध ३/पृ ३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं
,, ,, ,, पर्याप्त		७ ६८/२७१	अस.	७ ७०/२७२	ज प्र —(सून्यगुन/असं.)[२]		७ ६९/२७२	असं. उत अवसे अपहृत
,, ,, ,, अपर्याप्त		७ ६६/२७१	अस लोक	ध.३/पृ.३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं		ध ३/पृ ३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं
त्रसकायिक सामान्य		७ ८३/२७६	—	→	पंचेन्द्रिय सामान्यवत्	←	—	—
,, ,, पर्याप्त		,,	—	→	,, पर्याप्त ,,	←	—	—
,, ,, अपर्याप्त		,,	—	→	,, अपर्याप्त ,,	←	—	—
स्थावर कायिकोंके उपरोक्त सर्व विकल्प		३ ८७-९७/३२१-३२८	—	→	सर्वत्र उपरोक्तवत्	←	—	—
त्रस कायिक सामान्य	१	३ ९८/३६०	अस.	३ १००/३६१	ज प्र. ÷ (सूच्यगुल/अस.)[२]		३ ९९/३६१	असं. उत. अवसे अपहृत
,, ,, पर्याप्त	१	,,	,,	,,	ज. प्र. ÷ (सूच्यंगुल/सं)[२]		,,	,,
त्रस सा व पर्याप्त	२-१४	३ १०१/३६२	—	→	ओघवत्	←	—	—
त्रस कायिक अप.	१	३ १०२/३६२	—	→	पचेन्द्रिय अप. (या विकलेन्द्रिय अप + पचेन्द्रिय अप.) वत्			←
४. योगमार्गणा—		(गो. जी./२६९-२७०/२७१-५८६)						
पाँचों मनोयोगी		७ ९७/२७७	देव सा/असं					
बचन योगी सा.		७ ९७/२७७	असं.	७ ९८/२७८	ज. प्र. - (सूच्यगुल/स.)[२]		७ ९६/२७७	असं. उत. अवसे अपहृत

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		ष. खं.	प्रमाण	ष, ख.	प्रमाण	असं.का प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण
सत्य वचनयोगी		७ $\frac{८५}{२७७}$	देव सा/अस.					
असत्य ,,		,,	,,		‹			
उभय ,,		,,	,,					
अनुभय ,,		७ $\frac{८७}{२७८}$	असं.	७ $\frac{८७}{२७८}$	ज प ÷ (सूच्यगुल/सं.)^2		७ $\frac{८८}{२७७}$	अस उत अव.से अपहृत
काय योगी सामान्य		७ $\frac{६१}{२७७}$	अनं.	७ $\frac{९३}{२७९}$	अनं. लोक		७ $\frac{६२}{२७९}$	अनं. उत अव से अनपहृत
औदारिक काययोगी		,,	,,	,,	,,		,,	,,
औदारिक मिश्र ,,		,,	,,	,,	,,		,,	,,
वैक्रियक ,,		७ $\frac{६५}{२७९}$	देव/स.से कम		×			
वैक्रियक मिश्र ,,	)	७ $\frac{६७}{२८०}$	देव/सं.					
आहारक ,,		७ $\frac{६६}{२८०}$	५४					
आहार मिश्र ,,		७ $\frac{१०१}{२८०}$	म. (२७)					
कार्मण ,,		७ $\frac{९१}{२७८}$	अनं.	७ $\frac{६३}{२७९}$	अनं. लोक		७ $\frac{९२}{२७९}$	अनं उत अव से अनपहृत
पाँचों मनोयोगी	१	३ $\frac{१०३}{३८६}$	देव/सं.					
,, ,,	२-१४	३ $\frac{१०४-१०५}{३८७}$	—	→	ओघवत	←	—	—
वचनयोगी सामान्य	१	३ $\frac{१०६}{३८८}$	असं	३ $\frac{१०८}{३८९}$	ज. प्र.÷(सूच्यंगुल/स.)^2		३ $\frac{१०७}{३८९}$	अनं उत अव.से अपहृत
,, ,,	२-१४	३ $\frac{१०१}{३९०}$	—	→	मनोयोगी वत	←	—	—
{ सत्य असत्य व	१	३ $\frac{१०३}{३८६}$	देव/सं.					
{ उभय वचनयोगी	२-१४	३ $\frac{१०४-१०५}{३८७}$	—	→	ओघवत	←	—	—

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		ष. खं.	प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण	असं का प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण
अनुभय वचनयोगी	१	३ १०६/३८८	असं.	३ १०८/३८९	ज. प्र. ÷ (सूच्यंगुल/स)[2]		३ १०७/३८९	असं. उत. अव. से अपहृत
	२-१४	३ १०९/३९०	—	—	→ मनोयोगीवत् ←	—	—	—
काय योगी सामान्य	१	३ ११०/३९५	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
	२-१४	३ १११/३९५	—	—	→ मनोयोगीवत् ←	—	—	—
औदारिक काययोगी	१	३ ११०/३९५	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
	२-१४	३ १११/३९५	—	—	→ मनोयोगीवत् ←	—	—	—
औदारिक मिश्र ,,	१	३ ११२/३९६	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
	२	३ ११३/३९७	—	—	→ औदारिक मिश्र सामान्यवत् ←	—	—	—
	४,१३	३ ११४/३९७	स.					
	१३	टी/३९८	४०	[कपाट समुद्घातमें आरोहण करनेवाले = २० तथा अवरोहण करनेवाले = २०]				
वैक्रियक ,,	१	३ ११५/३९८	देव/सं.					
	२-४	३ ११६/३९९	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
वैक्रियक मिश्र ,,	१	३ ११७/४००	देव/सं.					
	२,४	३ १[illegible]१/४०१	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
आहारक ,,	६	३ ११६/४०१	५४					
,, मिश्र ,,	६	३ १२०/४०२	सं. (२७)					
कार्मण	१	३ १२१/४०२	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
	२,४	३ १२३/४०३						
	१३	३ १२३/४०४	— सं.	—	→ ,, ←	—	—	—
		टी/४०४	६०—	[प्रतर समुद्घातमें २०, लोकपूरणमें २०, तथा उतरते हुए २०।]				
५. वेद मार्गणा		(गो. जी./मू. व टी./२७७-२८१/५९९-६०३)						
स्त्री वेदी	×	७ १०३/२८१	देवी + कुछ					
पुरुष वेदी	×	७ १०५/२८२	देव + कुछ					
नपुंसक वेदी	×	७ १०७/२८२	अनं.	७ १०९/२८३	अनं. लोक.		७ १०८/२८२	अनं-उत-अवसे अनपहृत
अपगत वेदी	×	७ ११९/२८३	अन					

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		ष. खं.	प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण	अस. का प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण
स्त्री वेदी	१	२ १२४/४१३	देवी + कुछ					
	२-५	३ १२५/४१४	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
	६-९	३ १२६/४१५	सं.					
पुरुष वेदी	१	३ १२७/४१६	देव + कुछ					
	२-९	३ १२८/४१६	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
नपुसक वेदी	१-५	३ १२९/४१७	"					
	६-९	३ १३०/४१८	स.					
	८,९	टी/४१९	उप=५, क्षप=१०					
अपगत वेदी उप.	९-११	३ १३१/४१९	१—५४ (विशेष दे, ओघ)				३ १३२/४२०	सं.
" " क्षपक	९-१२	३ १३३/४२०	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
	१३	३ १३४/४२०	—	—	→ " ←	—	—	—
	१४	३ १३३/४२०	—	—	→ " ←	—	—	—
६. कषाय मार्गणा—		(गो. जी./मू. व टी /२९६-२९८/६४०-६४४)						
चारों कषायवाले पृथक् पृथक्		७ ११३/२८४	अनं	७ ११५/२८४	अन. लोक		७ ११४/२८४	अनं, उत, अव, से अनपहृत
अकषायी		७ ११७/२८५	अन.					
चारों कषायी	१-५	३ १३५/४२४	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
	६-९	३ १३६/४२८	सं.					
लोभ कषायी	१०	३ १३७/४२९	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
अकषायी	११	३ १३८/४३०	—	—	→ " ←	—	—	—
	१२	३ १३९/४३०	—	—	→ " ←	—	—	—
	१३	३ १४०/४३१	—	—	→ " ←	—	—	—
७. ज्ञान मार्गणा		(गो. जी /मू. व टी /४६१-४६३/८७२)						
मति अज्ञानी		७ ११८/२८५	नपुसक वेदीवत्					

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		प. ख	प्रमाण	प खं.	प्रमाण	अस.का प्रमाण	प. खं.	प्रमाण
श्रुत अज्ञानी		७ $\frac{१\,११८}{२\,८५}$	नपुंसक वेदीवत्					
विभंगज्ञानी		७ $\frac{१\,१२०}{२\,८६}$	देव + कुछ					
मति, श्रुत ज्ञानी		७ $\frac{१\,१२१}{२\,८६}$	पल्य/असं.				७ $\frac{१\,१२३}{२\,८७}$	(पल्य/अंतर्मु.) से अपहृत अतर्मु = आ/अस.
अवधिज्ञानी		,,	,,					
मन:पर्ययज्ञानी		७ $\frac{१\,१२५}{२\,८७}$	स.					
केवलज्ञानी		७ $\frac{१\,१२७}{२\,८७}$,	अन.					
मति, श्रुत अज्ञानी	१–२	३ $\frac{१\,४१}{४\,३६}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
विभंगज्ञानी	१	३ $\frac{१\,४२}{४\,३७}$	देव + कुछ					
	२	३ $\frac{१\,४३}{४\,३८}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
मति आदि तीन ज्ञानी	४–१२	३ $\frac{१\,४४}{४\,३९}$	—	—	→ ,, ←	—	—	—
अवधिज्ञानी	६–१२	३ $\frac{१\,४५}{४\,४१}$	स.					
मन पर्यय ज्ञानी	,,	३ $\frac{१\,४६}{४\,४१}$	सं.					
केवलज्ञानी	१३–१४	३ $\frac{१\,४७}{४\,४२}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
८. संयम मार्गणा		(गो जी /मू. व टी./४८०–४८१/८८६)						
संयत सामान्य		७ $\frac{१\,२६}{२\,८८}$	कोटि. पृ.					
सामायिकछेदो.		,,	,,					
परिहार शुद्धि		७ $\frac{१\,३१}{२\,८८}$	सहस्र पृ.					
सूक्ष्म साम्पराय		७ $\frac{१\,३३}{२\,२८}$	शत पृ.					

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		ष. खं.	प्रमाण	ष. ख.	प्रमाण	अस. का प्रमाण	ष. ख.	प्रमाण
यथाख्यात		७$\frac{१३५}{२८९}$	शतसहस्र पृ.				७$\frac{१३८}{२८९}$	(पल्य/अन्तर्मु.) से अपहृत
संयतासंयत		७$\frac{१३७}{२८९}$	पल्य/अस.					—अन्तर्मु.—आ/अस.
असंयत		७$\frac{१३६}{२९०}$	—	—	→ मति अज्ञानी वत् ←	—		
संयत सामान्य	६-१४	३$\frac{१४८}{४४७}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
{ सामायिक-छेदोपस्थापक			—	—	→ " ←	—	—	—
{ उप० व क्षपक	६-९	३$\frac{१४६}{४४७}$	—	—	→ " ←	—	—	—
परिहार विशुद्धि	६-७	३$\frac{१५०}{४४९}$ टी /४४६	सं. ६६६७		[ध. ३/१,२,१५०/गा ७६/४५०]			
{ सूक्ष्म साम्पराय. { उप. व क्षप	१०	३$\frac{१५१}{४४९}$ टी./४४६	— ८९७	—	→ ओघवत् ← [ध. ३/१,२,१५१/७६/४५०]	—	—	—
यथाख्यात	११-१४	३$\frac{१५२}{४५०}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
संयतासंयत	५	३$\frac{१५३}{४५०}$	—	—	→ " ←	—	—	—
असंयत	१-४	३$\frac{१५४}{४५०}$	—	—	→ " ←	—	—	—
९. दर्शन मार्गणा		(गो. जी /मू	व टी /४८७-४८८/८९१)					
चक्षुदर्शनी		७$\frac{१४१}{२९०}$	असं.	७$\frac{१४३}{२९१}$	ज. प्र.—(सूच्यंगुल)[२]		७$\frac{१४२}{२९०}$	अस. उत. अव. से अपहृत
अचक्षुदर्शनी		७$\frac{१४४}{२९१}$	—	—	→ असंयतवत् ←	—	—	—
अवधिदर्शनी		७$\frac{१४५}{२९१}$	—	—	→ अवधिज्ञानीवत् ←	—	—	—
केवल दर्शनी		७$\frac{१४६}{२९२}$	—	—	→ केवलज्ञानीवत् ←	—	—	—
चक्षुदर्शनी	१	३$\frac{१५५}{४५३}$	अस.	३$\frac{१५७}{४५३}$	ज. प्र.—(सूच्यंगुल)[२]		३$\frac{१५६}{४५३}$	अस. उत. अव से अपहृत
"	२-१२	३$\frac{१५८}{४५४}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
अचक्षु दर्शनी	१-१२	३$\frac{१५६}{४५५}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
अवधि दर्शनी	४-१२	३$\frac{१६०}{४५५}$	—	—	→ अवधिज्ञानीवत् ←	—	—	—
केवल दर्शनी	१३-१४	३$\frac{१६१}{४५६}$	—	—	→ केवलज्ञानीवत् ←	—	—	—
१०. लेश्या मार्गणा		(गो. जी./मू. व टी /	५३७-५४२/९३२)					
कृष्ण नील कापोत		७$\frac{१४७}{२९२}$	—	—	→ असंयतवत् ←	—	—	—

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		प. खं.	प्रमाण	प. खं.	प्रमाण	असं. का प्रमाण	प. खं.	प्रमाण
तेजो लेश्या		$७\frac{१४६}{२६२}$	देव + कुछ					
पद्म लेश्या		$७\frac{१५१}{२९३}$	(संज्ञी-पंचे-तिर्य. योनि)/सं.	टी./२६३	ज. प्र.—स. प्रतरांगुल			
शुक्ल लेश्या		$७\frac{१५३}{२९३}$	पल्य/असं.				$७\frac{१५४}{२९४}$	(पल्य/अन्तर्मु.) से अपहृत —अन्तर्मु=आ./असं.
कृ. नील. कापोत.	१-४	$३\frac{१६२}{४५९}$	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
तेजो लेश्या	१	$३\frac{१६३}{४६१}$	देव + कुछ					
	२-५	$३\frac{१६४}{४६२}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
	६-७	$३\frac{१६५}{४६२}$	सं.					
पद्म लेश्या	१	$३\frac{१६६}{४६२}$	(संज्ञी. पंचें. तिर्य. योनि.)—सं.					
	२-५	$३\frac{१६७}{४६३}$	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
	६-७	$३\frac{१६८}{४६३}$	सं.					
शुक्ल लेश्या	१-५	$३\frac{१६९}{४६३}$	पल्य/असं.				$३\frac{१६६}{४६३}$	पल्य/अन्तर्मु. से अपहृत —अन्तर्मु.=आ./असं.
	६-७	$३\frac{१७०}{४६५}$	सं.					
	८-१३	$३\frac{१७१}{४६५}$	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
११. भव्यत्व मार्गणा:—		(गो. जी./मू. व टी./५६०/९८६)						
भव्य		$७\frac{१५६}{२९४}$	अनं.	$३\frac{१५८}{२१५}$	अनं. लोक		$७\frac{१५७}{२१४}$	अनं. उत. अव. से अपहृत
अभव्य		$७\frac{१६०}{२६८}$	अनं.					
भव्य	१-१४	$३\frac{१७२}{४७२}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
अभव्य	१	$३\frac{१७३}{४७२}$	अनं.					
१२. सम्यक्त्व मार्गणा:—		(गो. जी./मू. व.टी./६५७-६५९/११०३)						
सम्यग्दृष्टि सा.		$७\frac{१६२}{२६८}$	पल्य/असं.				$७\frac{१६३}{२६८}$	पल्य/अन्तर्मु. से अपहृत —अन्तर्मु.=आ./असं.
तीनों सम्य (प्रत्येक)		,,	,,					
सासादन सम्य.		,,	,,					,,
सम्यग्मिथ्यादृष्टि		,,	,,					,,

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		प. ख	प्रमाण	प. खं.	प्रमाण	असं. का प्रमाण	प. ख.	प्रमाण
मिथ्यादृष्टि	×	७ १६४/२२६	—	—	→ असंयतवत ←	—	—	—
सम्यग्दृष्टि सा.	४-१४	३ १७४/४७४	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
क्षायिक सम्यग्दृष्टि	४	३ १७५/४७५	—	—	,,	—	—	—
,, ,, उपशामक	५-११	३ १७६/४७८	सं.					
,, ,, क्षपक	८-१२	३ १७७/४७५	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
	१३	३ १७८/४७६	—	—	→ ,, ←	—	—	—
	१४	३ १७७/४७५	—	—	→ ,, ←	—	—	—
वेदक सम्यग्दृष्टि	४-७	३ १७९/४७६	-	—	→ ,, ←	—	—	—
उपशम सम्यग्दृष्टि	४-५	३ १८०/४७६	—	—	→ ,, ←	—	—	—
	६-११	३ १८१/४७७	सं.					
सासादन सम्यग्दृष्टि	२	३ १८२/४७७	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
सम्यग्मिथ्यादृष्टि	३	३ १८३/४७७	—	—	→ ,, ←	—	—	—
मिथ्यादृष्टि	१	३ १८४/४७७	—	—	→ ,, ←	—	—	—
१३. सञी मार्गणा:—		(गो. जी./मू व टी / ६६३/११०८)						
सञ्ज्ञी		७ १६६/२९७	देव+कुछ					
असंज्ञी		७ १६७/२९७	—	—	→ असयतवत ←	—	—	—
संज्ञी	१	३ १८५/४८२	देव+कुछ					
	२-१२	३ १९६/४८२	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
असज्ञी	१	३ १८७/४८२	,,	३ १८६/४८३	अनं लोक		३ १८८/४८३	अन. उत. अव. से अनपहृत
१४. आहार मार्गणा		(गो. जी./मू. व टी./ ६७१/१११४)						
आहारक		७ १९६/२९८	अनं.	७ १७१/२९८	अनं. लोक			अन. उत. अव. से अनपहृत
अनाहारक		,,	,,	,,	,,			,,
आहारक	१-१३	३ १९०/४८३	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
अनाहारक	१,२,४,१३,	३ १९१/४८८	—	—	→कार्मण काययोगीवत् ←	—	—	—
,,	१४	३ १९२/४८५	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—

४. जीवोंकी स्वस्थान भागाभागरूप आदेश प्ररूपणा

(ष. खं. ७/२,१०/सू. सं./पृष्ठ सं.); (ध. ३/१,२, सूत्र (दे. नीचे नोट)/पृष्ठ स.)

नोट—संख्या विषयक आदेश प्ररूपणामें उस उस मार्गणा सम्बन्धी सूत्रोंमेंसे अन्तिम सूत्रोकी टीकामें उस उस मार्गणा सम्बन्धी भागाभाग प्ररूपणा की गयी है।

मार्गणा	गु. स.	ष ख./सू./पृ.	ध./पृ.	भागाभाग
१. गति मार्गणा				
१. नरक गति				
नारकी सा.		२/४९५		सर्व जीव ÷ अनं.
१-७ प्रत्येक पृ.		३/४९५		उपरोक्तवत्
प्रथम पृ.	१		२०७	नरक सा.का असं. बहु.
२-७ पृ.	१		२०८	उत्तरोत्तर असं. बहु
प्रथम पृ.	४		,,	शेषका अस. बहु.
	३		,,	,, ,, ,,
	२		,,	,, सं ,,
२-७ पृ	४,३,२		,,	उत्तरोत्तर क्रमसे प्रथम पृथिवीवत
२. तिर्यंच गति				
तिर्यं. सा.		५/४९७		सर्व जीवका अनं. बहु,
पंचें. सा.		७/४९७		सर्व जीव ÷ अनं.
प, यो., अप		,,		उपरोक्तवत्
एके + विक.	१		२४०	तिर्यं सा.का अनं. बहु
पंचे अप.	१		,,	शेषका सं बहु.
पंचें. तिर्यं प.	१		,,	,, ,, ,,
,, ,, योनि-	१		,,	,, असं. ,,
पंचे प. सा.	४		,,	,, ,, ,,
	३		,,	,, स ,,
	२		,,	,, अस ,,
	५		,,	शेष एक भाग
३. मनुष्य गति				
मनु. सा.		७/४९७		सर्व जीव ÷ अनं.
,, प.		,,		उपरोक्तवत्
मनुष्यनी		,,		,,
मनु. अप.		,,		,,
मनु. अप.	१		२६४	मनु. सा.का अस. बहु.
मनुष्यनी	१		,,	शेषका स. बहु.
मनु. प.	१,४		,,	उत्तरोत्तर ,, ,,
	३,२		,,	,, ,, ,,
	५-७		,,	,, ,, ,,
	८-१४		,,	,, ,, ,,
४. देव गति				
देव सा.		९/४९८		सर्व जीव ÷ अनं.
भवन-सर्वार्थ.		१०/४९८		उपरोक्तवत्
ज्योतिष	१		२८६	देव सा का असं. बहु.
व्यन्तर, भवन	१		,,	उत्तरोत्तर ,, ,,
सौधर्म युगल	१		,,	शेषका ,, ,,
सनत्-सहस्रार	१		,,	उत्तरोत्तर ,, ,,
सौधर्म युगल	४		,,	शेषका ,, ,,
सौधर्म युगल	३		२८६	शेषका सं. बहु.
,, ,,	२		,,	,, ,, ,,
सनत्-सहस्रार	४,३,२		,,	स्वर्ग क्रमसे उत्तरोत्तर प्रत्येक स्वर्गमें सौधर्म युगलवत्
ज्योतिषी ४,३,२	,,		,,	उत्तरोत्तर असं बहु.
व्यंतर ४,३,२	,,		,,	,, ,, ,,
भवनवासी ४,३,२	,,		,,	,, ,, ,,
आनत-उपरिम ग्रैवेयक	४		,,	,, सं. ,,
आनत से. उपरिमग्रै.	१		२८७	,, ,, ,,
अनुदिश	४		,,	शेषका ,, ,,
विजय आदि चारो अनुत्तर	,,			,, ,, ,,
आनत से. उपरिम ग्रै.	३		,,	उत्तरोत्तर ,, ,,
,,	२		,,	,, ,, ,,
सर्वार्थ. सि.	४		,,	शेष एक भाग
२. इन्द्रिय मार्गणा				
एके. सा.		१२/४९९		सर्व जीवके अनं. बहु.
बा. एके. सा		१४/४९९		सर्व जीव ÷ असं.
,, ,, प, अप		,,		,,
सू. ,, सा.		१६/५००		,,
,, ,, प.		१८/५०१		सर्व जीवके सं. बहु.
,, ,, अप.		२०/५०१		सर्व जीव । सं.
विकलें. सा.		२२/५०२		सर्वजीवके अनं. बहु
,, प, अप.		,,		,,
पंचें. सा.		,,		,,
,, प अप.		,,		,,
सू. एके. प	१		३१८	सर्व जीवके सं. बहु.
,, ,, अप.	१		,,	शेषके अस. बहु. (असं = असं. लोक)
बा. ,, अप.	१		,,	शेषके अस. बहु.
,, ,, प.	१		,,	,, अनं. ,,
अनिन्द्रिय			३१९	,, ,, ,,
त्रस राशि	१		,,	शेष (पल्य/असं.)

नोट—[त्रस राशिके असं बहुभागके चार समान खण्ड करके द्वीन्द्रियादि प्रत्येकको एक एक खण्ड दे। तहाँ समान भागोकी सहनानी = 'क', शेष भागकी सहनानी = 'ख'/'ख' राशिका उत्तरोत्तर असं. बहुभाग द्वीन्द्रिय आदिके पूर्वोक्त 'क' में जोडना। असं = आ/अस]

मार्गणा	गुणस्था.	ष. खं.	ध./पु.	भागाभाग
औदारिक मिश्र		४२/५०८		सर्वजीव ÷ सं
वैक्रियक व मिश्र		३६/५०७		,, ÷ अनं
आहारक व ,,		,,		,, ,,
कार्मण काय		४४/५०९		सर्व जीव ÷ असं
औदारिक काय	१		४०४	सर्व जीवोंके सं. बहु
,, मिश्र	१		,,	शेष ,, असं. ,,
कार्मण काय	१		,,	,, ,, अनं ,,
सिद्ध जीव			,,	,, ,, ,, ,,
अनुभय वचन	१		,,	,, ,, असं ,,
वैक्रियक काय	१		४०४	शेषके सं. बहु
उभय वचन	१		,	,, असं. ,,
असत्य ,,	१		,,	,, स. ,,
सत्य ,,	१		,,	,, ,, ,,
अनुभय मन	१		,,	,, ,, ,,
उभय ,,	१		,,	,, ,, ,,
असत्य ,,	१		,,	,, ,, ,,
सत्य ,,	१		,,	,, ,, ,,
वैक्रि. मिश्र	१		४०५	,, असं. ,,
वैक्रि. काय	४		,,	,, स ,,
अनुभय वचन	४		,,	,, ,, ,,
उभय ,,	४		,,	,, ,, ,,
असत्य ,,	४		,,	,, ,, ,,
सत्य ,,	४		,,	,, ,, ,,
{उपरोक्त क्रमसे चार मनोयोगी	४		,,	उत्तरोत्तर ,, ,,
वैक्रि. काय	३		,,	शेषके ,, ,,
{उपरोक्त क्रमसे चार वचनयोगी	३		,,	उत्तरोत्तर ,, ,,
{उपरोक्त क्रमसे चार मनोयो.	३		४०६	,, ,, ,,
वैक्रि. काय	२		,,	शेषके ,, ,
{उपरोक्त क्रमसे चार वचन	२		,,	उत्तरोत्तर ,, ,,
{उपरोक्त क्रमसे चार मन	२		,,	,, ,, ,,
औदा काय	४		,,	शेषके अस. बहु.
,,	३		,,	,, सं. ,,
,,	२		,,	,, असं. ,,
,,	५		,,	,, स. ,,
{उपरोक्त क्रमसे चार वचन	५		,,	उत्तरोत्तर ,, ,,
{उपरोक्त क्रमसे चार मन	५		,,	,, ,, ,,
वैक्रि. मिश्र	४		४०७	शेषके असं. बहु.
कार्मण काय	४		,,	,, ,, ,,
औदा. मिश्र	२		,,	,, ,, ,,
वैक्रि. मिश्र	२		,,	,, ,, ,,
कार्मण काय	२		,,	,, ,, ,,

मार्गणा	गुणस्था.	ष. खं.	ध./पु.	भागाभाग
{उपरोक्त क्रमसे सर्व योग	६-७		,,	ओघके आधार पर जान लेना
५. वेद मार्गणा—				
{स्त्री, पुरुष व अपगत वेदी		४६/५०९		सर्व जीव ÷ अनं.
नपुंसक वेदी		४८/५१०		सर्व जीवोंके अनं. बहु.
नपुंसक ,,	१		४२१	,, ,, ,, ,,
अपगत ,,			,,	शेषके ,, ,,
स्त्री ,,	१		,,	,, सं. ,,
पुरुष ,,	१		,,	,, अस. ,,
तीनों वेदी	४		,,	,, ,, ,,
,,	५-९		,,	ओघवत्
६. कषाय मार्गणा—				
क्रोधी मानोमायी		५०/५१०		सर्व जीव/४ से कुछ कम
लोभ कषायी		५२/५१०		सर्वजीव/४ से कुछ अधिक
अकषायी		५४/५११		सर्व जीव ÷ अन.
चारों कषायी	१		४३१	सर्व जीवके अनं. बहु.
(अकषायी +	२-१०)		,,	शेष एक भाग

नोट—चारों कषायीकी मिथ्यादृष्टि सामान्य राशिके असं बहुभागके चार समान खण्ड करके एक एक खण्ड प्रत्येकको दीजिये। इस एक खण्डकी सहनानी = क / शेष अस. वें भागकी सहनानी = ख। इस शेष ख राशिके उपरोक्त असं. बहु. भागको चारोंकी क राशिमें मिलाना। असं = आ/असं.।

मार्गणा	गुणस्था.	ष. खं.	ध./पु.	भागाभाग
लोभ कषायी	१		४३२	क+खका अस. बहु.
माया ,,	१		,,	क+शेषका ,, ,,
क्रोध ,,	१		,,	क+ ,, ,, ,,
मान ,,	१		,,	क+शेष एक भाग
अकषायी			,,	उपरोक्त अकषायी+ २-१० गुणस्थानकी सर्वराशिके अनं. बहु.
{क्रमसे लोभ, माया, मान व क्रोध कषायी	४		,,	उत्तरोत्तर स. बहु.
,, ,,	३		,,	,, ,, ,,
,, ,,	२		४३३	,, ,, ,,
चारों कषाय	५		,,	शेषके अस. बहु.

नोट—उपरोक्त नोटकी भाँति यहाँ संयतासंयतकी अपेक्षा 'क' व 'ख' राशि जानना।

मार्गणा	गुणस्था.	ष. खं.	ध./पु.	भागाभाग
लोभ कषायी	५		४३३	क+खका असं. बहु.
माया ,,	५		,,	क+शेषका ,, ,,
क्रोध ,,	५		,,	क+ ,, ,, ,,
मान ,,	५		,,	क+शेष एक भाग
उपरोक्त क्रमसे चारों	६-१०		,,	संयतासंयतके क्रमसे यथा योग्य

मार्गणा	गुणस्था.	ष.ख.	ध./पृ.	भागाभाग
७. ज्ञान मार्गणा—				
मति श्रुत अज्ञानी		५६/५।१।१		सर्वजीवोंके अन. बहु.
विभंग ज्ञानी		५८/५।१।२		सर्व जीव–अनं.
पाँचों ज्ञानोंमें-से प्रत्येक		,,		,,
मति श्रुत अज्ञानी	१		४४२	सर्व जीवोंके अनं. बहु
केवलज्ञानी			,,	शेषके अस बहु
विभग	१		,,	,, ,, ,,
मति श्रुत ज्ञानी	४		,,	,, ,, ,,
अवधि ज्ञानी	४		,,	मतिश्रुत ज्ञानीके अस, बहु(असं)= आ/असं.
मति श्रुत मिश्र	३		,,	शेषके स बहु.
मति श्रुत अवधि मिश्र	३		,,	मतिश्रुत मिश्रके असं बहु(अस)= आ/अस
मति श्रुत अज्ञानी	२		४४३	शेषके असं. बहु.
विभग ज्ञानी	२		,,	मति श्रुत अज्ञानीके अस, बहु(असं)= आ./अस.
मति श्रुत ज्ञानी	५		,,	शेषके अस बहु.
अवधिज्ञानी	५		,,	,, ,, ,,
दूसरे प्रकारसे—				
मति श्रुत अज्ञानी	१		,,	सर्व जीवोके अनं. बहु.
केवलज्ञानी			,,	शेषके ,, ,,
विभंगज्ञानी	१		,,	,, असं. ,,
तीन ज्ञान वाले	४		,,	,, ,, ,,
,, ,, ,,	३		,,	,, स ,,
,, ,, ,,	२		,,	,, असं. ,,
दो ज्ञान वाले	४		,,	,, ,, ,,
,, ,, ,,	३		,,	,, सं ,,
,, ,, ,,	२		,,	,, अस. ,,
,, ,, ,,	५		,,	,, ,, ,,
तीन ज्ञान वाले	५		,,	,, ,, ,,
मन पर्यय सहित २,३,४ ज्ञानवाले	६–१२		,,	सयतासयतके क्रम से यथायोग्य
८. सयम मार्गणा—				
संयत सा		६०/५।१।६		सर्व जीव–अन
पाँचो सयत		,,		,,
सयतासंयत		,,		,,
असयत		६२/५।१।३		सर्वजीवोके अनं. बहु
असयत	१		४५१	सर्वजीवोके अन. बहु.
सिद्ध			,,	शेषके अनं. बहु
,,	४		,,	,, अस ,,
,,	३		,,	,, स ,,
,,	२		,,	,, अस ,
संयतासयत	५		,,	,, ,, ,,

मार्गणा	गुणस्था.	ष.ख.	ध./पृ.	भागाभाग
सामायिक व छेदोपस्थापना	६–९		४५१	शेषके सं. बहु.
यथाख्यात	११–१४		,,	,, ,, ,,
परिहार वि	६–७		,,	,, ,, ,,
सूक्ष्मसाम्पराय	१०		,,	शेष एक भाग
९ दर्शन मार्गणा—				
चक्षुदर्शनी		६४/५।१।३		सर्व जीव–अनं.
अवधि दर्शनी		,,		,,
केवल ,,		,,		,,
अचक्षु ,,		६६/५।१।३		सर्व जीवोके अनं बहु.
,, ,,	१		४५७	,, ,, ,, ,,
केवल ,,			,,	शेषके ,, ,,
चक्षु ,,	१		,,	,, अस ,,
चक्षु अचक्षु दर्शनी	४		,,	,, ,, ,,
अवधि ,,	४		,,	चक्षु अचक्षुका अस. बहु.
चक्षु अचक्षु ,,	३		,,	शेषके स. बहु
,, ,,	२		,,	,, अस ,,
,, ,,	५		,,	,, ,, ,,
अवधि ,,	५		,,	,, ,, ,,
उपरोक्त तीन,,	६ १२		४५८	उपरोक्त संयतासयतवत् यथायोग्य
१०. लेश्या मार्गणा—				
कृष्ण लेश्या		६८/५।१।८		सर्वजीव/३ से कुछ अधिक
नील, कापोत		७०/५।१।४		सर्वजीव/३ से कुछ कम
तेज, पद्म, शुक्ल+		७२/५।१।५		सर्व जीव–अनं.
कृ+नील+कापोत			४६६	सर्व जीवोके अनं. बहु
अलेश्य			,,	शेषके ,, ,,
तेजो लेश्या			,,	,, स ,,
पद्म ,,			,,	,, अस ,,
शुक्ल ,,			,,	शेष एक भाग

नोट—उपरोक्त कृष्णादि तीन लेश्याके प्रमाणमें इन्द्रिय मार्गणावत 'क' व 'ख' राशि उत्पन्न करना। अस=आ/अस. विशेषता यह कि यहाँ चारकी बजाय तीन समान खंड करना।

मार्गणा	गुणस्था.	ष.ख.	ध./पृ.	भागाभाग
कृ. लेश्या			४६६	क+खका अस. बहु
नील ,,			,,	क+शेषका ,, ,,
कापोत ,,			,,	क+शेष एक भाग
कापोत ,,	१		,,	कापोत राशिका अनं बहु
,, ,,	४			शेषका अस बहु
,, ,,	३		४६७	,, सं ,,
,, ,,	२		,,	शेषका एक भाग
नील ,,	१,४ ३,२			नील राशिमेंसे कापोतके क्रमवत
कृष्ण लेश्या	१,४, ३,२		,,	कृष्ण राशिमेंसे कापोतवत
तेज ,,	१		,,	तेज राशिका अस, बहु
,, ,,	४		,,	शेष ,, ,, ,,

मार्गणा	गुणस्था.	ष.खं.	ध./पु.	भागाभाग
तेज लेश्या	३		४६७	,, ,, सं. ,,
,, ,,	२		,,	,, ,, असं. ,,
,, ,,	५		,,	,, ,, ,, ,,
,, ,,	६–७		,,	शेष एक भाग
पद्म ,,	१–७		,,	पद्म लेश्या राशिमे से सर्व क्रम तेजो लेश्यावत्
शुक्ल ,,	४		,,	शुक्ल राशिका स. बहु.
,, ,,	१		,,	शेषका अस. ,,
,, ,,	३		,,	,, सं. ,,
,, ,,	२		,,	,, अस. ,,
,, ,,	५		,,	,, ,, ,,
,, ,,	६–१२		,,	शेषका एक भाग
११. भव्यत्व मार्गणा—				
भव्य		७४/५१५		सर्व जीवोके अनं. बहु.
अभव्य		७६/५१६		सर्व जीव ÷ अनं.
भव्य	१		४७३	सर्व जीव ÷ अनं
भव्य अभव्यसे अतीत			,,	शेषका अनं. बहु
अभव्य	१		,,	,, ,, ,,
भव्य	४		,,	,, असं. ,,
,,	५–१४		,,	ओघ भागाभागवत्
१२. सम्यक्त्व मार्गणा—				
सम्यग्दृष्टि सा		७८/५१६		सर्व जीव ÷ अनं.
क्षायिक		,,		,,
वेदक		,,		,,
उपशम		,,		,,
सासादन		,,		,,
सम्यग्मिथ्यात्व		,,		,,
मिथ्यादृष्टि		८०/५१६		सर्व जीवोके अनं. बहु.
,,	१		४७८	,, ,, ,, ,,
सिद्ध			,,	शेषका ,, ,,
वेदक	४		,,	,, असं. ,,
क्षायिक	४		,,	,, ,, ,,
उपशम	४		,,	,, ,, ,,
सम्यग्मिथ्यात्व	३		४७६	,, सं. ,,
सासादन	२		,,	,, असं. ,,
वेदक	५		,,	,, ,, ,,
उपशम	५			,, ,, ,,
क्षायिक	५			,, ,, ,,
तीनों सम्य.	६			शेषके सं. बहु.
,, ,,	७			,, ,, ,,
उपशम क्षायिक	८–१४			यथा योग्य
१३. संज्ञी मार्गणा				
संज्ञी		८२/५१७		सर्व जीव ÷ अनं.
असंज्ञी		८४/५१८		सर्व जीवोंके अनं. बहु
असंज्ञी			४८३	सर्वजीवोंके अनं. बहु.
संज्ञी असंज्ञी रहित			,,	शेषका ,, ,,
संज्ञी	१		,,	,, अस. ,,
,,	२–१४		,,	ओघ भागाभागवत्
१४ आहारक मार्गणा—				
आहारक		८६/५१८		सर्व जीवोंके असं. बहु.
अनाहारक		८८/५१९		सर्व जीव ÷ असं.
आहारक	१		४०५	सर्व जीवोंके असं. बहु.
बन्ध मुक्त अनाहारक			,,	शेषका अनंत ,,
अबन्धक अनाहारक			,,	,, ,, ,,
आहारक	४		,,	,, असं ,,
,,	३		,,	,, सं. ,,
,,	२		,,	,, असं. ,,
,,	५		,,	,, ,, ,,
अनाहारक	४		,,	,, ,, ,,
,,	२		,,	,, ,, ,,
आहारक अना-	६		,,	,, सं ,,
आहारक	७–१३		,,	शेष एक भाग

५. चारों गतियोंकी अपेक्षा स्वपर स्थान भागाभाग

(ध ३/१,२,७३/२९५-२९७)

मार्गणा	गुण स्थान	भागाभाग
एकेन्द्रिय+विकलेन्द्रिय	१	सर्व जीवोके अनं. बहु
सिद्ध जीव		शेष के ,, ,,
पचेन्द्रिय अपर्याप्त	१	,, ,, असं. ,,
,, ,,	१	,, ,, सं. ,,
ज्योतिषी देव	१	,, ,, ,, ,,
(व्यन्तर देव)	१	,, ,, असं. ,,
भवनवासी	१	,, ,, ,, ,,
प्रथम पृथिवी	१	,, ,, ,, ,,
सौधर्म ऐशान	१	,, ,, ,, ,,
द्वितीय पृथिवी	१	,, ,, ,, ,,
सनत्कुमार माहेन्द्र	१	,, ,, ,, ,,
तृतीय पृथिवी	१	,, ,, ,, ,,
ब्रह्म ब्रह्मोत्तर	१	,, ,, ,, ,,
चतुर्थ पृथिवी	१	,, ,, ,, ,,
लांतव कापिष्ठ	१	,, ,, ,, ,,
पंचम पृथिवी	१	,, ,, ,, ,,
शुक्र महाशुक्र	१	,, ,, ,, ,,
शतार सहस्रार	१	,, ,, ,, ,,
षष्ठम पृथिवी	१	,, ,, ,, ,,
सप्तम पृथिवी	१	,, ,, ,, ,,
सौधर्म ऐशान	४	,, ,, ,, ,,
,, ,,	३	,, ,, सं. ,,
,, ,,	२	,, ,, असं. ,,
सनत्कुमार युगलसे शतार युगल तक प्रत्येक युगलमें	४	उत्तरोत्तर सौधर्म युगलवत
	३	
	२	,,
ज्योतिषी	४,३,२	,,
व्यन्तर	,,	,,
भवनवासी	,,	,,
तिर्यंच सामान्य	,,	,,
सातों पृथिवियोंमेंसे प्रत्येक पृ.	,,	,,
आनत-प्राणत	१	शेषके सं. बहु भाग
आरण-अच्युत	१	,, ,, ,, ,,
१-९ ग्रैवेयक	१	उत्तरोत्तर ,, ,,
नव अनुदिश	४	शेषके ,, ,,
विजय आदि चार अनुत्तर	४	,, ,, असं. ,,
आनत-प्राणत	३	,, ,, सं. ,,
आरण अच्युत	३	शेषका सं. बहु ,,
१-९ ग्रैवेयक	३	उत्तरोत्तर ,, ,,
आनत-प्राणत	२	शेषका ,, ,,
आरण-अच्युत	२	,, ,, ,, ,,
१-८ ग्रैवेयक	२	उत्तरोत्तर ,, ,,
नवां ग्रैवेयक	२	शेषका असं. ,,
सर्वार्थसिद्धि	४	,, ,, सं. ,,
मनुष्य पर्याप्त	१	,, ,, ,, ,,
,, ,,	४	,, ,, ,, ,,
मनुष्य पर्याप्त	३	शेषका सं. युगलवत्
,, ,,	२	,, ,, ,, ,,
,, ,,	५	,, ,, ,, ,,
,, ,,	६	,, ,, ,, ,,
,, ,,	७	,, ,, ,, ,,
सयोगकेवली	१३	,, ,, ,, ,,
चारों क्षपक	८-१२	,, ,, ,, ,,
चारों उपशामक	८-११	,, ,, ,, ,,
अयोगकेवली		शेष एक भाग

६. एक समयमें विवक्षित स्थानमें प्रवेश व निर्गमन करनेवाले जीवोंका प्रमाण

(ध. ९/४,१,६६/२७७-२७८)

मार्गणा	ध./पृ.	संख्या
१. सञ्चयकी अपेक्षा		
मनुष्य अपर्याप्त	२७७	१,२ या अधिक
वैक्रियक मिश्र	,,	,,
आहारक द्विक	,,	,,
सूक्ष्मसाम्परायिक	,,	,,
उपशम सम्यग्दृष्टि	,,	,,
सासादन सम्यग्दृष्टि	,,	,,
सम्यग्मिथ्यादृष्टि	,,	,,
प्रमत्त संयत	दे. संख्या/३/२	५९३९८२०६
अप्रमत्त संयत		प्रमत्तसे आधे २९६ या
चारों उपशामक		३०० या ३०४
चारों क्षपक		उपशामकों से दुगुने
सयोग केवली		८९८५०२
अयोग केवली		क्षपकों वत्.
२. प्रवेशकी अपेक्षा		
सर्व नारकी	२७८	१,२ या अधिक
सर्व तिर्यंच	,,	,,
सर्व देव	,,	,,
मनुष्य सा.	,,	,,
मनुष्य पर्याप्त	२७८	१,२ या अधिक
मनुष्यणी	,,	,,
एकेन्द्रिय	,,	,,
सब विकलेन्द्रिय	,,	,,
सब पंचेन्द्रिय	,,	,,
बा. पृथिवी कायिक	,,	,,
बा. जलकायिक	,,	,,

मार्गणा	ध./पृ.	संख्या
बा. तेजकायिक	२७८	१,२ या अधिक
बा. वायुकायिक	,,	,,
बा. वन. प्रत्येक प.	,,	,,
त्रस सामान्य	,,	,,
त्रस पर्याप्त	,,	,,
त्रस अपर्याप्त	,,	,,
पाचों मनोयोगी	,,	,,
पाँचो वचनयोगी	,,	,,
काय योगी सा.	,,	,,
वैक्रियक काय यो.	,,	,,
स्त्री वेदी	,,	,,
पुरुषवेदी	,	,,
नपुंसक वेदी	,,	,,
अपगत वेदी	,,	,,
अकषायी	,,	,,
आठो ज्ञान	,,	,,
सूक्ष्म सम्पराय विना ४ सयम	,,	,,
संयमासंयम	,,	,,
संयम सा.	,,	,,
चक्षु दर्शनी	,,	,,
अवधि दर्शनी	,,	,,
केवल दर्शनी	,,	,,
तेज पद्म शुक्ल लेश्या	,,	,,
सम्यग्दृष्टि सा.	,,	,,
क्षायिक, वेदक सम्यग्दृष्टि	,,	,,
मिथ्यादृष्टि	,,	,,
सञ्ज्ञी, असंज्ञी	,,	,,
शेष सर्व स्थान	२७६	१,२ के प्रवेशका अभाव है। अधिकका ही होता है।
चारो उपशामक	दे. संख्या/३/२	प्रथम समयमें १-१६ द्वि. ,, ,, १-२४ तृ ,, ,, १-३० चतु. ,, ,, १-३६ पंचम ,, ,, १-४२ षष्ठ ,, ,, १-४८ सप्तम ,, ,, १-५४
चारो क्षपक सयोगी, अयोगी	(दे. संख्या/३/२)	उपशामकोंसे दूने क्षपक वत्

मार्गणा	ध /पृ.	संख्या
३. चरम समयमें अवस्थानकी अपेक्षा		
भव्य सिद्धिक	२८०	१,२ या अधिक
अचक्षु दर्शनी	,,	,,
इन दो स्थानोंके अति-रिक्त उपशीर्षक नं २ में कथित सर्व स्थान	,,	१,२ नही होते। २ से अधिक नही

७ अन्य विषयों सम्बन्धी संख्या व भागाभाग सूची

सकेत—भागा.=भागाभाग; (ध./पृ./पक्ति)

	विषय	संख्या या भागा	प्रमाण
१	ज. उ. योगस्थानमें अवस्थित जीव	संख्यात भागा.	ध. १०/६१/१३ ध. १०/६५/१
२	१४ जीव समासोमें पृथक् पृथक् योग स्थान	संख्यात	ष. खं. १०/ सू. १८७/४८०
३	उत्कृष्टादि क्षेत्रोके स्वामी	,, भागा.	ध. ११/३२/४ ध. ११/३२/१६
४	अध कर्म आदि कर्मोंके स्वामी	संख्यात	ध. ३/१३/६३-६८
५	उत्कृष्टादि अवगाहना	भागा.	ध. ११/२७/१६
६	वर्गणाओंमें परमाणु	संख्यात भागा.	ध. १४/१५४-१६० ध. १४/१६०-१६३
७	पंच शरीर योग्य जघन्य व उत्कृष्ट पुद्गल स्कन्ध का सघातन परिशातन	संख्यात	ध. ६/३५८-३६४
८	पंच शरीरों सम्बन्धी २,३,४ शरीरोका स्वामित्व	,,	ष. खं. १४/सू. २८६-२५३/३३६)
९	पंच शरीरोके प्रदेश	,,	ष. खं. १४/सू २४२-२४४/३३०
१०	पंच शरीरोके एक समय प्रबद्ध प्रदेश	,,	ष. ख १४/सू. २४६-२५३/३३६-३३६
११	स्थितिबन्ध अध्यवसाय स्थान	,,	ध. ११/३४६-३५२
१२	अष्टकर्म बद्धप्रदेश	,,	ध १२/१०४-११०
१३	अनुभाग बन्ध अध्यवसाय स्थानकी यवमध्य	,,	ध. १२/२०२-२०५
१४	उपरोक्त स्थानोंके स्वामी	,,	ष. खं. १२/सू. २६६-२७१/२५२
१५	कर्म बन्धकी समय प्रबद्धार्थता व क्षेत्र प्रयास	भागा.	ष. खं १२/अ. ६/सू. १२१/५०१-५०८

८ कर्म बन्धकोंकी अपेक्षा संख्या व भागाभाग सूची

(म. ब./पुस्तक सं./पृ. सं.) । सकेत—भागा=भागाभाग

मूल या उत्तर प्रकृति	संख्या या भागाभाग	सामान्य	जघन्य उत्कृष्ट स्थान	भुजगारादि पद	संख्यात भागादि वृद्धि
१ अष्ट कर्म प्रकृति बन्धक जीव—					
उत्तर	भागा.	१/२०४-२४६/१४१			
	संख्या	१/२४७-२८०/१७६			
२ अष्टकर्म अनुभाग बन्धक जीव—					
मूल	भागा.		२/१४१-१४७/८८-९१	२/३०२-३०८/१५६	२/३८६/१९६
	संख्या		२/१४८-१६०/९१-९५	२/३०२-३०८/१५६	२/३८७/१९६-१९७
उत्तर	भागा.		३/४४६-४५१/२०४	३/६६८-७६६/३६३	३/९१६-९१८/४४६
	संख्या		३/४५२-४७०/२०६	३/७७०-७७१/३६४	३/९१८-९२८/४४८
३ अष्टकर्म अनुभाग बन्धक जीव—					
मूल	भागा.		४/१८६-१८९/८१	४/२८६/१३२	४/३६२/१६४
	संख्या		४/१९०-२०२/८३	४/२८७/१३३	४/३६६/१६६
उत्तर	भागा		५/३१४/१२६	५/४९८/२७८	५/६१८/३६३
	संख्या		५/३१६-३३७/१३१	५/४९९-५०९/२७९	५/६१९/३६४
४ अष्टकर्म प्रदेशबन्धक जीव—					
मूल	भागा.			६/१२७/६६	
	संख्या			६/१२८-१३०/६७	
उत्तर	भागा.	६/१६५-१६७/८७	६/५७०-५७१/३५४		
	संख्या		६/५७२-५९२/३५६		

९ मोहनीय कर्म सत्त्वकी अपेक्षा संख्या व भागाभाग सूची

(क. पा./पुस्तक सं /§ स /पृ. सं.) । सकेत—भागा=भागाभाग ।

मूल या उत्तर प्रकृति	संख्या या भागाभाग	सत्त्वासत्त्व	जघन्य उत्कृष्ट स्थान	भुजगारादि बन्ध	असंख्यात भाग आदि वृद्धि
१ प्रकृति सत्त्वकी अपेक्षा—					
मूल	भागा.	२/६७-६९/४७			
	संख्या	२/७०-७६/४९-५३			
उत्तर	भागा.	२/१६०/१६७/१५१	२/३५०-३५३/३१६	२/४५०-४५२/४०६	२/५०८-५११/४५९
	संख्या	२/१६८-१७४/१५७	२/३५४-३५९/३१९	२/४४६-४४९/४०४	२/५१२/५१४/४६१
कषाय	भागा.	१/३७८-३७९/३९२			
	संख्या	१/३८०-३८२/३९६			
२ स्थिति सत्त्वकी अपेक्षा—					
मूल	भागा.		३/९८-१०३/५८	३/१९८-१९९/११३	३/२९५-२९८/१६४
	संख्या		३/१०४-१११/६१	३/२००-२०२/११४	३/२९९-३०५/१६६
उत्तर	भागा.		३/५९९/६०२/३५४	४/१०४-१०८/५५	४/३६५-३६७/२२७
	संख्या		३/६०४-६१५/३५८	४/१०९-११३/५७	४/३६८-३७३/२२८
३ अनुभाग सत्त्वकी अपेक्षा—					
मूल	भागा.	हतहत समुत्पात्तक स्थान	५/८८-९२/५६	५/१५२/१०१	५/१७९/१२०
	संख्या	५/१८७/१२७	५/९३-९७/५९	५/१५३-१५७/१०२	५/१८०/१२१
उत्तर	भागा.		५/३४५-३५०/२२०	५/४९०-४९२/२८८	५/५४७-५४९/३१८
	संख्या		५/३५१-३५६/२२४	५/४९३-४९५/२८९	५/५५०-५५२/३२०

संख्यात—दे. संख्या।

संख्यातुल्य घात—Raising of number to its own Power. (ध ५/प्र २८)

संख्या व्यभिचार—दे. नय/III/६/८।

संगति—मनपर संगतिका प्रभाव पडना स्वाभाविक होनेके कारण मोक्षमार्गमें भी साधुओंके लिए दुर्जनों, स्त्रियों व आर्यिकाओं आदि-के संसर्गका कडा निषेध किया गया है और गुणाधिकको संगतिमें रहनेकी अनुमति दी है।

१. संगतिका प्रभाव

भ. आ./मू./३४३ जो जारिसीय मेत्ती केरइ सो होइ तारिसो चेव। वासिज्जइ च्छुरिया सा रिया वि कणयादिसंगेण।३४३। =जैसे छुरी सुवर्णादिककी जिल्हई देनेसे सुवर्णादि स्वरूपकी दीखती है वैसे मनुष्य भी जिसकी मित्रता करेगा वैसा ही अर्थात् दुष्टके सहवाससे दुष्ट और सज्जनके सहवाससे सज्जन होगा।३४३।

२. दुर्जनकी संगतिका निषेध

भ आ./मू./३४४-३४८ दुज्जणसंसग्गीए पजहदि णियगं गुणं खु सजणो वि। सीयलभाव उदयं जह पजहदि अग्गिजोएण।३४४। सुजणो वि होइ लहुओ दुज्जणसंमेलणाए दोसेण। माला वि मोल्लगरुया होदि लहू मडयससिट्ठा।३४५। दुज्जणसंसग्गीए संकिज्जदि संजदो वि दोसेण। पाणागारे दुद्धं पियतओ बंभणो चेव।३४६। अदिसंजदो वि दुज्जणकएण दोसेण पाउणइ दोसं। जह घूगकए दोसे हंसो य हओ अपावो वि।३४८। =सज्जन मनुष्य भी दुर्जनके संगसे अपना उज्ज्वल गुण छोड देता है। अग्निके सहवाससे ठण्डा भी जल अपना ठण्डापना छोडकर क्या गरम नहीं हो जाता? अर्थात् हो जाता है।३४४। दुर्जनके दोषोंका संसर्ग करनेसे सज्जन भी नीच होता है, बहुत कीमतकी पुष्पमाला भी प्रेतके (शवके) संसर्गसे कौड़ीकी कीमतकी होती है।३४५। दुर्जनके संसर्गसे दोष रहित भी मुनि लोकोंके द्वारा दोषयुक्त गिना जाता है। मदिरागृहमें जाकर कोई ब्राह्मण दूध पीवे तो भी मद्यपी है ऐसा लोक मानते है।३८६। महान् तपस्वी भी दुर्जनोंके दोषसे अनर्थमें पडते है अर्थात् दोष तो दुर्जन करता है परन्तु फल सज्जनको भोगना पडता है। जैसे उल्लूके दोष-से निष्पाप हस पक्षी मारा गया।३४८।

३. लौकिकजनोंकी संगतिका निषेध

प्र. सा./मू./२६८ णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि। लोगिगजणससग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि।=जिसने सूत्रोंके पदोंको और अर्थोंको निश्चित किया है, जिसने कषायोंका शमन किया है और जो अधिक तपवान् है ऐसा जीव भी यदि लौकिक-जनोंके संसर्गको नहीं छोडता, तो वह संयत नहीं है।२६८।

र सा/मू./४२ लोइयजणसगादो होइ मइमुहरकुडिलदुब्भावो। लोइय-संग तहमा जोइ वि त्तिविहेण मुंचाओ।४२। =लौकिक मनुष्योंकी संगतिसे मनुष्य अधिक बोलनेवाले वक्कड कुटिल परिणाम और दुष्ट भावोंसे अत्यन्त क्रूर हो जाते है इसलिए लौकिकजनोंकी संगतिको मन-वचन-कायसे छोड देना चाहिए।

स. श मू./७२ जनेभ्यो वाक् तत' स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः। भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत्।७२। =लोगोंके संसर्गसे वचनकी प्रवृत्ति होती है। उससे मनकी व्यग्रता होती है, तथा चित्त-की चंचलतासे चित्तमें नाना विकल्प होते है। इसलिए योगी लौकिकजनोंके संसर्गका त्याग करे।

भ वि/वि./६०६/८०७/१५ उपवेशनं अथवा गोचरप्रविष्टस्य गृहेषु निषद्या कस्तत्र दोष इति चेत् ब्रह्मचर्यस्य विनाश. स्त्रीभि' सह सवासात्।...भोजनार्थिनां च विघ्न.। कथमिव यतिसमीपे भुजिक्रियां सपादयाम'।...किमर्थमयमत्र दाराणा मध्ये निषण्णो यतिर्भुङ्क्ते न यातीति। =आहारके लिए श्रावकके घरपर जाकर वहाँ बैठना यह भी अयोग्य है। स्त्रियोंके साथ सहवास होनेसे ब्रह्मचर्यका विनाश होता है। जो भोजन करना चाहते है उनको विघ्न उपस्थित होता है, मुनिके सन्निधिमेंआहार लेनेमें उनको संकोच होता है "ये यति स्त्रियोंके बीचमें क्यों बैठते है, यहाँसे क्यों अपने स्थानपर जाते नहीं?" घरके लोग ऐसा कहते हैं।

पं. ध./उ./६५५ सहासयमिभिर्लोकै' ससर्गं भाषणं रतिम्। कुर्यादाचार्य इत्येके नासौ सूरिर्न चार्हत'।६५५। =आचार्य असंयमी पुरुषोंके साथ सम्बन्ध, भाषण, प्रेम-व्यवहार, करे कोई ऐसा कहते हैं, परन्तु वह आचार्य न तो आचार्य है और न अर्हतका अनुयायी ही।६५५।

४. तरुणजनोंकी संगतिका निषेध

भ. आ./मू./१०७२-१०८४ खोभेदि पत्थरो जह दहे पडंतो पसण्णमवि पंकं। खोभेइ तहा मोहं पसण्णमवि तरुणसंसग्गी।१०७२। संडयसंसग्गीए जह पादुं सुंडओऽभिलसदि सुर। विरूए तह पयडीए समोहो तरुणगोट्ठीए।१०७८। जादो खु चारुदत्तो गोट्ठीदोसेण तह विणीदो वि। गणियासत्तो मज्जासत्तो कुलदूसओ य तहा।१०८२। परिहरइ तरुणगोट्ठी विसं व वुड्ढासले य आयदणे। जो वसइ कुणइ गुरुणिद्दे'स सो णिच्छरइ बंभ।१०८४। =जैसे बडा पत्थर सरोवरमें डालनेसे उसका निर्मल पानी उछलकर मलिन बनता है वैसा तरुण संसर्ग मनके अच्छे विचारोंको मलिन बनाता है।१०७२। जैसे मद्यपी-के सहवाससे मद्यका प्राशन न करनेवाले मनुष्यको भी उसके पानकी अभिलाषा उत्पन्न होती है वैसे तरुणोंके सगसे वृद्ध मनुष्य भी विषयोंकी अभिलाषा करता है।१०७८। ज्ञानी भी चारुदत्त कुससर्गसे गणिकामें आसक्त हुआ, तदनन्तर उसने मद्यमें आसक्ति कर अपने कुलको दूषित किया।१०८२। जो मनुष्य तरुणोंका संग विष तुल्य समझकर छोडता है, जहाँ वृद्ध रहते है, ऐसे स्थानमें रहता है, गुरुकी आज्ञाका अनुसरण करता है वही मनुष्य ब्रह्मचर्यका पालन करता है।

★ **सल्लेखनामें संगतिका महत्त्व**—दे सल्लेखना/५

५. सत्संगतिका माहात्म्य

भ. आ./मू./३५०-३५३ जहदि य णियय दोसं पि दुज्जणो सुयणवइयर-गुणेण। जह मेरुमल्लियंतो काओ णिययच्छविं जहदि।३५०। कुसममगंधमवि जहा देवयसेसत्ति करिदे सीसे। तह सुयणमज्झवासी वि दुज्जणो पूइओ होइ।३५१। संविग्गाणं मज्झे अप्पियधम्मो वि कायरो वि णरो। उज्जमदि करणचरणे भावणभयमाणलज्जाहि।३५२। सविग्गोवि य संविग्गदरो सवेगमज्झम्मि। होइ जह गंधजुत्ती पयडिसुरभिदव्वसंजोए।३५३। =दुर्जन मनुष्य सज्जनोंके सहवाससे पूर्व दोषोंको छोडकर गुणोंसे युक्त होता है, जैसे—कौवा मेरुका आश्रय लेनेसे अपनी स्वाभाविक मलिन कान्तिको छोडकर सुवर्ण कान्तिका आश्रय लेता है।३५०। निर्गन्ध भी पुष्प यह देवताकी शेषा है—प्रसाद है ऐसा समझकर लोक अपने मस्तकपर धारण करते है वैसे सज्जनोंमें रहनेवाला दुर्जन भी पूजा जाता है।३५१। जो मुनि ससारभीरु मनुष्योंके पास रहकर भी धर्मप्रिय नहीं होते है तो भी भावना, भय, मान और लज्जाके वश पाप क्रियाओंको वे त्यागते हैं।३५२। जो प्रथम ही संसारभीरु है वे संसारभीरुके सहवाससे अधिक ससार भीरु होते है। स्वभावतः गन्धयुक्त कस्तूरी, चन्दन वगैरह पदार्थोंके सहवाससे कृत्रिम गन्ध पूर्वसे भी अधिक सुगन्धयुक्त होता है।३५३।

भ आ/मू./१०७३-१०८३ कलुसीकदं पि उदयं अच्छं जह होइ कदयजोएण। कलुसो वि तहा मोहो उवसमदि हु वुड्ढसेवाए।१०७३।

तरुणो वि वुड्ढसीली होदि णरो वुड्ढसंसिओ अचिरा । लज्जा संकामाणावमाण भयधम्म बुड्ढेहि ।१०७६। तरुणस्स वि वेरग्गं पण्हाविज्जदि णरस्स वुड्ढेहिं । पण्हाविज्जइ पाडच्छीवि हु वच्छस्स फरुसेण ।१०८३। =जैसे मलिन जल भी कतक फलके सयोगसे स्वच्छ होता है वैसा कलुष मोह भी शील वृद्धोंके ससर्गसे शान्त होता है ।१०७३। वृद्धोंके संसर्गसे तरुण मनुष्य भी शीघ्र ही शील गुणोंकी वृद्धि होनेसे शीलवृद्ध बनता है । लज्जासे, भीतिसे, अभिमानसे, अपमानके डरसे और धर्म बुद्धिसे तरुण मनुष्य भी वृद्ध बनता है ।१०७६। जैसे बछडेके स्पर्शसे गौके स्तनोमें दुग्ध उत्पन्न होता है वैसे ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध और तपोवृद्धोके सहवाससे तरुणके मनमें भी वैराग्य उत्पन्न होता है ।१०८३।

कुरल/४६/५ मनस. कर्मणश्चापि शुद्धेर्मूल सुसंगति' । तद्विशुद्धौ यत सत्वा सशुद्धिर्जायते तयो ।५। =मनकी पवित्रता और कर्मोंकी पवित्रता आदमीकी सगतिकी पवित्रतापर निर्भर है ।५।

ज्ञा./१५/१६-३६ वृद्धानुजोविनामेव स्युश्चारित्रादिसपद । भवत्यपि च निर्लेप मन क्रोधादिकश्मलम् ।१६। मिथ्यात्वादि नगोत्तुङ्गशृङ्ग-भङ्गाय कल्पित । विवेक साधुसङ्गोत्थो वज्रादप्यजयो नृणाम् ।२४। एकैव महता सेवा स्याज्जेत्री भुवनत्रये । ययैव यमिनामुच्चैरन्त-र्ज्योतिर्विजृम्भते ।२७। दृष्ट्वा श्रुत्वा यमी योगिपुण्यानुष्ठानमूर्जि-तम् । आक्रामति निरातङ्क पदवीं तैरुपासिताम् ।२८। =वृद्धोंकी सेवा करने वाले पुरुषोके ही चारित्र आदि सम्पदा होती है और क्रोधादि कषायोसे मैला मन निर्लेप हो जाता है ।१६। सत्पुरुषोंकी सगतिसे उत्पन्न हुआ मनुष्योका विवेक मिथ्यात्वादि पर्वतोंके ऊँचे शिखरोंको खण्ड-खण्ड करनेके लिए वज्रसे अधिक अजेय है ।२४। इस त्रिभुवनमें सत्पुरुषोकी सेवा ही एकमात्र जयनशील है । इससे मुनियोके अन्तरमें ज्ञानरूप ज्योतिका प्रकाश विस्तृत होता है ।२७। संयमी मुनि महापुरुषोंके महापवित्र आचरणके अनुष्ठानको देखकर या सुनकर उन योगीश्वरोकी सेयी हुई पदवीको निरुपद्रव प्राप्त करता है ।

अन. ध /४/१०० कुशीलोऽपि सुशील स्यात सद्गोष्ठ्या मारिदत्तवत् । =कुशील भी सद्गोष्ठीसे सुशील हो जाता है, मारिदत्तकी भाँति ।

६. गुणाधिकका ही संग श्रेष्ठ है

प्र सा /मू /२७० तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं । अधिवसदु तम्हि णिच्च इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्ख ।२७०। =(लौकिक जनके सगसे सयत भी असंयत होता है।) इसलिए यदि श्रमण दुखसे परिमुक्त होना चाहता हो तो वह समान गुणो वाले श्रमणके अथवा अधिक गुणो वाले श्रमणके सगमें निवास करो ।२७०।

७. स्त्रियों आदिकी संगतिका निषेध

भ आ /मू /३३४/५५४ सव्वत्थ इत्थिवग्गम्मि अप्पमत्तो सया अवीसत्थो । णित्थरदि बभचेरं तव्विवरीदो ण णित्थरदि ।३३४। =सम्पूर्ण स्त्रीमात्रमें मुनिको विश्वास रहित होना चाहिए, प्रमाद रहित होना चाहिए, तभी आजन्म ब्रह्मचर्य पालन कर सकेगा, अन्यथा ब्रह्मचर्य-को नहीं निभा सकेगा ।

भ. आ /मू./१०९२-११०२ ससग्गीए पुरिसस्स अप्पसारस्स लद्धपसरस्स । अग्गिसमीवे लक्खेव मणो लहुमेव वियलाइ ।१०९२। संसग्गोसम्मूढो मेहुणसहिदो मणो हु दुम्मेरो । पुव्वावरमगणंतो लघेज्ज सुसीलपायार ।१०९३। माद सुद च भगिणीमेगते अल्लियंतगस्स मणो । खुब्भइ णरस्स सहसा किं पुण सेसासु महिलासु ।१०९५। जो महिलाससग्गी विसव दट्ठूण परिहरइ णिच्च । णित्थरइ बभचेर जावज्जीवं अकंपो सो ।११०२। =स्त्रीके साथ सहगमन करना, एकासनपर बैठना, इन कार्योंसे अल्प धैर्य वाले और स्वच्छन्दसे बोलना-हँसना वगैरह करने वाले पुरुषका मन अग्निके समीप लाखकी भाँति पिघल जाता है ।१०९२। स्त्री सहवाससे मनुष्यका मन मोहित होता है, मैथुनकी तीव्र इच्छा होती है, कारण-कार्यका विचार न कर शील तट उल्लंघन करनेको उतारू हो जाता है ।१०९३। माता, अपनी लडकी और बहन इनका भी एकान्तमें आश्रय पाकर मनुष्यका मन क्षुब्ध होता है, अन्यका तो कहना ही क्या ।१०९५। जो पुरुष स्त्रीका ससर्ग विषके समान समझकर उसका नित्य त्याग करता है वही महात्मा यावज्जीवन ब्रह्मचर्यमें दृढ रहता है ।११०२।

मू. आ /१७६ तरुणो तरुणीए सह कहा व सल्लावण च जदि कुज्जा । आणाकोवादीया पचवि दोसा कदा तेण ।१७६। =युवावस्था वाला मुनि जवान स्त्रीके साथ कथा व हास्यादि मिश्रित वार्तालाप करे तो उसने आज्ञाकोप आदि पाँचो ही दोष किये जानना ।

बो. पा /मू /५७ पसुमहिलासढसग कुसीलसगं ण कुणइ विकहाओ पव्वज्जा एरिसा भणिया ।५७। =जिन प्रव्रज्यामें पशु, महिला, नपुसक और कुशील पुरुषका सग नहीं है तथा विकथा न करे ऐसी प्रव्रज्या कही है ।५७।

लि पा./मू /१७ रागो करेदि णिच्च महिलावग्ग पर च दूसेइ । दसण णाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ।१७। =जो लिंग धारण कर स्त्रियोंके समूहके प्रति राग करता है, निर्दोषीको दूषण लगाता है, सो मुनि दर्शन व ज्ञान कर रहित तिर्यंच योनिया पशुसम है ।

८. आर्यिकाकी संगतिका निषेध

भ.आ /मू /३३१-३३६ थेरस्स वि तवसिस्स वि बहुस्सुदस्स वि पमाण-भूदस्स । अज्जाससग्गीए जणजंपणय हवेज्जादि ।३३१। जदि वि सय थिरबुद्धी तहा वि ससग्गिलद्धपसराए । अग्गिसमीवे व घद विलेज्ज चित्त खु अज्जाए ।३३३। खेलपडिदमप्पाणं ण तरदि जह मच्छिया विमोचेदु । अज्जाणुचरो ण तरदि तह अप्पाण विमोचेदु ।३३६। =मुनि, वृद्ध, तपस्वी, बहुश्रुत और जनमान्य होने पर भी यदि आर्यिकाका सहवास करेगा तो वह लोगोंकी निन्दाका स्थान बनेगा ही ।३३१। मुनि यद्यपि स्थिर बुद्धिका धारक होगा तो भी मुनिके सहवाससे जिसका चित्त चंचल हुआ है ऐसी आर्यिकाका मन अग्निके समीप घी जैसा पिघल जाता है ।३३३। जैसे मनुष्यके कफमें पडी मक्खी उसमे निकलनेमें असमर्थ होती है वैसे आर्यिकाके साथ परिचय किया मुनि छुटकारा नहीं पा सकता ।३३६।

मू आ /१७७-१८५ अज्जागमणे काले ण अत्थिदव्वं तहेव एक्केण । ताहि पुण सल्लावो ण य कायव्वो अकज्जेण ।१७७। तासि पुण पुच्छाओ एक्कस्से णय कहेज्ज एक्को दु । गणिणी पुरओ किच्चा जदि पुच्छइ तो कहेदव्वं ।१७८। णो कप्पदि विरदाण विरदीमुवासयम्हि चिट्ठेदु । तत्थ णिसेज्जउवट्टणसज्झाहारभिक्खवोसरणे ।१८०। कण्ण विधव अतेउरिय तह सइरिणी सलिंगं वा । अचिरेणल्लिय-माणो अववाद तत्थ पप्पोदि ।१८५। =आर्यिका आदि स्त्रियोंके आनेके समय मुनिको वनमें अकेला नहीं रहना चाहिए और उनके साथ धर्म कार्यादि प्रयोजनके बिना बोले नहीं ।१७७। उन आर्यि-काओमेंसे यदि एक आर्यिका कुछ पूछे तो निन्दाके भयसे अकेला न रहे । यदि प्रधान आर्यिका अगाडी करके कुछ पूछे तो कह देना चाहिए ।१७८। सयमी मुनिको आर्यिकाओंकी वस्तिकामें ठहरना, बैठना, सोना, स्वाध्याय करना, आहार व भिक्षा ग्रहण करना तथा प्रतिक्रमण व मलका त्याग करना आदि क्रिया नहीं करनी चाहिए ।१८०। कन्या, विधवा, रानी वा विलासिनी, स्वेच्छाचारिणी तथा दीक्षा धारण करने वाली, ऐसी स्त्रियोके साथ क्षणमात्र भी वार्ता-लाप करता मुनि लोक निन्दाको पाता है ।१८५।

९. आर्यिकाको साधुसे सात हाथ दूर रहनेका नियम

मू. आ./१९५ पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य। परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति ।१९५। =आर्यिकाएँ साधुसे पाँच हाथ दूरसे, उपाध्यायको छह हाथ दूरसे और साधुओंको सात हाथ दूरसे गौ आसनसे बैठकर नमस्कार करती है ।१९५।

१. कथंचित् एकान्तमें आर्यिकाकी संगति

प. पु /१०६/२२५-२२८ ग्रामो मण्डलिको नाम तमायात. सुदर्शनः। मुनिमुद्यानमायात वन्दित्वा तं गता जना' ।२२५। सुदर्शनां स्थितां तत्र स्वसारं सद्वचो ब्रुवन् । ईक्षितो वेदवत्याऽसौ सत्या श्रमणया तया ।२२६। ततो ग्रामीणलोकाय सम्यग्दर्शनतत्परा । जगाद पश्यतेदृक्ष श्रमणं ब्रूथ सुन्दरम् ।२२७। मया सुयोषिता साकं स्थितो रहसि वीक्षित । तत कैश्चिद् प्रतीतं तन्न तु कैश्चिद्विचक्षणै' ।२२८। =उस ग्राममें एक सुदर्शन नामक मुनि आये। वन्दना कर जब सब लोग चले गये तब उनके पास एक सुदर्शना नामकी आर्यिका जो कि मुनिकी बहन थी बैठी रही और मुनि उसे सद्वचन कहते रहे । अपने आपको सम्यग्दृष्टि बताने वाली वेदवती (सीताके, पूर्व भवकी पर्याय) ने गाँवके लोगोंसे कहा कि मैंने उन साधुओंको एकान्तमें सुन्दर स्त्रीके साथ बैठे देखा है।

★ पार्श्वस्थादि मुनि संग निषेध—दे० साधु/५।

११. मित्रता सम्बन्धी विचार

१. मित्रतामें परीक्षाका स्थान

कुरल/८०/१ ३,१० अपरीक्ष्यैव मैत्री चेत् क प्रमादो ह्यत पर'। भद्रा' प्रीतिं विधायादौ न ता मुञ्चन्ति कर्हिचित् ।१। कथं शीलं कुलं किं क सम्बन्ध' का च योग्यता। इति सर्वं विचार्यैव कर्तव्यो मित्रसंग्रह' ।३। विशुद्धहृदयैरार्यै सह मैत्रीं विधेहि वै । उपयाचितदानेन मुञ्चस्वानार्यमित्रताम् ।१०। =इससे बढकर अप्रिय बात और कोई नहीं है कि बिना परीक्षा किये किसीके साथ मित्रता कर ली जाय, क्योंकि एक बार मित्रता हो जाने पर सहृदय पुरुष फिर छोड नहीं सकता।१। जिस मनुष्यको तुम अपना मित्र बनाना चाहते हो उसके कुलका, उसके गुण-दोषोका, किन-किनके साथ उसका सम्बन्ध है, इन सब नातोंका विचार कर. पश्चात् यदि वह योग्य हो तो मित्र बना लो ।३। पवित्र लोगोके साथ बडे चावसे मित्रता करो, लेकिन जो अयोग्य है उनका साथ छोड दो, इसके लिए चाहे तुम्हें कुछ भी देना पडे ।८०।

२. मित्रतामें विचार स्वतन्त्रताका स्थान

कुरल/८१/२,४ सत्यरूपाव तयोर्मैत्री वर्तते विज्ञसंमता । स्वाश्रितौ यत्र पक्षौ द्वौ भवतो नापि बाधक' ।२। प्रगाढमित्रयोरेक' किमप्यनुमति बिना। कुरुते चेद्द द्वितीयोऽपि सख्यमाध्याय हृष्यति ।४। =सच्ची मित्रता वही है जिसमें मित्र आपसमें स्वतन्त्र रहे और एक-दूसरेपर दबाव न डालें । विज्ञजन ऐसी मित्रताका कभी विरोध नहीं करते ।२। जब कि जिन दो व्यक्तियोंमें प्रगाढ मैत्री है उनमेंसे एक दूसरेकी अनुमतिके बिना ही कोई काम कर लेता है तो दूसरा मित्र आपसके प्रेमका ध्यान करके उससे प्रसन्न ही होगा ।४।

३. अयोग्य मित्रकी अपेक्षा अकेला रहना ही अच्छा है

कुरल/८२/४ पलायते यथा युद्धाव पातयित्वाश्ववारकम्। कुत्स्यसन्निस्तथा मायी का सिद्धिस्तस्य सख्यत' ।४। =कुछ आदमी उस अक्खड घोड़ेकी तरह होते हैं कि जो युद्धक्षेत्रमें अपने सवारको गिराकर भाग जाता है। ऐसे लोगोंसे मैत्री रखनेसे तो अकेला रहना ही हजारगुणा अच्छा है ।४।

संज्ञा—क्षुद्र प्राणीसे लेकर मनुष्य व देव तक सभी संसारी जीवोंमें आहार, भय, मैथुन व परिग्रह इन चारके प्रति जो तृष्णा पायी जाती है उसे संज्ञा कहते है। निचली भूमिओंमें ये व्यक्त होती है और ऊपरकी भूमिकाओमें अव्यक्त।

१. संज्ञा सामान्यका लक्षण

१ नामके अर्थमें

स. सि /२/२४/१८१/१० सज्ञा नामेत्युच्यते ।=संज्ञाका अर्थ नाम है। (रा. वा /२/२४/५/१३६/१३)।

२. ज्ञानके अर्थमें

दे. मतिज्ञान/१ मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता ये सर्व सम्यग्ज्ञानकी सज्ञाएँ है।

स सि /१/१३/१०६/५ संज्ञानं सज्ञा। ='संज्ञानं सज्ञा' यह इनकी व्युत्पत्ति है।

गो. जो./मू /६६० णो इंदियआवरणखओवसम तज्जबोहण सण्णा।= =नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमको या तज्जन्य ज्ञानको संज्ञा कहते है।

३. इच्छाके अर्थमें

स. सि./२/२४/१८२/१ आहारादिविषयाभिलाष' संज्ञेति। =आहारादि विषयोंकी अभिलाषाको संज्ञा कहा जाता है। (रा. वा./२/२४/७/१३६/१७)।

प. स /प्रा./१/५१ इह जाहि बाहिया वि य जीवा पावंति दारुणं दुक्खं। सेवंता वि य उभए ।५१। =जिनसे बाधित होकर जीव इस लोकमें दारुण दुःखको पाते है, और जिनको सेवन करनेसे जीव दोनों ही भवोमें दारुण दु खको प्राप्त करते है उन्हें सज्ञा कहते है। (पं. सं./स./१/३४४); (गो. जी./मू /१३४)।

गो जी /जी. प्र /२/२१/१० आगमप्रसिद्धा वाञ्छा संज्ञा अभिलाष इति। =आगममें प्रसिद्ध वाञ्छा संज्ञा अभिलापा ये एकार्थवाची है । (गो जी./जी. प्र./१३४/३४७/१६)।

२. संज्ञाके भेद

ध. २/१,१/४१३/२ सण्णा चउव्विहा आहार-भय-मेहुणपरिग्गहसण्णा चेदि।—खीणसण्णा वि अत्थि (पृ. ४१९/१)। =संज्ञा चार प्रकारकी है; आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा। क्षीण सज्ञावाले भी होते हैं। (ध. २/१,१/४१९/१); (नि. सा./ ता. वृ./६६). (गो. जी /जी. प्र / १३४/३४७)।

३. आहारादि संज्ञाओंके लक्षण

गो. जी./जी. प्र /१३५-१३८/३४८ ३५१ आहारे-विशिष्टान्नादौ संज्ञा—वाञ्छा आहारसंज्ञा (१३५-३४८) भयेन उत्पन्ना पलायनेच्छा भयसंज्ञा (१३६/३४६) मैथुने-मिथुनकर्मणि सुरतव्यापाररूपे संज्ञा—वाञ्छा मैथुनसंज्ञा (१३७/३५०) परिग्रहसंज्ञा—तदर्जनादि वाञ्छा जायते। (१३८/३५१) =विशिष्ट अन्नादिमें संज्ञा अर्थात् वाञ्छाका होना सो आहारसंज्ञा है। (१३५/३४८) अत्यन्त भयसे उत्पन्न जो भागकर छिप जाने आदिकी इच्छा सो भयसज्ञा है। मैथुनरूप क्रियामें जो वाञ्छा उसको मैथुनसंज्ञा कहते हैं। धन-धान्यादिके अर्जन करने रूप जो वाञ्छा सो परिग्रहसज्ञा जानना।

ध. २/१,१/४१९/३ एदासिं चउण्हं सण्णाणं अभावो खीणसण्णा णाम। =इन चारों संज्ञाओंके अभावको क्षीणसंज्ञा कहते हैं।

४. आहारादि संज्ञाओंके कारण

पं. सं./प्रा./१/५२-५५ आहारदंसणेण य तस्सुवओगेण ऊणकुट्ठेण। सादिदरुदीरणाए होदि हु आहारसण्णा दु।५२। अइ भीमदंसणेण य तस्सुवओगेण ऊणसत्तेण। भयकम्मुदीरणाए भयसण्णा जायदे चउहिं।५३। पणिदरसभोयणेण य तस्सुवओगेण कुसीलसेवणाए। वेदस्सुदीरणाए मेहुणसण्णा हवदि एव।५४। उवयरणदंसणेण य तस्सुवओगेण मुच्छियाए व। लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायते सण्णा।५५। = बहिरंगमें आहारके देखनेसे, उसके उपयोगसे और उदररूप कोष्ठके खाली होनेपर तथा अन्तरंगमें असाता वेदनीयकी उदीरणा होनेपर आहारसंज्ञा उत्पन्न होती है।५२। बहिरंग अति भीमदर्शनसे, उसके उपयोगसे, शक्तिकी हीनता होनेपर, अन्तरंगमें भयकर्मकी उदीरणा होनेपर भयसंज्ञा उत्पन्न होती है।५३। बहिरंगमें गरिष्ठ, स्वादिष्ट, और रसयुक्त भोजन करनेसे, पूर्व-भुक्त विषयोंका ध्यान करनेसे, कुशीलका सेवन करनेसे तथा अन्तरंगमें वेदकर्मकी उदीरणा होनेपर मैथुनसंज्ञा उत्पन्न होती है।५४। बहिरंगमें भोगोपभोगके साधनभूत उपकरणोंके देखनेसे, उनका उपयोग करनेसे, उनमें मूर्च्छाभाव रखनेसे तथा अन्तरंगमें लोभकर्मकी उदीरणा होनेपर परिग्रहसंज्ञा उत्पन्न होती है।५५। (गो. जी./मू./१३५-१३८), (पं. सं./सं./१/३४८-३५२)।

५. संज्ञा व संज्ञीमें अन्तर

स. सि./२/२४/१८१/८ ननु च संज्ञिन इत्यनेनैव गतार्थत्वात्समनस्का इति विशेषणमनर्थकम्। यतो मनोव्यापारहिताहितप्राप्तिपरिहारपरीक्षा। संज्ञापि सैवेति। नैतद्युक्तम्, संज्ञाशब्दार्थव्यभिचारात्। संज्ञा नामेत्युच्यते। तद्वन्तः संज्ञिन इति सर्वेषामतिप्रसङ्गः। संज्ञा ज्ञानमिति चेद्, सर्वेषां प्राणिनां ज्ञानात्मकत्वादतिप्रसङ्गः। आहारादिविषयाभिलाषः संज्ञेति चेत्। तुल्यं तस्मात्समनस्का इत्युच्यते। = प्रश्न—सूत्रमें 'संज्ञिन' इतना पद देनेसे ही काम चल जाता है, अतः 'समनस्काः' यह विशेषण देना निष्फल है, क्योंकि हितकी प्राप्ति और अहितके त्यागकी परीक्षा करनेमें मनका व्यापार होता है यही संज्ञा है। उत्तर—यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि संज्ञा शब्दके अर्थमें व्यभिचार पाया जाता है। संज्ञाका अर्थ नाम है। यदि नाम वाले जीव संज्ञी माने जायें तो सभी जीवोंको संज्ञीपनेका प्रसंग प्राप्त हो जायेगा। संज्ञाका अर्थ यदि ज्ञान मान लिया जाता है तो भी सभी प्राणी ज्ञान स्वभावी होनेसे सबको संज्ञीपनेका प्रसंग प्राप्त होता है। यदि आहारादि विषयोंकी अभिलाषाको संज्ञा कहा जाता है तो भी पहलेके समान दोष प्राप्त होता है। चूँकि यह दोष प्राप्त न हो अतः सूत्रमें 'समनस्काः' यह पद रखा है। (रा. वा./२/२४/७/१३६/१७)।

६. वेद व मैथुन संज्ञामें अन्तर

ध. २/१,१/४१३/२ मैथुनसंज्ञा वेदस्यान्तर्भवतीति चेन्न, वेदत्रयोदयसामान्यनिबन्धनमैथुनसंज्ञाया वेदोदयविशेषलक्षणवेदस्य चैकत्वानुपपत्तेः। = प्रश्न—मैथुन संज्ञाका वेदमें अन्तर्भाव हो जायेगा? उत्तर—नहीं, क्योंकि तीनों वेदोंके उदय सामान्यके निमित्तसे उत्पन्न हुई मैथुन संज्ञा और वेदके उदय विशेष स्वरूप वेद, इन दोनोंमें एकत्व नहीं बन सकता है।

७. लोभ व परिग्रह संज्ञामें अन्तर

ध. २/१,१/४१३/४ परिग्रहसंज्ञापि न लोभेनैकत्वमास्कन्दति, लोभोदयसामान्यस्यालीढबाह्यार्थलोभतः परिग्रहसंज्ञामादधानतो भेदात्। = परिग्रह संज्ञा भी लोभ कषायके साथ एकत्वको प्राप्त नहीं होती है, क्योंकि बाह्य पदार्थोंको विषय करनेवाला होनेके कारण परिग्रह संज्ञाको धारण करनेवाले लोभसे लोभकषायके उदयरूप सामान्य लोभका भेद है। (अर्थात् बाह्य पदार्थोंके निमित्तसे जो लोभ विशेष होता है उसे परिग्रह संज्ञा कहते हैं।) और लोभ कषायके उदयसे उत्पन्न परिणामोंको लोभ कहते हैं।

८. संज्ञाओंका स्वामित्व

गो. जी./जी. प्र./७०२/११३६/१ मिथ्यादृष्ट्यादिप्रमत्तान्ताः आहारादि चतस्रः संज्ञा भवन्ति। षष्ठगुणस्थाने आहारसंज्ञा व्युच्छिन्ना। शेषास्तिस्रः अप्रमत्तादिषु। अपूर्वकरणे—तत्र भयसंज्ञा व्युच्छिन्ना। अनिवृत्तिकरणप्रथमसवेदभागान्ताः मैथुनपरिग्रहसंज्ञे स्तः। तत्र मैथुनसंज्ञा व्युच्छिन्ना। सूक्ष्मसाम्पराये परिग्रहसंज्ञा व्युच्छिन्ना। उपरि उपशान्तादिषु कार्यरहिता अपि संज्ञा न सन्ति कारणाभावे कार्यस्याप्यभावात्। = मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर प्रमत्त पर्यन्त चारों संज्ञाएँ होती हैं। छठे गुणस्थानमें आहार संज्ञाका व्युच्छेद हो जाता है। अपूर्वकरण पर्यन्त शेष तीन संज्ञा हैं तहाँ भय संज्ञाका विच्छेद हो जाता है। अनिवृत्तिकरणके सवेद भाग पर्यन्त मैथुन और परिग्रह दो संज्ञाएँ हैं। तहाँ मैथुनका विच्छेद हो गया। तब सूक्ष्म साम्परायमें एक परिग्रहसंज्ञा रह जाती है, उसका भी वहाँ विच्छेद हो गया। तब ऊपरके उपशान्त आदि गुणस्थानोंमें कारणके अभावमें कार्यका अभाव होता है, अतः वह कार्य रहित भी संज्ञा नहीं है।

९. अप्रमत्तादि गुणस्थानोंमें संज्ञा उपचारसे है

ध. २/१,१/४१३/९/३/६,३ यदि चतस्रोऽपि संज्ञा आलीढबाह्यार्थाः, अप्रमत्तानां संज्ञाभावः स्यादिति चेन्न, तत्रोपचारतस्तत्सत्त्वाभ्युपगमात्।४१३/६। (कारणभूद-कम्मोदय-संभवादो उवयारेण भयमेहुण-परिग्गहसण्णा अत्थि (४३३/३)। = प्रश्न—यदि ये चारों ही संज्ञाएँ बाह्य पदार्थोंके संसर्गसे उत्पन्न होती हैं तो अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीवोंके संज्ञाओंका अभाव हो जाना चाहिए? उत्तर—नहीं, क्योंकि अप्रमत्तोंमें उपचारसे उन संज्ञाओंका सद्भाव स्वीकार किया गया है। भय आदि संज्ञाओंके कारणभूत कर्मोंका उदय संभव है इसलिए उपचारसे भय और मैथुन संज्ञाएँ हैं।

गो. जी./मू./७०२ छट्ठोत्ति पढमसण्णा सकज्ज सेसा य कारणावेक्खा। = मिथ्यात्वसे लेकर अप्रमत्त पर्यन्त चारों ही संज्ञाएँ कार्यरूप होती हैं। किन्तु ऊपरके गुणस्थानोंमें तीन आदिक संज्ञाएँ कारणरूप होती हैं। (गो. क./मू./१३९)।

१०. संज्ञा कर्मके उदयसे नहीं उदीरणासे होती है

ध. २/१,१/४३३/२ असादावेदणीयस्स उदीरणाभावादो आहारसण्णा अप्पमत्तसंजदस्स णत्थि। = असाता वेदनीय कर्मकी उदीरणाका अभाव होनेसे अप्रमत्त संयतके आहार संज्ञा नहीं है।

दे. संज्ञा/४ चारों संज्ञाओंके स्वस्व कर्मकी उदीरणा होनेपर वह वह संज्ञा उत्पन्न होती है।

★ संज्ञाके स्वामित्व सम्बन्धी गुणस्थान आदि २० प्ररूपणाएँ।—दे. सत्।

★ संज्ञा प्ररूपणाका कषाय मार्गणामें अन्तर्भाव।—दे. मार्गणा।

संज्ञासंज्ञ—क्षेत्रका एक प्रमाण विशेष। अपरनाम संज्ञासंज्ञ—दे. गणित/I/१।

संज्ञी—मनके सद्भावके कारण जिन जीवोंमें शिक्षा ग्रहण करने व विशेष प्रकारसे विचार, तर्क आदि करनेकी शक्ति है वे संज्ञी कहलाते हैं। यद्यपि चींटी आदि क्षुद्र जन्तुओंमें भी इष्ट पदार्थोंकी प्राप्तिके प्रति गमन और अनिष्ट पदार्थोंसे हटनेकी बुद्धि देखी जाती है पर उपरोक्त लक्षणके अभावमें वे संज्ञी नहीं कहे जा सकते।

१. संज्ञी-असंज्ञी सामान्यका लक्षण

१. शिक्षा आदि ग्राहीके अर्थमें

प. सं /प्रा /१/१७३ सिक्खाकिरिओवएसा आलावग्गाही मणोवलंबेण। जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीओ असण्णी य ।१७३। =जो जीव मनके अवलम्बनसे शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलापको ग्रहण करता है उसे संज्ञी कहते है, जो इससे विपरीत है उसको असंज्ञी कहते है। (ध १/१,१,४/गा ९७/१५२), (त सा /२/९३); (गो. जी /मू./६६१), (प. सं./सं १/३१६)।

रा वा /९/७/११/६०४/१७ शिक्षाक्रियालापग्राही संज्ञी, तद्विपरीतोऽसंज्ञी। =जो जीव शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलापको ग्रहण करता है सो संज्ञी और उससे विपरीत असंज्ञी है। (ध. १/१,१,४/१५२/४), (ध. ७/२,१,३/७/७), (पं. का./ता. वृ /११७/१८०/१३)।

२. मन सहितके अर्थमें

त. सू /२/२४ संज्ञिनः समनस्काः ।२४। =मनवाले जीव संज्ञी होते है। (ध. १/१,१,३५/२५९/६)।

प. सं./प्रा /१/१७४-१७५ मीमंसइ जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च। सिक्खइ णामेणेदि य समणो अमणो य विवरीओ।१७४। एवं कए मए पुण एवं होदि त्ति कज्ज णिप्पत्ती। जो दु विचारइ जीवो सो सण्णि असण्णि इयरो य।१७५। =जो जीव किसी कार्यको करनेसे पूर्व कर्तव्य और अकर्तव्यकी मीमांसा करे, तत्त्व और अतत्त्वका विचार करे, योग्यको सीखे और उसके नामको पुकारनेपर आवे सो समनस्क है उससे विपरीत अमनस्क है। (गो. जी./मू /६६२) जो जीव ऐसा विचार करता है कि मेरे इस प्रकार कार्यके करनेपर कार्यकी निष्पत्ति होगी, वह संज्ञी है और इससे विपरीत असंज्ञी है।

रा. वा /२/६/५/१०६/१३ हिताहितपरीक्षां प्रत्ययसामर्थ्यं असंज्ञित्वम्। =हिताहित परीक्षाके प्रति असामर्थ्य होना सो असंज्ञित्व है।

ध. १/१ १,४/१५२/३ सम्यक् जानातीति संज्ञं मनः, तदस्यास्तीति संज्ञी। =जो भली प्रकार जानता है उसको संज्ञ अर्थात् मन कहते है, वह मन जिसके पाया जाता है उसको संज्ञी कहते है।

गो. जी /मू /६६० णोइंदिय आवरणखओवसमं तज्जबोहणं सण्णा। सा जस्स सो दु सण्णी इदरो सेसिंदियअवबोहो। =नोइन्द्रिय कर्मके क्षयोपशमसे तज्जन्य ज्ञानको संज्ञा कहते हैं वह जिसको हो उसको संज्ञी कहते हैं और जिनके यह संज्ञा न हो किन्तु केवल यथासम्भव इन्द्रिय ज्ञान हो उसको असंज्ञी कहते है।

पं. का /ता. वृ./११७/१८०/१५ नोइन्द्रियावरणस्यापि क्षयोपशमलाभात्संज्ञिनो भवन्ति। =नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे जीव संज्ञी होते है।

द्र. स/टी./१२/३०/१ समस्तशुभाशुभविकल्पातीतपरमात्मद्रव्यविलक्षणं नानाविकल्पजालरूपं मनो भण्यते, तेन सह ये वर्तन्ते ते समनस्काः संज्ञिनः तद्विपरीता अमनस्का असंज्ञिनः ज्ञातव्याः। =समस्त शुभाशुभ विकल्पोंसे रहित परमात्मरूप द्रव्य उससे विलक्षण अनेक तरहके विकल्पजाल रूप मन है, उस मनसे सहित जीवको संज्ञी कहते है। तथा मनसे शून्य अमनस्क अर्थात् असंज्ञी है।

२. संज्ञी मार्गणाके भेद

प. ख. १/१,१/सू १७२/४०८ सण्णियाणुवादेण अत्थि सण्णी असण्णी ।१७२। [णेव सण्णि णेव असण्णिणो वि अत्थि ध /२]। =संज्ञी मार्गणाके अनुवादसे संज्ञी और असंज्ञी जीव होते है।१७२। संज्ञी तथा असंज्ञी विकल्प रहित स्थान भी होता है। (रा. वा /९/७/११/६०४/१८), (ध. २/१,१/४१९/११); (द्र. स /टी./१३/४०/३)।

३. संज्ञी मार्गणाका स्वामित्व

१. गति आदिकी अपेक्षा

प. का /मू /१११ मणपरिणामविरहिदा जीवा एइंदिया णेया।१११। =मन परिणाममे रहित एकेन्द्रिय जीव जानने।

रा. वा /२/११/३/१२५/२७ एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियेषु च केषांश्चित् मनोविषयविशेषव्यवहाराभावात् अमनस्काः। =एक, दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रिय जीवोमें कोई जीव मनके विषयभूत विशेष व्यापारके अभावसे अमनस्क है।

द्र. सं टी /१२/३०/४ संज्ञिपञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्च एव, नारकमनुष्यदेवाः संज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव। ‥पञ्चेन्द्रियात्सकाशात् परे सर्वे द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः। ‥बादरसूक्ष्मा एकेन्द्रियास्तेऽपि असंज्ञिन एव। =पञ्चेन्द्रिय जीव संज्ञी तथा असंज्ञी दोनों होते है, ऐसे संज्ञी तथा असंज्ञी ये दोनो पचेन्द्रिय। तिर्यंच ही होते है। नारकी मनुष्य और देव संज्ञी पचेन्द्रिय ही होते है। पंचेन्द्रियसे भिन्न अन्य सब द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, और चतुरिन्द्रिय जीव मन रहित असंज्ञी होते हैं। बादर और सूक्ष्म एकेन्द्रिय है वे भी‥ असंज्ञी है।

गो. जो /जी. प्र /६९७/११३३/८ जीवसमासौ संज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ द्वौ। तु-पुनः असंज्ञिजीवः स्थावरकायाद्यसंज्ञ्यन्तं मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने एव स्यान्नियमेन तत्र जीवसमासा द्वादशसंज्ञिनो द्वयाभावात्। =संज्ञीमार्गणामें पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो जीवसमास होते है। असंज्ञी जीव स्थावरकायसे लेकर असंज्ञी पचेन्द्रिय पर्यन्त होते है। इनमें एक मिथ्यात्व गुणस्थान तथा जीवसमास संज्ञी सम्बन्धी पर्याप्त और इन दोको छोडकर शेष बारह होते है।

२. गुणस्थान व सम्यक्त्वकी अपेक्षा

ष ख १/१ १/सू. १७३/४०८ सण्णी मिच्छाइट्ठि प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति।१७३। =संज्ञी जीव मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय, वीतराग, छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं।

ति. प /५/२९९ तेत्तीसभेदसंजुदतिरिक्खजीवाण सव्वकालम्मि। मिच्छत्तगुणट्ठाणं वोच्छं सण्णीण तं माण।२९९। =संज्ञी जीवोंको छोडकर शेष तेतीस प्रकारके भेदोंसे युक्त तिर्यंचोंके (दे. जीवसमास) सर्व कालमें एक मिथ्यात्व गुणस्थान रहता है।

गो. जो./मू /६९७ सण्णी सण्णिप्पहुदी खीणकसाओत्ति होदि णियमेण। =संज्ञी जोव संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त होते है।

दे संज्ञी/३/१ में गो जो. असंज्ञी जीवोंमें नियमसे एक मिथ्यात्व गुणस्थान होता है।

गो. क./जी प्र./५५१/७५३/४ सासादनरुचौ‥‥असंज्ञिसंज्ञितिर्यङ्मनुष्येषु ‥। =सासादनसम्यक्त्वमें‥ संज्ञी असंज्ञी तिर्यंच व मनुष्योंमें ‥।

४. एकेन्द्रियादिकमें मनके अभाव संबंधी शंका समाधान

रा. वा /५/१९/३०-३१/४७२/२६ यदि मनोऽन्तरेण इन्द्रियाणां वेदनावगमो न स्यात् एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां च वेदनावगमो न स्यात्।३०। पृथगुपकारानुपलम्भात् तदभाव इति चेद; न, गुणदोषविचारादिदर्शनात्।३१। अतोऽस्त्यन्तःकरणं मनः। =यदि मनके बिना इन्द्रियोंमें स्वयं सुख-दुःखानुभव न हो तो एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पचेन्द्रिय जीवोंको दुःखका अनुभव नहीं होना चाहिए। प्रश्न—मनका (इन्द्रियोंमे) पृथक् उपकारका अभाव होनेसे मनका भी अभाव है? उत्तर—नहीं, गुण-दोष विचार आदि मनके स्वतन्त्र कार्य हैं इसलिए मनका स्वतन्त्र अस्तित्व है।

ध. १/१,१ ७३/३१४/४ विकलेन्द्रियेषु मनसोऽभावः कुतोऽवसीयत इति चेदार्षात्। कथमार्षस्य प्रामाण्यमिति चेत्स्वाभाव्यात्प्रत्यक्षस्येव।

=प्रश्न—विकलेन्द्रियोंमें मनका अभाव है यह किस प्रमाणसे जाना जाता है। उत्तर—आगम प्रमाणसे जाना जाता है। और आगम प्रत्यक्षकी भाँति स्वभावसे प्रमाण है।

गो. का./ता. वृ./११७/१८०/१६ क्षयोपशमविकल्परूपं हि मनो भण्यते तत्तेषामप्यस्तीति कथमसंज्ञिनः। परिहारमाह। यथा पिपीलिकाया गन्धविषये जातिस्वभावेनैवाहारादिसंज्ञारूपं पटुत्वमस्ति न चान्यत्र कार्यकारणव्याप्तिज्ञानविषये अन्येषामप्यसंज्ञिनां तथैव। =प्रश्न—क्षयोपशमके विकल्परूप मन होता है। वह एकेन्द्रियादिके भी होता है, फिर वे असंज्ञी कैसे हैं। उत्तर—इसका परिहार करते हैं। जिस प्रकार चींटी आदि गन्धके विषयमें जाति स्वभावसे ही आहारादि रूप संज्ञामें चतुर होती है, परन्तु अन्यत्र कारणकार्य व्याप्तिरूप ज्ञानके विषयमें चतुर नहीं होती, इसी प्रकार अन्य भी असंज्ञी जीवोंके जानना।

५ मनके अभावमें श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति कैसे

ध. १/१,१,३५/२६१/१ अथ स्यादर्थालोकमनस्कारचक्षुर्भ्यः सम्प्रवर्तमानं रूपज्ञानं समनस्केषूपलभ्यते तस्य कथममनस्केष्वाविर्भाव इति नैष दोषः भिन्नजातित्वात्। =प्रश्न—पदार्थ, प्रकाश, मन और चक्षु इनसे उत्पन्न होनेवाला रूप ज्ञान समनस्क जीवोंमें पाया जाता है, यह तो ठीक है, परन्तु अमनस्क जीवोंमें उस रूपज्ञानकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि समनस्क जीवोंके रूप ज्ञानसे अमनस्क जीवोंका रूप ज्ञान भिन्न जातीय है।

ध. १/१,१,७३/३१४/१ मनसः कार्यत्वेन प्रतिपन्नविज्ञानेन सह तत्रतनविज्ञानस्य ज्ञानत्वं प्रत्यविशेषान्मनोनिबन्धनत्वमनुमीयत इति चेन्न, भिन्नजातिस्थितविज्ञानेन सहाविशेषानुपपत्तेः। =प्रश्न—मनुष्योंमें मनके कार्यरूपसे स्वीकार किये गये विज्ञानके साथ विकलेन्द्रियोंमें होनेवाले विज्ञानकी ज्ञान सामान्यकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है, इसलिए यह अनुमान किया जाता है कि विकलेन्द्रियोंका विज्ञान भी मनसे उत्पन्न होता होगा। उत्तर—नहीं, क्योंकि भिन्न-जातिमें स्थित विज्ञानके साथ भिन्न जातिमें स्थित विज्ञानकी समानता नहीं बनती।

ध. १/१,१,११६/३६१/८ अमनसां तदपि कथमिति चेन्न, मनसोऽन्तरेण वनस्पतिषु हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्त्युपलम्भतोऽनेकान्तात्। =प्रश्न—मन रहित जीवोंमें श्रुतज्ञान कैसे सम्भव है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, मनके बिना वनस्पतिकायिक जीवोंके हितमें प्रवृत्ति और अहितसे निवृत्ति देखी जाती है, इसलिए मन सहित जीवोंके ही श्रुतज्ञान माननेमें उनसे अनेकान्त दोष आता है। (और भी दे. अगला शीर्ष।)

६. श्रोत्रके अभावमें श्रुतज्ञान कैसे

ध. १/१,१,११६/३६१/६ कथमेकेन्द्रियाणां श्रुतज्ञानमिति चेत्कथं च न भवति। श्रोत्राभावान्न शब्दावगतिस्तदभावान्न शब्दार्थावगम इति, नैष दोषः, यतो नायमेकान्तोऽस्ति शब्दार्थावबोध एव श्रुतमिति। अपि तु अशब्दरूपादपि लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमपि श्रुतमिति। =प्रश्न—एकेन्द्रियोंके श्रुतज्ञान कैसे हो सकता है। उत्तर—कैसे नहीं हो सकता है। प्रश्न—एकेन्द्रियोंके श्रोत्र इन्द्रियका अभाव होनेसे शब्दका ज्ञान नहीं हो सकता है, शब्दज्ञानके अभावमें शब्दके विषयभूत अर्थका भी ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए उनके श्रुतज्ञान नहीं होता यह बात सिद्ध है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह एकान्त नियम नहीं है कि शब्दके निमित्तसे होनेवाले पदार्थके ज्ञानको ही श्रुत कहते हैं। किन्तु शब्दसे भिन्न रूपादिक लिंगसे भी जो लिंगीका ज्ञान होता है उसे भी श्रुतज्ञान कहते हैं।

ध. १३/५,५,२१/२१०/६ एइंदिएसु सोद-णोइंदियवज्जिएसु कधं सुदणाणुप्पत्ती। ण, तत्थ मणेण विणा वि जादिविसेसेण लिंगिविसयणाणुप्पत्तीए विरोहाभावादो। =प्रश्न—एकेन्द्रिय जीव श्रोत्र और नोइन्द्रियसे रहित होते हैं, उनके श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि वहाँ मनके बिना भी जातिविशेषके कारण लिंगी विषयक ज्ञानकी उत्पत्ति माननेमें कोई विरोध नहीं आता।

७. संज्ञीमें क्षयोपशम भाव कैसे है

ध. ७/२,१,८६/१११/१० णोइंदियावरणस्स सव्वधादिफद्दयाणं जादिवसेण अणंतगुणहाणीए हाइदूण देसघादित्तं पाविय उवसंताणमुदएण सण्णित्तदंसणादो। =नोइन्द्रियावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके अपनी जाति विशेषके प्रभावसे अनन्तगुणी हानिरूप घातके द्वारा देशघातित्वको प्राप्त होकर उपशान्त हुए पुनः उन्हींके उदयसे संज्ञित्व उत्पन्न होता देखा जाता है।

८. अन्य सम्बन्धित विषय

१. संज्ञा व संज्ञीमें अन्तर। —दे० संज्ञा।
२. संज्ञी जीव सम्मूर्च्छन भी होते हैं। —दे० सम्मूर्च्छन।
३. असंज्ञी जीवोंमें वचन प्रवृत्ति कैसे सम्भव है। —दे० योग/४।
४. असंज्ञियोंमें देवादि गतियोंका उदय व तत्सम्बन्धी शंका-समाधान। —दे० उदय/५।
५ संज्ञित्वमें कौन सा भाव है। —दे० भाव/२।
६. संज्ञीके गुणस्थान, जीवसमास, आदिके स्वामित्व सम्बन्धी २० प्ररूपणाएँ। —दे० वह वह नाम।
७. संज्ञीके सत्, संख्या, क्षेत्र आदि सम्बन्धी ८ प्ररूपणाएँ। —दे० वह वह नाम।
८. सभी मार्गणामें आयके अनुसार व्यय होनेका नियम। —दे० मार्गणा।

संग्रह—म पु./१६/१७६ दशग्राम्यास्तु मध्ये यो महान् ग्रामः स संग्रहः। =दश गाँवोंके बीच जो एक बड़ा भारी गाँव होता है, उसे संग्रह (जहाँ हर वस्तुओंका संग्रह रखा जाता हो) कहते हैं।

संग्रह कृष्टि—दे. कृष्टि।

संग्रह नय—दे. नय/III/४।

संघ—१. संघका लक्षण

स. सि./९/१३/३३१/१२ रत्नत्रयोपेतः श्रमणगणः संघः।

स. सि./९/२४/४४२/६ चातुर्वर्णश्रमणनिवहः संघः। =रत्नत्रयसे युक्त श्रमणोंका समुदाय संघ कहलाता है। (रा. वा./६/१३/२/५२३) चार वर्णोंके श्रमणोंके समुदायको संघ कहते हैं। (रा. वा./९/२४/-४२३/९); (चा. सा./१५१/४), (प्र. सा./ता. वृ./२४९/३४३/१०)

दे. वैयावृत्त/२ आचार्यसे लेकर गण पर्यन्त सर्व साधुओंकी व्याधि दूर करना संघ वैयावृत्य कहलाता है।

भा. पा./टी./७८/२२५/१ ऋषिमुनियत्यनगारनिवहः संघः अथवा ऋष्यार्यिकाश्रावकश्राविकानिवहः संघः। =ऋषि, मुनि, यति और अनगारके समुदायका नाम संघ है। अथवा ऋषि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकाके समुदायका नाम संघ है। (और भी दे. अगला शीर्षक)

* संघके भेद—दे. इतिहास/५।

१. एक मुनिको असंघपना हो जायेगा

रा. वा./६/१३/४/५२४/१ स्यादेतत् सङ्घो गणो वृन्दमित्यनर्थान्तरं तस्य कथमेकस्मिन् वृत्तिरिति। तन्न, किं कारणम्। अनेकव्रतगुण-

सहननादेकस्यापि सङ्घत्वसिद्धेः। उक्तं च—संघो गुणसंघादो कम्माणविमोयदो हवदि संघो। दसणणाणचरित्ते संघादितो हवदि संघो। =प्रश्न—संघ, गण और समुदाय ये एकार्थवाची है, तो इस कारण एक साधुको संघ कैसे कह सकते है। उत्तर—ऐसा नही है, क्योंकि एक व्यक्ति भी अनेक गुणव्रतादिका धारक होनेसे संघ कहा जाता है। कहा भी है—गुण संघातको संघ कहते है। कर्मोंका नाश करने और दर्शन, ज्ञान और चारित्रका संघटन करनेसे एक साधु को भी संघ कहा जाता है।

संघात—१ संघात सामान्यका लक्षण

स. सि /५/२६/२९८/४ पृथग्भूतानामेकत्वापत्ति संघात। =पृथग्भूत हुए पदार्थोंके एकरूप हो जानेको संघात कहते है। (रा वा /५/२६/-२/४९३/२५)

ध. १४/५,६,९८/१२१/२ परमाणुपोग्गलसमुदायसमागमो संघादो णाम। =परमाणु पुद्गलोंका समुदाय समागम होना संघात है।

२. भेद संघातका लक्षण

ध. १४/५,६,९८/१२१/४ भेदं गतूण पुणो समागमो भेदसंघादो णाम। =भेदको प्राप्त होकर पुन: संघात अर्थात् समागम होना भेद संघात है।

३ संघात नामकर्मका लक्षण

स. सि /८/११/३९०/१ यदुदयादौदारिकादिशरीराणां विवररहितान्यो-ऽन्यप्रदेशानुप्रवेशेन एकत्वापादनं भवति तत्संघातनाम। =जिसके उदयसे औदारिकादि शरीरोंकी छिद्र रहित होकर परस्पर प्रदेशोंके अनुप्रवेशन द्वारा एकरूपता आती है वह संघात नामकर्म है। (रा. वा /८/११/७/५७६/२७), (गो क /जी प्र /३३/२९/२)

ध. ६/१,९-१,२८/५३/३ जेहि कम्मखंधेहि उदयं पत्तेहि बंधणणामकम्मो-दएण बंधमागयाणं सरीरपोग्गलक्खंधाणं मट्ठत्तं कीरदे तेसिं सरीर-संघादसण्णा। जदि सरीरसंघादणामकम्मजीवस्स ण होज्ज, तो तिलमोअओ व्व अपुट्ठसरीरो जीवो होज्ज। =उदयको प्राप्त जिन कर्म स्कन्धोंका मृष्टत्व अर्थात् छिद्र रहित संश्लेष किया जाता है उन पुद्गल स्कन्धोंकी शरीरसंघात यह संज्ञा है। यदि शरीर संघात नामकर्म संज्ञा न हो, तो तिलके मोदकके समान अपुष्ट शरीरवाला जीव हो जावे। (ध १३/५,५ १०१/३६४/२)

४. शरीर संघातके भेद

ष. ख. ६/१,९-१,/सू ३३/७० जं तं सरीरसंघादणामकम्मं तं पंचविहं, ओरालियसरीरसंघाद णाम वेउव्वियसरीरसंघाद णामं आहारसरीर-संघादणाम, तेजससरीरसंघादणाम कम्मइयसरीरसंघादणाम चेदि। =जो शरीर संघात नामकर्म है वह पाँच प्रकार है—औदारिक शरीर संघात नामकर्म वैक्रियकशरीर संघात नामकर्म, आहारकशरीर-संघाननामकर्म, तैजसशरीर संघातनामकर्म, और कार्मणशरीर-संघात नामकर्म। (ष. ख १३/५,५/सू. १०६/३६७)

संघात—दूसरे नरकका दसवाँ पटल—दे० नरक/५/११।

संघात ज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II।

संघातन—१ संघातन कृतिका लक्षण

ध. ९/४,१,६९/३२६/६ तत्थअप्पिदसरीरपरमाणूणं णिज्जराए विणा जो संचओ सो संघादणकदी णाम। =(पाँचों शरीरोंमेंसे) विवक्षित शरीरके परमाणुओंका निर्जराके बिना जो संचय होता है उसे संघातन कृति कहते है।

२. संघातन-परिशातन (उभय रूप) कृतिका लक्षण

ध. ९/४,१,६९/३२७/२ अप्पिदसरीरस्स पोग्गलक्खधाणमागम-णिज्ज-राओ संघादण-परिसादणकदी णाम। =(पाँचों शरीरोंमें-से) विवक्षित शरीरके पुद्गल स्कन्धोंका आगमन और निर्जराका एक साथ होना संघातन-परिशातन कृति कही जाती है।

★ पाँचों शरीरोंकी संघातन-परिशातन कृति।

दे० (ध. ९/३५५-४५१)।

संघात समास ज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II।

संघातिम—दे० निक्षेप/५/९।

संघायणी—बृहत्संग्रहणी सूत्रका अपरनाम है। —दे० बृहत्संग्रहणी सूत्र।

संचया—पूर्व विदेहस्थ मंगलावती क्षेत्रकी मुख्य नगरी। —दे० लोक/७।

संचार—१. एक अक्ष या भंगको अनेक भंगनि विषै क्रमसे पलटना। —दे० गणित/II/३।

२. न्या वि./वृ./१/२०/२१७/२६ असंचार' असंप्रतिपत्ति। =असंचार अर्थात् प्रतिपत्ति यानी निश्चयका न होना।

संचेतन—स सा./आ./क. २२४ प जयचन्द्र—किसीके प्रति एकाग्र होकर उसका ही अनुभव रूप स्वाद लिया करना उसका संचेतन कहलाता है।

संजयत—म पु /५९/श्लोक स. पूर्व भव सं ७ में सिंहपुर नगरका राजा सिंहसेन (१४६) छठेमे सल्लकी वनमे अशनिघोष नामक हाथी हुआ (१९७)। ५वेमें रविप्रभ विमानमें देव (२१८ २१९) चौथेमें राजपुत्र रश्मिवेग तीसरेमें कापिष्ठ स्वर्ग मे देव (२२७-२२८) दूसरेमें राजा अपराजितका पुत्र (२३९) पूर्व भवमें सर्वार्थसिद्धिमें देव था (२७३)। वर्तमान भवमे गन्धमालिनी देशमे वीतशोक नगरके राजा वैजयन्तका पुत्र था (१०९-११०) विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण की (११२)। ध्यानस्थ अवस्था मे एक विद्युद्दंष्ट्र नामक विद्याधरने इनको उठाकर इला पर्वतपर नदीमे डुबा दिया। तथा पत्थरोंकी वर्षा की। इस घोर उपसर्गको जीतनेके फलस्वरूप मोक्ष प्राप्त किया (११६-१२६)। (म पु./५९/३०६-३०७), (प. पु./५/२७-४४)।

संजयंत नगरी—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

संजय—एक परिव्राजक था। जिसने मौद्गलायन व सारिपुत्रको बुद्धका शिष्य होनेसे रोका था।

संज्वलन—१. संज्वलनका लक्षण

स सि /८/९/३८६/१० समेकीभावे वर्तते। संयमेन सहावस्थानादेकी-भूय ज्वलन्ति संयमो वा ज्वलत्स्वेषु सत्स्वपीति संज्वलना क्रोध मानमायालोभा। ='सं' एकीभाव अर्थमें रहता है। संयमके साथ अवस्थान होनेसे एक होकर जो ज्वलित होते है अर्थात् चमकते है या जिनके सद्भावमे संयम चमकता रहता है वे संज्वलन, क्रोध मान, माया और लोभ है। (रा वा /८/९/५/५७५/४), (गो. क/-जी प्र /३३/२८/५), (गो. क /जी प्र /४५/४६/१३)।

ध १३/५,५,९५/३६०/१२ सम्यक् शोभनं ज्वलतीति संज्वलनं। =जो सम्यक् अर्थात् शोभन रूपसे 'ज्वलति' अर्थात् प्रकाशित होता है वह संज्वलन कषाय है।

गो. जी /जी. प्र /२८३/६०८/१५ संज्वलनास्ते यथाख्यातचारित्रपरिणामं कषन्ति, सं समीचीन विशुद्ध संयम यथाख्यातचारित्रनामधे।

ज्वलन्ति दहन्ति इति सज्वलना इति निरुक्तिबलेन तदुदये सत्यपि सामायिकादीतरसयमाविरोध सिद्ध । =सज्वलन क्रोधादिक सकल कषायके अभाव रूप यथाख्यात चारित्रका घात करते है। 'स' कहिए समीचीन निर्मल यथाख्यात चारित्रको 'ज्वलति' कहिए दहन करता है, तिनको सज्वलन कहते है, इस निरुक्तिमे संज्वलनका उदय होने पर भी सामायिक आदि चारित्रके सद्भावका अविरोध सिद्ध होता है।

२. संज्वलन कषायमें सम्यक्पना क्या

ध ६/१,६–१,२३/४४/६ किमत्र सम्यक्त्वम्। चारित्रेण सह ज्वलनम्। चारित्तमविणासेंता उदय कुणति त्ति ज उत्त होदि । =प्रश्न—इस सज्वलन कषायमें सम्यक्पना क्या ? उत्तर—चारित्रके साथ जलना ही इसका सम्यक्पना है अर्थात् चारित्रका विनाश नहीं करते हुए भी ये उदयको प्राप्त होते है, यह अर्थ कहा है।

ध, १३/५,५,९५/३६१/१ कुतस्तस्य सम्यक्त्वम् । रत्नत्रयाविरोधात् ।= *प्रश्न- इसे (सज्वलनको) सम्यक्पना कैसे है ?* उत्तर—रत्नत्रयका अविरोधी होनेसे।

३ यह कषाय यथाख्यात चारित्रको घातती है

पं, सं/प्रा/१/११५ चउत्थो जहक्खायघाईया। =सज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्रकी घातक है। (और भी दे शीर्षक स १), (प, सं/प्रा,/१/११०); (गो जी/२८३), (गो क/मू/४५), (प स,/ सं/१/२०४)।

४ इसके चार भेद कैसे

ध, १३/५,५,९५/३६१/१ लोह-माण-माया-लोहेसु पादेक्क सजलणणिद्देसो किमट्ठ कदो। एदेसिं बधोदया पुध पुध विणट्ठा, पुव्विल्लतिय चउक्कस्सेव अक्कमेण ण विणट्ठा त्ति जाणावणट्ठ । =प्रश्न—क्रोध, मान, माया और लोभमें-से प्रत्येक पदके साथ सज्वलन शब्दका निर्देश किस लिए किया गया है ? उत्तर—इनके बन्ध और उदयका विनाश पृथक्-पृथक् होता है, पहली तीन कषायोके चतुष्कके समान इनका युगपत् विनाश नहीं होता, इस बातका ज्ञान करानेके लिए क्रोधादि प्रत्येक पदके साथ सज्वलन पद निर्देश किया गया है। (ध, ६/१,६–१,२३/४४/६)।

५. इसको चारित्र मोहनीय कहनेका कारण

ध, ६/१,६–१,२३/४४/६ चारित्तमविणासेंता उदय कुणंति त्ति ज उत्त होदि । चारित्तमविणासेंताणं सजुलणाणं कध चारित्तावरणत्त जुज्जदे। ण, सजमम्हि मलमुप्पाइय जहाक्खादचारित्तुप्पत्तिपडिबधयाणं चारित्तावरणत्ताविरोहा। =चारित्रको विनाश नहीं करते हुए ये (सज्वलन) कषाय प्रगट होते है। प्रश्न—चारित्रको नही नाश करने वाले सज्वलन कषायोके चारित्रावरणता कैसे बन सकती है ? उत्तर—नहीं, क्योकि ये सज्वलन कषाय संयममें मलको उत्पन्न करके यथाख्यात चारित्रकी उत्पत्तिके प्रतिबन्धक होते है, इसलिए इनके चारित्रावरणता माननेमें विरोध नहीं है।

६. संज्वलन कषायका वासना काल

गो, क/मू व टी/४६/४७ अतोमुहुत्त सजलणमवासणाकालो दु णियमेण ।४६। उदयाभावेऽपि तत्सस्कारकालो वासनाकाल स च सज्वलनानामन्तर्मुहूर्त । =उदयका अभाव होनेपर भी कषायका सस्कार जितने काल तक रहे उसका नाम वासना काल है। सो सज्वलन कषायोका वासना काल अन्तर्मुहूर्त है।

७. अन्य सम्बन्धित विषय

१. सज्वलन प्रकृतिके बन्ध उदय सत्त्व सम्बन्धी नियम व शका समाधानादि । —दे० वह वह नाम।
२. कषायोंकी मन्दता सज्वलनके कारणसे नहीं बल्कि लेश्याके कारणसे है। —दे० कषाय/३।
३. सज्वलनमें दशो करण सम्भव है। —दे० करण/२।
४. संज्वलन प्रकृतिका देशघातीपना। —दे० अनुभाग/४।

संज्वलित—तीसरे नरकका आठवाँ पटल। —दे० नरक/५/११।

संतलाल—सिद्धचक्रपाठ व दशलक्षिक अंकके कर्ता एक जैन कवि। (वि श १८का मध्य, ई श १७-१८) हि जै, सा, इ/-१९६ कामता।

संततता—Continuum (ज प,/प्र, १०६)।

संतान—एक ग्रह। —ग्रह।

संतोष भावना—दे० भावना।

संथारा—दे० सस्तर।

संदिग्धानेकान्तिक हेत्वाभास—दे० व्यभिचार।

संदिग्धासिद्ध हेत्वाभास—दे० असिद्ध।

संदृष्टि—Symbol (ज प,/प्र १०६)।

संधि—१ एक ग्रह—दे० ग्रह। २. औदारिक शरीरमे सन्धियोका प्रमाण—दे० औदारिक/१/७।

संपराय—स, सि/६/१२/४=१/३ सपराय कषाय । =१ सपराय कषायको कहते है। (ध १/१,१,१७/१८४/४) दे आस्रव/१/५, २ सपराय ससारको कहते हैं।

संपृच्छिनीदोष—दे, भाषा।

संप्रज्वलित—तीसरे नरकका नवम पटल—दे नरक/५।

संप्रति—मगधराज अशोक का पौत्र, अपर नाम चन्द्र गुप्त द्वि.। समय—ई पू २२०-२११। (द्वि इतिहास/३/३/४)।

संप्रदान कारक—१. प्र सा/प जयचन्द्र/१६ कर्म जिसको देनेमे आवे अर्थात् जिसके लिए करनेमें आवे सो सम्प्रदान। २, अभिन्न कारकी व्यवस्थामे सम्प्रदानका प्रयोग—दे, कारक/१।

संप्रदान शक्ति—स सा/आ/परि/शक्ति ४३ स्वय दीयमानभावोपेयत्वमयी सम्प्रदान शक्ति। =अपने द्वारा दिया जाता जो भाव उसके उपेयत्वमय (उसे प्राप्त करनेके योग्यपनामय, उसे लेनेके पात्रपनामय) सम्प्रदान शक्ति।

संबंध – १ संबंध सामान्यका लक्षण

न च वृ/२२५ सबधो समिलेसो णाणीण णाणणय मादीहि=ज्ञानीका ज्ञान और ज्ञेयका समिलेश सो सम्बन्ध है।

रा वा/हि १/७/६४ प्रत्यासत्ति है सो ही सम्बन्ध है।

रा, वा, हि/४/४२/२०/११८७ जहाँपर अभेद प्रधान और भेद गौण होता है वहाँपर सम्बन्ध समझना चाहिए।

२. सम्बन्धके भेद

[आगममें अनेको सम्बन्धोका निर्देश पाया जाता है। यथा—१ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध, ग्राह्य ग्राहक सम्बन्ध (स सा/आ,/३१), भाव्य-भावक सम्बन्ध (स, सा,/आ/,३, ८३), तादात्म्य सम्बन्ध (स

सा /आ /५७,६१), सश्लेष सम्बन्ध (स. सा /ता वृ./५७); व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध (स सा /आ /७५), आधार-आधेय सम्बन्ध (स. सा./आ./१८१-१८३); (प. ध /पू /३५०), आश्रय-आश्रयी (प. ध / पू /७६), संयोग सम्बन्ध। सो दो प्रकारका है—देश प्रत्यासत्तिक संयोग सम्बन्ध, और गुण प्रत्यासत्तिक सयोग सम्बन्ध (ध १४/ ३,६,२३/२७/२), (प ध /पू /७६), धर्म धर्मिमें अविनाभाव सम्बन्ध (प. ध /पू./७, ५४५, ५६१,६६.२४६), लक्ष्य-लक्षण सम्बन्ध (प.ध / पू/१२, ८८, ६१६), साध्य-साधक सम्बन्ध (प. ध /पू./५४५); दण्ड-दण्डी सम्बन्ध (प ध./पू /४१), समवाय सम्बन्ध (प ध./पू /७६); भविष्याभाव सम्बन्ध (स. म /११/२१७/२४),] [इनके अतिरिक्त बाध्य-बाधक सम्बन्ध, वध्य-घातक सम्बन्ध, कार्य-कारण सम्बन्ध, वाच्य-वाचक सम्बन्ध, उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध, प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक सम्बन्ध, पूर्वापर सम्बन्ध, द्योत्य-द्योतक सम्बन्ध, व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध, प्रकाश्य-प्रकाशक सम्बन्ध,उपादान-उपादेय सम्बन्ध, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध इत्यादि अनेकों सम्बन्धोका कथन आगममें अनेको स्थलोपर किया गया है।]

३ सम्बन्धके भेदोंके लक्षण

१. भाव्य-भावक

स. सा./आ./३२ भावकत्वेन भवन्तमपि दूरत एव तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य व्यावर्तनेन—। =(मोहकर्म) भावकपनेसे प्रगट होता है तथापि तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है ऐसा जो अपना आत्माभाव्य··।

२ व्याप्य-व्यापक

स. सा /आ /७५ घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापक भाव। =घडे और मिट्टीके व्याप्य-व्यापकभावका सद्भाव ·।

न्या दी /३/§६७/१०६/५ साहचर्यनियमरूपां व्याप्तिक्रिया प्रति यत्कर्म तद्व्याप्यम्. ·एतामेव व्याप्तिक्रिया प्रति यत्कर्तृ तद्व्यापकम्·· एव सति धूममग्निर्व्याप्नोति, धूमस्तु न तथाऽग्निं व्याप्नोति—। =साहचर्य नियमरूप व्याप्तिक्रियाका जो कर्म है उसे व्याप्य कहते है, ··व्याप्तिका जो कर्म है—विषय है वह व्याप्य कहलाता है।··· अग्नि धूमको व्याप्त करती है, किन्तु धूम अग्निको व्याप्त नही करता।

३. ज्ञेय ज्ञायक व ग्राह्य ग्राहक

स सा /आ./३१ ग्राह्यग्राहकलक्षणसम्बन्धप्रत्यासत्तिवशेन...भावेन्द्रियावगृह्यमानस्पर्शादीनीन्द्रियार्थाः ज्ञेयज्ञायक सकरदोषत्वेनैव। = ग्राह्यग्राहक लक्षण वाले सम्बन्धकी निकटताके कारण.. भावेन्द्रियोके द्वारा (ग्राहक) ग्रहण किये हुए, इन्द्रियोके विषयभूत स्पर्शादि पदार्थोको (ग्राह्य पदार्थोको) ·। ज्ञेय (बाह्य पदार्थ) ज्ञायक (जाननेवाला) आत्मा-सकर नामक दोष ··।

४. आधार-आधेय सम्बन्ध

स. सा /आ./१८१-१८३ न खल्वेकस्य द्वितीयमस्ति द्वयोर्भिन्नप्रदेशत्वेनैकसत्तानुपपत्तेः, तदसत्वे च तेन सहाधाराधेयसम्बन्धोऽपि नास्त्येव, ततः स्वरूपप्रतिष्ठित्वलक्षण एवाधाराधेयसंबन्धोऽवतिष्ठते। = वास्तवमें एक वस्तुकी दूसरी वस्तु नहीं है, क्योंकि दोनोके प्रदेश भिन्न है, इसलिए उनमें एक सत्ताकी अनुपपत्ति है, इस प्रकार जबकि एक वस्तुकी दूसरी वस्तु नहीं है तब उनमें परस्पर आधार (जिसमें रहा जाये) आधेय (जो आश्रय लेवे) सम्बन्ध भी नही है। स्व स्वरूपमें प्रतिष्ठित वस्तुमें आधार-आधेय सम्बन्ध है।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

१. संयोग आदि अन्य सम्बन्धोंके लक्षण। —दे वह वह नाम।
२. संश्लेष सम्बन्ध। —दे. श्लेष।
३ सम्बन्धकी अपेक्षा वस्तुमें भेदाभेद। —दे. सप्तभंगी/५।
४ भिन्न द्रव्योंमें आध्यात्मिक भेदाभेद। —दे. कारक/२।
५ द्रव्य गुण पर्यायोंमें युत सिद्ध व समवाय सम्बन्धका निषेध। —दे. द्रव्य/४।

संबंध कारक—दे. कारक/२।

संबंध शक्ति—स. सा /आ /परि /शक्ति/४७, स्वभावमात्र स्वस्वामित्वमयी संबन्धशक्ति। =स्वभावमात्र स्वस्वामित्वमयी सम्बन्ध शक्ति। (अपना भाव स्व है और स्वय उसका स्वामी है ऐसी सम्बन्धमयी सम्बन्ध शक्ति है।)

संभव—१ एक ग्रह—दे. ग्रह, २. असत् वस्तुओंकी भी कथंचित् सम्भावना—दे असत्।

संभवनाथ—म पु /४६/श्लोक सं. पूर्वभव सं. २ में कच्छ देशके क्षेमंकरपुरका राजा विमलवाहन था (२)। पूर्वभवमें ग्रैवेयकके सुदर्शन विमानमें अहमिन्द्र, (६)। वर्तमानभवमें तीसरे तीर्थंकर थे (११)। विशेष परिचय—दे तीर्थंकर/५।

संभवयोग—दे. योग/१।

संभावना सत्य—दे. सत्य/१।

संभाषण—१. हितमित अथवा मिष्ट व कटु सभाषणकी इष्टता-अनिष्टता—दे. सत्य/३; २ व्यर्थ संभाषणका निषेध- दे सत्य/३।

संभिन्नमति—म. पु./सर्ग/श्लोक महाबल (ऋषभदेवका पूर्वका नवमा भव) राजाका एक मिथ्यादृष्टि मन्त्री था (४/१९१)। इसने राजसभामें नास्तिक्य मतकी सिद्धि की थी (५/३७-३८)। अन्तमें मरकर निगोद गया (१०/७)।

संभिन्न श्रोतृत्व ऋद्धि—दे. ऋद्धि/२।

संभ्रान्त—प्रथम नरकका छठा पटल—दे नरक/५/११ तथा रत्नप्रभा।

संमत सत्य—दे. सत्य/१।

संमूर्च्छिम—१. संमूर्च्छिम का लक्षण

स. सि /२/३१/१८७/३ त्रिषु लोकेषूर्ध्वमधस्तिर्यक् च देहस्य समन्ततो मूर्च्छनं सम्मूर्च्छनमवयवप्रकल्पनम्। =तीनों लोकोंमें ऊपर, नीचे, और तिरछे देहका चारों ओरसे मूर्च्छन् अर्थात् ग्रहण होना सम्मूर्च्छन है। (अर्थात् चारो ओरसे पुद्गलोका ग्रहण कर अवयवोंकी रचना होना); (रा वा./२/३१/१४०/२३)।

गो. जी /जी प्र./८३/२०४/१७ स समन्तात् मूर्च्छनं जायमानजीवानुग्राहकाणा शरीराकारपरिणमनयोग्यपुद्गलस्कन्धाना समुच्छ्रयणं सम्मूर्च्छनम्। =स अर्थात् समस्तपने, मूर्च्छनं अर्थात् जन्म ग्रहण करता जो जीव, उसको उपकारी ऐसे जो शरीराकार परिणमने योग्य पुद्गल स्कन्धोंका स्वमेव प्रगट होना सो सम्मूर्च्छन जन्म है।

२ संमूर्च्छिमजन्मका स्वामित्व

त. सू /२/३३ शेषाणा सम्मूर्च्छनम्।३३। =गर्भज और उपपादज जन्म वालोंके अतिरिक्त शेष जीवोंका संमूर्च्छन जन्म होता है।

ति प./४/२९४८ उप्पत्ती मणुवाण गब्भज सम्मुच्छिमं खु दुभेदा। =मनुष्योका जन्म गर्भ व सम्मूर्च्छनके भेदसे दो प्रकारका है।

ति. प/५/२९३ उप्पत्ती तिरियाण गब्भजसमुच्छिमो त्ति। =तिर्यंचोकी उत्पत्ति गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्मसे होती है। (गो. जी/जी प्र/९१/२१३/४)।

रा वा/२/३३/११/१४४/२३ एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियाणां तिरश्चां मनुष्याणां च केषांचित्सम्मूर्च्छनमिति। =एक, दो, तीन, चार इन्द्रियवाले जीवोंका, किन्हीं पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचों तथा मनुष्योंका सम्मूर्च्छन जन्म होता है।

गो जी/जी प्र./८४/२०७/६ एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां केषांचित्पञ्चेन्द्रियाणां लब्ध्यपर्याप्तमनुष्याणां च संमूर्च्छनमेव जन्मेति प्रवचने निर्दिष्टम्। =एकेन्द्रीय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, कोई पचेन्द्रिय तिर्यंच और लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य इनके सम्मूर्च्छन ही जन्म होता है, ऐसा प्रवचनमें कहा है। (गो जी/जी प्र/९०/२१२/११)

३. संमूर्च्छन मनुष्य निर्देश

भ आ/वि/७८१/९३७ पर उद्धृत गाथा—कर्मभूमिषु चक्रास्त्रहलभृद्भरिभूभुजाम्। स्कन्धावारसमूहेषु प्रस्त्रवोच्चारभूमिषु॥ शुक्रसिंघाणकश्लेष्मकर्णदन्तमलेषु च। अत्यन्ताशुचिदेशेषु सद्य सम्मूर्च्छनेन ये॥ भूत्वाङ्गुलस्यासंख्येयभागमात्रशरीरका। आशु नश्यन्त्यपर्याप्तास्ते स्यु सम्मूर्च्छना नरा॥ =कर्मभूमिमे चक्रवर्ती, बलभद्र वगैरह बडे राजाओके सैन्योंमें मलमूत्रोंका जहाँ क्षेपण करते है ऐसे स्थानोंपर, वीर्य, नाकका मल, कफ, कान और दाँतोंका मल और अत्यन्त अपवित्र प्रदेश इनमें तो तत्काल उत्पन्न होते है। जिनका शरीर अंगुलके असंख्यात भाग मात्र रहता है। और जो जन्म लेनेके बाद शीघ्र नष्ट होते है और जो लब्ध्यपर्याप्तक होते है उनको सम्मूर्च्छन मनुष्य कहते हैं।

४. सम्मूर्च्छिम तिर्यंच संज्ञी भी होते है तथा सम्यक्त्वादि प्राप्त कर सकते है

ध. ४/१.५.१८/३५०/२ सण्णि पंचिदियतिरिक्खसमुच्छिमपज्जत्तएसु मच्छ-कच्छव-मडूकादिसु उववण्णो। सव्वलहूएण अंतोमुहुत्तकालेण सव्वाहिपज्जत्तीहि पज्जत्तयदो जादो। विसंतो। विसुद्धो होदूण संजमासंजमं पडिवण्णो। पुव्वकोडिकालं संजमासंजममणुपालिदूण मदो सोधम्मादि-आरणच्चुदंतेसु देवेसु उववण्णो। =संज्ञी पचेन्द्रिय और पर्याप्तक, ऐसे सम्मूर्च्छन तिर्यंच मच्छ, कच्छप, मेंढकादिकोमें उत्पन्न हुआ, सर्व लघु अन्तर्मुहूर्तकाल द्वारा सर्व पर्याप्तियोंसे पर्याप्तपनेको प्राप्त हुआ। पुन विश्राम लेता हुआ, विशुद्ध हो करके संयमासंयमको प्राप्त हुआ। वहाँपर पूर्वकोटि काल तक संयमासंयमको पालन करके मरा और सौधर्म कल्पको आदि लेकर आरण अच्युतान्तकल्पोमें देवोमें उत्पन्न हुआ। (ध ५/१.६,२३४/११५/६)

५ परन्तु प्रथमोपशमको नही प्राप्त कर सकते

ध ५/१ ६ १२१/७३/३ सण्णिसम्मुच्छिम-पंचिदिएसुप्पाइय पढमसम्मत्तग्गहणाभावा। =संज्ञी पचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन जीवोमें प्रथम सम्यक्त्वके ग्रहणका अभाव है। (ध ५/१ ६,२३७/११८/११)।

६ संमूर्च्छिमोंमें संयमासंयम व अवधिज्ञानकी प्राप्ति सम्बन्धी दो मत

ध. ५/१,६,२३४/११५/५१ अट्ठावीससंतकम्मिओ सण्णि-समुच्छिमपज्जत्तएसु…विसुद्धो वेदगसम्मत्तं पडिवण्णो तदो अंतोमुहुत्तेण ओहिणाणी जादो।

ध ५/१,६,२३७/११८/११ सण्णिसमुच्छिमपज्जत्तएसु संजमासंजमस्सेव ओहिणाणुवसमसम्मत्ताणं संभवाभावादो। तं कधं णव्वदे। 'पंचिंदिएसु उवसामेंतो गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेदि, णो सम्मुच्छिमेसु' त्ति चुलियासुत्तादो। =१. मोहकर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंकीसत्तावाला संज्ञी सम्मूर्च्छिम पर्याप्तकोंमे उत्पन्न हुआ। विशुद्धि हो वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ। पश्चात् अवधिज्ञानी हो गया। (ध ५/१,६,२३४/११५,११७)। २ संज्ञी सम्मूर्च्छिम पर्याप्तकोंमें संयमासंयमके समान अवधिज्ञान और उपशम सम्यक्त्वकी सम्भवताका अभाव है। =प्रश्न—यह कैसे जाना है? उत्तर—'पचेन्द्रियोंमे दर्शनमोहका उपशमन करता हुआ गर्भोत्पन्न जीवोंमे ही उत्पन्न करता है। सम्मुर्च्छिमोंमें नही', इस प्रकार चूलिका सूत्रसे जाना जाता है।

७. महामत्स्यकी विशालकायका निर्देश

ध ११/४,२,५,८/१६/६ के वि आइरिया महामच्छो मुहपुच्छेसु सुट्ठु सण्हओ त्ति भणंति। एत्थतणमच्छे दट्ठूण एद ण घडदे, कहिल्लमच्छगेसु वियहिचारदंसणादो। अधवा एदे विक्खंभुस्सेहा समकरणसिद्धा त्ति के वि आइरिया भणंति। ण च सुट्ठु सण्णमुहो महामच्छो अण्णेगजोयणसदोगाहणतिमिंगिलादिगिलणक्खमो, विरोहादो। =महामत्स्य मुख और पूँछमें अतिशय सूक्ष्म है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते है। किन्तु यहाँके मत्स्योंको देखकर यह घटित नही होता, तथा कहीं-कही मत्स्योंके अंगोमें व्यभिचार भी देखा जाता है। अथवा ये विष्कम्भ और उत्सेध समकरणसिद्ध है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते है। दूसरी बात यह है कि अतिशय सूक्ष्म मुखसे संयुक्त महामत्स्य एक सौ योजनकी अवगाहना वाले अन्य तिमिंगिल आदि मत्स्योंके निगलनेमें समर्थ नही हो सकता, क्योंकि विरोध आता है।

ध १४/५.६ ५८०/४६७-४६८/१० ण च महामच्छउक्कस्सविस्सासुवचओ अणंतगुणो होदि, जहण्णबादरणिगोदवग्गणादो उक्कस्ससुहुमणिगोदवग्गणाए अणंतगुणत्तप्पसंगादो। महामच्छाहारो पोग्गलकलावो पत्तेयसरीरबादर सुहुमणिगोदवग्गणसमूहमेत्तो ण होदि किंतु तस्स पुट्ठीए संभूदउट्ठियकलावो तत्तो सम्मुच्छिदपत्थरसज्जज्जुण-णिंब-कयंबंब जंबु-जंबीर-हरि-हरिणादयो च विस्ससोवचयत्तब्भूदा दट्ठव्वा। ण च तत्थ मट्टियादीणमुप्पत्ती असिद्धा, सइलोदए पदिदपण्णाण पि सिलाभावेण परिणामदंसणादो सुत्तिवुडपदिदोदबिंदूणं मुत्ताहलागारेण परिणामुवलंभादो। ण च तत्थ सम्मुच्छिमपंचिंदियजीवाणमुप्पत्ती असिद्धा, पाउसयारंभवासजलधरणिसंबंधेण भेगुंदर-मच्छ-कच्छादीणमुप्पत्ति दंसणादो। ण च एदेसिं महामच्छत्तमसिद्धं, माणुसजडसप्पण्णगड्डुवालाण पि माणुसववएसुवलंभादो। सव्वेसिमेदेसिं गहणादो सिद्धं उक्कस्सविस्सासुवचयस्स अणंतगुणत्तं। अधवा ओरालिय-तेजा-कम्मइयपरमाणुपोग्गलाणं बंधणगुणेण जे एयबंधणबद्धा पोग्गला विस्सासुवचयसण्णिया तेसिं सचित्तवग्गणाणं अंतब्भावो होदि। जे पुण बंधणगुणेण तत्थ समवेदा पोग्गला जीवेण अणणुगय भावादो अलद्धसचित्तवग्गणववएसा ते एत्थ विस्सासुवचया घेत्तव्वा। ण च णिज्जीवविस्सासुवचयाणं अत्थित्तमसिद्धं, रुहिर-वस-सुक्क-रस-सेंभ पित्त-मुत्त खरित्त-मत्थुलिंगादीणं जीववज्जियाणं विस्सासुवचयाणमुवलंभादो। ण च दंतहड्ड वाला हव सव्वे विस्सासुवचया णिज्जीवा पच्चक्खा चेव, अणुभावेण अणंताण विस्सासुवचयाण आगमचक्खु गोयराणमुवलंभादो। एदे विस्सासुवचया महामच्छदेहभूदछज्जीवणिकायविसया अणंतगुणा त्ति घेत्तव्वा। =प्रश्न—महामत्स्यका उत्कृष्ट विस्रसोपचय अनन्तगुणा नहीं है, क्योंकि जघन्य बादर निगोद वर्गणासे उत्कृष्ट सूक्ष्म निगोद वर्गणाके अनन्तगुणे प्राप्त होनेका प्रसग प्राप्त होता है? उत्तर—महामत्स्यका आहार रूप जो पुद्गल कलाप है, वह प्रत्येक शरीर, बादर-निगोद-वर्गणा और सूक्ष्मनिगोदवर्गणाका समुदायमात्र नहीं होता है किन्तु उसकी पीठपर आकर जमी हुई जो मिट्टीका प्रचय है वह और उसके कारण उत्पन्न हुए पत्थर, सर्ज नामके वृक्ष विशेष, अर्जुन, नीम, कदम्ब, आम, जामुन, जम्बीर, सिंह और

हरिण आदिक ये सब विस्रसोपचयमें अन्तर्भूत जानने चाहिए। वहाँ मिट्टी आदिकी उत्पत्ति असिद्ध है यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि शैलके पानीमें गिरे हुए पत्ताका शिलारूपमें परिणमन देखा जाता है तथा शुक्तिपुटमें गिरे हुए जलबिन्दुओंका मुक्ताफल रूपसे परिणमन उपलब्ध होता है। वहाँ पंचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन जीवोंकी उत्पत्ति असिद्ध है यह बात भी नहीं है क्योंकि वर्षाकालके प्रारम्भमें वर्षाकालके जल और पृथिवीके सम्बन्धसे मेंढक, चूहा, मछली और कछुआ आदिकी उत्पत्ति देखी जाती है इनका महामत्स्य होना असिद्ध है यह कहना भी असिद्ध नहीं है, क्योंकि मनुष्यके जठरमें उत्पन्न हुई कृमि विशेषकी भी मनुष्य संज्ञा उपलब्ध होती है। इन सबके ग्रहण करनेसे उत्कृष्ट विस्रसोपचय अनन्तगुणा है यह बात सिद्ध होती है। अथवा औदारिक तैजस और कार्मण परमाणु पुद्गलोंके बन्धन गुणके कारण जो एक बन्धनबद्ध विस्रसोपचय संज्ञावाले पुद्गल है उनका सचित्त वर्गणाओंमें अन्तर्भाव देखा होता है। बन्धनगुणके कारण जो पुद्गल वहाँ समवेत होते है और जो सचित्त वर्गणाओंको नहीं प्राप्त होते, इसलिए यहाँ विस्रसोपचय रूपसे ग्रहण करना चाहिए। निर्जीव विस्रसोपचयोंका अस्तित्व असिद्ध है यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जीव रहित रुधिर, वसा, शुक्र, रस, कफ पित्त, मूत्र, खरिस, और मस्तकमेंसे निकलनेवाले चिकने द्रव्यरूप विस्रसोपचय उपलब्ध होते है। दाँतोंकी हड्डियोंके समान सभी विस्रसोपचय प्रत्यक्षसे निर्जीव होते है यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभावके कारण आगम चक्षुके विषयभूत अनन्त विस्रसोपचय उपलब्ध होते है। महामत्स्यके देहमें उत्पन्न हुए छह जीव निकायोंको विषय करनेवाले ये विस्रसोपचय अनन्तगुणे होते है ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

भ. आ /वि /१६४६/१४८६/७ उत्थानिका— आहारलोलुपतया स्वयंभूरमणसमुद्रे तिमितिमिंगिलादयो मत्स्या महाकाया योजनसहस्रायामा' षण्मास विवृतवदना स्वपन्ति। निद्राविमोक्षानन्तरं पिहितानना स्वजठरप्रविष्टमत्स्यादीनाहारीकृत्य अवधिष्ठाननामधेय नरकं प्रविशन्ति। तत्कर्णविलग्नमलाहारा शालिसिक्थसंज्ञका' यदीदृशमस्माक शरीर भवेत्। किं निःसर्तु' एकोऽपि जन्तुर्लभते। सर्वान्भक्षयामीति कृतमन प्रणिधानास्ते तमेवावधिस्थान प्रविशन्ति। =स्वयभूरमण समुद्रमे तिमि तिमिंगिलादिक महामत्स्य रहते है, उनका शरीर बहुत बडा होता है। उनके शरीरकी लम्बाई हजार योजन की कही है। वे मत्स्य छह मास तक अपना मुँह उघाडकर नींद लेते है, नींद खुलनेके बाद आहारमें लुब्ध होकर अपना मुँह बन्द करते है, तब उनके मुँहमे जो मत्स्य आदि प्राणी आते है, उनको वे निगल जाते है। वे मत्स्य आयुष्य समाप्तिके अनन्तर अवधिस्थान नामक नरकमें प्रवेश करते है। इन मत्स्योंके कानमें शालिसिक्थ नामक मत्स्य रहते है, वे उनके कानका मल खाकर जीवन निर्वाह करते है। उनका शरीर तण्डुलके सिक्थके प्रमाण होता है इसलिए उनका नाम सार्थक है। वे अपने मनमे ऐसा विचार करते है कि यदि हमारा शरीर इन महामत्स्योंके समान होता तो हमारे मुहमे एक भी प्राणी न निकल सकता, हम सम्पूर्णको खा जाते। इस प्रकारके विचारसे उत्पन्न हुए पापसे वे भी अवधिस्थान नरकमें प्रवेश करते है।

८. अन्य सम्बन्धित विषय

१. संमूर्च्छन जीव नपुसकवेदी होते है—दे. वेद/५/३।

२. चींटी आदि सम्मूर्च्छित कैसे है—दे वेद/५/६।

३. महामत्स्य मरकर कहाँ जन्म धारे इस सम्बन्धमें दो मत —दे. मरण/५/६।

४. मारणान्तिक समुद्घात गत महामत्स्यका विस्तार —दे मरण/५/५,६।

५. बीजवाला ही जीव या अन्य कोई भी जीव इस योनि स्थानमें जन्म धारण कर सकता है—दे. जन्म/२।

संमोह—पिशाच जातिके व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे पिशाच।

संमोही भावना—भ आ /मू /१८४/४०२ उम्मग्गदेसणो मग्गदूसणो मग्गविप्पडिवणी य। मोहेण य मोहितो संमोह भावणं कुणइ।१८४। =जो मिथ्यात्वादिका उपदेश करनेवाला हो, जो सच्चे मार्गको अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप मोक्षमार्गको दूषण लगाता हो, जो मार्गसे विरुद्ध मिथ्यामार्गको चलाता हो, ऐसा साधु मिथ्यात्व तथा मायाचारीसे जगतको मोहता हुआ सम्मोही देवोंमें उत्पन्न होता है। (मू आ./६७)

संयत—बहिरंग और अन्तरंग आस्रवोसे विरत होनेवाला महाव्रती श्रमण संयत कहलाता है। शुभोपयोगयुक्त होनेपर वह प्रमत्त और आत्मसंवित्ति मे रत होनेपर अप्रमत्त कहलाता है। प्रमत्त संयत यद्यपि सज्वलनके तीव्रोदयवश धर्मोपदेश आदि कुछ शुभक्रिया करनेमें अपना समय गँवाता है, पर इससे उसका सयतपना घात नहीं जाता, क्योंकि वह अपनी भूमिकानुसार ही वे क्रियाएँ करता है, उसको उल्लघन करके नही।

१	संयत सामान्य निर्देश
१	सयत सामान्यका लक्षण।
२	प्रमत्त सयतका लक्षण।
३	अप्रमत्तसंयत सामान्यका लक्षण।
*	अप्रमत्तसंयत गुणस्थानके चार आवश्यक। —दे. करण/४।
*	एकान्तानुवृद्धि आदि सयत। —दे लब्धि/५।
*	प्रमत्त व अप्रमत्त दो गुणस्थानोंके परिणाम अधःप्रवृत्तिकरणरूप होते हैं। —दे. करण/४।
*	संयतोंमें यथा सम्भव भावोंका अस्तित्व। —दे. भाव/२।
*	सयतोंमें आत्मानुभव सम्बन्धी। —दे. अनुभव/५।
४	स्वस्थान व सातिशय अप्रमत्त निर्देश।
*	सर्व गुणस्थानोंमें प्रमत्त अप्रमत्त विभाग। —दे गुणस्थान/१/४।
५	दोनों (६-७) गुणस्थानोंका आरोहण व अवरोहण क्रम।
*	चारित्रमोहका उपशम, क्षय, व क्षयोपशम विधान। —दे वह वह नाम।
*	सर्व लघुकालमें संयम धारनेकी योग्यता सम्बन्धी। —दे. संयम/२।
*	पुन. पुनः संयतपनेकी प्राप्तिकी सीमा। —दे. सयम/२।
६	संयत गुणस्थानका स्वामित्व।
*	मरकर देव ही होते हैं। —दे. जन्म/५,६।

*	भोगभूमिमें संयम न होनेका कारण। —दे. भूमि/६।
*	प्रत्येक मार्गणामें गुणस्थानोंके स्वामित्व सम्बन्धी शंका समाधान। —दे. वह वह नाम।
*	दोनों गुणस्थानोंमें सम्भव जीवसमास मार्गणास्थान आदि २० प्ररूपणाएँ। —दे. सत्।
*	दोनों गुणस्थानों सम्बन्धी सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तरभाव व अल्पबहुत्वरूप आठ प्ररूपणाएँ। — दे. वह वह नाम।
*	सभी गुणस्थानोंमें आयके अनुसार व्यय होनेका नियम। —दे मार्गणा।
*	दोनों गुणस्थानोंमें कर्म प्रकृतियोंका बन्ध, उदय, सत्त्व। —दे. वह वह नाम।
२	**संयत निर्देश सम्बन्धी शंकाएँ**
१	प्रमत्त होते हुए भी संयत कैसे।
*	सामायिक स्थित भी गृहस्थ संयत नहीं। —दे. सामायिक/३।
*	व्रती भी मिथ्यादृष्टि संयत नहीं है। — दे. चारित्र/३/८।
२	अप्रमत्तसे पृथक् अपूर्वकरण आदि गुणस्थान क्या है।
३	संयतोंमें क्षायोपशमिक भाव कैसे।
४	संज्वलनके उदयके कारण औदयिक क्यों नहीं।
*	इन्हें उदयोपशमिक क्यों नहीं कहते। —दे. क्षयोपशम/२/३।
५	सम्यक्त्वकी अपेक्षा तीनों भाव है।
६	फिर सम्यक्त्वकी अपेक्षा इन्हें औपशमिकादि क्यों नहीं कहते।
७	सामायिक व छेदोपस्थापना संयतमें तीनों भाव कैसे।
३	**प्रमादजनक दोष परिचय**
१	आर्तध्यान व स्खलना होती है पर निरर्गल नहीं।
२	साधु योग्य शुभ कार्योंकी सीमा।
*	शुभोपयोगी साधु भव्यजनोंको तार देते है। —दे. धर्म/५/२।
३	परन्तु फिर भी संयतपना घाता नहीं जाता।

१. संयत सामान्य निर्देश

१. संयत सामान्यका लक्षण

ध १/१,१,१२३/३६९/१ सम् सम्यक् सम्यग्दर्शनज्ञानानुसारेण यता' बहिरङ्गान्तरङ्गास्रवेभ्या विरता' संयता। ='सम्' उपसर्ग सम्यक् अर्थका वाची है, इसलिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक 'यता' अर्थात जो बहिरंग और अन्तरंग आस्रवोंसे विरत हैं उन्हें संयत कहते हैं।

दे. संयम/१ [व्रत समिति आदि १३ प्रकारके चारित्रका सम्यक्त्वयुक्त पालन करना संयम है। उस संयमको धारण करनेवाला संयत है।]

दे अनगार [श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त, यति ये सब एकार्थवाची है।]

दे. व्रती [घरके प्रति जो निरुत्सुक है, वह संयत है।]

दे साधु/३/४ [कषाय हीनताका नाम चारित्र है और कषायसे असंयत होता है। इसलिए जिस व जितने कालमें साधु कषायोंका उपशमन करता है, उस व उतने कालमें वह संयत होता है।]

२. प्रमत्त संयतका लक्षण

प स /प्रा /१/१४ वत्तावत्तपमाए जो वसइ पमत्तसजओ होइ। सयलगुणसीलकलिओ महव्वई चित्तलायरणो।१४। =जो पुरुष सकल मूलगुणोसे और शील अर्थात् उत्तरगुणोसे सहित है, अतएव महाव्रती, तथा व्यक्त और अव्यक्त प्रमादसे रहता है अतएव चित्रल आचरणी है, वह प्रमत्त संयत कहलाता है।१४। (ध. १/१.१.१५/गा ११३/१७८), (गो जी /मू./३३/६२), (इसका विवेचन दे आगे)

रा वा /६/१/१७/५९०/३ तन्मूलसाधनोपपादितोपजनन बाह्यसाधनसन्निधानाविर्भावमापद्यमानं प्राणेन्द्रियविषयभेदात् द्वितयीं वृत्तिमास्कन्दं संयमोपयोगमात्मसात्कुर्वन् पञ्चदशविधप्रमादवशात् विचित्स्खलितचारित्रपरिणाम प्रमत्तसंयत इत्याख्यायते। =उस संयमलब्धि (दे लब्धि/५/१) रूप अभ्यन्तर संयम परिणामोके अनुसार बाह्य साधनोके सन्निधानको स्वीकार करता हुआ प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयमको पालता हुआ भी पन्द्रह प्रकारके प्रमादोके वश कहीं कभी चारित्र परिणामोसे स्खलित होता रहता है, अत प्रमत्त संयत कहलाता है।

ध १/१ १ १४/१७६/१० प्रकर्षेण मत्ता प्रमत्ता, स सम्यग् यता विरता संयता। प्रमत्ताश्च ते संयताश्च प्रमत्तसंयता। =प्रकर्षसे मत्त जीवको प्रमत्त कहते है और अच्छी तरहसे विरत या संयमको प्राप्त जीवोंको संयत कहते है। जो प्रमत्त होते हुए भी संयत होते है, उन्हें प्रमत्त संयत कहते है।

गो जी /मू /३२/६१ संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा। मलजणणपमादो वि य तम्हा हु पमत्तविरदो सो।३२। =क्रोधादि संज्वलन कषाय और हास्यादि नोकषाय, इनके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण जिस संयममे मलको उत्पन्न करनेवाला प्रमाद पाया जाता है, वह प्रमत्तविरत कहलाता है।

द्र. स /टी./१३/३४/६ स एव सद्दृष्टि पञ्चमहाव्रतेषु वर्तते यदा तदा दुःस्वप्नादिव्यक्ताव्यक्तप्रमादसहितोऽपि षष्ठगुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयतो भवति। =संयमासंयमको प्राप्त वही सम्यग्दृष्टि जब पच महाव्रतोंमें वर्तता है, तब वह दुःस्वप्नादि व्यक्त या अव्यक्त प्रमाद सहित होता हुआ छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयत होता है।

गो जी /जी. प्र./३३/६३/४ प्रमत्तसंयत' चित्रलाचरण इत्युक्तम्। चित्रं प्रमादमिश्रितं लातीति चित्रलं आचरण यस्यासौ चित्रलाचरण। अथवा चित्रल. सारग, तद्वत् शवलित आचरण यस्यासौ चित्रलाचरण। अथवा चित्तं लातीति चित्तल, चित्तल आचरणं यस्यासौ चित्तलाचरण., इति विशेषव्युत्पत्तिरपि ज्ञातव्या। =प्रमत्त संयतको चित्रलाचरण कहा गया है। 'चित्रं' अर्थात प्रमादसे मिश्रित, 'लाति' अर्थात् ग्रहण करता है उसे चित्रल कहते है। ऐसा चित्रल आचरण वाला चित्रलाचरण है। अथवा चित्रल नाम चीतेका है, उसके समान चितकबरे आचरण वाला 'चित्रलाचरण है। अथवा 'चित्तं लाति' अर्थात् मनको प्रमादस्वरूप करे सो चित्तल, ऐसे चित्तल आचरणवाला चित्तलाचरण है। ऐसी विशेष निरुक्ति भी पाठान्तरकी अपेक्षा जाननी चाहिए।

३. अप्रमत्त संयत सामान्यका लक्षण

पं. सं./प्रा./१/१६ णट्ठासेसपमाओ वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी। अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अप्पमत्तो सो।१६। =जो व्यक्त और अव्यक्तरूप समस्त प्रकारके प्रमादसे रहित है, महाव्रत, मूलगुण और उत्तरगुणोकी मालासे मण्डित है, स्व और परके ज्ञानसे युक्त है और कषायोंका अनुपशामक या अक्षपक होते हुए भी ध्यानमें निरन्तर लीन रहता है, वह अप्रमत्तसयत कहलाता है। (ध. १/१,१,१५/गा ११५/१७९), (गो. जी./मू /४६/९८)।

रा. वा./९/१/१८/५९०/६ पूर्ववत् संयममास्कन्दन् पूर्वोक्तप्रमादविरहात् अविचलितसंयमवृत्ति' अप्रमत्तसंयत' समाख्यायते। =पूर्ववत (दे० प्रमत्तसयतका लक्षण) संयमको प्राप्त करके, प्रमादका अभाव होनेसे अविचलित संयमी अप्रमत्त संयत कहलाता है।

ध. १/१,१,१५/१७८/७ प्रमत्तसंयता. पूर्वोक्तलक्षणा', न प्रमत्तसंयता अप्रमत्तसयता' पञ्चदशप्रमादरहितसयता इति यावत्। =प्रमत्तसयतोंका स्वरूप पहले कह आये है (दे० शीर्षक स./२)। जिनका संयम प्रमाद सहित नहीं होता है उन्हे अप्रमत्तसंयत कहते है। अर्थात् सयत होते हुए जिन जीवोके पन्द्रह प्रकारका प्रमाद नही पाया जाता है, उन्हे अप्रमत्तसयत समझना चाहिए।

गो. जी./मू./४५/९७ संजलणणोकसायाणुदयो मदो जदा तदा होदि। अपमत्तगुणो तेण य अपमत्तो संजदो होदि। =जब क्रोधादि सज्वलन कषाय और हास्य आदि नोकषाय इनका मन्द उदय होता है, तब अप्रमत्तगुण प्राप्त हो जानेसे वह अप्रमत्त संयत कहलाता है।४५। (द्र. सं./टी./१३/३४/१०)।

४. स्वस्थान व सातिशय अप्रमत्त निर्देश

गो. जी./जी. प्र /४५/९७/८ स्वस्थानाप्रमत्त' सातिशयप्रमत्तश्चेति द्वौ भेदौ। तत्र स्वस्थानाप्रमत्तसंयतस्वरूपं निरूपयति। =अप्रमत्त सयतके स्वस्थान अप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त ऐसे दो भेद है। तहाँ स्वस्थान अप्रमत्तसयतका स्वरूप कहते है। [मूल व उत्तर गुणोंसे मण्डित, व्यक्त व अव्यक्त प्रमादमे रहित, कषायोका अनुपशामक व अक्षपक होते हुए भी ध्यानमें लीन अप्रमत्तसयत स्वस्थान अप्रमत्त कहलाता है—गो. जी./मू./४६ (दे० शीर्षक न. ३)]।

ल सा./मू./२०५/२५६ उवसमचरियाहिमुहो वेदगसम्भो अणं विजयित्ता। अंतोमुहुत्तकालं अधापवत्तो पमत्तो य।२०५।

ल. सा./जी. प्र./२२०/२७३/१ चारित्रमोहोपशमने कर्त्तव्ये अध'प्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरण·· चेत्यष्टाधिकारा भवन्ति। तेष्वध'-प्रवृत्तकरण' सातिशयाप्रमत्तसयत' ··यथा प्रथमोपशमसम्यक्त्वाभिमुखसातिशयमिथ्यादृष्टेर्भणितानि··। =उपशमचारित्रके सम्मुख वेदक सम्यग्दृष्टि जीव (अप्रमत्त गुणस्थानमें) अनन्तानुबन्धीका विसयोजन करके अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त अध प्रवृत्त अप्रमत्त कहलाता है।२०५। चारित्र मोहके उपशमनमें अध'प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण आदि आठ अधिकार होते है। उनमेंसे जो अध.प्रवृत्तकरण, अप्रमत्तसंयत है वह सातिशय अप्रमत्त कहलाता है, जिस प्रकार कि प्रथमोपशम सम्यक्त्वके सम्मुख जीव सातिशय मिथ्यादृष्टि होता है।

५. दोनों गुणस्थानोंका आरोहण व अवरोहण क्रम

१. अप्रमत्तपूर्वक ही प्रमत्त गुणस्थान होता है

ध. ५/१,६,१२१/७४/८ उवसमसम्मत्तमप्पमत्तगुणं च जुगवं पडिवण्णो पमत्तो जादो हेट्ठा पडिदूणंतरिदो सगट्ठिदि परिभमिय अपच्छिमे भवे मणुसो जादो। ···अंतोमुहुत्तावसेसे संसारे अप्पमत्तो होदूण पमत्तो जादो। लद्धमंतरं।

ध. ५/१,६,१२१/७५/२ उवसम्मत्तमप्पमत्तगुणं च जुगवं पडिवण्णो· अंतरिदो·· मणुस्सेसु अववण्णो ··अंतोमुहुत्तावसेसे ससारे विसुद्धो अप्पमत्तो जादो। तदो पमत्तो अप्पमत्तो ··।

ध ५/१,६,३५९/१६६/३ एक्को सेडीदो ओदरिय असंजदो जादो। तत्थ अंतोमुहुत्तमच्छिय संजमासंजमं पडिवण्णो। तदो अप्पमत्तो पमत्तो होदूण असजदो जादो। लद्धमुक्कस्सतरं।

ध. ५/१,६,३६३/१६७/३ एक्को सेडीदो ओदरिय सजदासंजदो जादो। अतोमुहुत्तमच्छिय अप्पमत्तो पमत्तो असंजदो च होदूण संजदासंजदो जादो। लद्धमुक्कस्संतरं। =१. (कोई जीव) उपशमसम्यक्त्व और अप्रमत्तसंयतको एक साथ प्राप्त हुआ, पश्चात् प्रमत्तसंयत हुआ। पीछे नीचे गिरकर अन्तरको प्राप्त हो अपनी स्थिति प्रमाण परिभ्रमण कर अन्तिम भवमें मनुष्य हुआ। अन्तर्मुहूर्त काल ससारमें अवशिष्ट रहने पर अप्रमत्त सयत होकर पुन' प्रमत्तसयत हुआ। इस प्रकार प्रमत्तसयतका उत्कृष्ट अन्तर प्राप्त हुआ। २. (कोई जीव) उपशम सम्यक्त्व व अप्रमत्त गुणस्थानको युगपत् प्राप्त हुआ। पश्चात् अन्तरको प्राप्त हो मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ। संसारके अन्तर्मुहूर्त अवशेष रहने पर विशुद्ध हो अप्रमत्तसंयत हुआ। पश्चात् प्रमत्तसंयत हो पुन अप्रमत्त सयत हुआ। इस प्रकार अप्रमत्त संयतका उत्कृष्ट अन्तर प्राप्त हुआ। ३. एक सयत उपशम श्रेणीसे उतरकर असयत सम्यग्दृष्टि हुआ। वहाँ अन्तर्मुहूर्त रहकर संयमासंयमको प्राप्त हुआ। पश्चात् अप्रमत्त और प्रमत्त संयत होकर असयतसम्यग्दृष्टि हो गया। इस प्रकार प्रकार उपशम सम्यग्दृष्टि असंयतोका उत्कृष्ट अन्तर प्राप्त हुआ। ४. एक संयत उपशम श्रेणीसे उतरकर संयतासयत हुआ। अन्तर्मुहूर्त रहकर अप्रमत्तसंयत, प्रमत्तसयत और असंयत सम्यग्दृष्टि होकर पुन' सयतासंयत हो गया। इस प्रकार संयतासंयत उपशम सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट अन्तर प्राप्त हुआ। ५. [इसी प्रकार काल व अन्तर प्ररूपणाओंमें सर्व पहले अप्रमत्त गुणस्थान प्राप्त कराके पीछे प्रमत्त गुणस्थान प्राप्त कराया गया है।] (और भी दे० गुणस्थान/२/१)।

२. आरोहण व अवरोहण सम्बन्धी कुछ नियम

ध. ४/१,५,९/३४३/६ तस्स संकिलेस-विसोहीहि सह पमत्तापुव्वगुणे मोत्तूण गुणंतरगमणाभावा। मदस्स वि असंजदसम्मादिट्ठिं दिरित्तगुणंतरगमणाभावा। =अप्रमत्तसयत जीवके संक्लेशकी वृद्धि हो तो प्रमत्त गुणस्थानको और यदि विशुद्धिकी वृद्धि हो तो अपूर्वकरण गुणस्थानको छोड़कर दूसरे गुणस्थानोंमें गमनका अभाव है। यदि अप्रमत्त सयत जीवका मरण भी हो तो असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानको छोड़कर दूसरे गुणस्थानोंमें गमन नही होता है। [ल. सा./मू. व जी. प्र /३४५/४३५)।

दे० उपशीर्षक सं. १/१,२ [मिथ्यादृष्टि सीधा सम्यक्त्व व अप्रमत्त गुणस्थानको युगपत् प्राप्त कर सकता है। तथा सयतासंयतसे भी सीधा अप्रमत्त हो सकता है]।

दे. गुणस्थान/२/१ [आरोहणको अपेक्षासे अनादि व सादि दोनो प्रकारके मिथ्यादृष्टि तीनों सम्यक्त्वोसे युक्त सम्यग्दृष्टि, सयतासयत व प्रमत्त सयत ये सब सीधे अप्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त कर सकते है। अवरोहणकी अपेक्षासे अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती ही अप्रमत्तसयतको प्राप्त होता है अन्य नहीं और अप्रमत्तसयत ही प्रमत्तसंयतको प्राप्त है अन्य नहीं।]

दे. काल/६/२ [अपने उत्कृष्ट काल पर्यंत प्रमत्त संयत रहे तो नियमसे मिथ्यात्वको प्राप्त होता है।]

६. संयत गुणस्थानोंका स्वामित्व

गो. जी /मू /७१० दुविह पि अपज्जत्तं ओघे मिच्छेव होदि णियमेण। सासण अयद पमत्ते णिव्वत्तिअप्पुण्णगो होदि।७१०।

गो. जी./जी. प्र./७०३/६ प्रमत्ते मनुष्या पर्याप्ता, साहारकर्द्धयस्तु उभये। अप्रमत्तादिक्षीणकषायान्ता' पर्याप्ता । =१. निर्वृत्ति व लब्धि ये दोनों प्रकारके अपर्याप्त नियमसे मिथ्यादृष्टि ही होते है। सासादन असयत व प्रमत्तसंयतमें निर्वृत्त्यपर्याप्त आलाप तो होता है (पर लब्ध्यपर्याप्त नहीं)। २. प्रमत्तसंयत मनुष्य पर्याप्त होते है परन्तु आहारक ऋद्धि सहित पर्याप्त व अपर्याप्त (निर्वृत्त्यपर्याप्त) दोनों होते हैं और अप्रमत्तादि क्षीणकषाय पर्यंत केवल पर्याप्त ही होते हैं। (और भी दे./काय/२/४)।

दे. मनुष्य/२/२ [मनुष्यगतिमें ही सम्भव है।]

दे. मनुष्य/३/२ [मनुष्य व मनुष्यनियाँ (भावसे स्त्रीवेदी और द्रव्यसे पुरुषवेदी) दोनोंमें सम्भव है। वहाँ भी कर्मभूमिजोंमें ही सम्भव है भोगभूमिजोंमें नहीं, आर्यखण्डमें ही सम्भव है म्लेच्छ खण्डोंमें नहीं, आर्यखण्डमें आकर म्लेच्छ भी तथा उनकी कन्याओंसे उत्पन्न हुई सन्तान भी कदाचित् सयत हो सकते हैं, विद्याओंका त्याग कर देनेपर विद्याधरोंमें भी सम्भव है अन्यथा नहीं।]

दे वह वह गति—[नरक तिर्यंच व देव गतिमें सम्भव नहीं।]

दे. आयु/६/७ [देव आयुके अतिरिक्त अन्य तीन आयु जिसने पहिले बाँध ली है, उसको सयमकी प्राप्ति नहीं हो सकती।]

दे. चारित्र/३/७-८ [मिथ्यादृष्टि व्रतीको भी सयत नहीं कहा जा सकता है।]

दे. वेद/७-[द्रव्य स्त्री सयत नहीं हो सकती।]

२. संयत निर्देश सम्बन्धी शंकाएँ

१. प्रमत्त होते हुए भी संयत कैसे

ध. १/१,१,१४/१७६/१ यदि प्रमत्ता' न संयता' स्वरूपासंवेदनात्। अथ संयता' न प्रमत्ता. संयमस्य प्रमादपरिहाररूपत्वादिति नैष दोष', सयमो नाम हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरति' गुप्तिसमित्यनुरक्षित'. नासौ प्रमादेन विनाश्यते तत्र तस्मान्मलोत्पत्ते। सयमस्य मलोत्पादक एवात्र प्रमादो विवक्षितो न तद्विनाशक इति। कुतोऽवसीयत इति चेद् संयमाविनाशान्यथानुपपत्ते.। न हि मन्दतम प्रमाद' क्षणक्षयी संयमविनाशकोऽसति विबन्धर्यनुपलब्धे। =प्रश्न—यदि छठे गुणस्थानवर्ती जीव प्रमत्त है तो संयत नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, उनको अपने स्वरूपका संवेदन नहीं हो सकता है। यदि वे सयत है तो प्रमत्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि संयम भाव प्रमादके अभावस्वरूप होता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच पापोंसे विरतिभावको संयम कहते हैं, जो कि तीन गुप्ति और पंच समितियोंसे अनुरक्षित है (दे. संयम/१)। वह संयम वास्तवमें प्रमादसे नष्ट नहीं किया जा सकता है, क्योंकि, संयममें प्रमादसे केवल मलकी ही उत्पत्ति है। प्रश्न—ऐसा ही सूक्ष्म प्रमाद यहाँ विवक्षित है, यह कैसे जाना? उत्तर—छठे गुणस्थानमें संयमका विनाश न होना अन्यथा बन नहीं सकता। वहाँ होनेवाला स्वल्पकालवर्ती मन्दतम प्रमाद सयमका नाश भी नही कर सकता है, क्योंकि, सकल संयमका उत्कटरूपसे प्रतिबन्ध करनेवाले प्रत्याख्यानावरणके अभावमें सयमका नाश नहीं पाया जाता।

गो. जी./जी. प्र./३३/६३/४ अत्र साकल्य महत्त्वं च देशसंयतापेक्षया ज्ञातव्यं. तत कारणादेव प्रमत्तसयत' चित्रलाचरण इत्युक्तम्। =यहाँ सकलचारित्रपना या महाव्रतपना अपनेसे नीचेवाले देशसंयमकी अपेक्षा जानना चाहिए अपनेसे ऊपरके गुणस्थानोंकी अपेक्षा नहीं। इसलिए ही प्रमत्तसयतको चित्रलाचरण कहा गया है।

२. अप्रमत्तसे पृथक् अपूर्वकरणादि गुणस्थान क्या है

ध. १/१,१,१५/१९८/८ शेषाशेषसयतानामत्रैवान्तर्भावाच्छेषसयतगुणस्थानानामभाव' स्यादिति चेन्न, संयतानामुपरिष्टात्प्रतिपद्यमानविशेषणाविशिष्टानामरतप्रमादानामिह ग्रहणात्। =प्रश्न—बाकीके सम्पूर्ण सयतोका इसी अप्रमत्तसयत गुणस्थानमें अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए शेष गुणस्थानोंका अभाव हो जायगा? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, जो आगे चलकर प्राप्त होनेवाले अपूर्वकरण आदि विशेषणोंसे अविशिष्ट हैं अर्थात् भेदको प्राप्त नहीं होते है और जिनका प्रमाद नष्ट हो गया है, ऐसे सयतोंका ही यहाँपर ग्रहण किया गया है, इसलिए आगेके समस्त गुणस्थानोंका इसमें अन्तर्भाव नहीं होता है।

३ संयतोंमें क्षायोपशमिक भाव कैसे

ध. १/१,१,१४/१७६/७ पञ्चसु गुणेषु कं गुणमाश्रित्यायं प्रमत्तसयतगुण उत्पन्नश्चेत्संयमापेक्षया क्षायोपशमिक'। कथम्। प्रत्याख्यानावरणसर्वघातिस्पर्धकोदयक्षयात्तेषामेव सतामुदयाभावलक्षणोपशमात् संज्वलनोदयाच्च प्रत्याख्यानसमुत्पत्ते'। =प्रश्न—पाँचों भावोंमेंसे किस भावका आश्रय लेकर यह प्रमत्त संयत गुणस्थान उत्पन्न होता है? उत्तर—सयमकी अपेक्षा यह क्षायोपशमिक है। प्रश्न—क्षायोपशमिक किस प्रकार है? उत्तर—१. क्योंकि वर्तमानमें प्रत्याख्यानावरणके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय क्षय होनेसे और आगामी कालमें उदयमें आनेवाले सत्तामें स्थित उन्हींके उदयमें न आनेरूप उपशमसे तथा सज्वलन कषायके उदयसे प्रत्याख्यान अर्थात् संयम उत्पन्न होता है इसलिए क्षायोपशमिक है। [बिलकुल इसी प्रकार अप्रमत्तगुणस्थान भी क्षायोपशमिक है—(ध. १/१,१,१५/१७६/२)] (ध. ५/१,७,७/२०३/१)।

ध. ७/२,१,४६/९२/४ कधं खओवसमिया लद्धी। चदुसंज्वलण-णवणोकसायाणं देसघादिफद्दयाणमुदयेण संजमुप्पत्तीदो। कधमेदेसि उदयस्स खओवसमववएसो। सव्वघादिफद्दयाणि (दे. क्षयोपशम/१/१)।... एव सामाइयच्छेदोवट्ठाणसुद्धिसंजदाणं पि वत्तव्वं। =प्रश्न—१. सयतके क्षायोपशमिक लब्धि कैसे होती है? उत्तर—२. चारो सज्वलन कषायों और नौ नोकषायोंके देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे संयमकी उत्पत्ति होती है, इस प्रकार संयतके क्षायोपशमिक लब्धि पायी जाती है। प्रश्न—नोकषायोंके देशघाती स्पर्धकोके उदयको क्षयोपशम नाम क्यों दिया गया? उत्तर—[सर्वघाती स्पर्धकोंकी शक्तिका अनन्त गुणा होना ही क्षय है और देशघाती स्पर्धकोंके रूपमे उनका अवस्थान उपशम है। दोनोंके योगसे क्षयोपशम नाम सार्थक है (दे. क्षयोपशम/१/१)] इसी प्रकार सामायिक और छेदोपस्थापना शुद्धिसंयतोंके विषयमें भी कहना चाहिए।

ध. ५/१,७,७/२०२/३ पच्चक्खाणावरण-चदुसंजलणणवणोकसायाणमुदयस्स सव्वप्पणा चारित्तविणासणसत्तीए अभावादो तस्स खयसण्णा। तेसिं चेव उप्पण्णचारित्तं सेडिमावारंतस्स उवसमसण्णा। तेहि दोहितो उप्पण्णा एदे तिण्णि वि भावा खओवसमिया जादा। =३. प्रत्याख्यानावरण, सज्वलन चतुष्क और नव नोकषायोके उदयके सर्वप्रकारसे चारित्र विनाश करनेकी शक्तिका अभाव है, इसलिए उनके उदयकी क्षय संज्ञा है, उन्हीं प्रकृतियोंकी उत्पन्न हुए चारित्रको अथवा श्रेणीको आवरण नहीं करनेके कारण उपशम संज्ञा है। क्षय और उपशम इन दोनोंके द्वारा उत्पन्न हुए ये उक्त तीनों भाव (संयतासंयत, प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसंयत) भी क्षायोपशमिक हो जाते हैं।

४. संज्वलनके उदयके कारण औदयिक क्यों नहीं

ध १/१.१.१४/१७७/१ सज्वलनोदयात्सयमो भवतीत्यौदयिक-व्यपदेशोऽस्य किं न स्यादिति चेन्न, तत सयमस्योत्पत्तेरभावात्। क तद्व्याप्रियत इति चेत्प्रत्याख्यानावरणसर्वघातिस्पर्धकोदयक्षय-समुत्पन्नसयममलोत्पादने तस्य व्यापार । =प्रश्न—सज्वलन कषायके उदयसे संयम होता है, इसलिए उसे औदयिक नामसे क्यों नहीं कहा जाता है? उत्तर—नही, क्योंकि, संज्वलन कषायके उदयसे संयमकी उत्पत्ति नही होती है। प्रश्न—तो सज्वलनका व्यापार कहाँ पर होता है? उत्तर—प्रत्याख्यानावरण कषायके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षयसे उत्पन्न हुए सयममें मलके उत्पन्न करनेमे संज्वलनका व्यापार होता है।

५. सम्यक्त्वकी अपेक्षा तीनो भाव हैं

ध. १/१.१.१४/१७७/४ संयमनिबन्धनसम्यक्त्वापेक्षया क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकगुणनिबन्धन' । =सयमके कारणभूत सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा तो यह गुणस्थान क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावनिमित्तक है। (और भी दे. भाव/२/१०)।

६. फिर सम्यक्त्वकी अपेक्षा इन्हें औपशमिकादि क्यों नही कहते

ध. ५/१.७.७/२०३/१० दसणमोहणीयकम्मस्स उवसमखय-खओवसमे अस्सिदूण संजदासजदादीणमोवसमियादिभावा किण्ण परूविदा। ण, तदो संजमासंजमादिभावाणमुप्पत्तीए अभावादो। ण च एत्थ सम्मत्तविसया पुच्छा अत्थि, जेण दसणमोहणिबंधण ओवसमियादि-भावेहि संजदासंजदादीणं ववएसो होज्ज। ण च एवं तधाणुवलंभा। =प्रश्न—दर्शनमोहनीयकर्मके उपशम, क्षय और क्षयोपशमका आश्रय करके संयतासयतादिकोके औपशमिकादि भाव क्यो नहीं बताये गये? उत्तर—नही, क्योकि, दर्शनमोहनीयकर्मके उपशमादिसे संयमासंयम आदि भावोकी उत्पत्ति नही होती। दूसरे, यहाँपर सम्यक्त्वविषयक पृच्छ (प्रश्न) भी नही है, जिससे कि दर्शनमोहनीय निमित्तक औपशमिकादि भावोकी अपेक्षा सयतासयतादिकके औपशमिकादि भावोका व्यपदेश हो सके। ऐसा है नही, क्योकि उस प्रकारकी व्याख्या नही पायी जाती है।

दे. सान्निपातिक—[अथवा सान्निपातिक भावोकी अपेक्षा करनेपर यहाँ औपशमिक क्षायिक, क्षायोपशमिक व पारिणामिक इन चारो भावोके द्वि त्रि आदि संयोगी अनेक भग बन जाते है]।

७. सामायिक व छेदोपस्थापनामें तीनों भाव कैसे

ध. ७/१.१.४६/६३/६ कधमेक्कस्स चरित्तस्स तिण्णि भावा। ण एक्कस्स वि चित्तपयंगस्स बहुवण्णदंसणादो। =[संयत सामान्य, सामायिक व छेदोपस्थापना सयम इनमें औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक तीनो भाव संभव है—दे. भाव/२/१०]। प्रश्न—एक ही चारित्रमें औपशमिकादि तीनो भाव कैसे होते है? उत्तर—जिस प्रकार एक ही बहुवर्ण पक्षीके बहुतसे वर्ण देखे जाते है, उसी प्रकार एक ही चारित्र नाना भावोंसे युक्त हो सकता है।

३. प्रमादजनक दोष परिचय

१. आर्तध्यान व स्खलना होते है पर निरर्गल नहीं

नोट—[साधुको प्रमाद वश आर्तध्यान होना सम्भव है—(दे आर्तध्यान/३)। परन्तु उसे रौद्रध्यान कदापि नहीं होता (दे. रौद्रध्यान/८)। बकुश व प्रतिसेवना कुशील साधुको भी उपकरणोंमें आसक्ति होनेके कारण कदाचित आर्तध्यान सम्भव है (दे. साधु/५/५)। वह प्रमाद वश कदाचित चारित्रके परिणामोंसे स्खलित भी हो जाता है—(दे संयत/१/२)। उसका आचरण चित्रल होता है—(दे. संयत/१/२)। परन्तु यह आर्तध्यान सर्वसाधारण नहीं होता। —(दे. अगले संदर्भ)]।

र. सा./११०-१११ वसहीपडिमोवयरणे गणगच्छे समयसंगजाइकुले। सिस्सपडिसिस्सछत्ते सुयजाते कप्पडे पुच्छे।११०। पिच्छे संथरणे इच्छासु लोहेण कुणइ ममयाइ। यावच्च अट्टरुद्द ताव ण मुंचेदि ण हु सोक्ख।१११। =वसतिका, प्रतिमोपकरण, गण, गच्छ, समय, जाति, कुल, शिष्य, प्रतिशिष्य, विद्यार्थी, पुत्र, पौत्र, कपडे, पुस्तक, पीछी, सस्तर, आदिमें लोभसे जो साधु ममत्व करता है, तथा ममत्व करनेके कारण जब तक आर्त और रौद्रध्यान करता है, तब तक वह मोक्षसुखसे वंचित नही रहता।११०-१११।

ज्ञा./२६/४१-४२ इत्यार्तरौद्रे गृहिणामजस्रं ध्याने सुनिन्द्ये भवतः स्वतोऽपि। परिग्रहारम्भकषायदोषैः कलङ्कितेऽन्तःकरणे विशङ्कम्।४१। क्वचित्क्वचिदमी भावाः प्रवर्तन्ते मुनेरपि। प्राक्कर्मगौरवाच्चित्रं प्रायः संसारकारणम्।४२। =इस प्रकार ये आर्त और रौद्रध्यान गृहस्थियोके परिग्रह आरम्भ और कषायादिके दोषसे मलिन अन्तःकरणमें स्वयमेव निरन्तर होते है, इसमे कुछ भी सन्देह नहीं है।४१। और कभी-कभी ये भाव पूर्वकर्मकी विचित्रतासे मुनिके भी होता है। बाहुल्यसे ये ससारके कारण है।४२।

दे. गुरु/२/२ [कदाचित शिष्यको लात तक मार देते है।]

दे. अपवाद/३ [परोपकारार्थ कदाचित मन्त्र तन्त्र व शस्त्रादि भी प्रदान करते है।]

दे. अपवाद/४/३ [परन्तु योग्य ही उपधिका ग्रहण करता है अयोग्यका नहीं।]

दे. साधु/२/८ [बिना सोधे आहारादिका ग्रहण नहीं करता, मैत्रीभावसे रहित हो पैशुन्य आदि भाव नही करता। दूसरोको पीडा नहीं देता, आरम्भ व सावद्य कार्य नही करता। मन्त्र तन्त्र आदिका प्रयोग नही करता इत्यादि।

दे. तीसरा शीर्षक—[यद्यपि संज्वलनके तीव्र उदयसे अनेकों प्रकारके शुभ कार्योमें रत रहता है, शुद्धात्म भावनासे च्युत हो जाता है, परन्तु फिर भी वह सयतपनेको उल्लंघन नहीं करता।]

२. साधु योग्य शुभ कार्योंकी सीमा

प्र. सा./मू./गा. बालो वा बुड्ढो समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा। चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि।२३०। अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु। विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया।२४६। वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती। समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि।२४७। दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं। चरिया हि सरागाणं जिणिदपूजोवदेसो य।२४८। उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसघस्स। कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से।२४९। जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं। अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो।२५१। रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं। दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए।२५२। =बाल, वृद्ध, श्रान्त, या ग्लान श्रमण मूलका छेद जैसे न हो उस प्रकारसे अपने योग्य आचरण करो।२३०। [अर्थात् युवाकी अपेक्षा वृद्धमें और स्वस्थकी अपेक्षा रोगीमें यद्यपि अवश्य ही कुछ शिथिलता होती है, और इसलिए उनकी क्रियाओंमें भी तरतमता होती पर वह मूलगुणोंको उल्लघन नहीं कर पाती]। श्रामण्यमें यदि अरहंतादिकोंके प्रति भक्ति तथा प्रवचनरत जीवोंके प्रति वात्सल्य पाया जाता है, वह शुभयुक्त चर्या है।२४६। श्रमणोंके प्रति वन्दन, नमस्कार सहित अभ्युत्थान और अनुगमनरूप विनीत प्रवृत्ति करना तथा उनका

श्रम दूर करना रागचर्यामें निन्दित नहीं है।२४७। दर्शनज्ञानका उपदेश, शिष्योंका ग्रहण तथा उनका पोषण और जिनेन्द्रकी पूजाका उपदेश वास्तवमें सरागियोंकी चर्या है।२४८। जो कोई सदा छह कायकी विराधनासे रहित चार प्रकारके श्रमणसंघका उपकार करता है, वह भी रागकी प्रधानतावाला है।२४९। यद्यपि अल्प लेप होता है तथापि साकार अनाकार चर्या युक्त (अर्थात् शुद्धात्माके ज्ञान-दर्शनमें प्रवर्तमान वृत्तिवाले) जैनोंका अनुकम्पासे निरपेक्षतया (शुभोपयोगसे) उपकार करो।२५१। रोगसे, क्षुधासे, तृपासे अथवा श्रमसे आक्रान्त श्रमणको देखकर साधु अपनी शक्ति के अनुसार वैयावृत्ति आदि करो।२५२।

मू आ/६१५ पोसह उवओ पक्खे तह साहू जो करेदि णियदं तु। णावाए कल्लाण चादुम्मासेण णियमेण।६१५। =जो साधु चातुर्मासिक प्रतिक्रमणके नियमसे दोनों चतुर्दशी तिथियोंमें प्रोषधोपवास अवश्य करता है वह सुखकी प्राप्ति अवश्य करता है।६१५।

र.सा./९९ तच्चवियारणसीलो मोक्खपहाराहणसहावजुदो। अणवरयं धम्मकहापसगदो होइ मुणिराओ।९९। =जो मुनिराज सदा आत्मतत्त्वके विचार करनेमें लीन रहते है, मोक्षमार्गको आराधन करनेका जिनका स्वभाव हो जाता है, और जिनका समय निरन्तर धर्मकथामें ही लीन रहता है, वे ही यथार्थ मुनिराज कहाते हैं।

दे० सयम/१/६ [व्रत, समिति, गुप्ति, आदि पालन साधुका धर्म है और दानपूजा आदि गृहस्थोंका]।

दे. साधु/२/२ [पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियोंका रोध, केशलोंच, षड् आवश्यक, अचेलकत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधोवन, स्थिति भोजन, एकभुक्ति ये तो साधुके २८ मूलगुण है और १८००० शील व ८४०००,०० उत्तर गुण इन सबका यथा योग्य पालन करता है।]

दे. कृतिकर्म/४/१ [देव वन्दना आचार्य वन्दना, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि साधुके नित्यकर्म हैं।]

दे. वैयावृत्य/८ [वैयावृत्यके अर्थ लौकिक जनोके साथ बातचीत करना निन्द्य नहीं है।]

दे. अपवाद/३ [सल्लेखना गत क्षपकके लिए आहार वर्तन आदि माँगकर लाते है, उनको तेलमर्दन करते है, गर्मियोंमें शीतोपचार और सर्दियोंमें उष्णोपचार करते है, कदाचित उसको अनीमा लगाते हैं, क्षपकके मृत शरीरके अग आदिका छेदन करते हैं, इत्यादि अनेको अपवाद ग्रस्त क्रियाएँ भी कारण व परिस्थिति वश करता है।]

३. परन्तु फिर भी संयतपना घाता नहीं जाता

प्र. सा/मू/२२१-२२२ किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरभो वा असजमो तस्स। तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि।२२१। छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स। समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता।२२२। =प्रश्न—उपधिके सद्भावमें उस भिक्षुके मूर्च्छा आरम्भ या असंयम न हो यह कैसे हो सकता है, तथा जो परद्रव्यमें रत हो वह आत्माको कैसे साध सकता है।२२१। उत्तर—जिस उपधिके ग्रहण विसर्जनमें, सेवन करनेमें, जिससे सेवन करनेवालेके छेद नहीं होता, उस उपधियुक्त [अर्थात् कमण्डलु पीछी व शास्त्ररूप लौकिक जनोके द्वारा अप्रार्थनीय उपधियुक्त - दे. अपवाद/४/३] काल, क्षेत्रको जानकर इस लोकमें श्रमण भले वर्ते।२२२।

पं ध./उ/६५७, ६८०-६८६ यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम्। तावत्कालं स नाचार्योऽप्यस्ति चान्तर्व्रताच्च्युत.।६५७। सति सज्वलनस्योच्चैः स्पर्धका देशघातिन। तद्विपाकोऽस्त्यमन्दो वा मन्दो हेतु क्रमाद्द्वयोः।६८०। सक्लेशस्तत्क्षतिर्नून विशुद्धिस्तु तदक्षति.। सोऽपि तरतमस्वांशैः सोऽप्यनेकैरनेकधा।६८१। अस्तु यद्वा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह। तथाप्येतावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्पर।६८२। तत्रावश्यं विशुद्ध्यशस्तेषां मन्दोदयादिति। संक्लेशांशोऽथवा तीव्रोदयान्नायं विधिः स्मृत।६८३। किन्तु दैवाद्विशुद्ध्यंश सक्लेशांशोऽथवा क्वचित्। तद्विशुद्धेर्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोदयः पुन।६८४। तेषां तीव्रोदयस्तावदेतावानत्र बाधक। सर्वतश्चेत्प्रकोपाय नापराधोऽपरोऽस्त्यत।६८५। तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युति। कर्तुं न शक्यते यस्मादत्रास्त्यन्यः प्रयोजकः।६८६। =जो मोहसे अथवा प्रमादसे जितने काल तक वह लौकिकी क्रियाको करता है उतने काल तक अन्तरंग व्रतोंसे च्युत होनेके कारण वह आचार्य नहीं है।६५७। वास्तवमें सज्वलन कषायका तीव्र या मन्द उदय ही चारित्रकी क्षति व अक्षतिमें हेतु है।६८०। सक्लेशसे क्षति होती है और असक्लेशसे अक्षति। वह संक्लेश भी तरतमताकी अपेक्षा अनेक प्रकारका है और वह तरतमता भी अपने कारणोंकी अपेक्षा अनेक प्रकारकी है।६८१। उस संक्लेश या विशुद्धिके योगसे आचार्यके शिथिलता होवे या न होवे परन्तु इतने मात्रसे उनकी आत्मामें अतत्परता सिद्ध नहीं होती।६८२। तथा उस संज्वलनके मन्दोदयसे होनेवाला विशुद्धि अश और उसके तीव्रोदयसे होनेवाला सक्लेश अंश ये दोनो ही उस आचार्यपदके साधक या बाधक नहीं है, कर्मोदयवश कभी विशुद्धि अश और कभी संक्लेश अश उनके पाये ही जाते है।६८३-६८४। उसका तीव्र उदय वास्तवमें उस विशुद्धिका ही बाधक है, पर आचार्य पदका नहीं। यदि वह संक्लेश आचार्य पदका ही बाधक हो जाय तो फिर उससे बड़ा कोई अपराध ही नहीं है। अर्थात् फिर उसे मल दोष न कहकर अपराध कहना चाहिए।६८५। उस तीव्रोदयके द्वारा उनकी आत्मा शुद्धात्मानुभवसे च्युत नहीं की जा सकती, क्योंकि ऐसा करनेमें सज्वलनका तीव्र उदय नहीं बल्कि मिथ्यात्वका उदय कारण है।६८६।

दे. सयत/२/१ [व्रत समिति गुप्ति रूप चारित्र प्रमादसे नष्ट नहीं किया जा सकता, क्योकि उसका प्रतिबन्धक प्रत्याख्यानावरण है, न कि सयतोंमें पाया जानेवाला सज्वलनका स्वल्पकालिक मन्दतम उदय।

दे. सयत/२/४ [संज्वलनके उदयसे सयममें केवल मल उत्पन्न होता है, उसका विनाश नहीं।]

दे. धर्म/६/६ [व्यवहाररूप शुभधर्म प्राय गृहस्थोको होता है, साधुओके केवल गौणरूपसे पाया जाता है।]

संयतासंयत—सयम धारनेके अभ्यासकी दशामें स्थित कुछ संयम और कुछ असयम परिणाम युक्त श्रावक संयतासंयत कहलाता है। विशेष दे श्रावक।

१	सयतासयतका लक्षण।
*	सयतासयतका विशेष स्वरूप। —दे. श्रावक।
२	सयम व असयम युगपत् कैसे।
*	सयतासयतके ११ अथवा अनेक भेद। —दे श्रावक/१/२।
*	सयमासंयम आरोहण विधि। —दे. क्षयोपशम/३।
*	गुणस्थानोंमें परस्पर अवरोहण आरोहण क्रम। —दे. गुणस्थान/२/१।
*	इसके परिणाम अध.प्रवृत्तिकरणरूप होते हैं। —दे. करण/४।
३	इसके परिणामोंमें चतु स्थानपतितहानि वृद्धि।
*	इसमें आत्मानुभवके सद्भाव सम्बन्धी। —दे. अनुभव/५।

४	संयमासंयमका स्वामित्व ।
*	मिथ्यादृष्टिको सम्भव नहीं । —दे. चारित्र/३/८।
*	इसमें सम्भव जीवसमास मार्गणास्थान आदि २० प्ररूपणाएँ । —दे. सत् ।
*	मार्गणाओंमें इसके स्वामित्व सम्बन्धी शंका-समाधान । —दे. वह वह नाम ।
*	इस सम्बन्धी सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर भाव व अल्पबहुत्वरूप ८ प्ररूपणाएँ । —दे. वह वह नाम ।
*	सभी गुणस्थानोंमें आयके अनुसार व्यय । —दे. मार्गणा ।
*	भोगभूमिमें संयमासयमके निषेधका कारण । —दे. भूमि/६ ।
*	शूद्रको क्षुल्लक दीक्षा सम्बन्धी । —दे. वर्णव्यवस्था/४ ।
५	इसके पश्चात् भव धारणकी सीमा ।
*	सर्वलघु कालमें सयमासयम धारणकी योग्यता । —दे. सयम/२ ।
*	पुनः पुन· सयमासंयम प्राप्तिकी सीमा । — दे. संयम/२ ।
६	सयतासंयतोंमें सम्भव भाव ।
७	इसमें क्षायोपशमिक भाव कैसे ।
*	इसे औदयिकौपशमिक नहीं कह सकते । —दे. क्षायोपशमिक/२/३ ।
*	सम्यग्दर्शनके आश्रयसे औपशमिकादि क्यों नहीं । —दे. संयत/२/६ ।
*	इसमें कर्म प्रकृतियोंका बन्ध उदय सत्त्व । —दे. वह वह नाम ।
*	एकान्तानुवृद्धि आदि सयतासंयत । —दे. लब्धि/५/८ ।
*	स्वर्गमें ही जन्मनेका नियम । —दे. जन्म/५/४ ।
*	इसमें आत्मानुभव सम्बन्धी । —दे. अनुभव/५ ।

१ संयतासंयतका लक्षण

प. सं /प्रा /१/गा जो तसवहाउ विरदो णो विरओ अक्खथावरवहाओ। पडिसमयं सो जीवो विरयाविरओ जिणेक्कमई ।१३। जो ण विरदो दु भावो थावरवहइंदियत्थदोसाओ । तसवहविरओ सोच्चिय संजमासजमो दिट्ठो ।१३४। पच तिय चउविहेहिं अणुगुण-सिक्खावएहिं सजुत्ता। वुच्चंति देसविरया सम्माइट्ठी झडियकम्मा ।१३५। =१ जो जीव एक मात्र जिन भगवान्मे ही मतिको रखता है, तथा त्रस जीवोके घातसे विरत है, और इन्द्रिय विषयोसे एवं स्थावर जीवोके घातसे विरक्त नही है, वह जीव प्रति समय विरताविरत है। अर्थात् अपने गुणस्थानके कालके भीतर दोनों सज्ञाओंको युगपत धारण करता है ।१३। २ भावोसे स्थावरवध और पाँचो इन्द्रियोके विषय सम्बन्धी दोषोसे विरत नहीं होने किन्तु त्रस वधसे विरत होनेको सयमासयम कहते है, और उनका धारक जीव नियमसे सयमासंयमी कहा गया है ।१३४। ३. पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोसे सयुक्त होना विशिष्ट संयमासयम है। उसके धारक और असंख्यात गुणश्रेणीरूप निर्जराके द्वारा कर्मोंके झाडनेवाले ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव देशविरत या सयतासंयत कहलाते है ।१३५। (ध. १/१,१,१२३/गा. १९२/३७३); (गो जी./४७६/८८३)

रा. वा /२/५/८/१०८/७ विरताविरतं परिणामः क्षायोपशमिक. संयमासंयम. ।

रा. वा./६/१२/७/५२२/२७ संयमासंयम· अनात्यन्तिकी विरतिः। =क्षायोपशमिक विरताविरत परिणामको संयमासंयम कहते है। अथवा अनात्यन्तिकी विरक्तताको सयमासंयम कहते है ।

ध. १/१,१,१३/१७३/१० संयताश्च ते असंयताश्च संयतासंयता· ।=जो संयत होते हुए भी असंयत होते है, उन्हे सयतासंयत कहते है ।

पु. सि. उ./४१ या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ।=जो एकदेश विरतिमें लगा हुआ है वह श्रावक होता है ।

दे. व्रती—[घरके प्रति जिसकी रुचि समाप्त हो चुकी है वह संयत है और गृहस्थी संयतासयत है ।]

दे. विरताविरत [बारह व्रतोसे सम्पन्न गृहस्थ विरताविरत है ।]

२. संयम व असंयम युगपत् कैसे

ध १/१,१,१३/१७३/१० यदि संयतः, नासावसंयतः । अथासंयत·, नासौ सयत इति विरोधान्नायं गुणो घटत इति चेदस्तु गुणानां परस्परपरिहारलक्षणो विरोध· इष्टत्वात्, अन्यथा तेषा स्वरूपहानिप्रसंगात्। न गुणाना सहानवस्थानलक्षणो विरोध· संभवति, संभवेद्वा न वस्त्वस्ति तस्यानेकान्तनिबन्धनत्वात् । यदर्थक्रियाकारि तद्वस्तु। सा च नैकान्ते एकानेकाभ्यां प्राप्तनिरूपितावस्थाभ्यामर्थक्रियाविरोधात् । न चैतन्याचैतन्याभ्यामनेकान्तस्तयोर्गुणत्वाभावात्। सहभुवो हि गुणा·, चानयो· सहभूतिरस्ति असति बिबन्धर्यनुपलम्भात् । भवति च विरोध· समाननिबन्धनत्वे सति । न चात्र विरोध· सयमासयमयोरेकद्रव्यवर्तिनोस्त्रसस्थावरनिबन्धनत्वात् । =प्रश्न—जो संयत होता है, वह असंयत नहीं हो सकता है, और जो असयत होता है वह सयत नहीं हो सकता है, क्योकि, संयमभाव और असयमभावका परस्पर विरोध है, इसलिए यह गुणस्थान नहीं बनता है ? उत्तर—१. विरोध दो प्रकारका है—परस्परपरिहारलक्षण विरोध और सहानवस्थालक्षण विरोध । इनमेंसे एक द्रव्यके अनन्तगुणोमें होनेवाला परस्पर परिहारलक्षण विरोध यहाँ इष्ट ही है, क्योकि यदि एक दूसरेका परिहार करके गुणोका अस्तित्व न माना जावे तो उनके स्वरूपकी हानिका प्रसंग आता है । परन्तु इतने मात्रसे गुणोमें सहानवस्थालक्षण विरोध सम्भव नहीं है । यदि नाना गुणोका एक साथ रहना ही विरोधस्वरूप मान लिया जाये तो वस्तु का अस्तित्व ही नही बन सकता है, क्योकि, वस्तुका सद्भाव अनेकान्त निमित्तक ही होता है । जो अर्थक्रिया करनेमें समर्थ है है वह वस्तु है और वह एकान्त पक्षमें बन नहीं सकती, क्योकि यदि अर्थक्रियाको एकरूप माना जावे तो पुनः पुनः उसी अर्थक्रियाकी प्राप्ति होनेसे, और यदि अनेकरूप माना जावे तो अनवस्था दोष आनेसे एकान्तपक्षमें अर्थक्रियाके होनेमें विरोध आता है । २. ऊपरके कथनसे चैतन्य और अचैतन्यके साथ भी व्यभिचार नही आता है, क्योकि, चैतन्य और अचैतन्य ये दोनो गुण नहीं है । जो सहभावी होते है उन्हे गुण कहते है, परन्तु ये दोनो सहभावी नहीं है, क्योंकि बन्धरूप अवस्थाके नहीं रहनेपर चैतन्य और अचैतन्य ये दोनो एक साथ नहीं पाये जाते है । ३ दूसरे विरुद्ध दो धर्मोंकी उत्पत्तिका कारण यदि एक मान लिया जावे तो विरोध आता है, परन्तु संयमभाव और असंयमभाव इन दोनोको एक आत्मामें स्वीकार कर लेनेपर भी कोई विरोध नहीं आता है, क्योकि, उन दोनोंकी उत्पत्तिके कारण भिन्न-भिन्न हैं । संयमभावकी उत्पत्तिका कारण त्रसहिंसासे विरति भाव है और असंयम भावकी उत्पत्तिका कारण स्थावर हिंसासे अविरति भाव है । इसलिए संयतासंयत नामका पाँचवाँ गुणस्थान बन जाता है ।

३. इसके परिणामोंमें चतुःस्थान पतित हानि वृद्धि

ल. सा./मू./१७६/२२८ देसो समये समये सुज्झंतो संकिलिस्समाणो य। चउवड्ढिहाणिदव्वादव्वड्ढिद कुणदि गुणसेढिं। = अथाप्रवृत्त देश-संयत जीव समय-समय विशुद्ध और संक्लिष्ट होता रहता है। विशुद्ध होनेपर असंख्यातभाग, संख्यातभाग संख्यातगुण व असंख्यातगुण इन चार प्रकारकी वृद्धि सहित, और संक्लिष्ट होनेपर इन्हीं चार प्रकारकी हानि सहित द्रव्यका अपकर्षण करके गुणश्रेणीमें निक्षेपण करता है। इस प्रकार उसके कालमें यथासम्भव चतु स्थान-पतित वृद्धि हानि सहित गुणश्रेणी विधान पाया जाता है।

४. संयमासंयमका स्वामित्व

दे नरक/४/१ [नरक गतिमें असम्भव नहीं।]

दे. तिर्यंच/२/२-४ [केवल सञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचको सम्भव है, अन्य एकेन्द्रियसे असञ्ज्ञी पर्यंतको नहीं, कर्मभूमिजोको ही होता है भोग-भूमिजोको नहीं, कर्म भूमिजोको भी आर्यखण्डमें ही होता है, म्लेच्छ-खण्डमें नहीं। वहाँ भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि तिर्यंचको नहीं होता। सर्वत्र पर्याप्तकोंमें ही होता है अपर्याप्तकोंमें नहीं।]

दे. मनुष्य/3/२ [मनुष्योंमें केवल कर्मभूमिजोंका ही सम्भव है भोग-भूमिजोंका नहीं, वहाँ भी आर्य खण्डोंमें ही सम्भव है म्लेच्छखण्डोंमें नहीं। विद्याधरोंमें भी सम्भव है। सर्वत्र पर्याप्तकोंमें ही होता है अपर्याप्तकोंमें नहीं।]

दे. देव/II/३/२ [देव गतिमें सम्भव नहीं।]

दे. आयु/६/७ [जिसने पहिले देवायुके अतिरिक्त तीन आयुको बाँध लिया है ऐसा कोई जीव सयमासयमको प्राप्त नहीं हो सकता।]

दे. सम्यग्दर्शन/IV/५/५ [क्षायिक सम्यग्दृष्टि सयतासंयत मनुष्य ही होते है तिर्यंच नहीं।]

५ संयमासंयमके पश्चात् भवधारणकी सीमा

वसु श्रा./५३९ सिज्झइ तइयम्मि भवे पंचमए कोवि सत्तमट्ठमए। भुंजिवि सुरमणुयसुह पावेइ कमेण सिद्धपय ।५३९। = उपरोक्त रीतिसे श्रावकोंका आचार पालन करनेवाला (दे. श्रावक)] तीसरे भवमें सिद्ध होता है। कोई क्रमसे देव और मनुष्योके सुखको भोगकर पाँचवें सातवे या आठवे भवमे सिद्ध पदको प्राप्त करते है। [यह नियम या तो क्षायिक सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षा जानना चाहिए (दे सम्यग्दर्शन/I/५/४), और या प्रत्येक तीसरे भवमें संयमासंयमको प्राप्त होनेवालेकी अपेक्षा जानना चाहिए, अथवा उपचाररूप जानना चाहिए, क्योंकि एक जीव पल्यके असख्यातवें बार तक सयमासयम-की प्राप्ति कर सकता है ऐसा निर्देश प्राप्त है (दे संयम/२)]।

६. संयतासंयतमें सम्भव भाव

ध १/१,१,१३/१७४/७ औदयिकादिपञ्चसु गुणेषु क गुणमाश्रित्य संयमा-संयमगुण' समुत्पन्न इति चेत् क्षायोपशमिकोऽयं गुण। संयमा-सयमधाराधिकृतसम्यक्त्वानि कियन्तीति चेत्क्षायिकक्षायोपशमिकौ-पशमिकानि त्रीण्यपि भवन्ति पर्यायेण। = **प्रश्न** – औदयिकादि पाँच भावोंमेंसे किस भावके आश्रयसे संयमासंयम भाव पैदा होता है? उत्तर—संयमासयम भाव क्षायोपशमिक है। (और भी दे भाव/२/६)। प्रश्न—संयमासंयमरूप देशचारित्रकी धारासे सम्बन्ध रखने-वाले कितने सम्यग्दर्शन होते है? उत्तर—क्षायिक, क्षायोपशमिक व औपशमिक इन तीनोंमेंसे कोई एक सम्यग्दर्शन विकल्प रूपसे होता है। (और भी दे. भाव/२/१२)।

७. इसमें क्षायोपशमिक भाव कैसे

रा. वा./२/५/८/१०८/६ अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानकषायाष्टकोदयक्षयात् सदुपशमाच्च प्रत्याख्यानकषायोदये सज्वलनकषायस्य देशघातिस्प-र्धकोदये नोकषायनवकस्य यथासंभवोदये च विरताविरतपरिणामः क्षायोपशमिक'। = अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण रूप आठ कषायोका उदयक्षय और सदवस्थारूप उपशम, प्रत्याख्याना-वरण कषायका उदय, सज्वलनके देशघाति स्पर्धक और यथासंभव नोकषायोका उदय होनेपर विरत—अविरत परिणाम उत्पन्न करने-वाला भाव क्षायोपशमिक है।

ध. १/१,१,१३/१७४/८ अप्रत्याख्यानावरणीयस्य सर्वघातिस्पर्द्धकानामुद-यक्षयात् सत चोपशमात् प्रत्याख्यानावरणीयोदयादप्रत्याख्यानो-त्पत्ते। = अप्रत्याख्यानावरणीय कषायके वर्तमान कालिक सर्वघाती स्पर्द्धकोके उदयभावी क्षय होनेसे, और आगामी कालमें उदयमें आने योग्य उन्हीके सदवस्थारूप उपशम होनेसे तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषायके उदयसे सयमासंयमरूप अप्रत्याख्यान-चारित्र उत्पन्न होता है। (गो जी./मू /४६६/८७६)।

ध ७/२,१,४१/६४/६ चदुसंजलण-णवणोकसायाणं खओवसमसण्णिदेस-घादिफद्दयाणमुदएण सजमासंजमुप्पत्तीदो खओवसमलद्धीए सयमासयमो। तेरसण्हं पयडीण देसघादिफद्दयाणमुदओ संजम-लभणिमित्तो कधं संजमासंजमणिमित्तं पडिवज्जदे। ण, पच्चक्खाणा-वरणसव्वघादिफद्दयाणमुदएण पडिहय चदुसजलणादिदेसघादिफद्द-याणमुदयस्स सजमासजमं मोत्तूण सजमुप्पायणे असमत्थादो। = चार संज्वलन और नवनोकषायोंके क्षयोपशम संज्ञावाले देशघातीस्पर्धकोंके उदयसे सयमासयमकी उत्पत्ति होती है, इसलिए क्षयोपशम लब्धिसे सयमासंयम होता है। (ध. ५/१,७,७/२०२/३)। प्रश्न—चार सज्वलन और नव नोकषाय, इन तेरह प्रकृतियोंके देशघाती स्पर्धकोंका उदय तो संयमकी प्राप्तिमें निमित्त होता है (दे० संयत/२/३)। वह सयमासयमका निमित्त कैसे स्वीकार किया गया है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्रत्याख्यानावरणके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयसे जिन चार सज्वलनादिकके देशघाती स्पर्धकोंका उदय प्रतिहत हो गया है, उस उदयके सयमासंयमको छोड सयम उत्पन्न करनेका सामर्थ्य नहीं होता है।

दे० अनुभाग/४/६/६ [इससे प्रत्याख्यानावरणका सर्वघातीपना भी नष्ट नहीं होता है।]

संयम — सम्यक् प्रकार यमन करना अर्थात् व्रत-समिति-गुप्ति आदि रूपसे प्रवर्तना अथवा विशुद्धात्मध्यानमें प्रवर्तना सयम है। तहाँ समिति आदि रूप प्रवर्तना अपहृत या व्यवहार संयम और दूसरा लक्षण उपेक्षा या निश्चय सयम है। इन्ही दोनोंको वीतराग व सराग चारित्र भी कहते है। अन्य प्राणियोंकी रक्षा करना प्राणि-सयम है और इन्द्रियोके विषयोसे विरक्त होना इन्द्रिय संयम है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ऐसे इसके पाँच भेद है।

१. भेद व लक्षण

१. संयमका लक्षण

ध. ७/२,१,३/७/३ सम्यक् यमो वा संयम। =सम्यक् रूपसे यम अर्थात् नियन्त्रण सो सयम है।

दे० चारित्र/३/७ [सयमन करनेको संयम कहते है। अर्थात् भावसंयमसे रहित द्रव्यसयम संयम नहीं है।]

२. व्यवहार संयमका लक्षण

१. व्रत समिति गुप्ति आदिकी अपेक्षा

प्र. सा./मू./२४० पंचसमिदो तिगुत्तो पचेंदिय संवुडो जिदकसाओ। दसणणाणसमग्गो समणो सो सजदो भणिदो।२४०। =पंचसमितियुक्त, पाँच इन्द्रियोंके संवरवाला, तीन गुप्ति सहित, कषायोंको जीतने वाला, दर्शन ज्ञानसे परिपूर्ण जो श्रमण है वह सयत कहा गया है।

प्र. सा./प्रक्षेपक गा. मू./२४०-१ चागो य अणारंभो विसयविरागो खओ कसायाणं। सो संजमोत्ति भणिदो पव्वज्जाए विसेसेण। =बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग, मन वचन कायरूप व्यापारसे निवृत्ति सो अनारम्भ, इन्द्रिय विषयोंसे विरक्तता, कषायोंका क्षय यह सामान्यरूपसे संयमका लक्षण कहा गया है। विशेष रूपसे प्रव्रज्याकी अवस्थाएँ होती है।

चा. पा./मू./२८ पंचिंदियसवरणं पचवया पंचविसकिरियासु। पंचसमिदि तयगुत्ती सजमचरणं णिरायार।२८। =पाँच इन्द्रियोंका सवर (दे. सयम/२) पाँच व्रत और पचीस क्रिया, पाँच समिति, तीन गुप्ति इनका सद्भाव निरागार संयमाचरण चारित्र है।

बा. अ./७६ वदसमिदिपालणाए दंडच्चाएण इंदियजएण। परिणममाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा।७६। =व्रत व समितियोंका पालन, मन वचन कायकी प्रवृत्तिका त्याग, इन्द्रियजय यह सब जिसका होत है उसको नियमसे संयम धर्म होता है।

पं. स/प्रा १२७ वदसमिदिकसायाण दंडाणं इंदियाणं पंचण्हं। धारणपालणणिग्गह-चाय-जओ संजमो भणिओ।१२७। =पाँच महाव्रतोंका धारण करना, पाँच समितियोंका पालन करना, चार कषायोंका निग्रह करना, मन-वचन-काय रूप तीन दण्डोंका त्याग करना और पाँच इन्द्रियोंका जीतना (दे. सयम/२) सो संयम कहा गया है।१२७। (ध. १/१, १,४/ गा. ६२/१४५); (ध. ७/२,१, ३/७/२); (गो. जी./मू./४६५/८७६)।

दे० तप/२/१ [तेरह प्रकारके चारित्रमें प्रयत्न करना संयम है।]

३. निश्चय संयमका लक्षण

प्र सा /त प्र./१४ २४२ सकलषड्जीवनिकायनिशुम्भनविकल्पात्पञ्चेन्द्रियाभिलाषविकल्पाच्च व्यावर्त्यात्मनः शुद्धस्वरूपे सयमनात्‥ ।१४। ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथाप्रतीतिलक्षणेन सम्यग्दर्शनपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथानुभूतिलक्षणेन ज्ञानपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृक्रियान्तरनिवृत्तिलक्षणेन चारित्रपर्यायेण च त्रिभिरपि यौगपद्येन ‥परिणतस्यात्मनि यदात्मनिष्ठत्वे सति संयतत्वं ।२४२। =१. समस्त छह जीवनिकायके हननके विकल्पसे और पंचेन्द्रिय सम्बन्धी अभिलाषाके विकल्पसे आत्माको व्यावृत्त करके आत्मा शुद्धस्वरूपमें सयमन करनेसे (सयमयुक्त है)। २) ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्वकी तथा प्रकार प्रतीति, तथा प्रकार अनुभूति और क्रियान्तरसे निवृत्तिके द्वारा रचित उसी तत्त्वमें परिणति, ऐसे लक्षणवाले सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र इन तीनो पर्यायोकी युगपतताके द्वारा परिणत आत्मामें आत्मनिष्ठता होनेपर जो सयतपना होता है। ।

पं.ध/उ/१११७ शुद्धस्वात्मोपलब्धि स्यात् सयमो निष्क्रियस्य च। =निष्क्रिय आत्माके स्वशुद्धात्माकी उपलब्धि ही सयम कहलाता है।

४ संयम मार्गणाकी अपेक्षा भेद व लक्षण

ष.खं. १/१,१/सूत्र १२३/३६८ संजमाणुवादेण अत्थि संजदा सामाइयछेदोवट्ठावणसुद्धिसंजदा परिहारसुद्धिसंजदा सुहुमसापराइयसुद्धिसंजदा जहाक्खादविहारसुद्धिसंजदा सजदासंजदा असजदा चेदि। ।१२३। =संयम मार्गणाके अनुवादसे सामायिक शुद्धिसयत, छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयत, परिहारशुद्धिसयत, सूक्ष्मसाम्पराय शुद्धिसंयत और यथाख्यातविहारशुद्धिसयत ये पाँच प्रकारके संयत तथा सयतासंयत और असयत जीव होते है ।१२३। (द्र. सं /टी /१३/३८/२)।

दे. चारित्र/१/३ [सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ऐसे चारित्र पाँच प्रकारके है।]

नोट—[इनके लक्षणोके लिए—दे. वह वह नाम।]

५. निक्षेपोंकी अपेक्षा भेद व लक्षण

ध ७/१,१,४८/६१/६ णायसंजमो ठवणसजमो दव्वसजमो भावसजमो चेदि चउव्विहो संजमो ।‥ ‥तव्वदिरित्तदव्वसजमो सजमसाहणपिच्छाहारकवलीपोत्थयादीणि। भावसजमो दुविहो आगमणोआगमभेएण। आगमो गदो। णोआगमो तिविहो खइओ खओवसमिओ उवसमिओ चेदि। =नामसयम, स्थापनासंयम, द्रव्यसयम और भावसयम। इस प्रकार संयम चार प्रकारका है। (नाम स्थापना आदि भेद-प्रभेद निक्षेपवत् जानने)। तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यसयम संयमके साधनभूत पिच्छिका, आहार, कमण्डलु, पुस्तक आदिको कहते है। भावसंयम आगम और नोआगमके भेदसे दो प्रकारका है—आगमभावसंयम तो गया, अर्थात् निक्षेपवत जानना। नोआगम भावसयम तीन प्रकारका है—क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक। [तहाँ क्षायोपशमिक सयमके लिए।—दे सयत/२ और औपशमिक व क्षायिकके लिए—दे. श्रेणी]।

६ सकल व देश संयमकी अपेक्षा

चा. पा /मू /२१ दुविहं संजमचरण सायार तह हवे णिरायारं। सायारं सग्गथे परिग्गहा रहिय खलु णिरायार ।२१। =सयम चरण चारित्र दो प्रकारका है—सागार तथा निरागार। सागार तो परिग्रहसहित श्रावक के होता है, बहुरि निरागार परिग्रहसे रहित मुनिकै होता है ।२१।

र.क श्रा /५० सकल विकल चरणं तत्सकल सर्वसंगविरतानाम्। अनगाराणा विकल सागाराणा ससगानाम् ।५०। =वह चारित्र सकल और विकलके भेदसे दो प्रकारका है। समस्त प्रकारके परिग्रहसे रहित मुनियोंके सकल चारित्र और गृहस्थोंके विकल चारित्र होता है।

पु सि. उ./४० हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मत. परिग्रहत। कार्त्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ।४०। =हिसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचोके सर्वदेश व एकदेश त्यागसे चारित्र दो प्रकारका होता है। (दे व्रत/३/१)।

ल. सा /मू /१६८/२२१ दुविहा चरित्तलद्धी देसे सयले। =चारित्रकी लब्धि सकल व देशके भेदसे दो प्रकार है।

पं का /ता वृ./१६०/२३१/१३ चारित्र तपोधनानामाचारादिचरणग्रन्थविहितमार्गेण प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानयोग्य पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितित्रिगुप्तिषडावश्यकादिरूपम्. गृहस्थाना पुनरुपासकाध्ययनग्रन्थविहितमार्गेण पञ्चमगुणस्थानयोग्य दानशीलपूजोपवासादिरूपं दार्शनिक व्रतिकाद्येकादशनिलयरूप वा इति। =मुनियोका चारित्र आचाराग आदि चारित्र विषयक ग्रन्थोमे कथित मार्गसे, प्रमत्त व अप्रमत्त इन दो गुणस्थानोके योग्य (दे संयत) पच महाव्रत, पच समिति, त्रिगुप्ति, छह आवश्यक आदि रूप होता है (दे सयम/१/२) और गृहस्थोंका चारित्र उपासकाध्ययन आदि ग्रन्थोमें कथित मार्गसे, पचमगुणस्थानके योग्य (दे सयतासयत) दान शील, पूजा, उपवास आदि रूप होता है। अथवा दार्शनिक प्रतिमा, व्रतप्रतिमा आदि ११ स्थानोरूप होता है—(दे श्रावक)।

सिद्धान्त प्रवेशिका/२२४-२२५ श्रावकके व्रतोको देशचारित्र कहते है ।२२४। मुनियोंके व्रतोंको सकल चारित्र कहते है ।२२५।

७. अपहृत व उपेक्षा संयम निर्देश

१ लक्षण

रा. वा /६/६/१५/५९६/२६ सयमो हि द्विविध —उपेक्षासंयमोऽपहृतसंयमश्चेति। देशकालविधानज्ञस्य परानुपरोधेन उत्सृष्टकायस्य त्रिधा गुप्तस्य रागद्वेषानभिष्वङ्गलक्षण उपेक्षासयम। अपहतसयमस्त्रिविध उत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्चेति। तत्र प्रासुकवसत्याहारमात्रबाह्यसाधनस्य स्वाधीनेतरज्ञानचरणकरणस्य बाह्यजन्तूपनिपाते आत्मानं ततोऽपहृत्य जीवान् प्रतिपालयत उत्कृष्ट', मृदुना प्रमृज्य जन्तून् परिहरतो मध्यम, उपकरणान्तरेच्छया जघन्य.। =सयम दो प्रकारका होता है—एक उपेक्षा सयम और दूसरा अपहृत सयम। देश और कालके विधानको समझनेवाले स्वाभाविक रूपमे शरीरसे विरक्त और तीन गुप्तियोके धारक व्यक्तिके राग और द्वेषरूप चित्तवृत्तिका न होना उपेक्षासयम है। अपहृतसयम उत्कृष्ट मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन प्रकार है। प्रासुक, बसति और आहारमात्र है। बाह्यसाधन जिनके, तथा स्वाधीन है ज्ञान और चारित्ररूप करण जिनके ऐसे साधुका बाह्य जन्तुओके आनेपर उनसे अपनेको बचाकर सयम पालना उत्कृष्ट अपहृत संयम है। मृदु उपकरणसे जन्तुओको बुहार देनेवाले मध्यम और अन्य उपकरणोकी इच्छा रखनेवालेके जघन्य अपहृत सयम होता है। (चा सा./६५/७-७५/२) (और भी दे सयम/१/६)।

नि सा./ता वृ /६४ अपहृतसयमिना सयमज्ञानाद्युपकरणग्रहणविसर्गसमयसमुद्भवसमितिप्रकारोक्तिरियम्। उपेक्षासयमिना न पुस्तककमण्डलुप्रभृतय अतस्ते परमजिनमुनय एकान्ततो निस्पृहा', अतएव बाह्योपकरणनिर्मुक्ता। =यह अपहृतसंयमियोंको सयमज्ञानादिकके उपकरण लेते, रखते समय उत्पन्न होनेवाली समितिका प्रकार कहा है। उपेक्षा सयमियोंको पुस्तक, कमण्डलु आदि नही होते, वे परम जिनमुनि एकान्तमें निस्पृह होते है, इसलिए वे बाह्य उपकरण रहित होते है।

२. दोनोंकी वीतराग व सराग चारित्रके साथ एकार्थता

प्र. प्र /टी /२/६७/१८८/१७ अथवोपेक्षासंयमापहृतसयमौ वीतरागसरागापरनामानौ तावपि तेषामेव सभवत। =उपेक्षासयम और अपहृतसयम जिनको कि वीतराग व सराग सयम भी कहते है, ये दोनो भी उन शुद्धोपयोगियोंको ही होते है।

दे. चारित्र/१/१४.१५ [अपवाद, व्यवहारनय, एकदेश परित्याग, अपहृतसंयम, सरागचारित्र, शुभोपयोग ये सब शब्द, तथा उत्सर्ग, निश्चयनय सर्वपरित्याग, परमोपेक्षासयम, वीतरागचारित्र, शुद्धोपयोग ये सब शब्द एकार्थवाची है।

३. अपहृतसयमकी विशेषताएँ

दे. संयम/२/२ [अपहृत सयम दो प्रकारका है—इन्द्रिय सयम और प्राणि सयम।]

दे. शुद्धि/२ [इस अपहृत सयममें भाव, काय, विनय आदिके भेदसे आठ शुद्धियोका उपदेश है।]

८ प्राणि व इन्द्रिय संयमके लक्षण

दे. असयम [असयम दो प्रकारका है–प्राणि असयम और इन्द्रिय असयम। तहाँ षट्काय जीवोकी विराधना प्राणि असयम है और इन्द्रिय विषयोमें प्रवृत्ति इन्द्रिय असंयम हे। (इससे विपरीत प्राणि व इन्द्रिय सयम है—यथा)]

मू आ./४१८ पचरस पंचवण्ण दोगंधे अट्ठफास सत्तसरा। मणसा चोद्दसजीवा इदियपाणा य संजमो णेओ। =पॉच रस, पॉच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, षड्ज आदि सात स्वर ये सब मनके २८ विषय है। इनका निरोध सो इन्द्रिय संयम है और चौदह प्रकारकी जीवोकी (दे. जीव समास) रक्षा करना सो प्राणिसयम है।

प स./प्रा./१/१२८ सगवण्ण जीवहिंसा अट्ठावीसिंदियत्थ दोसा य। तेहिंतो जो विरओ भावो सो संजमो भणिओ।१२८। =पहले जीवसमास प्रकरणमे जो सत्तावन प्रकारके जीव बता आये है (दे. जीवसमास), उनकी हिंसासे तथा अठाईस प्रकारके इन्द्रिय विषयोके (दे. सन्दर्भ सं. १) दोषोसे विरति भावका होना सयम है।१२८।

स. सि./६/१२/३३१/११ प्राणीन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरति सयम।

स सि./६/६/४१२/१ समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारस्संयम। =१. प्राणियो व इन्द्रियोके विषयोंमे अशुभ प्रवृत्तिके त्यागको सयम कहते है। (रा. वा./६/१२/६/५२२/२१)। २ समितियोमे प्रवृत्ति करनेवाले मुनिके उनका परिपालन करनेके लिए जो प्राणियोका और इन्द्रियोका परिहार होता है, वह सयम है। (रा. वा./६/६/१४/५९६/२६); (चा. सा./७५/१), (त सा./६/१८); (पं. विं./१/९६)

रा. वा./६/६/१४/५९६/२७ एकेन्द्रियादिप्राणिपीडापरिहार. प्राणिसयम.। शब्दादिष्विन्द्रियार्थेषु रागानभिष्वङ्ग इन्द्रियसंयम'। =एकेन्द्रियादि प्राणियोकी पीडाका परिहार प्राणिसयम है और शब्दादि जो इन्द्रियोके विषय उनमें रागका अभाव सो इन्द्रिय सयम है। (चा. स./७५/१), (अन. ध./६/३७-३८/५९१)

का. अ./मू./३९९ जो जीवरक्खणपरो गमणागमणादिसव्वकज्जेसु। तणछेदं पि ण इच्छदि संजमधम्मो हवे तस्स। =जीव रक्षामें तत्पर जा मुनि गमनागमन आदि सब कार्योंमें तृणका भी छेद नही करना चाहता उस मुनिके (प्राणि) सयम धर्म होता है।३९९।

नि. सा/ता. वृ/१२३ संयम' सकलेन्द्रियव्यापारपरित्याग'। =समस्त इन्द्रियोके व्यापारका परित्याग सो संयम है।

पं. ध./उ/१११८-११२२ पञ्चानामिन्द्रियाणा च मनसश्च निरोधनात्। स्यादिन्द्रियनिरोधाख्य' सयमः प्रथमो मत.।१११८। स्थावराणा च पञ्चानां त्रसस्यापि च रक्षणात्। असुसरक्षणाख्य' स्याद्द्वितीय. प्राणसंयम।१११९। सत्यमक्षार्थसंबन्धाज्ज्ञानं नासयमाय यत्। तत्र रागादिबुद्धिर्या सयमस्तन्निरोधनम्।११२१। त्रसस्थावरजीवानां न वधायोद्यतं मन.। न वचो न वपु क्वापि प्राणिसंरक्षणं स्मृतम्।११२२। =पाँचो इन्द्रियों व मनके रोकनेसे इन्द्रिय संयम और त्रस स्थावरोकी रक्षा प्राणसंयम है।१११८-१११९। इन्द्रियो द्वारा जो अर्थविषयक ज्ञान होता है वह असयम नहीं है, बल्कि उन विषयोमें राग वृद्धिका न होना इन्द्रिय सयम है।११२१। और इसी प्रकार त्रस व स्थावर जीवोमेंसे किसीके भी वधके लिए मन, वचन व कायका उद्यत न होना सो प्राणिसयम है।११२२।

९. प्राणि व इन्द्रिय संयमके १७ भेद

मू. आ./४१६-४१७ पुढविदगतेउवाऊवणप्फदीसंजमो य बोधव्वो। विगतिचदुपंचेंदिय अजीवकायेसु संजमण।४१६। अप्पडिलेहं दुप्पडिलेहमुवेक्खावहरणदु संजमो चेव। मणवयणकायसजम सत्तरस विधो दु णादव्वो।४१७। =पृथिवी, अप्, तेज, वायु व वनस्पति ये पाँच स्थावरकाय और दो, तीन, चार व पॉच इन्द्रियवाले चार त्रस जीव इनकी रक्षामें ९ प्रकार तो प्राणि संयम है, सूखे तृण आदिका छेदन न करना ऐसा १ भेद अजीवकायकी रक्षारूप है।४१६। अप्रतिलेखन, दुष्प्रतिलेखन, उपेक्षासंयम, अपहृतसंयम, मन, वचन व काय संयम, इस प्रकार कुल मिलकर १७ सयम होते है।४१७। (यहाँ पीछीसे द्रव्यका शोधन सो प्रतिलेख संयम है और अप्रमाद रहित यत्नपूर्वक शोधन दुष्प्रतिलेख सयम है।)

२. नियम व शंका-समाधान आदि

१. संयम व विरतिमें अन्तर

ध. १४/५,६,१६/१२/१ सजम-विरईण को भेदो। ससमिदिमहव्वयाणुव्वयाइ सजमो। समईहि विणा महव्वयाणुव्वया विरई। =प्रश्न—संयम और विरतिमें क्या भेद है? उत्तर—समितियोके साथ महाव्रत और अणुव्रत सयम कहलाते है। और समितियोके बिना महाव्रत और अणुव्रत विरति कहलाते है। (चा. सा./४०/१)

दे संवर/२/५ [विरति प्रवृत्तिरूप होती है और सयम निवृत्ति रूप]

२. संयम गुप्ति व समितिमें अन्तर

रा वा/९/६/११-१५/५९६/१५ अथ क. संयम'। कश्चिदाह—भाषादिनिवृत्तिरिति। न भाषादिनिवृत्ति-संयम. गुप्त्यन्तर्भावात्।११। गुप्तिर्हि निवृत्तिप्रवणा, अतोऽत्रान्तर्भावात् सयमाभाव स्यात्। अपरमाह—कायादिप्रवृत्तिर्विशिष्टा सयम इति। नापि कायादिप्रवृत्तिर्विशिष्टा; समितिप्रसङ्गात्।१२। समितयो हि कायादिदोषनिवृत्तय', अतस्तत्रान्तर्भाव प्रसज्यते। त्रसस्थावरवधप्रतिषेध आत्यन्तिक. सयम इति चेत्, न; परिहारविशुद्धिचारित्रान्तर्भावात्।१३। ...कस्तर्हि सयम.। समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहार संयम।१४। अतोऽपहृतसंयमभेदसिद्धि।१५। =१. कोई भाषादिकी निवृत्तिको सयम कहता है, पर वह ठीक नही है, क्योकि उसका गुप्तिमे अन्तर्भाव हो जाता है। गुप्ति निवृत्तिप्रधान होती है इसलिए उपरोक्त लक्षणमें सयमका अभाव है। २ काय आदिकी प्रवृत्तिको भी संयम कहना ठीक नही है; क्योकि काय आदि दोषोकी निवृत्ति करना समिति है। इसलिए इस लक्षणका समितिमें अन्तर्भाव हो जानेसे वह संयम नहीं हो सकता। ३. त्रसस्थावर जीवोंके वधका आत्यन्तिक प्रतिषेध भी सयम नही है, क्योकि परिहार विशुद्धि चारित्रमें अन्तर्भाव हो जाता है। ४. प्रश्न—तब फिर सयम क्या है? उत्तर—समितियोमें प्रवर्तमान जीवके प्राणिवध व इन्द्रिय विषयोका परिहार संयम कहलाता है। इससे अपहृत संयमके भेदोंकी सिद्धि होती है। (अर्थात अपहृत संयम दो प्रकारका है—प्राणिसयम व इन्द्रिय सयम।) (चा सा/७५/१), (अन ध./६/३७/५९१)

३. चारित्र व संयममें अन्तर

रा. वा/९/१८/५/६१७/७ स्यादेतत् दशविधो धर्मो व्याख्यात, तत्र सयमेऽन्तर्भावोऽस्य प्राप्नोतीति, तन्न, किं कारणम्। अ ते वचनस्य कृत्स्नकर्मक्षयहेतुत्वात्। धर्मे अन्तर्भूतमपि चारित्रमन्ते गृह्यते मोक्ष-

प्राप्ते. साक्षात्कारणमिति ज्ञापनाय। =प्रश्न—दश प्रकारका धर्म कहा गया है। तहाँ संयम नामके धर्ममें चारित्रका अन्तर्भाव प्राप्त होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, सकलकर्मोंके क्षयका कारण होनेसे चारित्र मोक्षका साक्षात्कारण है। और इसीलिए सूत्रमें उसका अन्तमें ग्रहण किया गया है।

दे. चारित्र/१/६ [चारित्र जीवका स्वभाव है पर संयम नहीं।]

४. इन्द्रिय संयममें जिह्वा व उपस्थकी प्रधानता

मू. आ./९८८-९८९ जिब्भोवत्थणिमित्तं जीवो दुक्खं अणादिसंसारे। पत्तो अणंतसो तो जिब्भोवत्थे जह दाणि।९८८। चदुरंगुला च जिब्भा असुहा चदुरंगुलो उवत्थो वि। अट्ठंगुलदोसेण दु जीवो दुक्खं हु पप्पोदि।९८९। =इस अनादिसंसारमें इस जीवने जिह्वा व उपस्थ इन्द्रियके कारण अनन्त बार दुःख पाया। इसलिए अब इन दोनोंको जीत।९८८। चार अंगुल प्रमाण तो अशुभ यह जिह्वा इन्द्रिय और चार ही अंगुल प्रमाण अशुभ यह उपस्थ इन्द्रिय, इन आठ अंगुलोंके दोषसे ही यह जीव दुःख पाता है।९८९।

कुरल काव्य/१३/७ अन्येषां विजयो मास्तु संयतां रसना कुरु। असंयता यतो जिह्वा बह्वापायैरधिष्ठिता।७। =और किसी इन्द्रियको चाहे मत रोको, पर अपनी जिह्वाको अवश्य लगाम लगाओ, क्योंकि बेलगामकी जिह्वा बहुत दुःख देती है।७।

दे. रसपरित्याग/२ [जिह्वाके वश होनेपर सब इन्द्रियाँ वश हो जाती है।]

५. इन्द्रिय व मनोजयका उपाय

भ. आ./मू./१८३७-१८३८ इंदियदुद्दंतस्सा णिग्घिप्पंति दमणाणखलिणेहिं। उप्पहगामी णिग्घिप्पंति हु खलिणेहिं जह तुरया।१८३७। अणिहुदमणसा इंदियसप्पाणि णिगेण्हिदुं ण तीरंति। विज्जामंतोसधहीणेण व आसीविसा सप्पा।१८३८। =उन्मार्गगामी दुष्ट घोड़ोंका जैसे लगामके द्वारा निग्रह करते है वैसे ही तत्त्वज्ञानकी भावनासे इन्द्रियरूपी अश्वोंका निग्रह हो सकता है।१८३७। विद्या, औषध और मन्त्रसे रहित मनुष्य जैसे आशीविष सर्पोंको वश करनेको समर्थ नहीं होते वैसे ही इन्द्रिय-सर्प भी मनकी एकाग्रता नष्ट होनेसे ज्ञानके द्वारा नष्ट नहीं किये जा सकते।१८३८।

चा. पा./मू./२९ अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य। ण करेइ रायदोसे पंचेंदियसंवरो भणिओ। =पाँचों इन्द्रियोंके विषयभूत अमनोज्ञ पदार्थोंमें तथा स्त्री-पुत्रादि जीवरूप और धन आदि अजीवरूप ऐसे मनोज्ञ पदार्थोंमें राग-द्वेषका न करना ही पाँच इन्द्रियोंका संवर है। (मू. आ./१७-२१)।

कुरल काव्य/३५/३ निग्रहं कुरु पञ्चानामिन्द्रियाणां विकारिणाम्। प्रियेषु त्यज संमोहं त्यागस्यायं शुभक्रमः।३। =अपनी पाँचों इन्द्रियोंका दमन करो और जिन पदार्थोंसे तुम्हें सुख मिलता है उन्हें बिलकुल ही त्याग दो।३।

त. अनु/७९ सचिन्तयन्ननुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः। जयत्येव मनः साधुरिन्द्रियार्थ-पराङ्मुखः।७९। =जो साधु भले प्रकार अनुप्रेक्षाओंका सदा चिन्तवन करता है, स्वाध्यायमें उद्यमी और इन्द्रिय विषयोंसे प्रायः मुख मोड़े रहता है वह अवश्य ही मनको जीतता है।७९।

६. कषाय निग्रहका उपाय

भ. आ./मू./१८३६ उवसमदयादमाउहकरेण रक्खा कसायचोरेहिं। सक्का काउं आउहकरेण रक्खा व चोराणं।१८३६। =जैसे सशस्त्रपुरुष चोरोंसे अपना रक्षण करता है, उसी प्रकार उपशम दया और निग्रह रूप तीन शस्त्रोंको धारण करनेवाला कषायरूपी चोरोंसे अवश्य अपनी रक्षा करता है।

भ. आ./मू./२६०-२६८ कोधं खमाए माणं च मद्दवेणाज्जवं च मायं च। संतोसेण य लोहं जिणदु खु चत्तारि वि कसाए।२६०। तं वत्थुं मोत्तव्वं जं पडिउप्पज्जदे कसायग्गी। तं वत्थुमल्लिएज्जो जत्थोवसमो कसायाणं।२६२। तम्हा हु कसायग्गी पावं उप्पज्जमाणयं चेव। इच्छामिच्छादुक्कडवंदणसलिलेण विज्झाहि।२६७। =हे क्षपक! तू क्षमारूप परिणामोंसे क्रोधको, मार्दवसे मानको, आर्जवसे मायाको और सन्तोषसे लोभ कषायको जीतो।२६०। जिस वस्तुके निमित्तसे कषायरूपी अग्नि होती है वह त्याग देनी चाहिए और कषायका शमन करनेवाली वस्तुका आश्रय करना चाहिए।२६२। [धीरे-धीरे बढ़ते हुए कषाय अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व तकका कारण बन जाती है] इसलिए यह कषायाग्नि अब पापको उत्पन्न करेगी ऐसा समझकर उसके उत्पन्न होते ही, हे भगवन्! आपका उपदेश ग्रहण करता हूँ। मेरे पाप मिथ्या होवें मैं आपका वन्दन करता हूँ, ऐसे वचनरूप जलसे शान्त करना चाहिए।२६७।

प. प्र./मू./२/१८४ णिठ्ठुर-वयणु सुणेवि जिय जइ मणि सहण ण जाइ। तो लहु भावहि बंभु परु जिं मणु झत्ति विलाइ।१८४। =हे जीव! जो कोई अविवेकी किसीको कठोर वचन कहे, उसको सुनकर जो न सह सके तो कषाय दूर करनेके लिए परब्रह्मका मनमें शीघ्र ध्यान करो।

आ. अनु/२१३ हृदयसरसि यावन्निर्मलेऽप्यत्यगाधे, वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात्। श्रयति गुणगणोऽयं तन्न तावद्विशङ्कं, संयमशमविशेषैस्तान् विजेतुं यतस्व। =निर्मल और अथाह हृदयरूप सरोवरमें जबतक कषायोंरूप हिंस्र जलजन्तुओंका समूह निवास करता है, तब तक निश्चयसे यह उत्तम क्षमादि गुणोंका समुदाय निःशंक होकर उस हृदयरूप सरोवरका आश्रय नहीं लेता है। इसलिए हे भव्य! तू व्रतोंके साथ तीव्र-मध्यमादि उपशम भेदोंसे उन कषायोंके जीतनेका प्रयत्न कर।२१३।

स. सा./आ./२७६/क १७६ इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः। रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः।१७६। =ज्ञानी ऐसे अपने वस्तुस्वभावको जानता है, इसलिए वह रागादिको निजरूप नहीं करता, अतः वह रागादिकका कर्ता नहीं है।१७६। (दे. चेतना/३/२,३)।

यो सा/अ./५/७ विशुद्धदर्शनज्ञानचारित्रमयमुज्ज्वलम्। यो ध्यायत्यात्मनात्मानं कषायं क्षपयत्यसौ।७। =अपनी आत्मासे ही विशुद्ध दर्शनज्ञान चारित्रमयी उज्ज्वलस्वरूप अपनी आत्माका जो ध्यान करता है वह अवश्य ही समस्त कषायोंका नाश कर देता है।

दे. राग/५/३ [राग और द्वेषका मूल कारण परिग्रह है। अतः उसका त्याग करके रागद्वेषको जीत लेता है।]

७. संयमपालनार्थ भावना विशेष

रा. वा./९/६/२७/५९९/११ संयमो ह्यात्महितः तमुतिष्ठन्निहैव पूज्यते परत्र किमस्ति वाच्यम्। असंयतः प्राणिवधविषयरणेषु नित्यप्रवृत्तः कर्माशुभं संचिनुते। =संयमी पुरुषकी यहीं पूजा होती है, परलोककी तो बात ही क्या? असंयमी निरन्तर हिंसा आदि व्यापारोंमें लिप्त होनेसे अशुभ कर्मोंका संचय करता है।

प. विं./१/९७ मानुष्यं किल दुर्लभं भवभृतस्तत्रापि जात्यादयस्तेष्वेवाप्तवचः श्रुतिः स्थितिरतस्तस्याश्च दृग्बोधने। प्राप्ते ते अतिनिर्मले अपि परं स्यातां न येनोज्झिते, स्वर्मोक्षैकफलप्रदे स च कथं न श्लाघ्यते संयमः।९७। =इस संसारी प्राणीको मनुष्यत्व, उत्तम जाति आदि, जिनवाणी श्रवण, लम्बी आयु, सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान ये सब मिलने उत्तरोत्तर अधिक अधिक दुर्लभ है। ये सब भी संयमके बिना स्वर्ग एवं मोक्षरूप अद्वितीय फलको नहीं दे सकते, इसलिए संयम कैसे प्रशंसनीय नहीं है। (और भी दे. अनुप्रेक्षा/१/११)।

८. पंचम कालमें भी सम्भव है

र. सा /३८ सम्मविसोही तवगुणचारित्तसण्णाणदानपरिधाणं। भरहे दुस्समकाले मणुयाणं जायदे णियद ।३८। =इस दुस्सह दु खम (पचम) कालमें मनुष्योके सम्यग्दर्शन सहित तप व्रत अठाईस मूलगुण, चारित्र, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दान आदि सब होते है ।३८।

दे. धर्मध्यान/५ [यद्यपि पचम कालमें शुक्लध्यान सम्भव नहीं परन्तु अपनी अपनी भूमिकानुसार तरतमता लिये धर्मध्यान अवश्य सम्भव है]।

९. जन्म पश्चात् संयम प्राप्ति योग्य सर्व लघुकाल

१. तिर्यंचोमें

ध. ५/१,६,३७/३२/४ एत्थ वे उवदेसा। तं जहा–तिरिक्खेसु वेमास-मुहुत्तपुधत्तस्सुवरि सम्मत्त सजमासजम जीवो पडिवज्जदि। . एसा दक्खिणपडिवत्ती । ·तिरिक्खेसु तिण्णिपक्ख-तिण्णिदिवस-अतो-मुहुत्तस्सुवरि सम्मत्त सजमासजमं च पडिवज्जदि।· ·एसा उत्तर-पडिवत्ती। =इस विषयमें दो उपदेश है। वे इस प्रकार है—१. तिर्यंचोमें उत्पन्न हुआ जीव. दो मास और मुहूर्त पृथक्त्वसे ऊपर सम्यक्त्व और सयमासयमको प्राप्त करता है। यह दक्षिण प्रतिपत्ति है। २. वह तीन पक्ष. तीन दिवस और अन्तर्मुहूर्तके ऊपर सम्यक्त्व और सयमासंयमको प्राप्त होता है। यह उत्तर प्रतिपत्ति है।

दे. सम्यग्दर्शन/IV/२/५ [तिर्यंचोमें उत्पन्न हुआ जीव दिवस पृथक्त्वसे लगाकर उपरिमकालमे प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करता है नीचेके कालमें नही।]

२ मनुष्योंमें

ध. ५/१,६,३७/३२/४ एत्थ वे उवदेसा। त जहा मणुसेसु गब्भादि अट्ठवस्सेसु अतोमुहुत्तब्भहिएसु सम्मत सजमं सजमासजम च पडिवज्जदि त्ति। एसा दक्खिणपडिवत्ती। ·मणुसेसु अट्ठवस्साणुवरि सम्मत्त संजमं संजमासजम च पडिवज्जदि त्ति। एसा उत्तरपडि-वत्ती। =इस विषयमे दो उपदेश है—१ मनुष्योमें गर्भकालसे प्रारम्भकर अन्तर्मुहूर्तसे अधिक आठ वर्षोके व्यतीत हो जानेपर सम्यक्त्व सयम और सयमासयमको प्राप्त होता है। यह दक्षिण प्रतिपत्ति है। (ध. ५/१,६,६६/५२) २. वह आठ वर्षोके ऊपर सम्यक्त्व, सयम और सयमासयमको प्राप्त होता है। यह उत्तर प्रतिपत्ति है।

ध. ६/४,१,६६/३०७/५ मणुस्सेसु वासपुधत्तेण विणा मासपुधत्तब्भतरे सम्मत्त-सजम-सजमासजमाणं गहणाभावादो। =मनुष्योमें वर्ष पृथक्त्वके विना मास पृथक्त्वके भीतर सम्यक्त्व सयम और सयमासंयमके ग्रहणका अभाव है।

ध. १०/४,२,४,५६/२८८/१२ गब्भादो णिक्खंतपढमसमयप्पहुडि अट्ठवस्सेसु गदेसु सजमग्गहणपाओग्गो होदि, हेट्ठा ण होदि त्ति एसो भावत्थो। गब्भम्मि पदिदपढमसमयप्पहुडि अट्ठवस्सेसु गदेसु सजमग्गहणपाओग्गो होदि त्ति के वि भणति। तण्ण घडदे, जोणिणिक्खमणजम्मणेणेत्ति वयणण्णहाणुववत्तीदो। जदि गब्भम्मि पदिदपढमसमयादो अट्ठवस्साणि घेप्पति तो गब्भपदणजम्मणेण अट्ठवस्सीओ जादो त्ति सुत्तकारो भणेज्ज। ण च एव, तम्हा सत्तमासाहिय अट्ठहि वासेहि संजम पडिवज्जदि त्ति एसो चेव अत्थो घेत्तव्वो; सव्वलहुणिद्देसण्णहाणुववत्तीदो। =गर्भसे निकलनेके प्रथम समयसे लेकर आठ वर्ष बीत जानेपर सयम ग्रहणके योग्य होता है, इसके पहले सयम ग्रहणके योग्य नही होता, यह इसका भावार्थ है। गर्भमे आनेके प्रथम समयसे लेकर आठ वर्षोके बीतनेपर संयम ग्रहणके योग्य होता है ऐसा कितने ही आचार्य कहते है, किन्तु वह घटित नही होता, क्योकि, ऐसा माननेपर 'योनिनिष्क्रमण रूप जन्मसे' यह सूत्र-वचन (इसी पुस्तकके सूत्र न. ७२,५६) नहीं बन सकता। यदि गर्भमें आनेके प्रथम समयसे लेकर आठ वर्ष ग्रहण किये जाते है तो 'गर्भ-पतनरूप जन्मसे आठ वर्षका हुआ' ऐसा सूत्रकार कहते है। किन्तु उन्होने ऐसा नहीं कहा है। इसलिए सात मास अधिक आठ वर्षका होनेपर सयमको प्राप्त करता है, यही अर्थ ग्रहण करना चाहिए, क्योकि अन्यथा सूत्रमें 'सर्वलघु' पदका निर्देश घटित नही होता।

दे. सम्यग्दर्शन/IV/२/५ [जन्म लेनेके पश्चात् आठ वर्षोके ऊपर प्रथम-सम्यक्त्व प्राप्त करता है, उसके नीचे नहीं।]

३. सूक्ष्म आदि जीवोंमें

ध. १०/५,२,४५६/२७६/६ अपज्जत्तेहिंतो णिग्गयस्स सव्वलहुएण कालेण सजमासजमग्गहणाभावादो।......आउकाइयपज्जत्तेहिंतो मणुस्सेसुप्पण्णस्स सव्वलहुएण कालेण सजमादिगहणाभावादो। =अपर्याप्तकोंमेसे निकले हुए जीवके सर्व लघुकाल द्वारा सयमासयमके ग्रहणका अभाव है। अप्कायिक पर्याप्तकोमेंसे मनुष्योमें उत्पन्न हुए जीवके सर्वलघुकालके द्वारा सयम आदिका ग्रहण सम्भव नही है।

दे. जन्म/५/५ [सूक्ष्म निगोदियासे निकले हुए जीवके सर्व लघुकाल द्वारा सयमासंयम या सयमका ग्रहण। सूक्ष्म निगोदियासे निकलकर सीधे मनुष्य होनेवाले जीव युगपत् सम्यक्त्व व सयमासंयम ग्रहण नही कर सकते, बीचमे एक भव त्रसका धारण करके मनुष्योंमें उत्पन्न होनेवाले जीवके ही वह सम्भव है।]

१०. पुनः पुनः संयमादि प्राप्त करनेकी सीमा

ष. खं १०/४,२,४/सूत्र ७१/२६४ एवं णाणाभवग्गहणेहि अट्ठ सजमकंडयाणि अणुपालइत्ता चदुक्खुत्तो कसाए उवसामइत्ता पलिदोवमस्स असखेज्जदिभागमेत्ताणि संजमासंजमकंडयाणि सम्मत्तकंडयाणि च अणुपालइत्ता एव ससारिदूण अपच्छिमे भवग्गहणे पुणरवि पुव्वकोडाउएसु मणुसेसु उववण्णो ।७१। =इस सूत्रके द्वारा सयम, सयमासयम और सम्यक्त्वके काण्डकोकी तथा कषायोपशमनाकी सख्या कही गयी है। यथा—चार-चार संयमको प्राप्त करनेपर एक सयम काण्डक होता है। ऐसे आठ ही सयम काण्डक होते है (अर्थात् अधिकसे अधिक ३२ बार ही सयमका ग्रहण होता है। क्योंकि इससे आगे संसार नहीं रहता।) इन आठ संयमकाण्डकोके भीतर कषायोपशामनाके बार चार ही होते है। जीवस्थान चूलिकामें जो चारित्र मोहके उपशामन विधानकी और दर्शनमोहके उपशामन विधानकी प्ररूपणा की गयी है, उसकी यहाँ प्ररूपणा करनी चाहिए। परन्तु सयमासंयम काण्डक पल्योपमके असख्यातवें भाग प्रमाण होते है (अर्थात् अधिकसे अधिक पल्य/असंके चौगुने बार संयमासंयमका ग्रहण होना सभव है। संयमासयमकाण्डकोसे सम्यक्त्वकाण्डक विशेष अधिक है, जो पल्योपमके असख्यातवें भागमात्र है।

गो. क/मू./६१८-६१६/८२२ सम्मत्तं देसजम अणसजोजणविहिं च उक्कस्सं। पल्लासखेज्जदियं वारं पडिवज्जदे जीवो ।६१८। चत्तारि वारमुवसमसेढि समरुहदि खविदकम्मंसो। बत्तीस वाराइं सजममुवलहिय णिव्वदि ।६१६। =प्रथमोपशम सम्यक्त्व, वेदकसम्यक्त्व, देशसयम और अनन्तानुबन्धीके विसयोजनका विधान ये एक जीवमें उत्कृष्टत पल्योपमके असंख्यात बार ही होते है ।६१८। उपशमश्रेणी चार बार चढनेके पीछे अवश्य कर्मोका क्षय होता है। सयम ३२ बार होता है, पीछे अवश्य निर्वाण प्राप्त करता है। (पं. सं/प्रा./टी./५/४८८।

संयम—भूतकालीन १२ वे तीर्थंकर—दे. तीर्थंकर/५।

संयमी—दे. संयत।

संयोग—दे. सम्बन्ध।

संयोग द्रव्य—दे. द्रव्य/१।

संयोगवाद—

गो. क /मू /८९२/१०७२ सजोगमेवेति वदंति तण्णा णेवेक्कचक्केण रहो पयादि। अंधो य पगू य वण पविट्ठा ते सपजुत्ता णयइ पविट्ठा ।८९२। =यथार्थ ज्ञानी सयोग ही को सार्थक मानते है। उनका कहना है कि जैसे एक पहियेसे रथ नही चलता और वनमें प्रविष्ट अन्धा और पागला एक दूसरेके सम्प्रयोगसे दावाग्निसे अपनी रक्षा करके नगरमें प्रवेश कर जाते है, उसी प्रकार वस्तुओके सयोगसे ही सर्वार्थ-सिद्धि होती है ।८९२।

नोट–[उपरोक्त बात मिथ्या एकान्तरूप सयोगवादके सम्बन्धमें कही गयी है, पर बिलकुल यही बात इसी उदाहरण सहित सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्रकी मैत्री दर्शानेके लिए आगममे कही गयी- दे. मोक्ष-मार्ग/१/२/रा. वा] ।

संयोग सम्बन्ध—१. लक्षण सामान्य

स. सि /६/९/३२६/७ सयुजाते इति संयोगो मिश्रीकृतम् । =सयोगका अर्थ मिश्रित करना अर्थात मिलाना है। (रा वा./६/९/२/५१६/१)।

रा. वा /५/१९/२७/१२ अप्राप्तिपूर्विका हि प्राप्ति संयोग । = आपके (वैशेषिकोंके मतमे) अप्राप्ति पूर्वक प्राप्तिको संयोग कहा है। (स. म./२७/३०२/२९)।

ध. १५/२४/२ को सजोगो। पुधप्पसिद्धाण मेलणं सजोगो। =पृथक् सिद्ध पदार्थोंके मेलको सयोग कहते है।

मू आ /४८ की वसुनन्दि कृत टीका—अनात्मीयस्यात्मभाव सयोग । =अनात्मीय पदार्थोमें आत्मभाव होना सयोग है।

दे. द्रव्य/१/१० [पृथक् सत्ताधारी पदार्थोके सयोगसे सयोग द्रव्य बनते है, जैसे छत्री, मौली आदि]।

२. संयोगके भेद व उनके लक्षण

ध. १४/५ ६.२८/२७/३ तत्थ संजोगो दुविहो देसपच्चासत्तिकओ गुण-पच्चासत्तिकओ चेदि। तत्थ देसपच्चासत्तिकओ णाम दोण्णं दव्वाण-मवयवफास काऊण जमच्छणं सो देसपच्चासत्तिकओ सजोगो। गुणेहि जमण्णोण्णगुहरण सो गुणपच्चासत्तिकओ सजोगो। =सयोग दो प्रकारका है—देशप्रत्यासत्तिकृत संयोगसम्बन्ध और गुणप्रत्यासत्ति-कृत सयोगसम्बन्ध। देशप्रत्यासत्ति कृतकाअर्थ है दो द्रव्योके अव-यवोंका सम्बद्ध होकर रहना, यह देशप्रत्यासत्तिकृत संयोग है। गुणो द्वारा जो परस्पर एक दूसरेको ग्रहण करना वह गुणप्रत्यासत्ति-कृत संयोगसम्बन्ध है।

* **संयोग व बन्धमें अन्तर**—दे युति।

* **द्रव्य गुण पर्यायमें संयोग सम्बन्धका निरास** —दे द्रव्य/४।

संयोगाधिकरण— दे अधिकरण।

संयोजन— आहारका एक दोष—दे. आहार/II/४/४।

संयोजना सत्य— दे सत्य/१।

संरंभ— स. सि /६/८/३२५/३ प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादवत प्रयत्ना-वेश' सरम्भ । =प्रमादी जीवोंका प्राणोंकी हिंसा आदि कार्यमें प्रयत्नशील होना सरम्भ है। (रा. वा /६/८/२/५१३/३२), (चा. सा./८७/४)।

संवत्सर— १ वीरसवत, विक्रमसंवत, शकसंवत, ईसवी संवत, गुप्त संवतोंका निर्देश—दे. इतिहास/२। २. कालका एक प्रमाण विशेष। अपर नाम वर्ष—दे. गणित/I/१/४।

संवर— मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति ये सब कर्मोंके आनेके द्वार होनेसे आस्रव है। इनसे विपरीत सम्यक्त्व देश व महाव्रत, अप्रमाद, मोह व कषायहीन शुद्धात्म परिणति तथा मन, वचन, कायके व्यापारकी निवृत्ति ये सब नवीन कर्मोके निरोधके हेतु होनेसे संवर है। तहाँ समिति गुप्ति आदि रूप जीवके शुद्धभाव तो भाव संवर है और नवीन कर्मोका न आना द्रव्य सवर है।

१. संवर सामान्य निर्देश

१ संवर सामान्यका लक्षण

त सू /९/१ आस्रवनिरोध. सवर' ।१। =आस्रवका निरोध सवर है।

रा. वा./१/४/११,१८/पृष्ठ/पक्ति सव्रियतेऽनेन सवरणमात्रं वा सवरः (११/२६/५)। सवर इव सवर'। क उपमार्थ'। यथा सुगुप्तसुसवृत-द्वारकवाट पुर सुरक्षित दुरासादमारातिभिर्भवति, तथा सुगुप्ति-समितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रात्मन सुसंवृतेन्द्रियकषाययोगस्य अभिनवकर्मागमद्वारसवरणात् सवर । (१८/२७/४)।

रा. वा /९/१/१,२,६/५८७ कर्मागमनिमित्ता प्रादुर्भूतिरास्रवनिरोधः ।१। तन्निरोधे सति तत्पूर्वकर्मादानाभाव सवर. ।२। मिथ्यादर्शनादि-प्रत्ययकर्मसवरण सवरः ।६। =१ जिनसे कर्म रुके वह कर्मोंका रुकना सवर है।११। सवरकी भाँति सवर होता है। जैसे जिस नगरके द्वार अच्छी तरह बन्द हो, वह नगर शत्रुओंको 'अगम्य है, उसी तरह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रसे कर ली है सवृत इन्द्रिय कषाय व योग जिसने ऐसी आत्मावे नवीन कर्मोका द्वार रुक जाना सवर है।१८। २. अथवा मिथ्यादर्शनादि जो कर्मोके आगमनके निमित्त है (दे० आस्रव) उनका अप्रादुर्भाव आस्रवका निरोध है।१। उसके निरोध हो जानेपर, उस पूर्वक जो कर्मोका ग्रहण पहले होता था, उसका अभाव हो जाना सवर है।२। अर्थात् मिथ्यादर्शन आदिक निमित्तसे होने वाले कर्मोका रुक जाना संवर है।६।

भ. आ /वि./३८/१३४/१९ सव्रियते संरुध्यते मिथ्यादर्शनादि परिणामो येन परिणामान्तरेण सम्यग्दर्शनादिना, गुप्त्यादिना वा स सवर'। =जिस सम्यग्दर्शनादि परिणामोसे अथवा गुप्ति, समिति आदि परिणामोसे मिथ्यादर्शनादि परिणाम रोके जाते है वे रोकनेवाले परिणाम संवर शब्दसे कहे जाते है।

न च. वृ./१५६ रुंधिय छिद्दसहस्से जलजाणे जह जलं तु णासवदि। मिच्छत्ताइअभावे तह जीवे सवरो होई ।१५६। =जिस प्रकार नावके छिद्र रुक जानेपर उसमें जल प्रवेश नहीं करता, इसी प्रकार मिथ्या-त्वादिका अभाव हो जानेपर जीवमें कर्मोंका सवर होता है, अर्थात नवीन कर्मोका आस्रव नही होता है।

* **संवरानुप्रेक्षाका लक्षण**—दे० अनुप्रेक्षा

२ द्रव्य व भाव संवर सामान्य निर्देश

स. सि /९/१/४०६/५ स द्विविधो भावसंवरो द्रव्यसंवरश्चेति। तत्र ससारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवर' । तन्निरोधे तत्पूर्वकर्मपुद्ग-गलादानविच्छेदो द्रव्यसवर.। =वह दो प्रकारका है—भावसवर और द्रव्यसवर। संसारकी निमित्तभूत क्रियाकी निवृत्ति होना भावसंवर है, और इसका (उपरोक्त क्रियाका) निरोध होनेपर तत्पूर्वक होने वाले कर्मपुद्गलोके ग्रहणका विच्छेद होना द्रव्यसवर है। (रा॰ वा./९/१/७-९/५८८/१), (ज्ञा /२/८/१-३)।

द्र. सं./मू /३४-३५ चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू। सो भावसवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ।३४। वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य। चारित्त बहुभेया णायव्वा भावसंवर-

विसेसा।३५। =आत्माका जो परिणाम कर्मके आस्रवको रोकनेमें कारण है, उसको भाव संवर कहते हैं और जो द्रव्यास्रवको रोकनेमें कारण है द्रव्य संवर है।३४। पाँचव्रत, पाँचसमिति, तीनगुप्ति, दशधर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय तथा अनेक प्रकारका चारित्र इस तरह ये सब भाव संवरके विशेष जानने चाहिए।३५।

द्र. स./टी./३४/९६/१ निरास्रवसहजस्वभावत्वात्सर्वकर्मसंवरहेतुरित्युक्तलक्षणः परमात्मा तत्स्वभावेनोत्पन्नो योऽसौ शुद्धचेतनपरिणामः स भावसंवरो भवति। यस्तु भावसंवरात्कारणभूतादुत्पन्नः कार्यभूतो नवतरद्रव्यकर्मागमनाभाव: स द्रव्यसंवर इत्यर्थ:। =आस्रवविरहित सहजस्वभाव होनेसे सब कर्मोंके रोकनेमें कारण, जो शुद्ध परमात्मतत्त्व है उसके स्वभावसे उत्पन्न जो शुद्धचेतन परिणाम है सो भावसंवर है। और कारणभूत भावसंवरसे उत्पन्न हुआ जो कार्यरूप नवीन द्रव्यकर्मोंके आगमनका अभाव सो द्रव्यसंवर है। यह गाथार्थ है।

३. संवरके निश्चय हेतु

स. सा./मू./१८७-१८९ अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दोपुण्णपावजोएसु। दसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णम्हि।१८७। जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा। णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं।१८८। अप्पाणं झायंतो दसणणाणमओ अणण्णमओ। लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मविप्पमुक्को।१८९। [एष संवरप्रकारः— स. सा./आ./१८९] =आत्माको आत्माके द्वारा जो पुण्यपापरूपी शुभाशुभ योगोंसे रोककर दर्शनज्ञानमें स्थित होता हुआ और अन्य वस्तुकी इच्छासे विरत होता हुआ।१८७। जो आत्मा सर्वसंगसे रहित होता हुआ अपने आत्माको आत्माके द्वारा ध्याता है और कर्म तथा नोकर्मको नहीं ध्याता एवं चेतयिता (होनेसे) एकत्वको ही चिन्तवन करता है, अनुभव करता है।१८८। वह (आत्मा) आत्माको ध्याता हुआ दर्शनज्ञानमय और अनन्यमय होता हुआ अल्पकालमें ही कर्मोंसे रहित आत्माको प्राप्त करता है।१८९। यह संवरकी विधि है।

स. सा./आ./१८३/क. १२६ के पीछे—भेदविज्ञानाच्छुद्धात्मोपलम्भः प्रभवति। शुद्धात्मोपलम्भात रागद्वेषमोहाभावलक्षणः संवरः प्रभवति। =भेद विज्ञानसे शुद्धात्माकी उपलब्धि होती है और शुद्धात्माकी उपलब्धिसे राग-द्वेष मोहका अभाव जिसका लक्षण है ऐसा संवर होता है।

द्र. स./टी./२८/८५/१२ कर्मास्रवनिरोधसमर्थस्वसंवित्तिपरिणतजीवस्य शुभाशुभकर्मागमनसंवरणं संवरः। =कर्मोंके आस्रवको रोकनेमें समर्थ स्वानुभवमें परिणत जीवके जो शुभ तथा अशुभ कर्मोंके आनेका निरोध है वह संवर है। (पं. का./ता. वृ./१४४/२०९/१०)।

४. संवरके व्यवहार हेतु

त. सू./९/२ स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः।२। =वह संवर गुप्ति, समिति, दशधर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परिषहजय और सामायिकादि पाँच प्रकार चारित्र इनसे होता है। (रा. वा./१/७/१४/४०/१२); (का. अ./मू./९६); (दे. संवर/१/१)।

का. अ./मू./९५,१०१ सम्मत्तं देसवय महव्वय तह जओ कसायाणं। एदे संवरणामा जोगाभावो तहा चेव।९५। जो पुण विसयविरत्तो अप्पाणं सव्वदो वि संवरइ। मणहरविसएहिंतो तस्स फुड संवरो होदि।१०१। =१. सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत, कषायोंका जीतना और योगोंका अभाव ये सब संवरके नाम हैं।९५। [(दे. संवर/२/२)—मिथ्यात्व अविरति आदि जो पाँच बन्धके हेतु कहे गये हैं, उनसे विपरीत ये सम्यक्त्व आदि संवरके हेतु सिद्ध हैं।] (दे. संवर/१/१)। २. जो मुनि विषयोंसे विरक्त होकर, मनको हरनेवाले पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे अपनेको सदा दूर रखता है, उनमें प्रवृत्ति नहीं करता, उसी मुनिके निश्चयसे संवर होता है।१०१।

दे. संवर/१/२/द्र. सं. [उपरोक्त समिति गुप्ति आदि भाव संवरके विशेष है।]

द्र. सं./टी./३५/१४६/६ निरास्रवशुद्धात्मतत्त्वपरिणतिरूपस्य संवरस्य कारणभूता द्वादशानुप्रेक्षा.। =निरास्रव शुद्धात्मतत्त्वकी परिणतिरूप जो संवर है उसकी कारणरूप बारह अनुप्रेक्षा है। [अर्थात् शुद्धात्मानुभूति तो संवरमें कारण है, और अनुप्रेक्षा तथा अन्य समिति गुप्ति आदि संवरके उस कारणके भी कारण है।]

दे. तप/४/५ [तप संवर व निर्जरा दोनोंका कारण है।]

*** कर्मोंके संवरकी ओघ आदेश प्ररूपणा** —दे. प्रकृतिबन्ध/७।

*** निर्जरामें संवरकी प्रधानता**—दे. निर्जरा/२।

*** संवर व निर्जराके कारणोंकी समानता**—दे. निर्जरा/२/४।

२. निश्चय व्यवहार संवरका समन्वय

१. निश्चय संवरकी प्रधानतामें हेतु

स. सा./मू./१८६ [कथं शुद्धात्मोपलम्भादेव संवर इति चेत्—(उत्थानिका)]—सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेव अप्पयं लहइ जीवो। जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ।१८६। =प्रश्न—शुद्धात्माकी उपलब्धि ही संवर कैसे है? उत्तर—शुद्धात्माको जानता हुआ, अनुभव करता हुआ जीव शुद्धात्माको ही प्राप्त करता है, और अशुद्धात्माको जानता हुआ जीव अशुद्धात्माको ही प्राप्त करता है।१८६। (विशेष दे. संवर/१/३)

पं. का./मू./१४२-१४३ जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसे। णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स।१४२। जस्स जदा खलु पुण्णं जोगे पावं च णत्थि विरदस्स। संवरणं तस्स तदा सुहासुहकदस्स कम्मस्स।१४३। =जिसे सर्वद्रव्योंके प्रति राग, द्वेष या मोह नहीं है, उस समसुख-दुःख भिक्षुको शुभ और अशुभ कर्म आस्रवित नहीं होते।१४२। जिसे विरतरूप वर्तते हुए योगमें अर्थात् मन, वचन, काय इन तीनोंमें ही जब पुण्य व पापमेंसे कोई भी नहीं होता है, तब उसे शुभ व अशुभ दोनों भावोंकृत कर्मका अर्थात् पुण्य व पाप दोनोंका संवर होता है।१४३।

बा. अ./६३ सुहजोगेसु पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स। सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि। =मन, वचन, कायकी शुभ प्रवृत्तियोंसे अशुभयोगका संवर होता है और शुद्धोपयोगसे शुभयोगका भी संवर हो जाता है।६३। (और भी दे. संवर/२/४)

दे. धर्म/७/१ [जब तक साधु आत्मस्वरूपमें लीन रहता है तब तक ही सकल विकल्पोंसे विहीन उस साधुको संवर व निर्जरा जाननी चाहिए।]

२. व्यवहार संवर निर्देशमें हेतु

बा. अ./६२ पंचमहव्वयमणसा अविरमणणिरोहणं हवे णियमा। कोहादि आसवाणं दाराणि कसायरहियपल्लगेहिं (?)।६२। =पाँच महाव्रतोंसे नियमपूर्वक पाँच अविरति रूप परिणामोंका निरोध होता है और कषाय रहित परिणामोंसे क्रोधादि रूप आस्रवोंके द्वार रुक जाते हैं।६२।

ध. ७/२,१,७/गा. २/९ मिच्छत्ताविरदी वि य कसायजोगा य आसवा होंति।२। =मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये कर्मोंके आस्रव हैं। तथा (इनसे विपरीत) सम्यग्दर्शन, विषयविरक्ति, कषायनिग्रह, और मन, वचन, कायका निरोध ये संवर हैं।२।

स. सि /९/सूत्रस/पृष्ठ सं /पंक्ति सं कायादियोगनिरोधे सति तन्निमित्तं कर्म नास्रवतीति संवरप्रसिद्धिरवगन्तव्या। (४/४११/५)। तथा प्रवर्तमानस्यासंयमपरिणामनिमित्तकर्मास्रवात्संवरो भवति। (५/४११/११)। तान्येतानि धर्मव्यपदेशभाञ्जि स्वगुणप्रतिपक्षदोषसद्भावनाप्रणिहितानि संवरकारणानि भवन्ति। (६/४१३/५)। एवमनित्यत्वाद्यनुप्रेक्षासंनिधाने उत्तमक्षमादिधारणान्महान् संवरो भवति। (७ ४१९/७)। एवं परिषहान् असंकल्पोपस्थितान् सहमानस्यासंक्लिष्टचेतसो रागादिपरिणामास्रवनिरोधान्महान्संवरो भवति। (९/४२८/१)।

रा. वा /९/१८/१४/६१८/९ तदेतच्चारित्रं पूर्वास्रवनिरोधकारणत्वात्परमसंवरहेतुरवसेयः। =१ काय आदि योगोका निरोध होनेपर योग निमित्तक कर्मका आस्रव नहीं होता है, इसलिए गुप्तिसे संवरकी सिद्धि जान लेना चाहिए।४। (रा वा./९/२/४/५९३/२०), (त सा./६/५)। इस प्रकार समितियों रूप प्रवृत्ति करनेवालेके असंयमरूप परिणामोके निमित्तसे होनेवाले कर्मोके आस्रवका संवर होता है।५। (रा. वा /९/५/९/५९४/३२); (त सा /६/१२)। इस प्रकार जीवनमें उतारे गये स्वगुण तथा प्रतिपक्षभूत दोषोके सद्भावमें यह लाभ और यह हानि है, इस तरहकी भावनासे प्राप्त हुए ये धर्मसंज्ञावाले उत्तम क्षमादिक संवरके कारण है।६। (रा वा./९/६/२७/५९९/३२), (त. सा./६/२२)। इस प्रकार अनित्यादि अनुप्रेक्षाओंका सान्निध्य मिलनेपर उत्तमक्षमादिके धारण करनेसे महान् संवर होता है।७। (रा. वा /९/७/११/६०७/५); (त. सा./६/२६)। इस प्रकार जो सकल्पके बिना उपस्थित हुए परिषहोंको सहन करता है, और जिसका चित्त संक्लेश रहित है, उसके रागादि परिणामोंके आस्रवका निरोध होनेसे महान् संवर होता है।९। (रा. वा./९/९/२८/६१२/२१); (त, सा /६/४३)। २ यह सामायिकादि भेदरूप चारित्र पूर्व आस्रवोके निरोधका हेतु होनेसे परमसंवरका हेतु है। (त. सा /६/५०)

३. व्रत वास्तवमें शुभास्रव है संवर नही

स. सि /७/१ की उत्थानिका/३४२/२ आस्रवपदार्थो व्याख्यात। तत्प्रारम्भकाले एवोक्तं 'शुभ पुण्यस्य' इति तत्सामान्येनोक्तम्। तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं क पुन' शुभ इत्युक्ते इदमुच्यते—हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।१। =आस्रव पदार्थका व्याख्यान करते समय उसके आरम्भमें 'शुभ योग पुण्यका कारण है' यह कहा है (त सू /६/३)। पर वह सामान्य रूपसे ही कहा है अत विशेषरूपसे उसका ज्ञान करानेके लिए शुभ क्या है ऐसा पूछनेपर आगेका सूत्र कहते है कि हिंसा आदिसे निवृत्त होना व्रत है।

रा. वा./७/१ की उत्थानिका/५३१/४ कैस्ते क्रियाविशेषा प्रारभ्यमाणास्तस्यास्रवा भवन्तीति। अत्रोच्यते—व्रतिभि। =प्रश्न—वे क्रिया विशेष कौन सी है, जिनके द्वारा कि उसके प्रारम्भ करनेवालोको पुण्यका आस्रव होता है? उत्तर—व्रतरूप क्रियाओके द्वारा पुण्यका आस्रव होता है।

दे पुण्य/१/५ [जीव दया, शुभ योग व उपयोग, सरलता, भक्ति, चारित्रमें प्रीति, यम, प्रशम, व्रत, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्य, आगमाभ्यास, सुगुप्तकाय योग, व कायोत्सर्ग आदिसे पुण्य कर्मका आस्रव होता है।]

दे. तत्त्व/२/६ [पुण्य और पाप दोनों तत्त्व आस्रवमें अन्तर्भूत है।]

दे. वेदनीय/४ [सराग सयम आदि सातावेदनीयके आस्रवके कारण है।]

दे. आयु/३/११ [सराग सयम व सयमासयम आदि देवायुके आस्रवके कारण है।]

दे. चारित्र/१/४ [व्रत, समिति, गुप्ति आदि शुभ प्रवृत्ति रूप चारित्र है।]

दे. मनोयोग/५ [व्रत, समिति, शील, सयम आदिको शुभ मनोयोग जानना चाहिए।]

४ व्रतादिसे केवल पापका संवर होता है

भ का./मू /१४१ इंदियकसायसण्णा णिग्गहिदा जेहिं सुट्ठु मग्गम्मि। जावत्तावत्तेहिं पिहियं पावासवच्छिद्दं। =जो भलीभाँति मार्गमें रहकर इन्द्रिय, कषाय और सज्ञाओका जितना निग्रह करते है उतना पाप'आस्रवका छिद्र उनका बन्द होता है।

द्र स./टी /३५/१४९/५ एवं व्रतसमितिगुप्तिधर्मद्वादशानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्राणां भावसंवरकारणभूतानां यद्व्याख्यानं कृतं, तत्र निश्चयरत्नत्रयसाधकव्यवहाररत्नत्रयरूपस्य शुभोपयोगस्य प्रतिपादकानि यानि वाक्यानि तानि पापास्रवसंवरणानि ज्ञातव्यानि। यानि तु व्यवहाररत्नत्रयसाध्यस्य शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयस्य प्रतिपादकानि तानि पुण्यपापद्वयसंवरकारणानि भवन्तीति ज्ञातव्यम्। =इस प्रकार भावसंवर काकारणभूत व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र इन सबका जो पहले व्याख्यान किया है (दे. संवर/१/४) उस व्याख्यानमें निश्चय रत्नत्रयको साधनेवाला जो व्यवहार रत्नत्रयरूप शुभोपयोग है, उसका निरूपण करनेवाले जो वाक्य है वे पापास्रवके संवरमें कारण जानने चाहिए। और जो व्यवहार रत्नत्रयसे साध्य शुद्धोपयोग रूप निश्चय रत्नत्रयके प्रतिपादक वाक्य है वे पुण्य तथा पाप इन दोनो आस्रवोंके संवरके कारण होते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

दे. संवर/२/२ [शुभयोगरूप प्रवृत्तिसे अशुभयोगका संवर होना है और शुद्धोपयोगसे शुभयोगका भी]।

दे. निर्जरा/३/१ [सरागी जीवोंको निर्जरासे यद्यपि अशुभकर्मका विनाश होता है, पर साथ ही शुभकर्मोका बन्ध हो जाता है।]

*** सम्यग्दृष्टिको ही संवर होता है मिथ्यादृष्टिको नही**

—दे मिथ्यादृष्टि/४/२।

*** प्रवृत्तिके साथ भी निवृत्तिका अंश**—दे. चारित्र/७/७।

५. निवृत्त्यंशके कारण ही व्रतादि संवर हैं

स सि./७/१/३४३/७ ननु चास्य व्रतस्यास्रवहेतुत्वमनुपपन्नं संवरहेतुष्वन्तर्भावात्। संवरहेतवो वक्ष्यन्ते गुप्तिसमित्यादय। तत्र दशविधे धर्मे संयमे वा व्रतानामन्तर्भाव इति। नैष दोष', तत्र संवरो निवृत्तिलक्षणो वक्ष्यते। प्रवृत्तिश्चात्र दृश्यते, हिंसानृतादत्तादानादिपरित्यागे अहिंसासत्यवचनदत्तादानादिक्रियाप्रतीते गुप्त्यादिसंवरपरिकर्मत्वाच्च। व्रतेषु हि कृतपरिकर्मा साधु सुखेन संवरं करोतीति तत' पृथक्त्वेनोपदेश क्रियते। =प्रश्न—यह व्रत आस्रवका कारण है यह बात नही बनती क्योकि संवरके कारणोंमें इसका अन्तर्भाव होता है। आगे गुप्ति, समिति आदि संवरके कारण कहनेवाले है। वहाँ दस प्रकारके धर्मोंमें एक सयम नामका धर्म बताया है। उसमें व्रतोंका अन्तर्भाव होता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वहाँ निवृत्तिरूप संवरका कथन करेंगे, और यहाँ प्रवृत्ति देखी जाती है; क्योकि, हिंसा, असत्य और अदत्तादान आदिका त्याग करनेपर भी अहिंसा, असत्य, वचन और दत्तवस्तुका ग्रहण आदिरूप क्रिया देखी जाती है। दूसरे ये व्रत, गुप्ति आदि रूप संवरके अंग है। जिस साधुने व्रतोकी मर्यादा कर ली है, वह सुख पूर्वक संवर करता है, इसलिए व्रतोंका अलगसे उपदेश दिया है। (रा. वा /७/१/१०-१४/५३४/१४)।

त. सा./६/४३, ५१ एवं भावयत' साधोर्भवेद्धर्ममहोद्यम'। ततो हि निष्प्रमादस्य महान् भवति संवर।४३। तपस्तु वक्ष्यते तद्धि सम्यग्भावयतो यते'। स्नेहक्षयात्तथा योगरोधाद् भवति संवर।५१। =इस प्रकार १२ अनुप्रेक्षाओका चिन्तवन करनेसे साधुके धर्मका महान् उद्योत होता है, ऐसा करनेसे उसके प्रमाद दूर हो जाते है

और प्रमाद रहित होनेसे कर्मोंका महान् संवर होता है ।४३। तप आगे कहेंगे । उसकी यथार्थ भावना करनेवाले योगीका राग-द्वेष नष्ट हो जाता है, और योग भी रुक जाते हैं। इसलिए उसके संवर सिद्ध होता है ।५१।

दे. उपयोग/II/३/३ [जितना रागांश है उतना बन्ध है और जितना वीतरागांश है उतना संवर है ।]

दे. निर्जरा/२/४ [जब तक आत्मस्वरूपमें स्थिति रहती है तब तक संवर व निर्जरा होते हैं ।]

संवर्गित—वर्गित संवर्गितकरण विधि—दे. गणित/II/१/६ ।

संवाद—दे वाद ।

संवास अनुमति—दे अनुमति ।

संवाह—

ध. १३/५ ५,६३/३३६/२ यत्र शिरसा धान्यमारोप्यते स संवाह । =जहाँपर शिरसे लेकर धान्य रखा जाता है उसका नाम संवाह है ।

म. पु./१६/१७३ संवाहस्तु शिरोव्यूढधान्यसंजय इष्यते ।१७३। =जहाँ मस्तक पर्यन्त ऊँचे-ऊँचे धान्यके ढेर लगे हों वह संवाहन कहलाता है ।

त्रि. सा./६७४-६७६ संवाह ।६७४। .सिन्धुवेलावलयित' ।६७६।=समुद्रकी वेलासे वेष्टित स्थान संवाह कहलाता है ।

संवाहन—

ति. प./४/१४०० संवाहणं ति बहुविहरण्णमहासेलसिहरत्थं ।१४००। =बहुत प्रकारके अरण्योंसे युक्त महापर्वतके शिखरपर स्थित संवाहन जानना चाहिए ।

संवित्—स्या. म./१६/२२१/२८ सम्यग्वैपरीत्येन विद्यतेऽवगम्यते वस्तुस्वरूपमनयेति संवित् ।=जिससे यथार्थ रीतिसे वस्तुका ज्ञान हो उस ज्ञानको संवित् कहते हैं ।

संविति—दे. अनुभव/१ ।

संवृत—स. सि./२/३२/१८७/११ सम्यग्वृत' संवृत' । संवृत इति दुरुपलक्ष्यप्रदेश इत्युच्यते ।=भले प्रकारसे जो ढका हो उसे संवृत कहते हैं। यहाँ संवृत ऐसे स्थानको कहते हैं जो देखनेमें न आवे । (विशेष दे. योनि), (रा. वा./२/३२/३/१४१/२६)

संवृति सत्य—दे सत्य/१ ।

संवेग—१. संसारसे भयके अर्थमें

स. सि./६/२४/३३८/११ संसारदु'खान्नित्यभीरुता संवेग'=संसारके दु'खोंसे नित्य डरते रहना संवेग है (रा. वा./६/२४/५/५२६/२५); (चा. सा./५३/५), (भा. पा./टी./७७/२२१/७)

भ. आ./वि./३५/१२७/१३ संविग्गो संसाराद् द्रव्यभावरूपात् परिवर्तनात भयमुपगत' ।=संवेग अर्थात् द्रव्य व भावरूप पंचपरिवर्तन संसारसे जिसको भय उत्पन्न हुआ है ।

२. धर्मोत्साहके अर्थमें

ध. ८/३,४१/८६/३ सम्मद्दंसणणाणचरणेसु जीवस्स समागमो लद्धी णाम । हरिसो संतो संवेगो णाम । लद्धीए संवेगो लद्धिसंवेगो, तस्स संपण्णदा संपत्ती ।=सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें जो जीवका समागम होता है उसे लब्धि कहते हैं, और हर्ष व सात्त्विक भावका नाम संवेग है । लब्धिसे या लब्धिमें संवेगका नाम लब्धि संवेग और उसकी सम्पन्नताका अर्थ सम्प्राप्ति है ।

द्र. सं/टी./३५/११२/७ पर उद्धृत—धम्मे य धम्मफलम्हि दंसणे य हरिसो य हुंति संवेगो ।=धर्ममें, धर्मके फलमें और दर्शनमें जो हर्ष होता है, वह संवेग है ।

पं. ध./उ./४३१ संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चित्त' । सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ।४३१। =धर्ममें व धर्मके फलमें आत्माके परम उत्साहको संवेग कहते हैं, अथवा धार्मिक पुरुषोंमें अनुराग अथवा पंचपरमेष्ठीमें प्रीति रखनेको संवेग कहते हैं ।४३१।

★ **संवेगोत्पादक कुछ भावनाएँ**—दे वैराग्य/२ ।

★ **अकेले संवेगसे तीर्थंकरत्वके बन्धकी सम्भावना** —दे. भावना/२ ।

२. संवेगमें शेष १५ भावनाओंका समावेश

ध. ८/३,४१/८६/५ कध लद्धिसंवेगसंपयाए सेसकारणाणं संभवो । ण सेसकारणेहि विणा लद्धिसंवेगस्स संपया जुज्जदे, विरोहादो । लद्धिसंवेगो णाम तिरयणदोहलओ, ण सो दंसणविसुज्झदादीहिं विणा संपुण्णो होदि, हिरण्णसुवण्णादीहि विणा अड्ढो व्व । तदो अप्पणो अंतोखित्तसेसकारणा लद्धिसंवेगसंपया छट्ट' कारणं । =प्रश्न—लब्धिसंवेग सम्पन्नतामें शेष कारणोंकी सम्भावना कैसे है ? उत्तर—क्योंकि शेष कारणोंके बिना विरुद्ध होनेसे लब्धिसंवेगकी सम्पदाका संयोग ही नहीं हो सकता । इसका कारण यह है कि रत्नत्रय जनित हर्षका नाम लब्धिसंवेग है । और वह दर्शनविशुद्धतादिकोंके बिना सम्पूर्ण होता नहीं है, क्योंकि, इसमें हिरण्य सुवर्णादिकोंके बिना धनाढ्य होनेके समान विरोध है । अतएव शेष कारणोंको अपने अन्तर्गत करनेवाली लब्धिसंवेग सम्पदा तीर्थंकर कर्मबन्धका छठा कारण है ।

संवेजनीकथा—दे. कथा ।

संव्यवहरण—आहारका एक दोष—दे आहार/II/४/४ ।

संशय—यह सीप है या चाँदी इस प्रकारके दो कोटिमें झूलनेवाले ज्ञानको संशय कहते हैं । देव व धर्म आदिके स्वरूपमें यह ठीक है या नहीं ऐसी दोलायमान श्रद्धा संशय मिथ्यात्व है । सम्यग्दर्शनमें क्षयोपशमकी हीनताके कारण संशय व संशयातिचार हो सकते हैं पर तत्त्वोंपर दृढ प्रतीति निरन्तर बने रहनेके कारण उसे संशय मिथ्यात्व नहीं होता ।

१. संशय सामान्यका लक्षण

रा. वा./१/६/६/३६/११ सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशय ।

रा. वा./१/१५/१३/६१/२७ किं शुक्लमुत कृष्णम् इत्यादि विशेषाप्रतिपत्ते' संशयः । =१ सामान्य धर्मका प्रत्यक्ष होनेपर और विशेष धर्मका प्रत्यक्ष न होनेपर किन्तु उभय विशेषोंका स्पर्श होनेपर संशय होता है । (और भी दे. अवग्रह/२/१) । २. 'यह शुक्ल है कि कृष्ण' इत्यादिमें विशेषताका निश्चय न होना संशय है ।

न्या. दी./१/§६/६/५ विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशय', यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति । स्थाणुपुरुषसाधारणोर्ध्वतादिधर्मदर्शनात्तद्विशेषस्य वक्रकोटरशिर पाण्यादे साधकप्रमाणाभावादनेककोट्यवलम्बित्वं ज्ञानस्य । =विरुद्ध अनेक पक्षोंका अवगाहन करने वाले ज्ञानको संशय कहते हैं । जैसे—'यह स्थाणु है या पुरुष है,' स्थाणु और पुरुषमें सामान्य रूपसे रहने वाले ऊँचाई आदि साधारण धर्मोंके देखने और स्थाणुगत टेढापन, कोटरत्व आदि तथा पुरुषगत शिर, पैर आदि विशेष धर्मोंके साधक प्रमाणोंका अभाव होनेसे नाना कोटियोंको अवगाहन करने वाला यह संशय ज्ञान उत्पन्न होता है । (स. भ. त./८०/४), (न्या. सू./टी./१/१/२३/२८/२५) ।

स. भ. तं./८०/८ एकवस्तुविशेष्यकविरुद्धनानाधर्मप्रकारकज्ञानं हि संशय । =एक ही वस्तु विषयक, विरुद्ध नानाधर्म विशेषणक युक्त ज्ञानको संशय कहते हैं ।

श्लो. वा /४/१/३३/न्या. ४५६/भाषाकार/५५१/१४ भेदाभेदात्मकत्वे सदसदात्मकत्वे वा वस्तुनोऽसाधारणाकारेण निश्चेतुमशक्यत्वं संशय.। =सम्पूर्ण पदार्थोंको अस्ति-नास्तिरूप या भेद अभेदात्मक स्वीकार करनेपर, वस्तुका असाधारण स्वरूप करके निश्चय नहीं किया जा सकता है, अत संशय दोष आता है।

२. संशयके भेद व उनके लक्षण

न्या.सू व भाष्यका भावार्थ/१/१/२३/२८-३० समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्श सशय। =१ समान धर्मके ज्ञानसे विशेषकी अपेक्षासहित अवमर्शको संशय कहते हैं जैसे—दूर स्थानसे सूखा वृक्ष देखकर यह क्या वस्तु है? स्थाणु है या पुरुष? ऐसे अनिश्चित रूप ज्ञानको सशय कहते है। २ अनेक धर्मोंका ज्ञान होनेपर यह धर्म किसका है ऐसा निश्चय न होना सशय है। जैसे—यह सत् नामका धर्म द्रव्यका है, गुणका है अथवा द्रव्य गुण दोनोका है। ३. विप्रतिपत्ति अर्थात् परस्पर विरोधी पदार्थोंको साथ देखनेसे भी सन्देह होता है। जैसे—एक शास्त्र कहता है कि आत्मा है, दूसरा कहता है कि नहीं, दोमें से एकका निश्चय कराने वाला कोई हेतु मिलता नहीं, उसमें तत्त्वका निश्चय न होना सशय है। ४. उपलब्धिकी अव्यवस्थासे भी सन्देह होता है, जैसे सत्य, जल, तालाब आदिमें और असत्य किरणोंमें। फिर कहीं प्राप्ति होनेसे यथार्थके निश्चय कराने वाले प्रमाणके अभावसे क्या सत्का ज्ञान होता है या असत्का? यह सन्देह वा संशय होना। ६ इसी प्रकार अनुपलब्धिकी अव्यवस्थासे भी सशय होता है। पहले लक्षणमें तुल्य अनेक धर्म जानने योग्य वस्तुमें है और उपलब्धि यह ज्ञातामें है। इतनी विशेषता है।

३. संशय मिथ्यात्वका लक्षण

स. सि /८/१/३७५/७ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि किं मोक्षमार्ग' स्याद्वा न वेत्यन्यतरपक्षापरिग्रह संशय। =सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है या नहीं, इस प्रकार किसी एक पक्षको स्वीकार नही करना सशय मिथ्यादर्शन है। (रा. वा /८/१/२८/५६४/२१), (त. सा./५/५)।

भ. आ /वि /५६/१८०/२० संसयिदं सशयित किंचित्तत्त्वमिति। तत्त्वानवधारणात्मक संशयज्ञानसहचारि अश्रद्धानं सशयितम्। न हि संदिहानस्य तत्त्वविषयं श्रद्धानमस्ति इदमित्थमेवेति। निश्चयप्रत्ययसहभावित्वाद् श्रद्धानस्य। =जिसमें तत्त्वोंका निश्चय नहीं है ऐसे सशयज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाले श्रद्धानको सशय मिथ्यात्व कहते है। जिसको पदार्थोंके स्वरूपका निश्चय नहीं है उसको जीवादिकोंका स्वरूप ऐसा ही है अन्य नहीं है ऐसी तत्त्व विषयक सच्ची श्रद्धा नहीं रहती है। जब सच्ची श्रद्धा होती है तब निश्चय ज्ञान होता है।

ध. ८/३.६/२०/८ सव्वत्थ सदेहो चेव णिच्छओ णत्थि त्ति अहिणिवेसो ससयमिच्छत्त। —सर्वत्र सन्देह ही है, निश्चय नहीं है, ऐसे अभिनिवेशको सशय मिथ्यात्व कहते है।

नि. सा /ता. वृ /९१ सशय' तावत् जिनो वा शिवो वा देव इति। =जिनदेव होंगे या शिवदेव होंगे, यह सशय है।

गो. जी./जी प्र /१६/४१/४ इन्द्रो नाम श्वेताम्बरगुरु तदादय सशयमिथ्यादृष्टय'। =इन्द्र नामक श्वेताम्बरोंके गुरुको आदि देकर संशय मिथ्यादृष्टि हैं।

द्र. सं /टी /४२/१८०/६ शुद्धात्मतत्त्वादिप्रतिपादकमागमज्ञानं किं वीतरागसर्वज्ञप्रणीत भविष्यति परसमयप्रणीत वेति, सशय। =शुद्ध आत्मतत्त्वादिका प्रतिपादक तत्त्वज्ञान, क्या वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ सत्य है या अन्य मतियों द्वारा कहा हुआ सत्य है, यह सशय है।

४. संशय, विपर्यय व अनध्यवसायमें अन्तर

न्या. दी /१/६/११ इद हि नानाकोट्यवलम्बनाभावान्न संशय' विपरीतैककोटिनिश्चयाभावान्न विपर्यय इति पृथगेव। =यह (अनध्यवसाय) ज्ञान नाना पक्षोका अवगाहन न करनेसे न सशय है और विपरीत एक पक्षका निश्चय न करनेसे न विपर्यय है।

५. शंका अतिचार व संशय मिथ्यात्वमे अन्तर

भ. आ./वि /४४/१४३/६ ननु सति सम्यक्त्वे तदतिचारो युज्यते। सशयश्च मिथ्यात्वमावहति। तथाहि मिथ्यात्वभेदेषु सशयोऽपि गणित'। सत्यपि सशये सम्यग्दर्शनमस्त्येवेति अतिचारता युक्ता। कथ। श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषाभावात्.. यदि नामनिर्णयो नोपजायते। तथापि तु इद यथा सर्वविदा उपलब्धं तथैवेति श्रद्धेहमिति भावयत कथ सम्यक्त्वहानि। एव भूतश्रद्धानरहितस्य को वेत्ति किमत्र तत्त्वमिति' 'त मिच्छत्त जमसद्दहण तच्चाण होदि अत्थाण' मिति। किं च छद्मस्थाना रज्जूरगस्थाणुपुरुषादिषु किमियं रज्जूरग, स्थाणु पुरुषो वा किमित्यनेक संशयप्रत्ययो जायते इति ते सम्यग्दृष्टय स्यु। =प्रश्न—यदि सम्यग्दर्शन हो तो उसका शका अतिचार मानना योग्य है परन्तु सशय मिथ्यापनेको धारण करता है। मिथ्यात्वके भेदोंमें आचार्यने इसकी गणना भी की है? उत्तर—आपका कहना ठीक है, संशयके सद्भावमें भी सम्यक्त्व रहता ही है। अत सशयको अतिचारपना मानना युक्तियुक्त है इसका स्पष्टीकरण ऐसा करते है।· विशिष्ट क्षयोपशम न होना इत्यादि कारणोसे वस्तुस्वरूपका निर्णय नहीं होता, तो भी जैसा सर्वज्ञ जिनेश्वरने वस्तु स्वरूप जाना है वह वैसी ही है ऐसी मै श्रद्धा रखता हूँ, ऐसी भावना करने वाले भव्यके सम्यक्त्वकी हानि कैसे होगी, उसका सम्यग्दर्शन समल होगा परन्तु नष्ट न होगा।· उपर्युक्त श्रद्धासे जो रहित है वह हमेशा संशयाकुलित ही रहता है, वास्तविक तत्त्वस्वरूप क्या है? उसको कौन जानता है कुछ निर्णय कर नहीं सकते ऐसी उसकी मति रहती है· सशय मिथ्यात्वसे सच्चे तत्त्वके प्रति अरुचि भाव रहता है।· छद्मस्थोको भी डोरी, सर्प, खूँट, मनुष्य इत्यादि पदार्थों में यह रज्जू है? या सर्प है? यह खूँट है या मनुष्य है इत्यादि अनेक प्रकारका सशय उत्पन्न होता है तो भी वे सम्यग्दृष्टि है।

अन ध./२/७१ विश्व विश्वविदाज्ञयाभ्युपगत. शङ्कात्मोहादयाज्ज्ञानावृत्त्युदयान्मति' प्रवचने दोलायिता सशय'। दृष्टि निश्चयमाश्रिता मलिनयेत्सा नाहिरज्ज्वादिगा-या मोहोदयसशयात्तद्रुच स्यात्सा तु सशीतिदृक् ।७१। =मोहोदयके उदयका अस्त होनेसे यथावत् विश्वास करनेवाले जीवको ज्ञानावरण कर्मके उदयसे तत्त्वोके विषयमें दोलायमान बुद्धिको सशय कहते है। इस सशयको ही शका नामक अतिचार कहते हैं वही निश्चय सम्यग्दर्शनको मलिन करती है। सर्प रज्जु आदिके विषयमें उत्पन्न शका उसको मलिन नहीं करती। अर्थात् जिस शकासे सम्यग्दर्शन मलिन हो उसे शका अतिचार कहते है। जो शका मोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हो और जिससे सर्वज्ञोक्त तत्त्वोमे अश्रद्धा हो उसको संशय मिथ्यात्व कहते है।

*** संशय मिथ्यात्व व मिश्र गुणस्थानमें अन्तर** —दे मिश्र/२।

*** सम्यग्दृष्टिको भी कदाचित् पदार्थके स्वरूपमें संशय** —दे. निःशंकित।

*** सम्यग्दृष्टिको संशयके समय कथंचित् अन्धश्रद्धान या अश्रद्धान**—दे. श्रद्धान/३।

संशयवचनी भाषा—दे. भाषा।

संशयसमा जाति—

न्या. सू./मू. व भाष्य/५/१/१४/२६३/१३ सामान्यदृष्टान्तयोरिन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात्संशयसम ।१४। अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद्घटवदित्युक्ते हेतौ संशयेन प्रत्यवतिष्ठते। सति प्रयत्नानन्तरीयकत्वे अस्त्येवास्य नित्येन सामान्येन साधर्म्यमैन्द्रियकत्वमस्ति च घटेनानित्येनातो नित्यानित्यसाधर्म्यादनिवृत्तः संशय- इति अस्योत्तरम् ।१४। —सामान्य (शब्दत्व) और दृष्टान्त (घट) दोनोके ऐन्द्रियकत्व समान होनेपर नित्य, अनित्योके साधर्म्यसे संशयसम प्रतिषेध उठा दिया जाता है।१४। जैसे—शब्द अनित्य है प्रयत्नसे उत्पन्न होनेवाले घटकी भाँति। ऐसा कहनेपर हेतुमे सन्देह खड़ा रहता है। प्रयत्नकी समानता रहनेपर भी इसका नित्य सामान्यके साथ ऐन्द्रियकत्व रूप साधर्म्य है और अनित्य घटके साथ भी समानधर्मता है, इसलिए नित्यानित्यके साधर्म्यसे सदेह निवृत्त न हुआ। (श्लो. वा. ४/१/३/न्या. ३८०/५०६/१३ में इसपर चर्चा)।

संशयानेकान्तिक हेत्वाभास—दे. व्यभिचार।

संशयासिद्ध हेत्वाभास—दे. असिद्ध।

संश्लेश बन्ध—दे. श्लेष।

संसक्त साधु—१. भ. आ./मू./१३१३-१३१४ इंदियकसायदोसेहि अथवा समण्णजोगपरितंतो। जो उव्वायदि सो होदि णियत्तो साधुसत्थादो ।१३१३। इंदियकसायवसिया केई ठाणाणि ताणि सव्वाणि। पाविज्जते दोसेहि तेहिं सव्वेहिं ससत्ता।१३१४। —इन्द्रिय और कषायोके दोषसे अथवा सामान्य ध्यानादिकसे विरक्त होकर जो साधु चारित्रसे भ्रष्ट होता है वह साधु सार्थसे अलग होता है।१३१३। इन्द्रिय विषय और कषायके वशीभूत कितनेक भ्रष्ट मुनि सर्व दोषोंसे युक्त होकर सर्व अशुभ स्थानको प्राप्ति करानेवाले परिणामोको प्राप्त होते है।१३१४।

भ. आ./वि./१६५०/१७२२/२४ ससक्तो निरूप्यते—प्रियचारित्रे प्रियचारित्रः अप्रियचारित्रे दृष्टे अप्रियचारित्रः, नटवदनेकरूपग्राही ससक्तः, पञ्चेन्द्रियेषु प्रसक्त विविधगौरवप्रतिबद्धः, स्त्रीविषये संक्लेशसहितः, गृहस्थजनप्रियश्च ससक्तः।—ससक्त मुनिका वर्णन—ऐसे मुनि चारित्रप्रिय मुनिके सहवाससे चारित्रप्रिय और चारित्र-अप्रिय मुनिके सहवाससे चारित्र अप्रिय बनते है। नटके समान इनका आचरण रहता है। ये संसक्त मुनि इन्द्रियोंके विषयमें आसक्त रहते है, तथा तीन प्रकार गारवोंमें आसक्त होते है। स्त्रीके विषयमें इनके परिणाम संक्लेश युक्त होते है। गृहस्थोंपर इनका विशेष प्रेम होता है।

चा. सा./१४४/१ १. मन्त्रवैद्यकज्योतिष्कोपजीवी राजादिसेवकः संसक्त। —जो मन्त्र, वैद्यक वा ज्योतिष शास्त्रसे अपनी जीविका करते है और राजा आदिकोंकी सेवा करते है वे ससक्त साधु है। (भा. पा./टी./१४/१३७/२०)। २. संसक्त साधु सम्बन्धी विषय—दे. साधु/५।

संसर्ग—१. स्या. म./२३/२८४/२८ संसर्गे तु भेदः प्रधानम् -अभेदो-गौण इति विशेषः। —संसर्गमें भेदकी प्रधानता और अभेदकी गौणता होती है। (स. भ. त./३३/२१)। २. संसर्गकी अपेक्षा वस्तुमें भेदाभेद—दे. सप्तभंगी/५/८।

संसार—संसरण करने अर्थात् जन्म मरण करनेका नाम संसार है। अनादिकालसे जन्म मरण करते हुए इस जीवने एक-एक करके लोकके सर्व परमाणुओंको, सर्व प्रदेशोंको, कालके सर्व समयोंको, सर्व प्रकारके कषाय भावोंको और नरकादि सर्वभवोंको अनन्त-अनन्त-बार ग्रहण करके छोडा है। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व भवके भेदसे यह संसार पंच परिवर्तन रूप कहा जाता है।

१. संसार सामान्य निर्देश

१. संसार सामान्यका लक्षण

१. परिवर्तन

स. सि./२/१०/१६४/७ संसरणं संसारः परिवर्तनमित्यर्थः।

स. सि./९/७/४१५/१ कर्मविपाकवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः। —१. संसरण करनेको संसार कहते है जिसका अर्थ परिवर्तन है। २. कर्मके विपाकके वशसे आत्माको भवान्तरकी प्राप्ति होना संसार है। (रा वा./—२/१०/१/१२४/१५, ९/१/८/५८८/२; ९/७/३/६००/२८)।

का अ./मू./३२-३३ एक चयदि सरीरं अण्णं गिण्हेदि णवणवं जीवो। पुणु पुणु अण्णं अण्ण गिण्हदि मुचेदि बहु वारं ।३२। एवं ज संसरणं णाणा-देहेसु होदि जीवस्स। सो संसारो भण्णदि मिच्छ-कसाएहिं जुत्तस्स ।३३। —जीव एक शरीरको छोडता है और दूसरे नये शरीरको ग्रहण करता है। पश्चात् उसे भी छोड़कर दूसरा नया शरीर धारण करता है। इस प्रकार अनेक बार शरीरको ग्रहण करता है और अनेक बार उसे छोडता है। मिथ्यात्व कषाय वगैरहसे युक्त जीवका इस प्रकार अनेक शरीरोंमें जो संसरण (परिभ्रमण) होता है, उसे संसार कहते है।

२. कर्म

ध १३/५.४.१७/४४/१० संसरन्ति अनेन घातिकर्मकलापेन चतसृषु गतिष्विति घातिकर्मकलापः ससारः। —जिस घातिकर्म समूहके कारण जीव चारों गतियोंमें संसरण करते है, वह घातिकर्म समूह ससार है।

२. संसार असंसार आदि संसार निर्देश

रा. वा./९/७/३/६००/२९ चतुर्विधात्मावस्था—संसार असंसारः नोसंसारः तत्त्रितयव्यपायश्चेति। तत्र संसारश्चतसृषु गतिषु नानायोनिविकल्पासु परिभ्रमणम्। अनागतिरससारः शिवपदपरमामृतसुखप्रतिष्ठा। नोससारसयोगकेवलिनः चतुर्गतिभ्रमणाभावात् असंसारप्राप्त्यभावाच्च ईषत्संसारो नोसंसार इति। अयोगकेवलिन तत्त्रितयव्यपायः भवभ्रमणाभावात् सयोगकेवलिवत् प्रदेशपरिस्पन्द-विगमात् असंसारावाप्त्यभावाच्च। —आत्माकी चार अवस्थाएँ होती है - संसार, असंसार, नोसंसार और इन तीनों से विलक्षण अनेक योनिवाली चारों गतियोमें परिभ्रमण करना संसार है। फिर जन्म न लेना—शिवप्रद प्राप्ति या परमसुख प्रतिष्ठा असंसार है। चतुर्गतिमें परिभ्रमण न होनेसे तथा अभी मोक्षकी प्राप्ति न होनेसे सयोगकेवलीकी जीवन्मुक्त अवस्था ईषत्संसार या नोससार है। अयोगकेवली इन तीनोसे विलक्षण है। इनके चतुर्गति भ्रमण और असंसारकी प्राप्ति तो नहीं है पर केवलीकी तरह शरीर परिस्पन्द भी नहीं है। जब तक शरीर परिस्पन्द न होनेपर भी आत्म प्रदेशोंका चलन होता रहता है तब तक संसार है। (चा. सा./१९०/३)।

३. द्रव्य क्षेत्रादि संसार निर्देश

रा. वा./९/७/३/६०१/८ द्रव्यनिमित्तसंसारश्चतुर्विधः कर्मनोकर्मवस्तुविषयाश्रयभेदात्। तत्र क्षेत्रहेतुको द्विविधः—स्वक्षेत्रपरक्षेत्रविकल्पात्। लोकाकाशतुल्यप्रदेशस्यात्मनः कर्मोदयवशात् संहरणविसर्पणधर्मणः हीनाधिकप्रदेशपरिणामावगाहित्वं स्वक्षेत्रससारः। सम्मूर्च्छनगर्भोपपादजन्मनवयोनिविकल्पाधारलम्बनः परक्षेत्रसंसारः। कालो द्विविधः—परमार्थरूपो व्यवहाररूपश्चेति। तयोर्लक्षणमाख्यात-

सम्। तत्र परमार्थकालवर्तितपरिस्पन्देतरपरिणामविकल्प· तत्पूर्वक-कालव्यपदेशौपचारिककालप्रवृत्ति· कालसंसारम्। भवनिमित्त संसार· द्वात्रिंशद्विध –पृथिव्यप्तेजोवायुकायिका प्रत्येक चतुर्विधा सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदात्। वनस्पतिकायिका द्वेधा-प्रत्येक-शरीरा साधारणशरीराश्चेति। प्रत्येकशरीरा द्वेधा–पर्याप्तका-पर्याप्तकभेदात्। साधारणशरीराश्चतुर्धा सूक्ष्मबादरपर्याप्तका-पर्याप्तकविकल्पात्। विकलेन्द्रिया प्रत्येक द्विधा पर्याप्तकापर्याप्तकवि कल्पात्। पञ्चेन्द्रियाश्चतुर्धा संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकापेक्षयेति। भावनिमित्तो ससारो द्वेधा स्वभावपरभावाश्रयात्। स्वभावो मिथ्यादर्शनादि परभावो ज्ञानावरणादिकर्मरसादि। =१. कर्म नोकर्म वस्तु और विषयाश्रयके भेदसे द्रव्यससार चार प्रकारका है। २ स्वक्षेत्र और परक्षेत्रके भेदसे क्षेत्रससार दो प्रकारका है। लोकाकाशके समान असंख्य प्रदेशी आत्माको कर्मोदयवश संहरणविसर्पण स्वभावके कारण जो छोटे-बड़े शरीरमे रहना है वह स्वक्षेत्र ससार है। सम्मूर्छन गर्भ उपपाद आदि नौ प्रकारकी योनियोंके आधीन परक्षेत्र संसार है। ३. काल व्यवहार और पर-मार्थके भेदसे दो प्रकारका है। परमार्थ कालके निमित्तसे होनेवाले परिस्पन्द और अपरिस्पन्दरूप परिणमन जिनमें व्यवहारकालका विभाग भी होता है कालसंसार है। ४. भवनिमित्त ससार बत्तीस प्रकारका है –सूक्ष्म, बादर और पर्याप्त व अपर्याप्तके भेदसे चार-चार प्रकारके—पृथिवी, जल, तेज और वायुकायिक; पर्याप्त और अपर्या-प्तक प्रत्येक वनस्पति—सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्तक ये चार साधारण वनस्पति, पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे दो दो प्रकार-के—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय, सज्ञी, असज्ञी, पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये चार पंचेन्द्रिय इस प्रकार बत्तीस प्रकार भवसंसार हैं। ५ भावनिमित्तक ससारके दो भेद हैं स्वभाव और परभाव। मिथ्यादर्शनादि स्वभाव समार है तथा ज्ञानावरणादि कर्मोंका रस परभाव ससार है।

प्र. सा /ता. प्र./ यस्तु परिणममानस्य द्रव्यस्य पूर्वोत्तरदशापरि-त्यागोपादानात्मक. क्रियाख्यपरिणाम:तत्ससारस्य स्वरूपम्। =परिणमन करते हुए द्रव्यका पूर्वोत्तर दशाका त्याग-ग्रहणात्मक क्रिया नामक परिणाम है सो वह (भाव) संसारका स्वरूप है।

प्र. सा /ता. वृ. /७/६,६ मिथ्यात्वरागादिससरणरूपेण भावससारे पतन्त·· =मिथ्यात्व रागादिके ससरणरूप भाव ससारे···

★ जितने जीव मोक्ष जाते है उतने ही निगोदसे निक-लते हैं—दे. मोक्ष/२।

★ निरन्तर मुक्त होते भी जीवोंसे संसार रिक्त नहीं होता—दे. मोक्ष/६।

२. पच परिवर्तनरूप संसार निर्देश

१. परिवर्तनके पॉच भेद

स. सि /२/१०,१६५/१ तद् परिवर्तन पञ्चविधं द्रव्यपरिवर्तन क्षेत्रपरि-वर्तनं कालपरिवर्तनं भवपरिवर्तन भावपरिवर्तन चेति। =परि-वर्तनके पाँच भेद है—द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन और भावपरिवर्तन। (मू. आ /७०५); (ध. ४/१,५,४/ ३२५/५) (गो. जी./जी. प्र./५६०/९८९/१४)

२. द्रव्यपरिवर्तन आदिके उत्तर भेद

स. सि./२/१०/१६५/२ द्रव्यपरिवर्तन द्विविधम्-नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन कर्मद्रव्यपरिवर्तनं चेति।

ध ४/१,५,४/३२७/१० पोग्गलपरियट्टकालो तिविहो होदि, अगहिदगह-णद्धा गहिदगहणद्धा मिस्सयगहणद्धा चेदि। =१. द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद है—नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तन। (ध ४/१,५,४/३२५/७), (गो जी./जी प्र /५६०/९८९/१४)। २. यह पुद्गल (नोकर्म) परिवर्तनकाल तीन प्रकारका होता है—अगृहीत-ग्रहण काल, गृहीतग्रहण काल और मिश्र काल।

३ द्रव्यपरिवर्तन निर्देश

स. सि./२/१०/१६५/२ तत्र नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं नाम त्रयाणां शरी-राणां षण्णां पर्याप्तीनां च योग्या ये पुद्गला एकेन जीवेन एकस्मि-न्समये गृहीता स्निग्धरूक्षवर्णगन्धादिभिस्तीव्रमन्दमध्यमभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा अगृहीताननन्तवारान-तीत्य मिश्रकाश्चानन्तवारानतीत्य मध्ये गृहीताश्चानन्तवारानतीत्य त एव तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य नोकर्मभावमापद्यन्ते यावत्ता-वत्समुदित नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनम्। कर्मद्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—एकस्मिन्समये एकेन जीवेनाष्टविधकर्मभावेन ये गृहीता पुद्गला समयाधिकामावलिकामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा, पूर्वोक्ते-नैव क्रमेण त एव तेनैव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्तन उक्तं च—"सव्वे वि पुग्गला खलु कमसो भुत्तुज्झिया य जीवेण। असइं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्ट-संसारे।" =नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप कहते है—किसी एक जीवने तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंको एक समयमें ग्रहण किया। अनन्तर वे पुद्गल स्निग्ध या रूक्ष स्पर्श तथा वर्ण और गन्ध आदिके द्वारा जिस तीव्र, मन्द और मध्यम भावसे ग्रहण किये थे उस रूपसे अवस्थित रहकर द्वितीयादि समयोंमें निर्जीर्ण हो गये। तत्पश्चात् अगृहीत परमाणुओंको अनन्तबार ग्रहण करके छोडा, मिश्र परमाणुओंको अनन्त बार ग्रहण करके छोडा और बीचमें गृहीत परमाणुओंको अनन्त बार ग्रहण करके छोडा। तत्पश्चात् जब उसी जीवके सर्वप्रथम ग्रहण किये गये वे ही परमाणु उसी प्रकारसे नोकर्म भावको प्राप्त होते है, तब यह सब मिलकर एक नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन है। अब कर्मद्रव्यपरिवर्तनका कथन करते है—एक जीवने आठ प्रकारके कर्मरूपसे जिन पुद्गलोंको ग्रहण किया वे समयाधिक एक आवलीकालके बाद द्वितीयादिक समयोंमें झर गये। पश्चात् जो क्रम नोकर्म द्रव्यपरिवर्तनमें बतलाया है उसी क्रमसे वे ही पुद्गल उसी प्रकारसे उस जीवके जब कर्मभाव-को प्राप्त होते है तब यह सब मिलकर एक कर्म द्रव्यपरिवर्तन होता है। "इस जीवने सभी पुद्गलोंको क्रमसे भोगकर छोडा है। और इस प्रकार यह जीव अनन्तबार पुद्गल परिवर्तनरूप संसारमें घूमता रहता है। (भा. पा /मू./२२), (बा अनु /२५), (ध ४/१,५,४/ ३२५-३३), (का अ /६७), (द्र स /टी./३५/१०३/५), (गो. जी./ जी प्र./५६०/९८९/१५)

४. क्षेत्रपरिवर्तन निर्देश

१ स्वक्षेत्र

गो. जी./जी. प्र /५६०/९९१/२० स्वक्षेत्रपरिवर्तनमुच्यते—कश्चिज्जीव· सूक्ष्मनिगोदजघन्यावगाहनेनोत्पन्न स्वस्थिति जीवित्वा मृत. पुन. प्रदेशोत्तरावगाहनेन उत्पन्न। एवं द्व्यादिप्रदेशोत्तरक्रमेण महामत्स्या-वगाहनपर्यन्ता· संख्यातघनाङ्गुलप्रमितावगाहनविकल्पा. तेनैव जीवेन यावत्स्वीकृता तत् सर्वं समुदित स्वक्षेत्रपरिवर्तनं भवति। —स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते है—कोई जीव सूक्ष्मनिगोदियाकी जघन्य अवगाहनासे उत्पन्न हुआ, और अपनी आयु प्रमाण जीवित रहकर मर गया। फिर वही जीव एक प्रदेश अधिक अवगाहना लेकर उत्पन्न हुआ। एक-एक प्रदेश अधिककी अवगाहनाओंको क्रमसे धारण करते-करते महामत्स्यकी उत्कृष्ट अवगाहना पर्यन्त सख्यात घनांगुल प्रमाण अवगाहनाके विकल्पोंको वही जीव जितने समयमें धारण करता है उतने कालके समुदायको स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते है।

२. परक्षेत्र

बा अणु /२६ सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तण्णत्थि जण्ण उप्पण्णं। उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तससार ।२६। =क्षेत्र परिवर्तनरूप संसारमे अनेकबार भ्रमण करता हुआ यह जीव तीनो लोकोमे सम्पूर्ण क्षेत्रमे ऐसा कोई भी स्थान नही है, जहाँपर अपनी अवगाहना वा परिणामको लेकर उत्पन्न न हुआ हो। (भा पा /मू /२१); (स. सि / २/१० पर उद्धृत '; (प. प्र./मू./६४/प्रक्षेपक); (ध. ४/१,५,४/गा. २३/३३३); (का. अ./मू /२८); (द्र सं./टी./३५/१०३/७)।

स. सि /२/१०/१६५/१३ क्षेत्रपरिवर्तनमुच्यते—सूक्ष्मनिगोदजीवो-ऽपर्याप्तकः सर्वजघन्यप्रदेशशरीरो लोकस्याष्टमध्यप्रदेशान् स्वशरीर-मध्ये कृत्वोत्पन्न' क्षुद्रभवग्रहणं जीवित्वा मृत । स एव पुनस्तेनैवाव-गाहेन द्विरुत्पन्नस्तथात्रिस्तथा चतुरित्येवं यावद् घनाङ्गुलस्यासख्येय-भागप्रमिताकाशप्रदेशास्तावत्कृत्वस्तत्रैव जनित्वा पुनरेकैकप्रदेशाधिक-भावेन सर्वो लोक आत्मनो जन्मक्षेत्रभावमुपनीतो भवति यावत्ता-वत्क्षेत्रपरिवर्तनम्। =जिसका शरीर आकाशके सबसे कम प्रदेशोपर स्थित है, ऐसा एक सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तकजीव लोकके आठ मध्य प्रदेशोको अपने शरीरके मध्यमे करके उत्पन्न हुआ और क्षुद्रभव ग्रहण कालतक जीवित रहकर मर गया। पश्चात् वही जीव पुन उसी अवगाहनासे वहाँ दूसरी बार उत्पन्न हुआ, तीसरी बार उत्पन्न हुआ, चौथी बार उत्पन्न हुआ। इस प्रकार अगुलके असख्यातवे भागमे आकाशके जितने प्रदेश प्राप्त हों उतनी बार वही उत्पन्न हुआ। पुनः उसने आकाशका एक-एक प्रदेश बढाकर सब लोकको अपना जन्म क्षेत्र बनाया। इस प्रकार वह सब मिलकर एक क्षेत्रपरिवर्तन होता है। (गो. जी./जी. प्र./५६०/९९२/२)।

५. काल परिवर्तन निर्देश

बा. अणु./२७ अवसप्पिणि उस्सप्पिणि समयावलियासु णिरवसेसासु। जादो मुदो य बहुसो परिभमिदो कालससारे। =काल परिवर्तनरूप संसारमे भ्रमण करता हुआ उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके सम्पूर्ण समयो और आवलियोमे अनेक बार जन्म धारण करता है और मरता है। (भा पा /मू./३५), (स सि /२/१०/१६६ पर उद्धृत); (ध. ४/१,५,४/गा २४/३३३), (का. अ /मू /६६); (द्र. सं./टी./ ३५/१०३/६)।

स, सि./२/१०/१६६/६ कालपरिवर्तनमुच्यते-उत्सर्पिण्या प्रथमसमये जात' कश्चिज्जीव. स्वायुष' परिसमाप्तौ मृत । स एव पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जात स्वायुषक्षयान्मृत. । स एव पुनस्तृती-याया उत्सर्पिण्या तृतीयसमये जात । एवमनेन क्रमेणोत्सर्पिणी परिसमाप्ता। तथावसर्पिणी च। एव जन्मनैरन्तर्यमुक्तम्। मरणस्यापि नैरन्तर्यं तथैव ग्राह्यम्। एतावत्कालपरिवर्तनम्। =कोई जीव उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें उत्पन्न हुआ और आयुके समाप्त हो जानेपर मर गया। पुन वही जीव दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समयमे उत्पन्न हुआ और अपनी आयुके समाप्त होनेपर मर गया। पुन. वही जीव तीसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमे उत्पन्न हुआ इस प्रकार इसने क्रमसे उत्सर्पिणी समाप्त की और इसी प्रकार अवसर्पिणी भी। यह जन्म नैरन्तर्य कहा। तथा इसी प्रकार मरणका भी नैरन्तर्य लेना चाहिए। यह सब मिलकर एक कालपरिवर्तन है। (गो. जी./जी. प्र./५६०/९९२/१२)।

६. भव परिवर्तन निर्देश

बा. अणु /२८ णिरयाउजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्ल वा [गा] दुगेवेज्जा मिच्छत्तससिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदीभमिदा।२८। =इस मिथ्यात्व सयुक्त जीवने नरककी छोटीसे छोटी आयु लेकर ऊपरके ग्रैवेयक विमान तककी आयु क्रमसे अनेक बार पाकर भ्रमण किया है। (भा. पा./मू /२४); (स. सि./२/१०/१६७ पर उद्धृत),(ध. ४/ १,५,४/गा. २५/३३३), (का. अ./मू./७०); (द्र. सं./टी./१३/ १०४/१)।

स सि /२/१०/१६७/१ नरकगतौ सर्वजघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणि। तेनायुषा तत्रोत्पन्नः पुन' परिभ्रम्य तेनैवायुषा जात । एवं दशवर्षसह-स्राणा यावन्त समयास्तावत्कृत्वस्तत्रैव जातो मृतः। पुनरेकैकसमया-धिकभावेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि। ततः प्रच्युत्य तिर्यग्गतावन्तर्मुहूर्तायु' समुत्पन्न । पूर्वोक्तेनैव क्रमेण त्रीणि पल्योप-मानि तेन परिसमाप्तानि। एवं मनुष्यगतौ च। देवगतौ च नारकवत्। अयं तु विशेषः—एकत्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमाप्तानि यावत्तावद् भवपरिवर्तनम्। =नरकगतिमें सबसे जघन्य आयु दस हजार-वर्षकी है। एक जीव उस आयुसे वहाँ उत्पन्न हुआ पुन' घूम-फिरकर पुनः उसी आयुसे वहाँ उत्पन्न हुआ। इस प्रकार दस हजार वर्षके जितने समय है उतनी बार वहीं उत्पन्न हुआ और मर गया। पुन आयुमें एक-एक समय बढाकर नरककी तेतीस सागर आयु समाप्त की। तदनन्तर नरकसे निकलकर अन्तर्मुहूर्त आयुके साथ तिर्यंच गतिमे उत्पन्न हुआ। और पूर्वोक्त क्रमसे उसने तिर्यंच गतिकी तीन पल्य आयु समाप्त की। इसी प्रकार मनुष्य गतिमें अन्तर्मुहूर्तसे लेकर तीन पल्य आयु समाप्त की। तथा देवगतियोमे नरक गतिके समान आयु समाप्त की। किन्तु देवगतिमें इतनी विशेषता है कि यहाँ ३१ सागर आयु समाप्त होने तक कथन करना चाहिए। [क्योंकि ऊपर नव अनुदिश आदिके देव ससारमे भ्रमण नही करते] इस प्रकार यह सब मिलकर एक भवपरिवर्तन है। (गो. जी./जी प्र./ ५६०/९९२/२०)।

७. भाव परिवर्तन निर्देश

बा. अनु /२९ सव्वे पयडिट्ठिदिओ अणुभागप्पदेसबंधट्ठाणाणि। जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भावससारे।२९। =इस जीवने मिथ्यात्वके वशमें पडकर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्धके कारणभूत जितने प्रकारके परिणाम वा भाव हैं, उन सबका अनुभव करते हुए भाव परिवर्तनरूप संसारमें अनेक बार भ्रमण किया है। (स. सि./ २/१०/१६६ पर उद्धृत), (ध ४/१,५,४/गा. २६/३३३); (का. अ./ मू./७१)।

स सि./२/१०/१६७/१० भावपरिवर्तनमुच्यते-पञ्चेन्द्रिय सञ्ज्ञी पर्याप्त' को मिथ्यादृष्टि' कश्चिज्जीव सर्वजघन्या स्वयोग्या ज्ञानावरण-प्रकृते' स्थितिमन्त कोटीकोटीसंज्ञिकामापद्यते। तस्य कषायाध्य-वसायस्थानान्यसख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि तत्स्थिति-योग्यानि भवन्ति। तत्र सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थाननिमित्तान्यनु-भागाध्यवसायस्थानान्यसख्येयलोकप्रमितानि भवन्ति। एवं सर्व-जघन्या स्थिति सर्वजघन्यं च कषायाध्यवस्थानं सर्वजघन्यमेवानु-भागबन्धस्थानमास्कन्दतस्तद्योग्य सर्वजघन्य योगस्थानं भवति। तेषामेव स्थितिकषायानुभागस्थानाना द्वितीयमसंख्येयभागवृद्धियुक्त योगस्थान भवति। एवं च तृतीयादिषु चतुस्थानपतितानि श्रेण्य-सख्येयभागप्रमितानि योगस्थानानि भवन्ति। तथा तामेव स्थितिं तदेव कषायाध्यवसायस्थानं च प्रतिपद्यमानस्य द्वितीयमनुभवाध्य-वसायस्थानं भवति। तस्य च योगस्थानानि पूर्ववद्वेदितव्यानि। एव तृतीयादिष्वपि अनुभवाध्यवसायस्थानेषु आअसंख्येयलोकपरिस-माप्तेः। एव तामेव स्थितिमापद्यमानस्य द्वितीयं कषायाध्यवसाय-स्थानं भवति। तस्याप्यनुभवाध्यवसायस्थानानि च पूर्ववद्वेदित-व्यानि। एवं तृतीयादिष्वपि कषायाध्यवसायस्थानेषु आ असख्येय-लोकपरिसमाप्तेर्वृद्धिक्रमो वेदितव्य'। उक्ताया जघन्याया' स्थिते. समयाधिकाया' कषायादिस्थानानि पूर्ववत्। एवं समयाधिकक्रमेण आ उत्कृष्टस्थितेस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीपरिमिताया कषायादि-स्थानानि वेदितव्यानि। अनन्तभागवृद्धि .. इमानि षट्वृद्धिस्था-नानि। हानिरपि तथैव। अनन्तभागवृद्ध्यनन्तगुणवृद्धिरहितानि

चत्वारि स्थानानि। एवं सर्वेषां कर्मणां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च परिवर्तनक्रमो वेदितव्यः। तदेतत्सर्वं समुदितं भावपरिवर्तनम्। =भाव परिवर्तनका कथन करते हैं—पंचेंद्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि कोई एक जीव ज्ञानावरण प्रकृतिकी सबसे जघन्य अपने योग्य अन्तःकोडा-कोडी प्रमाण स्थितिको प्राप्त होता है उसके उस स्थितिके योग्य षट्स्थान पतित असंख्यात लोक प्रमाण कषाय अध्यवसाय स्थान होते हैं। और सबसे जघन्य इन कषाय अध्यवसाय स्थानोंके निमित्तसे असंख्यात लोक प्रमाण अनुभाग अध्यवसाय स्थान होते हैं। इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कषाय अध्यवसाय स्थान और सबसे जघन्य अनुभाग अध्यवसाय स्थानको धारण करनेवाले इस जीवके तद्योग्य सबसे जघन्य योग स्थान होता है। तत्पश्चात् स्थिति कषाय अध्यवसाय स्थान और अनुभाग अध्यवसाय स्थान वहीं रहते है किन्तु योगस्थान दूसरा हो जाता है जो असंख्यात भाग वृद्धि सयुक्त होता है। इसी प्रकार तीसरे, चौथे आदि योग स्थानोंमें समझना चाहिए। ये सब योग-स्थान चार स्थान पतित होते हैं, और इनका प्रमाण श्रेणीके असख्यातवें भाग है। तदनन्तर उसी स्थिति और उसी कषाय अध्यवसाय स्थानको धारण करनेवाले जोवके दूसरा अनुभाग अध्यवसायस्थान होता है इसके योगस्थान पहलेके समान जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यहाँ भी पूर्वोक्त तीनों बातें ध्रुव रहती है किन्तु योगस्थान श्रेणिके असख्यातवें भागप्रमाण होते है। इस प्रकार असख्यात लोक प्रमाण अनुभाग अध्यवसाय स्थानोके होने तक तीसरे आदि अनुभाग अध्यवसाय स्थानोंमें जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यहाँ स्थिति और कषाय अध्यवसायस्थान तो जघन्य हो रहते है। किन्तु अनुभाग अध्यवसाय स्थान क्रमसे असंख्यात लोक प्रमाण हो जाते है और एक-एक अनुभाग अध्यवसाय स्थानके प्रति जगश्रेणिके असख्यातवे भागप्रमाण योगस्थान होते है। तत्पश्चात् उसी स्थितिको प्राप्त होनेवाले जीवके दूसरा कषाय अध्यवसाय स्थान होता है, इसके अनुभाग अध्यवसाय स्थान और योगस्थान पहलेके समान जानना चाहिए। इस प्रकार असख्यात लोक प्रमाण कषाय अध्यवसाय स्थानोंके होने तक तीसरे कषाय अध्यवसाय स्थानोमें वृद्धिका क्रम जानना चाहिए। जिस प्रकार सबसे जघन्य स्थितिके कषायादि स्थान कहे है उसी प्रकार एक समय अधिक जघन्य स्थितिके भी कषायादि स्थान जानना चाहिए। और इसी प्रकार एक-एक समय अधिकके क्रमसे तीस कोडाकोडी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति तक प्रत्येक स्थिति विकल्पके भी कषायादि स्थान जानने चाहिए। अनन्तभागवृद्धि • ये वृद्धिके छह स्थान है तथा इसी प्रकार हानि भी छह प्रकारकी है। इनमेंसे अनन्तभागवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि इन दो स्थानोंके कम कर देनेपर चार स्थान होते है। इस प्रकार सर्व मूल व उत्तर प्रकृतियोके परिवर्तनका क्रम जानना चाहिए। यह सब मिलकर एक भाव परिवर्तन होता है। (द्र. स./टी./३५/१०४/८); (गो. जी./जी. प्र./५६०/९९२/२२)।

८. पाँच परिवर्तनोंमें अल्पबहुत्व

ध./४/१,५,४/३३४/७ अदीदकाले एगस्स जीवस्स सव्वत्थो वा भावपरियट्टवारा। भवपरियट्टवारा अणंतगुणा। कालपरियट्टवारा अणंतगुणा। खेत्तपरियट्टवारा अणंतगुणा। पोग्गलपरियट्टवारा अणंतगुणा। सव्वत्थोवो पोग्गलपरियट्टकालो। खेत्तपरियट्टकालो अणंतगुणो। कालपरियट्टकालो अणंतगुणो। भवपरियट्टकालो अणंतगुणो भावपरियट्टकालो अणंतगुणो। =१. अतीतकालमें एक जीवके सबसे कम भाव परिवर्तनके वार है। भव परिवर्तनके वार भावपरिवर्तनके वारोंसे अनन्तगुणे है। काल परिवर्तनके वार भव परिवर्तनके वारोंसे अनन्तगुणे हैं। क्षेत्र परिवर्तनके वार कालपरिवर्तनके वारोंसे अनन्तगुणे है। पुद्गल परिवर्तनके वार क्षेत्र परिवर्तनके वारोंसे अनन्तगुणे है। २ पुद्गल परिवर्तनका काल सबसे कम है। क्षेत्र परिवर्तनका काल पुद्गल परिवर्तनके कालसे अनन्तगुणा है। कालपरिवर्तनका काल क्षेत्र परिवर्तनके कालसे अनन्तगुणा है। भव परिवर्तनका काल, काल परिवर्तनके कालसे अनन्तगुणा है। भावपरिवर्तनका काल भव-परिवर्तनके कालसे अनन्तगुणा है। (गो. जी./जी.प्र./५६०/९९४/३)।

संसारानुप्रेक्षा—अनुप्रेक्षा।

संसारी—१. जीवोंका एक भेद—दे. जीव/१ २. न. च. वृ./१०९ कम्मकलकालीणा अलद्धससहावभावसब्भावा। गुणमग्गण जीवठिया जीवा संसारिणो भणिया।१०९। =कर्म कलंकसे जो लिप्त हैं, स्वस्वभावको जिन्होंने प्राप्त नहीं किया। गुणस्थान, मार्गणास्थान तथा जीवस्थानमें जो स्थित हैं वे संसारी जीव कहे गये हैं।

पं. का./ता. वृ./१०९/१७४/१३ कर्मचेतनाकर्मफलचेतनात्मकाः संसारिण …अशुद्धोपयोगयुक्ता' संसारिणः। =कर्म व कर्मफलचेतनात्मक संसारी जीव है। ·· संसारी जीव अशुद्धोपयोगसे युक्त है।

पं. ध./उ./३४ बद्धो यथा स ससारी स्यादलब्धस्वरूपवान्। मूर्च्छितोऽनादितोऽष्टाभिर्ज्ञानाद्यावृतिकर्मभि। =जो अनादिकालसे आठ कर्मोंसे मोहित होकर अपने स्वरूपको नहीं पाने वाला और बँधा हुआ वह ससारी जीव है।

संस्कार—व्यक्तिके जीवनकी सम्पूर्ण शुभ और अशुभ वृत्ति उसके संस्कारोके अधीन है, जिनमें-से कुछ वह पूर्व भवसे अपने साथ लाता हे, और कुछ इसी भवमें संगति व शिक्षा आदिके प्रभावसे उत्पन्न करता है। इसी लिए गर्भमें आनेके पूर्वसे ही बालकमें विशुद्ध सस्कार उत्पन्न करनेके लिए विधान बताया गया है। गर्भावतरणसे लेकर निर्वाण पर्यन्त यथावसर जिनेन्द्र पूजन व मन्त्र विधान सहित ५३ क्रियाओंका विधान है, जिनसे बालकके सस्कार उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हुए एक दिन वह निर्वाणका भाजन बन जाता है।

१. सस्कार सामान्य निर्देश

१. संस्कार सामान्यका लक्षण

सि. वि./वृ./१/६/३४/१४ वस्तुस्वभावोऽयं यत् सस्कार स्मृतिबीजमादधीत। =वस्तुका स्वभाव ही सस्कार है। जिसको स्मृतिका बीज माना गया है।

स. श./टी./३७/२३६/८ शरीरादौ स्थिरात्मीयादिज्ञानान्यविद्यास्तासामभ्य स पुन पुन प्रवृत्तिस्तेन जनिता. संस्कारा वासनास्तै' कृत्वा। =शरीरादिको शुचि स्थिर और आत्मीय मानने रूप जो अविद्या अज्ञान है उसके पुन-पुन प्रवृत्ति रूप अभ्याससे उत्पन्न सस्कार अर्थात् वासना द्वारा करके।

प. का./ता. वृ./परि./२५३/१६ निजपरमात्मनि शुद्धसंस्कार करोति स आत्मसस्कार। =निज परम आत्मामें शुद्ध सस्कार करता है वह आत्म सस्कार है।

२. पठित ज्ञानके सस्कार साथ जाते हैं

मू. आ./२८६ विणएण सुदमधीदं जदिवि पमादेण होदि विस्सरिदं। तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहादि। =विनयसे पढा हुआ शास्त्र किसी समय प्रमादसे विस्मृत हो जाये तो भी वह अन्य जन्ममें स्मरण हो जाता है, सस्कार रहता है और क्रमसे केवलज्ञानको प्राप्त कराता है। (ध. ६/४,१, ८/गा २२/८२)।

ध. ९/४,१,१८/८२/१ तत्थ जम्मतरे चउव्विहणिम्मलमदिबलेण विणएणावहारिददुवालसंगस्स देवेसुप्पज्जिय मणुस्सेसु अविणट्ठसंसकारेणुप्पण्णस्स एत्थ भवम्मि पढण-सुणण-पुच्छणवावारविरहियस्स उप्पत्तिया णाम। =उनमें (चार प्रकार प्रज्ञाओंमें) जन्मान्तरमें

चार प्रकारकी निर्मल बुद्धिके बलसे विनयपूर्वक बारह अंगका अवधारण करके देवोंमें उत्पन्न होकर पश्चात् अविनष्ट संस्कारके साथ मनुष्योंमें उत्पन्न होनेपर इस भवमें पढ़ने-सुनने व पूछने आदिके व्यापारसे रहित जीवकी प्रज्ञा औत्पत्तिकी कहलाती है।

ल. सा./जी प्र./६/४५/४ नारकादिभवेषु पूर्वभवश्रुतधारिततत्त्वार्थस्य संस्कारबलात् सम्यग्दर्शनप्राप्तिर्भवति। =नरकादि भवोंमें जहाँ उपदेशका अभाव है, वहाँ पूर्व भवमें धारण किये हुए तत्त्वार्थ-ज्ञानके संस्कारके बलसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है। (और भी दे० सम्यग्दर्शन/III)।

मो. मा. प्र./७/२८३/१० इस भवमें अभ्यास करि परलोक विषै तिर्यंचादि गतिविषैं भी जाय—तौ तहाँ संस्कारके बलसे देव गुरु शास्त्र बिना भी सम्यक्त्व होय जाय। ' तारतम्यतैं पूर्व अभ्यास संस्कारतैं वर्तमान इनका निमित्त न होय (देव-शास्त्र आदि निमित्त न होय) तौ भी सम्यक्त्व होय सकै।

३. संस्कारके उदाहरण

स. श./मू./३७ अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः। तदेव ज्ञान-संस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते।३७। =अविद्याके अभ्यास रूप संस्कारोंके द्वारा मन स्वाधीन न रहकर विक्षिप्त हो जाता है। वही मन विज्ञान रूप संस्कारोंके द्वारा स्वयं ही आत्मस्वरूपमें स्थिर हो जाता है।

ध. ६/१,९-१,२३/४१/१० एदेहि जीवम्हि जणिदसंसकारस्स अणंतेसु भवेसु अवट्ठाणब्भुवगमादो। =इन (अनन्तानुबन्धी) कषायोंके द्वारा जीवमें उत्पन्न हुए संस्कारका अनन्त भवोंमें अवस्थान माना गया है।

ध. ८/३,३६/७३/१ तित्थयराइरिय-बहुसुद-पवयण-विसयरागजणिद-ससकाराभावादो। =वहाँ (अपूर्वकरणके उपरिम सप्तम भागमें) तीर्थंकर, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन विषयक रागसे उत्पन्न हुए संस्कारोंका अभाव है।

ध. ६/४,१,४५/१५४/३ आहितसस्कारस्य कस्यचिच्छब्दग्रहणकाल एव तद्रसादिप्रत्ययोत्पत्त्युपलम्भाच्च। =शब्द ग्रहणके कालमें ही सस्कार युक्त किसी पुरुषके उसके (शब्दके वाच्यभूत पदार्थके) रसादि विषयक प्रत्ययकी उत्पत्ति पायी जाती है।

४. पूर्व संस्कारका महत्त्व

स. श./मू./४५ जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि। पूर्वविभ्रम-संस्काराद् भ्रान्तिं भूयोऽपि गच्छति। =शुद्ध चैतन्य स्वरूपको जानता हुआ भी, और अन्य पदार्थोंसे भिन्न अनुभव करता हुआ भी पूर्व भ्रान्तिके संस्कारवश पुनरपि भ्रान्तिको प्राप्त होता है।

द्र. सं./टी./३८/१५६-१६०/६ सम्यग्दृष्टि···तत्र (शुद्धात्मतत्त्वे) असमर्थः सन्···परमं भक्तिं करोति। तेन·· पञ्चविदेहेषु गत्वा पश्यति··· समवशरणं ··· पूर्वभवभावितविशिष्टभेदज्ञानवासना(संस्कार)बलेन मोहं न करोति, ततो जिनदीक्षां गृहीत्वा···मोक्षं गच्छति। =सम्यग्दृष्टि शुद्धात्मभावना भानेमें असमर्थ होता है, तब वह परम भक्ति करता है।···पश्चात् पंच विदेहोंमें जाकर समवशरण-को देखता है। पूर्व जन्ममें भावित विशिष्ट भेदज्ञानकी वासना (सस्कार) के बलसे मोह नहीं करता अतः दीक्षा धारण करके मोक्ष पाता है।

* **शरीर संस्कारका निषेध**—दे० साधु/२/७।
* **धारणा ज्ञान सम्बन्धी संस्कार**—दे० धारणा।
* **रजस्वला स्त्री व सूतक पातक आदि**—दे० सूतक।

२. संस्कार कर्म निर्देश

१. गर्भान्वयादि क्रियाओंका नाम निर्देश

म. पु./३८/५१-६८ गर्भान्वयक्रियाश्चैव तथा दीक्षान्वयक्रियाः। कर्त्रन्वयक्रियाश्चेति तास्त्रिधैव बुधैर्मताः।५१। आधानाद्यास्त्रिपञ्चाशत् ज्ञेया गर्भान्वयक्रियाः। चत्वारिंशदथाष्टौ च स्मृता दीक्षान्वय-क्रियाः।५२। कर्त्रन्वयक्रियाश्चैव सप्त तज्ज्ञैः समुच्चिताः। तासां यथाक्रमं नामनिर्देशोऽयमनूद्यते।५३। अङ्गानां सप्तमादङ्गाद् दुस्तरा-दर्णवादपि। श्लोकैरष्टभिरुन्नेष्ये प्राप्तं ज्ञानलवं मया।५४। (नोट—आगे केवल भाषार्थ)। =गर्भान्वय क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया और कर्त्रन्वय क्रिया इस प्रकार विद्वान् लोगोंने तीन प्रकारकी क्रियाएँ मानी हैं।५१। गर्भान्वय क्रिया आधानादि तिरपन (५३) जाननी चाहिए। और दीक्षान्वय क्रियाएँ अड़तालीस (४८) समझना चाहिए।५२। इसके अतिरिक्त इस विषयके जानकार लोगोंने कर्त्रन्वय क्रियाएँ सात (७) संग्रह की हैं। अब आगे यथा क्रमसे उनका नाम निर्देश किया जाता है।५३। जो समुद्रसे भी दुस्तर है, ऐसे १२ अंगोंमें सातवें अंग (उपासकाध्ययनांग) से जो कुछ मुझे ज्ञानका अंश प्राप्त हुआ है उसे मैं नीचे लिखे हुए श्लोकोंसे कहता हूँ।५४। केवल भाषार्थ—गर्भान्वयकी ५३ क्रियाएँ—१ गर्भाधान, २ प्रीति, ३ सुप्रीति, ४ धृति, ५ मोद, ६ प्रियोद्भव, ७ नामकर्म, ८ बहिर्यान, ९ निषद्या, १० प्राशन, ११ व्युष्टि, १२ केशवाप, १३ लिपि सख्यान सग्रह, १४ उपनीति, १५व्रतचर्या, १६व्रतावरण, १७ विवाह, १८वर्णलाभ, १९ कुलचर्या, २०गृहीशिता, २१ प्रशान्ति, २२ गृहत्याग, २३ दीक्षाद्य, २४ जिन-रूपता, २५ मौनाध्ययन व्रतत्व, २६ तीर्थकृतभावना, २७ गुरुस्थानाभ्युपगमन, २८ गणोपग्रहण, २९ स्वगुरुस्थान संक्रान्ति, ३० निःसंगत्वात्मभावना, ३१ योगनिर्वाणसे प्राप्ति, ३२ योगनिर्वाणसाधन, ३३ इन्द्रोपपाद, ३४ अभिषेक, ३५ विधिदान, ३६ सुखोदय, ३७ इन्द्र-त्याग, ३८ अवतार, ३९ हिरण्योत्कृष्टजन्मता, ४० मन्दरेन्द्राभिषेक, ४१ गुरुपूजोपलम्भन, ४२ यौवराज्य, ४३ स्वराज, ४४ चक्रलाभ, ४५ दिग्विजय, ४६ चक्राभिषेक, ४७ साम्राज्य, ४८ निष्क्रान्ति, ४९ योग-सन्मह, ५० आर्हन्त्य, ५१ तद्विहार, ५२ योगत्याग, ५३ अग्रनिर्वृत्ति। परमागममें ये गर्भसे लेकर निर्वाण पर्यन्त ५३ क्रियाएँ मानी गयी हैं।५५-५३। २. दीक्षान्वयकी ४८ क्रियाएँ—१ अवतार, २ वृत्तलाभ, ३ स्थानलाभ, ४ गणग्रह, ५ पूजाराध्य, ६ पुण्ययज्ञ, ७ दृढचर्या, ८ उपयोगिता। इन आठ क्रियाओंके साथ (गर्भान्वय क्रियाओंमें-से) उपनीति नामकी चौदहवीं क्रियासे अग्रनिवृत्ति नामकी तिरपनवीं क्रिया तककी चालीस क्रियाएँ मिलाकर कुल अड़तालीस दीक्षान्वय क्रियाएँ कहलाती हैं।६४-६५। ३. कर्त्रन्वयकी ७ क्रियाएँ—कर्त्रन्वय क्रियाएँ वे हैं जो कि पुण्य करनेवाले लोगोंको प्राप्त हो सकती हैं, और जो समीचीन मार्गकी आराधना करनेके फलस्वरूप प्रवृत्त होती हैं ६६। १ सज्जाति, २ सद्गृहित्व, ३ पारिव्रज्य, ४ सुरेन्द्रता, ५ साम्राज्य, ६ परमार्हन्त्य, ७ परमनिर्वाण। ये सात स्थान तीनों लोकोंमें उत्कृष्ट माने गये हैं और ये सातों ही अर्हन्त भगवान्‌के वचनरूपी अमृतके आस्वादनसे जीवोंको प्राप्त हो सकते हैं।६७-६८। महर्षियोंने इन क्रियाओंका समूह अनेक प्रकार माना है अर्थात् अनेक प्रकारसे क्रियाओंका वर्णन किया है, परन्तु मैं यहाँ विस्तार छोड़कर संक्षेपसे उनके लक्षण कहता हूँ।६९।

२. गर्भान्वयकी ५३ क्रियाओंके लक्षण

म. पु./३८/७०-३१० आधानं नाम गर्भादौ संस्कारो मन्त्रपूर्वकः। पत्नीमृतुमतीं स्नातां पुरस्कृत्यार्हदिज्यया।७०। ··· ··अत्रापि पूर्व-वद्दानं जैनी पूजा च पूर्ववत्। इष्टबन्धुसमाह्वानं समाशादिश्च लक्ष्यताम्।९७। ···क्रियाग्रनिर्वृतिर्नाम परानिर्वाणमापुषः। स्वभाव-

जनितामूर्ध्नजगामास्कन्दतो मता ।३०। इति निर्वाणपर्यन्ता क्रिया गर्भादिका सता। भव्यात्मभिरनुष्ठेया' त्रिपञ्चाशत्समुच्चयात् ।३१०। १. गर्भाधान क्रिया—ऋतुमती स्त्रीके चतुर्थ स्नानके पश्चात्. गर्भाधानके पहले, अर्हन्तदेवकी पूजाके द्वारा मन्त्र पूर्वक जो संस्कार किया जाता है, उसे आधान क्रिया कहते है ।७०। भगवान्‌के सामने तीन अग्नियोंकी अर्हन्तकुण्ड. गणधरकुण्ड, व केवली कुण्डमें स्थापना करके भगवान्‌की पूजा करें। तत्पश्चात् आहुति दें। फिर केवल पुत्रोत्पत्तिकी इच्छासे भोगाभिलाप निरपेक्ष स्त्रीसंसर्ग करें। इस प्रकार यह आधानक्रिया विधि है।७१-७६। २ प्रीतिक्रिया—गर्भाधानके पश्चात् तीसरे महीने, पूर्ववत् भगवान्‌की पूजा करनी चाहिए। उस दिनसे लेकर प्रतिदिन बाजे, नगाडे आदि बजवाने चाहिए।७७-७९। ३. सुप्रीति क्रिया—गर्भाधानके पाँचवें महीने पुन' पूर्वोक्त प्रकार भगवान्‌की पूजा करे।८०-८१। ४. धृति क्रिया—गर्भाधानके सातवे महीनेमे गर्भकी वृद्धिके लिए पुन पूर्वोक्त विधान करना चाहिए।८२। ५ मोदक्रिया—गर्भाधानके नवमें महीने गर्भकी पुष्टिके लिए पुन' पूर्वोक्त विधान करके, स्त्रीको गात्रिकाबन्ध, मन्त्रपूर्वक बीजाक्षर लेखन, व मगलाभूषण पहनाना ये कार्य करने चाहिए।८३-८४। ६ प्रियोद्भव क्रिया-प्रसूति होनेपर जात कर्मरूप, मन्त्र व पूजन आदिका बडा भारी पूजन विधान किया जाता है। जिसका स्वरूप उपासकाध्ययनसे जानने योग्य है।८५-८६। ७. नामकर्म क्रिया—जन्मसे १२वें दिन, पूजा व द्विज आदिके सत्कार पूर्वक, अपनी इच्छासे या भगवान्‌के १००८ नामोमेसे घटपत्र विधिद्वारा (Ballat Paper System) बालकका कोई योग्य नाम छाँटकर रखना (८७-८९) ८ बहिर्यान क्रिया--जन्मसे ३।४ महीने पश्चात् ही बालकको प्रसूतिगृहसे बाहर जाना चाहिए। बालकको यथाशक्ति कुछ भेट आदि दी जाती है।९०-९२। ९ निषद्या क्रिया—बहिर्यानके पश्चात् सिद्ध भगवान्‌की पूजा विधिपूर्वक बालकको किसी बिछाये हुए शुद्ध आसनपर बिठाना चाहिए।९३-९४। १० अन्नप्राशन क्रिया—जन्मके ७/८ माह पश्चात् पूजन विधिपूर्वक बालकको अन्न खिलाये।९५। ११ व्युष्टि क्रिया जन्मके एक वर्ष पश्चात् जिनेन्द्र पूजनविधि, दान व बन्धुवर्ग निमन्त्रणादि कार्य करना चाहिए। इसे वर्षवर्धन या वर्षगाँठ भी कहते है।९६-९७। १२ केशवाप क्रिया—तदनन्तर किसी शुभ दिन, पूजा विधिपूर्वक बालकके सिरपर उस्तरा फिरवाना अर्थात् मुण्डन करना, व उसे आशीर्वाद देना आदि कार्य किया जाता है। बालक द्वारा गुरुको नमस्कार कराया जाता है।९८-१०१। १३. लिपि सख्यात—पाँचवें वर्ष अध्ययनके लिए पूजा विधिपूर्वक किसी योग्य गृहस्थी गुरुके पास छोडना।१०२-१०३। १४. उपनीति क्रिया—आठवे वर्ष यज्ञोपवीत धारण कराते समय, केशोंका मुण्डन तथा पूजा विधिपूर्वक योग्य व्रत ग्रहण कराके बालककी कमरमें मूँजकी रस्सी बाँधनी चाहिए। यज्ञोपवीत धारण करके, सफेद धोती पहनकर, सिरपर चोटी रखनेवाला वह बालक माता आदिके द्वारपर जाकर भिक्षा माँगे। भिक्षामें आगत द्रव्यसे पहले भगवान्‌की पूजा करे, फिर शेष बचे अन्नको स्वय खाये। अब यह बालक ब्रह्मचारी कहलाने लगता है।१०४-१०८। १५ व्रतचर्या क्रिया-ब्रह्मचर्य आश्रमको धारण करनेवाला वह ब्रह्मचारी बालक अत्यन्त पवित्र व स्वच्छ जीवन बिताता है। कमरमें रत्नत्रयके चिह्न स्वरूप तीन लरकी मूँजकी रस्सी, टाँगोंमें पवित्र अर्हन्त कुलकी सूचक उज्ज्वल व सादी धोती, वक्षस्थलपर सात लरका यज्ञोपवीत, मन वचन व कायकी शुद्धिका प्रतीक सिरका मुण्डन—इतने चिह्न धारण करके अहिंसाणुव्रतका पालन करता हुआ गुरुके पास विद्याध्ययन करता है। वह कभी हरी दाँतौन नहीं करता, पान खाना, अजन लगाना, उबटनसे स्नान करना व पलंगपर सोना आदि बातोका त्याग करता है। स्वच्छ जलसे स्नान करता है तथा अकेला पृथिवीपर सोता है। अध्ययन क्रममें गुरुके मुखसे पहले श्रावकाचार और फिर अध्यात्म शास्त्रका ज्ञान कर लेनेके अनन्तर व्याकरण, न्याय, छन्द. अलंकार, गणित, ज्योतिष आदि विद्याओंको भी यथा शक्ति पढता है।१०९-१२०। १६ व्रतावतरण क्रिया—विद्याध्ययन पूरा कर लेनेपर बारहवें या सोलहवें वर्षमें गुरु साक्षीमें, देवपूजादि विधिपूर्वक गृहस्थ आश्रममें प्रवेश पानेके लिए उपरोक्त सर्व व्रतोंको त्यागकर, श्रावकके योग्य आठ मूलगुणों (दे श्रावक) को ग्रहण करता है। और कदाचित् क्षत्रिय धर्मके पालनार्थ अथवा शोभार्थ कोई शस्त्र धारण करता है। ।१२१-१२६। १७. विवाह क्रिया—विवाहकी इच्छा होनेपर गुरु साक्षीमें सिद्ध भगवान् व पूर्वोक्त (प्रथम क्रियावत्) तीन अग्नियोंकी पूजा विधिपूर्वक, अग्निकी प्रदक्षिणा देते हुए, कुलीन कन्याका पाणि ग्रहण करे। सात दिन पर्यन्त दोनो ब्रह्मचर्यसे रहे, फिर तीर्थयात्रादि करें। तदनन्तर केवल सन्तानोत्पत्तिके लिए, स्त्रीके ऋतुकालमे सेवन करे। शारीरिक शक्तिहीन हो तो पूर्ण ब्रह्मचर्यसे रहे।१२७-१३४। १८. वर्णलाभ क्रिया—यथोक्त पूजन विधिपूर्वक पिता उसको कुछ सम्पति व घर आदि देकर धर्म व न्याय पूर्वक जीवन बिताते हुए पृथक् रहनेके लिए कहता है।१३५-१४१। १९. कुलचर्या क्रिया—अपनी कुल परम्पराके अनुसार देव पूजादि गृहस्थके षट्कर्मोंको यथाविधि नित्य पालता है यही कुलचर्या है।१४२-१४३। २०. गृहीशिता क्रिया—धार्मिक क्षेत्रमें तथा ज्ञानके क्षेत्रमें वृद्धि करता हुआ, अन्य गृहस्थोंके द्वारा सत्कार किये जाने योग्य गृहीश या गृहस्थाचार्य होता है।१४४-१४६। २१ प्रशान्ति क्रिया—अपने पुत्रको गृहस्थका भार सौंपकर विरक्त चित्त हो विशेष रूपसे धर्मका पालन करते हुए शान्त वृत्तिमे रहने लगता है। १४७-१४९। २२. गृह त्याग क्रिया—गृहस्थाश्रममें कृतार्थताको प्राप्त हो, योगिपूजा विधि पूर्वक अपने ज्येष्ठ पुत्रको घरकी सम्पूर्ण सम्पत्ति व कुटुम्ब पोषणका कार्य भार सौंपकर, तथा धार्मिक जीवन बितानेका उपदेश करके स्वय घर त्याग देता है।१५०-१५६। २३ दीक्षाद्य क्रिया—क्षुल्लक व्रत रूप उत्कृष्ट श्रावककी दीक्षा लेता है।१५७-१५८। २४ जिनरूपता क्रिया—क्रमसे यथा अवसर दिगम्बर रूपवाले मुनिव्रतकी दीक्षा।१५९-१६०। २५ मौनाध्ययन वृत्ति क्रिया—गुरुके पास यथोक्त कालमें मौनपूर्वक शास्त्राध्ययन करना।१६१-१६३। २६ तीर्थकृद्भावना क्रिया—तीर्थंकर पदकी कारणभूत सालह भावनाओंको भाता है। ।१६४-१६५। २७ गुरुस्थानाभ्युपगमन क्रिया—प्रसन्नता पूर्वक उसे योग्य समझकर गुरु (आचार्य) अपने सघके आधिपत्यका गुरुपद प्रदान करे तो उसे विनय पूर्वक स्वीकार करना ।१६६-१६७। २८ गणोपग्रहण क्रिया—गुरुपदनिष्ठ होकर चतु.सघकी रक्षा व पालन करे तथा नवीन जिज्ञासुओंको उनकी शक्तिके अनुसार व्रत व दीक्षाएँ दे।१६८-१७१। २९. स्वगुरु स्थानावाप्ति क्रिया—गुरुकी भाँति स्वय भी अवस्था विशेषको प्राप्त हो जानेपर, सबमेंसे योग्य शिष्यको छाँटकर उसे गुरुपदका भार प्रदान करे। १७२-१७४। ३० निःसगत्वभावना क्रिया—एकल विहारी होकर अत्यन्त निर्ममता पूर्वक अधिकाधिक चारित्रमें विशुद्धि करना।१७५-१७७। ३१ योगनिर्वाणसप्राप्ति क्रिया आयुका अन्तिम भाग प्राप्त हो जानेपर वैराग्यकी उत्कर्षता पूर्वक एकत्व व अन्यत्व भावनाको भाता हुआ सल्लेखना धारण करके शरीर त्याग करनेके लिए साम्यभाव सहित इसे धीरे-धीरे कृश करने लगता है।१७८-१८५। ३२. योग निर्वाण साधन क्रिया—अन्तिम अवस्था प्राप्त हो जानेपर साक्षात् समाधि या सल्लेखनाको धारणकर तिष्ठे ।१८६-१८९। ३३ इन्द्रोपपाद क्रिया—उपरोक्त तपके प्रभावसे वैमानिक देवोके इन्द्र रूपसे उत्पाद होना।१९०-१९४। ३४. इन्द्राभिषेक क्रिया—इन्द्रपदपर आरूढ करनेके लिए देव लोग उसका इन्द्राभिषेक करते है।१९५-१९८। ३५. विधिदान क्रिया—देवोंको उन-उनके पदोंपर नियुक्त करना।१९९। ३६. सुखोदय क्रिया—

इन्द्रके योग्य सुख भोगते हुए देवलोकमें चिरकाल तक रहना।२००-२०१। ३७. इन्द्र त्याग क्रिया—आयुके अन्तमें शान्ति पूर्वक समस्त वैभवका त्याग कर तथा देवोंको उपदेश देकर देवलोकसे च्युत होना।२०२-२१३। ३८. इन्द्रावतार क्रिया—सिद्ध भगवान्‌को नमस्कार करके, १६ स्वप्नों द्वारा माताको अपने अवतारकी सूचना देना।२१४-२१६। ३९. हिरण्योत्कृष्ट जन्मता—छह महीने पूर्वसे ही कुबेर द्वारा हिरण्य, सुवर्ण व रत्नोंकी वर्षा हो रही है जहाँ तथा श्री ही आदि देवियाँ कर रही हैं सेवा जिसकी, ऐसा तथा शुद्ध गर्भवाली माताके गर्भमें तीन ज्ञानोंको लेकर अवतार धारण करना।२१७-२२४। ४०. मन्दराभिषेक क्रिया—जन्म धारण करते ही नवजात इस बालकका इन्द्र द्वारा सुमेरु पर्वतपर अभिषेक किया जाना।२२५-२२८। ४१. गुरु पूजन क्रिया—बिना शिक्षा ग्रहण किये तीनों जगत्‌के गुरु स्वीकारे जाना।२२९-२३०। ४२. यौवराज्य क्रिया—पूजन अभिषेक पूर्वक युवराज पटका बाँधा जाना।२३१। ४३ स्वराज्य क्रिया-राज्याधिपतिके स्थानपर निष्ठ होना।२३२। ४४. चक्रलाभ क्रिया—पुण्यके प्रतापसे नवनिधि व चक्ररत्नकी प्राप्ति।२३३। ४५. दिशांजय क्रिया—षट् खण्ड सहित समुद्रान्त पृथिवीको जीतकर वहाँ अपनी सत्ता स्थापित करना।२३४। ४६. चक्राभिषेक क्रिया—दिग्विजय पूर्ण कर नगरमें प्रवेश करते समय चक्रका अभिषेक करना। नगरके लोग चक्रवर्ती पटपर आसीन उनके चरणोंका अभिषेक कर चरणोदकको मस्तकपर चढाते हैं।२३५-२५२। ४७. साम्राज्य क्रिया—शिष्टोंका पालन व दुष्टोंका निग्रह करनेका तथा प्रेम व न्याय पूर्वक राज्य करनेका उपदेश अपने आधीन राजाओंको देकर सुखपूर्वक राज्य करना।२५३-२६५। ४८. निष्क्रान्ति क्रिया—वैराग्य पूर्वक राज्यको त्यागना, लौकान्तिक देवों द्वारा सम्बोधनको प्राप्त होना। क्रमसे मनुष्यों, विद्याधरों व देवों द्वारा उठायी हुई शिबिकापर आरूढ होकर वनमें जाना। वस्त्रालंकारको त्याग कर सिद्धोंकी साक्षीमें दिगम्बर व्रतको धारण कर पंचमुष्टि केश लोंच करना आदि क्रियाएँ।२६६-२९४। ४९. योग सम्मह क्रिया—ज्ञानाध्ययनके योगसे उत्कृष्ट तेज स्वरूप केवलज्ञानकी प्राप्ति।२९५-३००। ५०. आर्हन्त्य क्रिया—समवशरणकी दिव्य रचनाकी प्राप्ति।३०१-३०३। ५१ विहारक्रिया—धर्मचक्रको आगे करके भव्य जीवोंके पुण्यसे प्रेरित, उनको उपदेश देनेके अर्थ उन अर्हन्त भगवान्‌का विहार होना।३०४। ५२. योग त्याग क्रिया—केवलिसमुद्घात करके मन, वचन, काय रूप योगोंको अत्यन्त निरोध कर, अत्यन्त निश्चल दशाको प्राप्त होना।३०५-३०७। ५३. अग्रनिर्वृत्ति क्रिया—समस्त अघातिया कर्मोंका भी नाश कर, विनश्वर शरीरसे सदाके लिए नाता तुडाकर उत्कृष्ट व अविनश्वर सिद्ध पदको प्राप्त हो, लोक शिखरपर अष्टम भूमिमें जा निवास करना।३०८-३०९।

३. दीक्षान्वयकी ४८ क्रियाओंका लक्षण

म. पु./३९/१-८० अथाब्रवीद् द्विजन्मभ्यो मनुर्दीक्षान्वयक्रियाः ।१। ... तदुन्मुखस्य या वृत्तिः पुंसो दीक्षेत्यसौ मता। तामन्विता क्रिया या तु सा स्याद् दीक्षान्वया क्रिया ।५। ...ततरत्वेवास्तरचैवो शारदा भव्यः समनुतिष्ठति। सोऽधिगच्छति निर्वाणम् अचिरात्सुखसाद्गतम् ।८०। इति दीक्षान्वय क्रिया। = दीक्षान्वय सामान्य—व्रतोंको धारण करनेके सन्मुख [illegible] प्रवृत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाओंको दीक्षान्वय क्रियाएँ कहते हैं।१-५। १. अवतार क्रिया—मिथ्यात्वसे दूषित कोई भव्य समीचीन मार्गको ग्रहण करनेके सन्मुख हो किन्हीं मुनिराज अथवा गृहस्थाचार्यके पास जाकर, यथार्थ देव शास्त्र गुरु व धर्मके सम्बन्धमें [illegible] उपदेश प्राप्त करके, मिथ्या मार्गसे प्रेम हटाता है और समीचीन मार्गमें बुद्धि लगाता है। गुरु ही उस समय [illegible] पिता है, और तत्त्वज्ञान [illegible] गर्भ है। वहाँ यह भव्य प्राणी अवतार धारण करता है।६-३५। २. वृत्तिलाभ क्रिया—गुरुके द्वारा प्रदत्त व्रतोंको धारण करना।३६। ३. स्थानलाभ क्रिया—गृहस्थाचार्य उनके हाथसे मन्दिर जीमें जिनेन्द्र भगवान्‌के समवशरणकी पूजा करावे। तदनन्तर उसका मस्तक स्पर्श करके उसे श्रावककी दीक्षा दे। पंच मुष्टि लोंचके प्रतीक स्वरूप उसके मस्तकका स्पर्श करे। तत्पश्चात् विधि पूर्वक उसे पंच नमस्कार मन्त्र प्रदान करे।३७-४४। ४. गण ग्रहणक्रिया—मिथ्या देवताओंको शान्ति पूर्वक विसर्जन करता हुआ अपने घरसे हटाकर किसी अन्य योग्य स्थानमें पहुँचाना।४५-४८। ५. पूजाराध्य क्रिया—जिनेन्द्र देवकी पूजा करते हुए द्वादशांगका अर्थ ज्ञानी जनोंके मुखसे सुनना।४९। ६. पुण्य यज्ञक्रिया—साधर्मी पुरुषोंके साथ पुण्य वृद्धिके कारणभूत चौदह पूर्व विद्याओंका सुनना।५०। ७. दृढचर्या क्रिया—शास्त्रके अर्थका अवधारण करके स्वमतमें दृढता धारना।५१। ८ उपयोगिता क्रिया—पर्वके दिन उपवासमें अर्थात् रात्रिके समय प्रतिमा योग धारण करके ध्यान करना।५२। ९. उपनीति क्रिया—ब्रह्मचारीका स्वच्छ वेश व यज्ञोपवीत आदि धारण करके शास्त्रानुसार नाम परिवर्तन पूर्वक जिनमतमें श्रावककी दीक्षा लेना।५३-५६। १०. व्रतचर्या क्रिया—तदनन्तर उपासकाध्ययन करके योग्य व्रतादि धारण करना।५७। ११. व्रतावरण क्रिया—विद्याध्ययन समाप्त हो जानेपर गुरुकी साक्षीमें पुनः आभूषण आदिका ग्रहण करके गृहस्थमें प्रवेश करना।५८। १२. विवाह क्रिया—स्व स्त्रीको भी अपने मतमें दीक्षित करके पुनः उसके साथ पूर्वरूपेण सर्व विवाह संस्कार करे।५९-६०। १३. वर्णलाभक्रिया—समाजके चार प्रतिष्ठित व्यक्तियोंसे अपनेको समाजमें सम्मिलित होनेकी प्रार्थना करे और वे विधि पूर्वक इसे अपने वर्णमें मिला लें।६१-७१। १४. कुलचर्या क्रिया—जैनकुलकी परम्परानुसार देव पूजादि षट् आवश्यक क्रियाओंमें नियमसे प्रवृत्ति करना।७२। १५ गृहीशिता क्रिया—शास्त्रमें पूर्ण अभ्यस्त हो जानेपर तथा प्रायश्चित्तादि विधिका ज्ञान हो जानेपर गृहस्थाचार्यके पदको प्राप्त होना।७३-७४। १६. प्रशान्तता क्रिया—नाना प्रकारके उपवासादिकी भावनाओंको प्राप्त होना।७५। १७. गृहत्याग क्रिया—योग्य पुत्रको नीति सहित धर्मोपदेशकी शिक्षा देकर, विरक्त बुद्धि वह द्विजोत्तम गृह त्याग कर देता है।७६। १८. दीक्षाद्य क्रिया—एक वस्त्रको धारण करके वनमें जा गुरुसे दीक्षा लेना।७७। १९. जिनरूपता क्रिया—गुरुके समीप दिगम्बरी दीक्षा धारण करना।७८। २०-४८. मौनाध्ययन वृत्ति—से लेकर अग्रनिर्वृत्ति क्रिया तक ये आगेकी सर्व क्रियाएँ गर्भान्वय क्रियाओंमें नं. २५ से नं. ५३ तककी क्रियाओं वत् जानना।७९-८०।

४. कर्त्रन्वयादि ७ क्रियाओंके लक्षण

म. पु./३८/६६ तास्तु कर्त्रन्वया ज्ञेया याः प्राप्याः पुण्यकर्तृभिः। फलरूपतया वृत्ताः सन्मार्गाराधनस्य वै ।६६। = कर्त्रन्वय क्रियाएँ वे हैं जो कि पुण्य करनेवाले लोगोंको प्राप्त हो सकती हैं और जो समीचीन मार्गकी आराधना करनेके फलस्वरूप प्रवृत्त होती हैं।६६।

म. पु./३९/८०-२०७ अथातः संप्रवक्ष्यामि द्विजाः कर्त्रन्वयक्रियाः ।८०। [illegible] क्रिया श्रेयोऽनुबन्धिनी। [illegible] भवेत् ।८२। ... [illegible]। सिद्धिः [illegible] ।२०६। इत्यागमानुसारेण प्रोक्ता कर्त्रन्वयक्रिया। [illegible] ।२०७। = १. सज्जाति क्रिया—[illegible] प्राप्तिका कारणभूत मनुष्य जन्म, उसमें भी [illegible] और [illegible] उत्पन्न हुआ कोई भव्य, [illegible] आदि संस्कारोंको पाकर [illegible] प्राप्त होता है, [illegible] दिव्य ज्ञानरूपी गर्भसे उत्पन्न हुआ होनेके कारण [illegible]

करनेवाला समझा जाता है।८१-९८। २ सद्गृहित्व क्रिया—गृहस्थ योग्य असि मसि आदि षट्कर्मोंका पालन करता हुआ, पृथिवी-तलपर ब्रह्मतेजके वेद या शास्त्रज्ञानको स्वय पढता हुआ और दूसरोको पढाता हुआ वह प्रशंसनीय देव-ब्राह्मणपनेको प्राप्त होता है। अर्हन्त उसके पिता हैं, रत्नत्रय रूप संस्कार उनकी उत्पत्तिकी अगर्भज योनि है। जिनेन्द्र देवरूप ब्रह्माकी सन्तान है, इसलिए वह देव ब्राह्मण है। उत्तम चारित्रको धारण करनेके कारण वर्णोत्तम है। ऐसा सच्चा जैन श्रावक ही सच्चा द्विज व ब्राह्मणोत्तम है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य व माध्यस्थ्यादि पक्ष तथा चर्या व प्रायश्चित्तादि साधनके कारण उनसे उद्योग सम्बन्धी हिंसाका भी स्पर्श नहीं होता। इस प्रकार गुणोके द्वारा अपने आत्माकी वृद्धि करना सद्गृहित्व क्रिया है।९९-१५४। ३. पारिव्राज्य क्रिया—गृहस्थ धर्मका पालन कर घरके निवाससे विरक्त होते हुए पुरुषका जो दीक्षा ग्रहण करना है उसे परिव्रज्या कहते है। ममत्व भावको छोडकर दिगम्बररूप धारण करना यह पारिव्राज्य क्रिया है।१५५-२००। ४. सुरेन्द्रता क्रिया—परिव्रज्याके फलस्वरूप सुरेन्द्र पदकी प्राप्ति।२०१। ५—साम्राज्य क्रिया चक्रवर्तीका वैभव व राज्य प्राप्ति।२०२। ६ आर्हन्त्य क्रिया—अर्हन्त परमेष्ठीको जो पचकल्याणक रूप सम्पदाओकी प्राप्ति होती है, उसे आर्हन्त्य क्रिया जानना चाहिए।२०३-२०४। ७ परिनिर्वृत्ति क्रिया—अन्तमें सर्वकर्म विमुक्त सिद्ध पदकी प्राप्ति।२०५-०६।

*** इन सब क्रियाओंके लिए मन्त्र विधान**—दे मंत्र/१/७।

५. गृहस्थको ये क्रियाएँ अवश्य करनी चाहिए

म. पु/३८/४९-५० तदेषां जातिसंस्कार द्रढयन्निति सोऽधिराट्। स प्रोवाच द्विजन्मेभ्य क्रियाभेदानशेषत ।४९। ताश्च क्रियास्त्रिधाम्नाता श्रावकाध्यायसंग्रहे। सद्दृष्टिभिरनुष्ठेया महोदका. शुभावहा ।५०। =इसके लिए इन द्विजो (उत्तम कुलीनों) की जातिके संस्कारको दृढ करते हुए सम्राट् भरतेश्वरने द्विजोके लिए नीचे लिखे अनुसार क्रियाओंके समस्त भेद कहे।४९। उन्होंने कहा कि श्रावकाध्ययन सग्रहमें क्रियाएँ तीन प्रकारकी कही है। सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको उन क्रियाओंका पालन अवश्य करना चाहिए। क्योकि वे सभी उत्तम फल देनेवाली और शुभ करनेवाली है।५०।

*** यज्ञोपवीत संस्कार विशेष**—दे. यज्ञोपवीत।

*** संस्कार द्वारा अजैनको जैन बनाया जा सकता है** —दे. यज्ञोपवीत/२।

संस्तनक—दूसरे नरकका दूसरा पटल—दे नरक/५/११।

संस्तर—भ. आ/मू/६४०-६४५/८४०-८४५ पुढविसिलामओ वा फलमओ तणमओ य संथारो। होदि समाधिणिमित्त उत्तरसिर अहव पुव्वसिरो।६४०। अघसे समे असुसिरे अहिसुयअविले य अप्पपाणे य। असिणिद्धे घणगुत्ते उज्जोवे भूमिसथारो।६४१। विद्धत्थो य अफुडिदो णिक्कपो सव्वदो असंसत्तो। समपट्ठो उज्जोवे सिलामओ होदि संथारो।६४२। भूमि समरुं दलओ अकुडिल एगगि अप्पमाणो य। अच्छिदो य अफुडिदो लण्हो वि य फलय संथारो।६४३। णिस्सधी य अपोल्लो णिरुवहदो समधि वासणिज्जंतु। सुहपडिलेहो मउओतण-संथारो हवे चरिमो।६४४। जुत्तो पमाणरइयो उभयकालपडिलेहणा-सुद्धो। विधिविहिदो संथारो आरोहव्वो तिगुत्तेण।६४५। =पृथिवी, शिलामय, फलकमय, और तृणमय ऐसे चार प्रकारके संस्तर है। समाधिके निमित्त इनकी आवश्यकता पडती है। इन सस्तरोंके मस्तकका भाग पूर्व व उत्तर दिशाकी तरफ होना चाहिए।६४०। भूमि-सस्तर—जो जमीन मृदु नहीं है, जो छिद्र रहित, सम, सूखी, प्राणि-रहित, प्रकाशयुक्त, क्षपकके देहप्रमाणके अनुसार और गुप्त, और सुरक्षित है ऐसी जमीन संस्तररूप होगी अन्यथा नहीं।६४१। शिलामय संस्तर—शिलामय संस्तर अग्निज्वालासे दग्ध, टाँकीके द्वारा उकेरा गया, वा घिसा हुआ, होना चाहिए। यह संस्तर टूटा-फूटा न हो निश्चल हो, सर्वत जीवोसे रहित हो, खटमल आदि दोषोंसे रहित, समतल और प्रकाशयुक्त होना चाहिए।६४२। फलकमय संस्तर—चारो तरफसे जो भूमिसे संलग्न है, रुन्द और हलका, उठाने रखनेमें अनायास कारक, सरल, अखण्ड, स्निग्ध, मृदु, अफूट ऐसा फलक सस्तरके लिए योग्य है।६४३। तृणसंस्तर—तृणसंस्तर गाँठ रहित तृणसे बना हुआ, छिद्र रहित, न टूटे हुए तृणसे बना हुआ, जिसपर सोने व बैठनेसे खुजली न होगी ऐसे तृणसे बना हुआ, मृदुस्पर्शवाला, जन्तुरहित, जो सुखसे सोधा जाता है, ऐसा होना चाहिए।६४४। संस्तरके सामान्य लक्षण—चारो प्रकारके सस्तरोंमें ये गुण होने चाहिए। योग्य, प्रमाणयुक्त हो। तथा सूर्योदय व सूर्यास्तकालमें शोधन करनेसे शुद्ध होता है। शास्त्रोक्त विधिसे जिसकी रचना हुई है, ऐसे संस्तरपर मन वचन कायका शुद्ध कर आरोहण करना चाहिए।६४५।

संस्तव—दे भक्ति/३।

संस्थान—

१. संस्थान सामान्य व संस्थान नामकर्मका लक्षण

स. सि/५/२४/२९६/१ संस्थानमाकृति।

स सि/८/११/३९०/३ यदुदयादौदारिकादिशरीराकृतिनिर्वृत्तिर्भवति तत्संस्थाननाम।=१ संस्थानका अर्थ आकृति है। (रा वा./३/८/३/-१७०/१४)। २ जिसके उदयसे औदारिकादि शरीरोंकी आकृति बनती है वह संस्थाननामकर्म है। (रा. वा./८/११/८/५७६/२६); (ध. ६/१,९-१,२८/५३/६), (ध. १३/५,५ १०१/३६४/३), (गो. क/जी. प्र./३३/२९/३)

रा वा/५/२४/१/४८५/१३ संतिष्ठते, संस्थीयतेऽनेनेति, संस्थितिर्वा संस्थानम्। =जो संस्थित होता है या जिसके द्वारा संस्थित होता है या संस्थितिको संस्थान कहते है।

क. पा. २/२-२२/§१५/६/२ तं स-चउरस-वट्टादीणि संठाणाणि। =त्रिकोण, चतुष्कोण, और गोल आदि (आकार) को संस्थान कहते है।

२. संस्थानके भेद

ष. खं. ६/१,९-१/सू ३४/७० जं त सरीरसंठाणणामकम्मं तं छव्विहं, समचउरससरीरसंठाणणामं णग्गोहपरिमंडलसरीरसंठाणणामं सादियसरीरसंठाणणामं खुज्जसरीरसंठाणणामं वामणसरीरसंठाणणामं हुंडसरीरसंठाणणामं चेदि। =जो शरीर संस्थान नामकर्म है वह छह प्रकारका है—समचतुरस्र शरीरसंस्थाननामकर्म, न्यग्रोधपरिमण्डल-शरीरसंस्थाननामकर्म, स्वातिशरीरसंस्थाननामकर्म, कुब्जशरीर-संस्थान नामकर्म, वामनशरीरसंस्थाननामकर्म, और हुंडकशरीर-संस्थाननामकर्म। (ष ख. १३/५, ५/सू. १०७/३६८), (स. सि./-८/११/३९०/३), (पं. सं/प्रा/१/४ की टीका); (द्र सं/१६/५३/-६); (भ पा./टी/६४/२-६/१३)

स. सि./५/२४/२९६/१ तद्द (संस्थान) द्विविधमित्थंलक्षणमनित्थंलक्षणं चेति। =इस (संस्थान) के दो भेद है—इत्थंलक्षण और अनित्थं-लक्षण।

द्र. सं/टी./१६/५३/८ वृत्तत्रिकोणचतुष्कोणादिव्यक्ताव्यक्तरूपं बहुधा संस्थानम्। =गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि प्रगट अप्रगट अनेक प्रकारके संस्थान है।

३. संस्थानके भेदोंके लक्षण

१. समचतुरस्र

रा वा /८/११/८/५७६/३२ तत्रोर्ध्वाधोमध्येषु समप्रविभागेन शरीरावयवसनिवेशव्यवस्थापनं कुशलशिल्पिनिर्वर्तितसमस्थितिचक्रवत् अवस्थानकर समचतुरस्रसंस्थाननाम। =ऊपर नीचे मध्यमें कुशल शिल्पीके द्वारा बनाये गये समचक्रकी तरह समान रूपसे शरीरके अवयवोंकी रचना होना समचतुरस्र संस्थान है।

ध ६/१,९-१,३४/७१/१ सम चतुरस्रं समचतुरस्रं समविभक्तमित्यर्थः। जस्स कम्मस्स उदएण जावाण समचउरस्ससंठाण होदि तस्स कम्मस्स समचउरससठाणमिदि सण्णा। =समान चतुरस्र अर्थात् समविभक्तको समचतुरस्र कहते है। जिस कर्मके उदयसे जीवोके समचतुरस्रसस्थान होता है उस कर्मकी समचतुरस्र सज्ञा है।

ध. १३/५.५.१०७/३६६/५ चतुर शोभनम्, समन्ताच्चतुरं समचतुरम्, समानमानोन्मानमित्यर्थः। समचतुरं च तत् शरीरसस्थान च समचतुरशरीरसंस्थानम्। तस्य सस्थानस्य निवर्त्तक यत् कर्म तस्याप्येषैव सज्ञा, कारणे कार्योपचारात्। =चतुरका अर्थ शोभन है, सब ओरसे चतुर समचतुर कहलाता है। समान मान और उन्मानवाला, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। समचतुर ऐसा जो शरीरसस्थान वह समचतुरस्रशरीरसंस्थान है। उस संस्थानके निर्वर्तक कर्मकी भी कारणमें कार्यके उपचारसे यही सज्ञा है।

२. न्यग्रोध परिमण्डल

रा. वा./८/११/८/५७६/३३ नाभेरुपरिष्टाद् भूयसो देहसंनिवेशस्याधस्ताच्चाल्पीयसो जनकं न्यग्रोधपरिमण्डलसस्थानम्। =बडके पेडकी तरह नाभिके ऊपर भारी और नीचे लघुप्रदेशोंकी रचना न्यग्रोधपरिमण्डल सस्थान है।

ध. ६/१,९-१,३४/७१/२ णग्गोहो वडरुक्खो, तस्स परिमडलं व परिमडलं जस्स सरीरस्स तण्णग्गोहपरिमंडलं। णग्गोहपरिमंडलमेव सरीरसंठाणं णग्गोहपरिमंडलसरीरसठाणं आयतवृत्तमित्यर्थः। =न्यग्रोध वट वृक्षको कहते हैं, उसके परिमण्डलके समान परिमण्डल जिस शरीरका होता है उसे न्यग्रोध परिमण्डल कहते है। न्यग्रोध परिमण्डलरूप ही जो शरीर संस्थान है, वह न्यग्रोध परिमण्डल अर्थात् आयतवृत्त शरीरनामकर्म है।

ध. १३/५.५.१०७/३६८/७ न्यग्रोधो वटवृक्षः समन्तान्मण्डलं परिमण्डलम्, न्यग्रोधस्य परिमण्डलमिव परिमण्डल यस्य शरीरसंस्थानस्य तन्न्यग्रोधपरिमण्डलशरीरसस्थानं नाम॥ अधस्तात् श्लक्ष्णं उपरि विशालं यच्छरीरं तन्न्यग्रोधपरिमण्डलशरीरसस्थानं नाम। एतस्य यत् कारणं कर्म तस्याप्येषैव संज्ञा, कारणे कार्योपचारात्=न्यग्रोधका अर्थ वटका वृक्ष है, और परिमण्डलका अर्थ सब ओरका मण्डल। न्यग्रोधके परिमण्डलके समान जिस शरीर सस्थानका परिमण्डल होता है वह न्यग्रोध परिमण्डल शरीर सस्थान है। जो शरीर नीचे सूक्ष्म और ऊपर विशाल होता है वह न्यग्रोध परिमण्डल शरीर संस्थान है। कारणमें कार्यके उपचार इसके कारण कर्मकी यही संज्ञा है।

३. स्वाति

रा. वा./८/११/८/५७७/२ तद्विपरीतसनिवेशकरं स्वातिसंस्थाननाम वल्मीकतुल्याकारम्। =न्यग्रोधसे उलटा ऊपर लघु और नीचे भारी, बाम्बीकी रचना स्वाति संस्थान है। (ध. १३/५,५,१०७/३६८/१०)।

ध. ६/१,९-१,३४/७१/४ स्वातिर्वल्मीकः शाल्मलिर्वा, तस्य संस्थानमिव संस्थानं यस्य शरीरस्य तत्स्वातिशरीरसस्थानम्। अहो विसाल उवरि सण्हमिदि जं उत्तं होदि। =स्वाति नाम वल्मीक या शाल्मली वृक्षका है। उसके आकारके समान आकार जिस शरीरका है, वह स्वाति संस्थान है। अर्थात् यह शरीर नाभिसे नीचे विशाल और ऊपर सूक्ष्म या हीन होता है।

४. कुब्ज

रा वा./८/११/८/५७७/२ पृष्ठप्रदेशभाविबहुपुद्गलप्रचयविशेषलक्षणस्य निर्वर्तकं कुब्जसंस्थाननाम। =पीठपर बहुत पुद्गलोका पिण्ड हो जाना अर्थात् कुबडापन कुब्जक संस्थान है।

ध. ६/१,९-१,३४/७१/६ कुब्जस्य शरीरं कुब्जशरीरम्। तस्य कुब्जशरीरस्य संस्थानमिव संस्थान यस्य तत्कुब्जशरीरसस्थानम्। 'जस्स कम्मस्स उदएण साहाणं दीहत्तं मज्झस्स रहस्सत्तं च होदि तस्स खुज्जशरीरसंठाणमिदि सण्णा। = कुबडे शरीरको कुब्ज शरीर कहते हैं। उस कुब्ज शरीरके सस्थानके समान संस्थान जिस शरीरका होता है, वह कुब्ज शरीर संस्थान है। जिस कर्मके उदयसे शाखाओंकी दीर्घता और मध्य भागके ह्रस्वता होती है, उसकी 'कुब्ज शरीर संस्थान' यह सज्ञा है। (ध. १३/५,५,१०७/३६८/१२)।

५. वामन

रा. वा /८/११/८/५७७/३ सर्वाङ्गोपाङ्गह्रस्वव्यवस्थाविशेषकारणं वामन संस्थाननाम। =सभी अंग उपांगोको छोटा बनानेमें कारण वामन संस्थान है।

ध. ६/१,९-१, ३४/७१/८ वामनस्य शरीरं वामनशरीरम्। वामनशरीरस्य संस्थानमिव संस्थानं यस्य तद्वामनशरीरसंस्थानम्। जस्स कम्मस्स उदएण साहाणं ज रहस्सत्तं कायस्स दीहत्तं च होदि तं वामणसरीरसंठाणं होदि। =बौनेके शरीरको वामन शरीर कहते है। वामन शरीरके संस्थानके समान सस्थान जिसमें होता है, वह वामन शरीर सस्थान है। जिस कर्मके उदयसे शाखाओके ह्रस्वता और शरीरके दीर्घता होती है, वह वामनशरीर संस्थान नामकर्म है। (ध. १३/५.५.१०७/३६८/१३)।

६. हुंडक

रा वा./८/११/८/५७७/४ सर्वाङ्गोपाङ्गानां हुण्डसंस्थितत्वात् हुण्डसस्थाननाम। =सभी अग और उपांगोंका बेतरतीब हुंडकी तरह रचना हुडक संस्थान है।

ध. ६/१,९,१,३४/७२/२ विसमपासाणभरियदइओ व्व विसदो विसमं हुंडं। हुंडस्स शरीरं हुंडशरीर, तस्स सठाणमिव संठाणं जस्स त हुंडसरीरसठाणणाम। जस्स कम्मस्स उदएण पुव्वुत्तपंचसंठाणेहितो वदिरित्तमण्णसठाणमुप्पज्जइ एक्कत्तीसभेदभिण्णं तं हुंडसठाणसण्णिदं होदि त्ति णादव्वं। =विषम अर्थात् समानता रहित अनेक आकारवाले पाषाणोंसे भरी हुई मशकके समान सर्व ओरसे विषम आकारको हुंड कहते है। हुंडके शरीरको हुंड शरीर कहते हैं। उसके सस्थानके समान सस्थान जिसके होता है उसका नाम हुड शरीर संस्थान है। जिस कर्मके उदयसे पूर्वोक्त पाँच सस्थानोंसे व्यतिरिक्त इकतीस भेद भिन्न अन्य संस्थान उत्पन्न होता है, वह शरीर हुंडसंस्थान संज्ञा वाला है, ऐसा जानना चाहिए। (ध. १३/५,५,१०७/३६९/१)।

४. इत्थं अनित्थं संस्थानके लक्षण

स. सि./५/२४/२९६/१ वृत्तत्र्यस्रचतुरस्रायतपरिमण्डलादीनामित्थंलक्षणम्। अतोऽन्यन्मेघादीनां संस्थानमनेकविधमित्थमिदमिति निरूपणाभावादनित्थंलक्षणम्। =जिसके विषयमें 'यह संस्थान इस प्रकारका है' यह निर्देश किया जा सके वह इत्थंलक्षण संस्थान है। वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण, आयत और परिमण्डल, आदि ये सब इत्थंलक्षण संस्थान हैं। तथा इसके अतिरिक्त मेघ आदिके आकार जो कि अनेक प्रकारके हैं और जिनके विषयमें 'यह इस प्रकारका है।' यह नहीं कहा

जा सकता वह अनित्थलक्षण संस्थान है। (रा. वा./५/२४/१३/४८८/१)।

५. गति मार्गणामें संस्थानोंका स्वामित्व

मू. आ./१०९० समचउरसणिग्गोहासादि य खुज्जा य वामणा हुंडा। पंचिंदियतिरियणरा देवा चउरस्स णारया हुंडा। —समचतुरस्र, न्यग्रोध, स्वातिक, कुब्जक, वामन और हुंड ये छह संस्थान पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्योंके होते हैं, देव चतुरस्र संस्थान वाले हैं, नारकी सब हुंडक संस्थान वाले होते हैं।१०९०।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१. एकेन्द्रियोंमें संस्थानका अभाव तथा तत्सम्बन्धी शंका समाधान। —दे. उदय/५।

२. विकलेन्द्रियोंमें हुंडक संस्थानका नियम तथा तत्सम्बन्धी शंका समाधान। —दे. उदय/५।

३. विग्रहगतिमें जीवोंका संस्थान। —दे. अवगाहना/१।

४. संस्थान नामकर्मकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणा तथा तत्सम्बन्धी नियम व शंका समाधान आदि। —दे. वह वह नाम।

संस्थान निर्माण कर्म—दे. निर्माणकर्म।

संस्थान विचय धर्म ध्यान—दे. धर्मध्यान/१।

संस्थानाक्षर—दे. अक्षर।

संहनन—१. संहनन सामान्यका लक्षण

स. सि./८/११/३९०/५ यस्योदयादस्थिबन्धनविशेषो भवति तत्संहनननाम। —जिसके उदयसे अस्थियोंका बन्धन विशेष होता है वह संहनन नामकर्म है। (रा. वा./८/११/९/५७७/५), (ध. ६/१, ९-१, २८/५४/८) (ध. १३/५,५,१०७/३६४/५), (गो. क./जी. प्र./३३/२९/६)।

२. संहननके भेद

ष. खं. ६/१,९-१/सू. ३९/७३ जं तं सरीरसंघडणणामकम्मं तं छव्विहं, वज्जरिसहवइरणारायणसरीरसंघडणणामं वज्जणारायणसरीरसंघडणणामं णारायणसरीरसंघडणणामं अद्धणारायणसरीरसंघडणणामं खीलियसरीरसंघडणणामं असंपत्तसेवट्टसरीरसंघडणणामं चेदि।३९। —जो शरीर संहनन नामकर्म है वह छह प्रकारका है—वज्रऋषभनाराचशरीरसंहनन नामकर्म, वज्रनाराचशरीरसंहनन नामकर्म, नाराचशरीरसंहनन नामकर्म, अर्धनाराच शरीरसंहनन नामकर्म, कीलकशरीरसंहनन नामकर्म, और असंप्राप्त सृपाटिकाशरीरसंहनन नामकर्म। (ष. खं. १३/५,५/सू. १०९/३६९), (स. सि./८/११/३९०/६), (पं. सं./प्रा./२/४ की टी.) (रा. वा./८/११/९/५७७/६), (गो. क./जी. प्र./३३/२९/६)।

३. संहननके भेदोंके लक्षण

रा. वा./८/११/९/५७७/७ तत्र वज्राकारोभयास्थिसन्धि प्रत्येकं मध्ये वलयबन्धनं सनाराचं सुसंहतं वज्रर्षभनाराचसंहननम्। तदेव वलयबन्धनविरहितं वज्रनाराचसंहननम्। तदेवोभयं वज्राकारबन्धनव्यपेतमवलयबन्धनं सनाराचं नाराचसंहननम्। तदेवैकपार्श्वे सनाराचम् इतरत्रानाराचम् अर्धनाराचसंहननम्। तदुभयमन्ते सकीलं कीलिकासंहननम्। अन्तरसंप्राप्तपरस्परास्थिसन्धि बहिःसिरास्नायुमांसघटितम् असंप्राप्तसृपाटिकासंहननम्। —दोनों हड्डियोंकी सन्धियाँ वज्राकार हों। प्रत्येकमें वलयबन्धन और नाराच हों ऐसा सुसंहत बन्धन वज्रर्षभनाराचसंहनन है। वलय बन्धनसे रहित वही वज्रनाराच संहनन है। वही वज्राकार बन्धन और वलय बन्धनसे रहित पर नाराच युक्त होनेपर सनाराच संहनन है। वही एक तरफ नाराच युक्त तथा दूसरी तरफ नाराच रहित अवस्थामें अर्ध नाराच है। जब दोनों हड्डियोंके छोरोंमें कील लगी हों तब वह कीलक संहनन है। जिसमें भीतर हड्डियोंका परस्पर बन्ध न हो मात्र बाहिरसे वे सिरा स्नायु मांस आदि लपेट कर संघटित की गयी हों वह असंप्राप्तसृपाटिका संहनन है। (ध. १३/५,५,१०९/३६९/११)।

ध. ६/१,९-१,३६/७३/८ संहननमस्थिसंचयः, ऋषभो वेष्टनम्, वज्रवदभेद्यत्वाद्वज्रऋषभः। वज्रवन्नाराचः वज्रनाराचः, तौ द्वावपि यस्मिन् वज्रशरीरसंहनने तद्वज्रऋषभवज्रनाराचशरीरसंहननम्। जस्स कम्मस्स उदएण वज्जहड्डाइं वज्जवेट्ठेण वेढियाइं वज्जणाराएण खीलियाइं च होंति तं वज्जरिसहवइरणारायणसरीरसंघडणमिदि उत्तं होदि। एसो चेव हड्डबंधो वज्जरिसहवज्जिओ जस्स कम्मस्स उदएण होदि तं कम्मं वज्जणारायणसरीरसंघडणमिदि भण्णदे। जस्स कम्मस्स उदएण वज्जविसेसणरहिदणारायखीलियाओ हड्डसंधिओ हवंति तं णारायणसरीरसंघडणं णाम। जस्स कम्मस्स उदएण हड्डसंधीओ णाराएण अद्धविद्धाओ हवंति तं अद्धणारायणसरीरसंघडणं णाम। जस्स कम्मस्स उदएण अवज्जहड्डाइं खीलियाइं हवंति तं खीलियसरीरसंघडणं णाम। जस्स कम्मस्स उदएण अण्णोण्णमसंपत्ताइं सरिसिवहड्डाइं व छिराबद्धाइं हड्डाइं हवंति तं असंपत्तसेवट्टसरीरसंघडणं णाम। —हड्डियोंके संचयको संहनन कहते हैं। वेष्टनको ऋषभ कहते हैं। वज्रके समान अभेद होनेसे 'वज्रऋषभ' कहलाता है। वज्रके समान जो नाराच है वह वज्रनाराच कहलाता है। ये दोनों अर्थात् वज्रऋषभ और वज्रनाराच, जिस वज्र संहननमें होते हैं, वह वज्रऋषभ वज्रनाराच शरीर संहनन है। जिस कर्मके उदयसे वज्रमय हड्डियाँ वज्रमय वेष्टनसे वेष्टित और वज्रमय नाराचसे कीलित होती हैं, वह वज्रऋषभनाराच शरीर संहनन है। ऐसा अर्थ कहा गया है। यह उपर्युक्त अस्थिबन्ध ही जिस कर्मके उदयसे वज्र ऋषभसे रहित होता है, वह कर्म वज्रनाराचशरीर संहनन इस नामसे कहा जाता है। जिस कर्मके उदयसे वज्र विशेषणसे रहित नाराच कीलें और हड्डियोंकी सन्धियाँ होती हैं वह नाराच शरीर संहनन नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे हाडोंकी सन्धियाँ नाराचसे आधी बिंधी हुई होती हैं, वह अर्धनाराच शरीर संहनन नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे वज्र-रहित हड्डियाँ और कीलें होती है वह कीलक शरीर संहनन नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे सरीसृप अर्थात् सर्पकी हड्डियोंके समान परस्परमें असंप्राप्त और शिराबद्ध हड्डियाँ होती हैं, वह असंप्राप्तसृपाटिका शरीर संहनन नामकर्म है।

४. उत्तम संहननका तात्पर्य प्रथम तीन संहनन

रा. वा./९/२७/१/६२५/१९ आद्यं संहननत्रयमुत्तमम्।१। वज्रवृषभनाराचसंहननं वज्रनाराचसंहननं नाराचसंहननमित्येतत्त्रितयं संहननमुत्तमम्। कुतः। ध्यानादिवृत्तिविशेषहेतुत्वात्। —आदिके तीन उत्तम संहनन हैं अर्थात् वज्रऋषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन ये तीनों ध्यानकी वृत्ति विशेषका कारण होनेसे उत्तम संहनन कहे गये है। (भ. आ./वि./१९९९/१५२१/१४)।

५. ध्यानके लिए उत्तम संहननकी आवश्यकता

रा. वा./९/२७/१,११/६२५-६२६/२० तत्र मोक्षस्य कारणमाद्यमेकमेव। ध्यानस्य त्रितयमपि (१/६२५) उत्तमसंहननाभिधानम् अन्यस्येयत्कालाध्यवसायधारणासामर्थ्यात्।११/६२६। —उपरोक्त तीनों

उत्तम सहननमेंसे मोक्षका कारण प्रथम सहनन होता है और ध्यानके कारण तो तीनो है।१। क्योंकि उत्तम संहननवाला ही इतने समय तक ध्यान धारण कर सकता है अन्य सहननवाला नहीं। (भ. आ./वि./१६६१/१५२१/१४)।

ध १३/५.४.२६/७६/१२ सुक्कलेस्सिओ ··वज्जरिसहवइरणारायणसरीर-संघडणो · खविदासेसक्सायवग्गो ।=जिसके शुक्ल लेश्या है··· (जो) वज्रऋषभ नाराच संहननका स्वामी है·· ऐसा क्षीणकषाय जीव ही एकत्व वितर्क अविचार ध्यानका स्वामी है।

ज्ञा./४१/६-७ न स्वामित्वमत शुक्ले विद्यतेऽत्यल्पचेतसाम्। आद्यसंहननस्यैव तत्प्रणीतं पुरातनै· ।६। छिन्ने भिन्ने हते दग्धे देहे स्वमिव दूरगम्। प्रपश्यन् वर्षवातादिदु.खैरपि न कम्पते।७। =पहले सहननवालेके ही शुक्लध्यान कहा है क्योकि इस सहननवालेका ·ही चित्त ऐसा होता है कि शरीरको छेदने, भेदने, मारने और जलानेपर भी अपने आत्मको अत्यन्त भिन्न देखता हुआ चलायमान नही होता, न वर्षाकाल आदिके दु खोसे कम्पायमान होता है।६-७।

त अनु./८४ यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वच। श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तन्निषेधकम्।८४। ='वज्रकायस्य ध्यानं' ऐसा जो वचन निर्देश है वह दोनो श्रेणियोको लक्ष्य करके कहा गया है इसलिए वह नीचेके गुणस्थानवर्तियोके लिए ध्यानका निषेधक नहीं है (प का./ता. वृ./१२६/२१२/१४), (द्र. स./टी/५७/२३२/४)।

द्र. स /टी /५७/२३२/६ उपशमक्षपकश्रेण्यो· शुक्लध्यान भवति, तच्चोत्तमसहननेनैव, अपूर्वगुणस्थानादधस्तनेषु गुणस्थानेषु धर्मध्यान, तच्चादिमत्रिकोत्तमसहननाभावेऽप्यन्तिमत्रिकसंहननेनापि भवति। =उपशम श्रेणी तथा क्षपक श्रेणीमे जो ध्यान होता है वह उत्तम सहनन से ही होता है, किन्तु अपूर्वकरण गुणस्थानसे नीचेके गुणस्थानमें जो धर्मध्यान होता है वह पहले तीन उत्तर सहननके अभाव होने पर भी अन्तिमके तीन सहननसे भी होता है।

६. स्त्रीको उत्तम संहनन नहीं होती

मो. क /मू /३२ अंतिमतिगसहणणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं। आदिमतिगसंहडण णत्थित्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं। =कर्म भूमिकी स्त्रियोके अन्तके तीन अर्द्धनाराच आदि सहननका ही उदय होता है, आदिके तीन वज्रऋषभनाराचादि सहननका उदय नही होता। (पं. का /ता. वृ./प्रक्षेपक/२२५-८/३०४ पर उद्धृत)।

७. अन्य सम्बन्धित विषय—

१. किस संहननवाला जीव मरकर कहाँ उत्पन्न हो तथा कौन सा गुण उत्पन्न करनेको समर्थ हो। —दे. जन्म/६।
२ संहनन नाम कर्मकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणाएँ तथा तत्सम्बन्धी शंका समाधान। —दे. वह वह नाम।
३. सल्लेखनामें सहनन निर्देश। —दे. सल्लेखना/३।

सककापिर—भरतक्षेत्र दक्षिण आर्य खण्डका एक देश—दे. मनुष्य/४।

सकलकीर्ति—नन्दीसंघ बलात्कार गणकी ईडर गद्दी पर यह पद्मनन्दि न. ६ के शिष्य तथा भुवनकीर्ति के गुरु, सस्कृत एव प्राकृत वाङ्मय के सरक्षक, अनेकानेक ग्रन्थो के रचयिता। कृतियें मूलाचार प्रदीप, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, सिद्धान्तसार दीपक, तत्त्वार्थसार दीपक, आगमसार, द्वादशानुप्रेक्षा, समाधिमरणोत्साह दीपक, सार चतुर्विंशतिका, सद्भाषितावली, परमात्मर ज स्तोत्र, पचपरमेष्ठी पूजा, अष्टान्हिका पूजा, सोलहकारण पूजा, गणधरवलय पूजा, आदि पुराण, उत्तर पुराण, पुराणसार संग्रह सुकुमाल, धन्यकुमार आदि अनेकों चारित्र ग्रन्थ। समय—जन्म बि.१४४३, पट्टाभिषेक बि.१४७६, समाधि बि १४६६। (ई. १४२६-१४४२)। (ती /३/३२६), (दे. इतिहास ७/४)।

सकलचंद्र—नन्दिसंघ देशीयगण, अभयनन्दि के शिष्य, मेघचन्द्र त्रैविद्य के गुरु। समय—(ई ६५०-१०२०)। (दे. इतिहास/७/५)।

सकलदत्ति—दे दान/१।

सकल परमात्मा—दे परमात्मा/१।

सकल विधि विधान—दे. पूजापाठ।

सकलादेश—१. सकलादेश निर्देश

रा. वा /४/४२/१३/२५२/२३ यदा तु तेषामेव धर्माणा कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देन एकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकत्वमापन्नस्य अनेकाशेषरूपस्य प्रतिपादनसभवात् यौगपद्यम्। तत्र यदा यौगपद्य तदा सकलादेश., स एव प्रमाणमित्युच्यते। 'सकलादेश प्रमाणाधीन.' इति वचनात्। =जब उन्ही अस्तित्वादि धर्मोंकी कालादिककी दृष्टिसे अभेद विवक्षा होती है तब एक भी शब्दके द्वारा एक धर्ममुखेन तादात्म्य रूपसे एकत्वको प्राप्त सभी धर्मोंका अखड भावसे युगपत् कथन हो जाता है। यह सकलादेश कहलाता है। सकलादेश प्रमाण रूप है। कहा भी है—सकलादेश प्रमाणाधीन है। (श्लो. वा २/१/६/५४/४५१/१५), (स्या म./२३/२८३/१०)।

श्लो वा २/१/६/५६/पृष्ठ प /पक्ति स. धर्मिमात्रवचनं सकलादेश धर्ममात्रकथनं तु विकलादेश इत्यप्यसारम्, सत्त्वाद्यन्यतमेनापि धर्मेणा विशेषितस्य धर्मिणो वचनासभवात्। धर्ममात्रस्य क्वचिद्धर्मिण्य वर्तमानस्य वक्तुमशक्ते। स्याज्जीव एव स्यादस्त्येवेति धर्मिमात्रस्य च धर्ममात्रस्य वचन संभवत्येवेति चेद्, न, जीवशब्देन जीवत्व धर्मात्मकस्य जीववस्तुन कथनादस्तिशब्देन चास्तित्वस्य क्वचिद्वि शेष्ये विशेषणतया प्रतीयमानस्याभिधानात्। (४५६/११) सकलाप्रति पादकत्वात् प्रत्येक सदादिवाक्यं विकलादेश इति न समीचीना युक्तिस्तत्समुदायस्यापि विकलादेशत्वप्रसंगात् ।४६०/२३। यदि पुनरस्तित्वादिधर्मसप्तकमुखेनाशेषानन्तधर्मसप्तभङ्गीविषयानन्तधर्मसप्तक-स्वभावस्य वस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्त्या भेदोपचारेण प्रकाशनात्स दादिसप्तविकल्पात्मकवाक्यस्य सकलादेशत्वसिद्धिस्तदा स्यादस्त्येव जीवादिवस्त्वित्यस्य सकलादेशत्वमस्तु। विवक्षितास्तित्वमुखेन शेषानन्तधर्मात्मनो वस्तुनस्तथावृत्त्या कथनात् (४६२/१) =१. केवल धर्मीको कथन करनेवाला वाक्य सकलादेश है और केवल धर्मको कथन करना हो तो विकलादेश है। इस प्रकार· लक्षण साररहित है क्योकि अस्तित्व नास्तित्वादि धर्मोंमेंसे किसी एक भी धर्मसे विशिष्ट नहीं किये गये धर्मीका कथन असम्भव है। अर्थात सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित शुद्ध वस्तुका निरूपण नहीं हो सकता है। किसी न किसी धर्मसे युक्त हो धर्मीका कथन किया जा सकता है। (स. भं. त./१७/१) २. कथंचित जीव ही है, इस प्रकार केवल जीवद्रव्य रूप धर्मीको कहनेवाला वचन विद्यमान है, और 'कथंचित है ही' ऐसे केवल अस्तित्व धर्मको कहनेवाला वाक्य भी सम्भवता है। ऐसा कोई कटाक्ष करते है। सो ऐसा तो नहीं कहना क्योकि धर्मी वाचक जीव शब्द करके प्राणधारणरूप जीवत्व धर्मसे तदात्मक हो रही जीव वस्तु कथन की गयी है केवल धर्मीका ही कथन नहीं। और धर्मवाचक अस्ति शब्द करके किसी विशेष्यमें विशेषण होकर प्रतीत किये जा रहे ही अस्तित्वका निरूपण किया गया है कोरे अस्तित्वधर्मका नही।४५६/११। ३. अस्तित्व नास्तित्व आदि धर्मोंको कहनेवाले सातो भी वाक्य यदि प्रत्येक अकेले बोले जाँय तो सकलादेश हैं इस प्रकार दूसरे अन्यवादी कह रहे है। वे भी युक्ति और शास्त्र प्रमाणमें प्रवीण नही है क्योकि युक्ति और आगम दोनोंका अभाव है। यों तो उन सातो वाक्योके समुदायको भी विकलादेशपनेका प्रसंग होगा। अस्तित्वादि सातों वाक्य भी समुदित होकर भी सम्पूर्ण वस्तुभूत अर्थके प्रतिपादक नही है।४६०/२३। ४. अस्तित्व आदि सातों धर्मके

प्रमुखतासे शेष बचे हुए अनन्त सप्तभंगियोंके विषयभूत अनन्त संख्यावाले सातों धर्मस्वरूप वस्तुका काल, आत्म रूप आदि अभेद वृत्ति या भेदउपचार करके प्ररूपण होता है। इस कारण अस्तित्व नास्तित्व आदि सप्त भेद स्वरूप वाक्यको सकलादेशपना सिद्ध हो जाता है ऐसा विचार होनेपर हम कहेंगे कि तब तो 'स्यात् अस्ति एव जीवादि वस्तु" किसी अपेक्षासे जीवादि वस्तु है ही। इस प्रकार इस एक भगको सकलादेशपन हो जाओ। क्योंकि विवक्षा किये गये एक अस्तित्व धर्मकी प्रधानता करके शेष बचे हुए अनन्त धर्म स्वरूप वस्तुका तिस प्रकार अभेद वृत्ति या अभेद उपचारसे कथन कर दिया गया है (४६२/१)।

क. पा. १/१,१३-१४/§१७०/२०२/२ कथमेतेषां सप्तानां सुनयानां सकलादेशत्वम्; न, एकधर्मप्रधानभावेन साकल्येन वस्तुन प्रतिपादकत्वात्। सकलमादिशति कथयतीति सकलादेश। न च त्रिकालगोचरानन्तधर्मोपचितं वस्तु स्यादस्तीत्यनेन आदिश्यते तथानुपलम्भात् ततो नैते सकलादेशा इति, न, उभयनयविषयीकृतविधिप्रतिषेधधर्मव्यतिरिक्तत्रिकालगोचरानन्तधर्मानुपलम्भात्, उपलम्भे वा द्रव्यपर्यायार्थिकनयाभ्यां व्यतिरिक्तस्य तृतीयस्य नयस्यास्तित्वमासजेत्, न चैवम्। =प्रश्न—इन सातों (स्यादस्ति आदि) सुनयरूप वाक्योंको सकलादेशपना कैसे प्राप्त है? उत्तर—ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि ये सुनय वाक्य किसी एक धर्मको प्रधान करके साकल्य रूपसे वस्तुका प्रतिपादन करते है, इसलिए ये सकलादेश रूप है; क्योंकि साकल्य रूपसे जो वस्तुका प्रतिपादन करता है वह सकलादेश कहा जाता है। प्रश्न—त्रिकालके विषयभूत अनन्त धर्मोंसे उपचित वस्तु 'कथचित् है' इस एक वाक्यके द्वारा तो कही नहीं जा सकती है, क्योंकि एक धर्मके द्वारा अनन्त धर्मात्मक वस्तुका ग्रहण नहीं देखा जाता है। इसलिए उपर्युक्त सातों वाक्य सकलादेश नहीं हो सकते है। उत्तर—नहीं, क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयोंके द्वारा विषय किये गये विधि और प्रतिषेध रूप धर्मोंको छोडकर इससे अतिरिक्त दूसरे त्रिकालवर्ती अनन्त धर्म नहीं पाये जाते हैं। अर्थात् वस्तुमें जितने धर्म है वे या तो विधिरूप है या प्रतिषेध रूप, विधि और प्रतिषेधसे बहिर्भूत धर्म नहीं है। तथा विधिरूप धर्मोको द्रव्यार्थिक नय विषय करता है। यदि विधि और प्रतिषेधके सिवाय दूसरे धर्मोका सद्भाव माना जाय तो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोके अतिरिक्त एक तीसरे नयको मानना पडेगा। परन्तु ऐसा है नहीं।

स. भं त /पृष्ठ/पंक्ति—अत्र केचित्·अनेकधर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकवाक्यत्वं सकलादेशत्वं।·तेषां प्रमाणवाक्यानां नयवाक्यानां च सप्तविधत्वव्याघात.। (१६/३)। सिद्धान्तविदस्तु एकधर्मबोधनमुखेन तदात्मकानेकाशेषधर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकवाक्यत्वम्। तदुक्तम्: 'एकगुणमुखेनाशेषवस्तुरूपसङ्ग्रहात्सकलादेश', इति। (१६/८)। —यहाँपर कोई ऐसा कहते है·· सत्त्व असत्त्व आदि अनेक धर्म रूप जो वस्तु है उस वस्तु विषयक बोधजनक अर्थात् वस्तुके अनेक धर्मोंका ज्ञान करानेवाला सकलादेश है। उनके मतमें प्रमाण वाक्योंके तथा नय वाक्योके भी सात प्रकारका भेद नहीं सिद्ध होगा। (१६/३)। सिद्धान्तवेत्ता ऐसा कहते है कि एक धर्मके बोधनके मुखसे उसको आदि लेके सम्पूर्ण जो धर्म है उन सब धर्म स्वरूप जो वस्तु तादृश वस्तु विषयक बोधजनक जो वाक्य है उनको सकलादेश कहते है। इसी बातको अन्य आचार्यने भी कहा है। 'वस्तुके एक धर्मके द्वारा शेष सर्व वस्तुओंके स्वरूपोंका' संग्रह करनेसे सकलादेश कहलाता है।

★ नय कथंचित् सकलादेश है—दे सप्तभंगी/२।

★ प्रमाण सकलादेश है—दे. नय/I/२।

सकलेन्द्रिय जीव—दे इन्द्रिय/४।

सत्तनिभ—एक ग्रह—दे. ग्रह।

सक्ता—जीवको सक्ता कहनेकी विवक्षा—दे. जीव/१/३।

सगर—१. म. पु /सर्ग/श्लोक पूर्व भव नं २ में विदेहमें वत्सकावती देशका राजा जयसेन था (४८/५८) तथा पूर्व भवमें अच्युत स्वर्गमें महाकाल नामक देव था (४८/६८)। इस भवमें कौशल देशके इक्ष्वाकु वंशी राजा समुद्रविजयका पुत्र था (४८/७१-७२) तथा प. पु /५/७४ की अपेक्षा इसके पिताका नाम विजयसागर था। यह द्वितीय चक्रवर्ती था (दे. शलाकापुरुष)। दिग्विजय करके भोगोंमें आसक्त हो गया। यह देखकर पूर्व भवके मित्र मणिकेतु नामक देवने अनेक दृष्टान्त दिखाकर इसको सबोधा। जिसके प्रभावसे यह विरक्त होकर मुक्त हो गया (४८/१३६-१३७)। यह अजितनाथ भगवान्‌का मुख्य श्रोता था—दे० तीर्थंकर। २ म पु /६७/श्लोक मुनिसुव्रतनाथ भगवान्‌के समयमें, भरत चक्रवर्तीके बाद इक्ष्वाकुवंशमें असंख्यात राजाओके पश्चात् तथा दसवें चक्रवर्तीके १००० वर्ष पश्चात् अयोध्यामें राजा हुआ था। उस समय रामचन्द्रका ५५वाँ कुमार काल था। एक बार सुलसा कन्याके स्वयंवरमें मधुपिंगलको छलसे वरके दुष्ट लक्षणोसे युक्त बता कर स्वय सुलसासे विवाह किया। तब मधुपिंगलने असुर बनकर पर्वत नामक ब्राह्मण पुत्रकी सहायतासे (११४-१६०) वैर शोधनके अर्थ यज्ञ रचा। जिसमें उसको बलि चढा दिया गया (६७/३६४)।

सचित्त—जीव सहित पदार्थोंको सचित्त कहते हे। सूखनेसे, अग्निपर पकनेसे, कटने छटनेसे अथवा नमक आदि पदार्थोंसे ससक्त होनेपर वनस्पति, जल आदि पदार्थ अचित्त हो जाते है। व्रती लोग सचित्त पदार्थोंका सेवन नही करते।

१. सचित्त सामान्यका लक्षण

स. सि./२/३२/१८७/१० आत्मनश्चैतन्यविशेषपरिणामश्चित्तम्। सह चित्तेन वर्तत इति सचित्त।

स. सि /७/३५/३७१/६ सह चित्तेन वर्तते इति सचित्तं चेतनावद्द्रव्यम्। =१ आत्माके चैतन्य विशेषरूप परिणामको चित्त कहते है। जो उसके साथ रहता है वह सचित्त कहलाता है। (रा. वा /२/३२/१/१४१/२२) २. जो चित्त सहित है वह सचित्त कहलाता है। (रा. वा./७/३५/१/५५८)।

२. सचित्त त्याग प्रतिमाका लक्षण

र. क श्रा /१४१ मूलफलशाकशाखाकरीरकंदप्रसूनबीजानि। नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्ति। =जो कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा, करीर, जमीकन्द, पुष्प और बीज नहीं खाता है वह दयाकी मूर्ति सचित्त त्याग प्रतिमाधारी है।१४१। (चा. सा./३८/१), (का अ /मू /३७९-३८०), (ला स /७/१६)।

वसु श्रा /२९५ ज वज्जिज्जइ हरियं तुय-पत्त-पवाल-कदफलबीयं। अप्पासुग च सलिलं सचित्तणिव्वित्ति त ठाणं। =जहाँपर हरित, त्वक् (छाल), पत्र, प्रवाल, कन्द, फल, बीज और अप्रासुक जल त्याग किया जाता है वह सचित्त विनिवृत्तिवाला पाँचवाँ प्रतिमा स्थान है। (गुण. श्रा /१७८), (द्र सं /टी /४५/१९५/८)।

सा ध /७/८-१० हरिताङ्कुरबीजाम्बु लवणाद्यप्रासुकं त्यजन्। जाग्रत्कृपश्चतुर्निष्ठ.. सचित्तविरत स्मृत।८। पादेनापि स्पृशन्नर्थ-वशाद्योऽति ऋतीयते। हरितान्याश्रितानन्त-निगोतानि स भोक्ष्यते।९। अहो जिनोक्ति निर्णीतिरहो अक्षजिति सताम्। नालक्ष्यजन्त्वपि हरित्प्यासन्त्येतेऽसुक्षयेऽपि यत।१०। =प्रथम चार प्रतिमाओंका पालक तथा

प्रासुक नहीं किये गये हरे अंकुर, हरे बीज, जल, नमकादि पदार्थोंको नहीं खानेवाला दयामूर्ति श्रावक सचित्त विरत माना गया है।८। जो प्रयोजनवश पैरसे भी छूता हुआ अपनी निन्दा करता है वह श्रावक मिले हुए है अनन्तानन्त निगोदिया जीव जिसमें ऐसी वनस्पतियोंको कैसे खायेगा।९। सज्जनोंका जिनागम सम्बन्धी निर्णय, इन्द्रिय विषय आश्चर्यजनक है, क्योंकि वैसे सज्जन दिखाई नहीं देते जो, प्राणोंका क्षय होनेपर भी हरी वनस्पतिको नहीं खाते।१०।

३. सचित्तापिधान आदिके लक्षण

स. सि./७/३५-३६/३७१/६ सचित्तं चेतनावद् द्रव्यम्। तदुपश्लिष्ट सबन्ध। तद्व्यतिकीर्ण: समिश्र:।३५। सचित्ते पद्मपत्रादौ निक्षेप: सचित्तनिक्षेप:। अपिधानमावरणम्। सचित्तेनैव सबध्यते सचित्तापिधानमिति।३६। =सचित्तसे चेतना द्रव्य लिया जाता है। इससे *सम्बन्धको प्राप्त हुआ द्रव्य सम्बन्धाहार है। और इससे मिश्रित* द्रव्य सम्मिश्र है।३५। (रा वा/७/३५/२-३/५५८/४)। सचित्त कमल पत्र आदिमे रखना सचित्तनिक्षेप है। अपिधानका अर्थ ढाँकना है। इस शब्दको भी सचित्त शब्दसे जोड लेना चाहिए जिससे सचित्तापिधानका सचित्त कमलपत्र आदिसे ढाँकना यह अर्थ फलित होता है। (रा वा./७/३६/१-२/५५८/२०)।

४. भोगोपभोग परिमाण व्रत व सचित्त त्याग प्रतिमामें अन्तर

चा, सा./३८/१ अस्योपभोगपरिभोगपरिमाणशीलव्रतातिचारो व्रतं भवतीति। =उपभोग परिभोग परिमाण शीलके जो अतिचार है उनका त्याग ही इस प्रतिमामे किया जाता है।

सा ध./७/११ सचित्तभोजनं यत्प्राङ् मलत्वेन जिहासितम्। व्रतयत्यङ्गिपञ्चत्व-चकितस्तच्च पञ्चम:।११। =व्रती श्रावकने सचित्त भोजन पहले भोगोपभोग परिमाण व्रतके अतिचार रूपसे छोडा था उस सचित्त भोजनको प्राणियोके मरणसे भयभीत पचम प्रतिमाधारी व्रत रूपसे छोडता है।११।

ला. स./७/१६ इत पूर्वं कदाचिद्वै सचित्तं वस्तु भक्षयेत्। इत: परं स नाश्नुयात्सचित्तं तज्जलाद्यपि।१६। =पचम प्रतिमासे पूर्व कभी-कभी सचित्त पदार्थोंका भक्षण कर लेता था। परन्तु अब सचित्त पदार्थोंका भक्षण नहीं करता। यहाँ तक कि सचित्त जलका भी प्रयोग नहीं करता।१६।

५. वनस्पतिके सर्व भेद अचित्त अवस्थामें ग्राह्य है

दे, भक्ष्याभक्ष्य/४/४ [जिमिकद आदिको सचित्त रूपमें खाना संसारका कारण है।]

दे० सचित्त /२ [सचित्त विरत श्रावक सचित्त वनस्पति नही खाता]

दे. सचित्त/६ [आगपर पके व विदारे कंदमूल आदि प्रासुक है]।

मू आ/८२५-८२६ फलकंदमूलबीय अणग्गिपक्कं तु आमयं किंचि। णच्चा अणेसणीय णवि य पडिच्छंति ते धीरा।८२५। ज हवदि अग्गिवीयं णिवट्टिमं फासुयं कय चेव। णाऊण एसणीयं तं भिक्खं मुणिपडिच्छंति।८२६। =अग्निकर नहीं पके, ऐसे कद, मूल, बीज, तथा अन्य भी जो कच्चा पदार्थ उसको अभक्ष्य जानकर वे धीर वीर मुनि भक्षणकी इच्छा नहीं करते।८२५। जो निर्बीज हो और प्रासुक किया गया है ऐसे आहारको खाने योग्य समझ मुनिराज उसके लेनेकी इच्छा करते है।८२६।

ला. स./२/१०४ विवेकस्यावकाशोऽस्ति देशतो विरतावपि। आदेयं प्रासुकं योग्यं नादेयं तद्विपर्ययम्।१०४। =देश त्यागमें विवेककी बडी आवश्यकता है। निर्जीव तथा योग्य पदार्थोंका ग्रहण करना चाहिए। सचित्त तथा अयोग्य ऐसे पदार्थोंको ग्रहण नहीं करना चाहिए।१०४।

६. पदार्थोंको प्रासुक करनेकी विधि

मू. आ./८२४

सुक्कं पक्क तत्तं अंबिल लवणेण मिस्सयं दव्वं। जं जंतेण य छिन्नं त सव्वं पासुयं भणियं।८२४। =सूखी हुई, पकी हुई, तपायी हुई, खटाई या नमक आदिसे मिश्रित वस्तु तथा किसी यत्र अर्थात् चाकू आदिसे छिन्न-भिन्न की गयी सर्व ही वस्तुओंको प्रासुक कहा जाता है।

गो.जी./जी. प्र/२२४/४८३/१४ शुष्कपक्वध्वस्ताम्ललवणसमिश्रदग्धादि द्रव्य प्रासुकं ...। =सूखे हुए, पके हुए, ध्वस्त, खटाई या नमक आदिसे मिश्रित अथवा जले हुए द्रव्य प्रासुक है।

७. अन्य सम्बन्धित विषय

१ सचित्त त्याग प्रतिमा व आरम्भ त्याग प्रतिमामें अन्तर। —दे. आरम्भ।

२. सूखे हुए भी उदम्बर फल निषिद्ध है। —दे. भक्ष्याभक्ष्य।

३ साधुके विहारके लिए अचित्त मार्ग। —दे. विहार/१/७।

४. मांसको प्रासुक किया जाना सम्भव नहीं। —दे. मांस/२।

५. अनन्त कायिकको प्रासुक करनेमें फल कम है और हिंसा अधिक। —दे. भक्ष्याभक्ष्य/४/३।

६ वही जीव या अन्य कोई भी जीव उसी बीजके योनि स्थानमें जन्म धारण कर सकता है। —दे. जन्म/२।

सचित्त गुणयोग—दे. योग।

सचित्त निक्षेप—दे. निक्षेप।

सचित्त योनि—दे. योनि।

सचित्त संबंध—दे. सचित्त/३।

सचित्त समिश्र—दे. सचित्त/३।

सचित्तापिधान—दे. सचित्त/३।

सज्जनचित्त वल्लभ—आ. मल्लिषेण (ई. १०४७) द्वारा विरचित अध्यात्म उपदेश रूप संस्कृत छन्द बद्ध ग्रन्थ है। इसमें २५ श्लोक हैं।

सत्—सत्का सामान्य लक्षण पदार्थोंका स्वत: सिद्ध अस्तित्व है। जिसका निरन्वय नाश असम्भव है। इसके अतिरिक्त किस गति *जाति व कायका पर्याप्त या अपर्याप्त जीव किस-किस योग मार्गणा*में अथवा कषाय सम्यक्त्व व गुणस्थानादिमें पाने सम्भव है, इस प्रकारकी विस्तृत प्ररूपणा ही इस अधिकारका विषय है।

१. सत् निर्देश

१. सत् सामान्यका लक्षण

स. सि./१/८/२९/६ सदित्यस्तित्वनिर्देश'। =सत अस्तित्वका सूचक है। (स. सि./१/३२/१३८/७); (रा. वा /१/८/१/४१/१९); (रा. वा./५/३०/८/४९५/२८), (गो. क./जी प्र./४३९–५९२)।

ध. १/१,१,८/१५९/६ सत्सत्त्वमित्यर्थ'। ··सच्छब्दोऽस्ति शोभनवाचक, यथा सदभिधानं सत्यमित्यादि। अस्ति अस्तित्ववाचक', सति सत्ये प्रतीत्यादि। अत्रास्तित्ववाचको ग्राह्य'। =सत्का अर्थ सत्त्व है। ·· सत् शब्द शोभन अर्थात् सुन्दर अर्थका वाचक है। जैसे, सदभिदान, अर्थात् शोभनरूप कथनको सत्य कहते है। सत् शब्द अस्तित्वका वाचक है।

दे. द्रव्य/१/७ [सत्ता, सत्त्व, सामान्य, द्रव्य, अन्वय्, वस्तु, अर्थ, विधि, ये सर्व एकार्थवाची शब्द हैं।

दे. उत्पाद/२/१ [उत्पाद, व्यय, ध्रुव इन तीनोंकी युगपत् प्रवृत्ति सत् है।]

२. सत् शब्दका अनेकों अर्थोंमें प्रयोग

स. सि./१/८/२९/६ स (सत्) प्रशंसादिषु वर्तमानो नेह गृह्यते। =वह (सत्) प्रशसा आदि अनेको अर्थोंमें रहता है· ·।

रा. वा /१/८/१/४१/१९ सच्छब्द' प्रशंसादिषु वर्तते। तद्यथा प्रशंसायां तावत् 'सत्पुरुष·, सदश्व'' इति। क्वचिदस्तित्वे 'सन् घटः, सन् पट'' इति। क्वचित् प्रतिज्ञायमाने–प्रव्रजित सन् कथमनृतं ब्रूयात्। 'प्रव्रजित' इति प्रज्ञायमान इत्यर्थ। क्वचिदादरे 'सत्कृत्यातिथीन् भोजयतीति' 'आदृत्य इत्यर्थ। =सत् शब्दका प्रयोग अनेक अर्थोंमें होता है जैसे 'सत्पुरुष, सदश्व' यह प्रशंसार्थक सत् शब्द है। 'सन् घट, सन् पट' यहाँ सत् शब्द अस्तित्व वाचक है। 'प्रव्रजित सन्' प्रतिज्ञावाचक है। 'सत्कृत्य'में सत् शब्द आदरार्थक है (रा. वा /५/-३०/८/४९५/२५)।

ध. १३/५,५,८८/३४७/१ सत सुखम्। =सत्का अर्थ सुख है।

३. सत् स्वतः सिद्ध व अहेतुक है

प्र. सा./त. प्र /गा. न. यदिदं सदकारणतया स्वत' सिद्धमन्तर्बहिर्मुखप्रकाशशालितया स्वपरपरिच्छेदक मदीय मम नाम चैतन्यम् ·· ।९०। अस्तित्व हि किल द्रव्यस्य स्वभाव· तत्पुनरन्यसाधननिरपेक्षत्वादनाद्यनन्ततयाहेतुकयैक रूपया वृत्त्या ।९६। न खलु द्रव्यैर्द्रव्यान्तराणामारम्भ, सर्वद्रव्याणां स्वभावसिद्धत्वात्। स्वभावसिद्धत्वं तु तेषामनादिनिधनत्वात्। अनादिनिधनं हि न साधनान्तरमपेक्षते ।९८। =सत् और अकारण सिद्ध होनेसे स्वत सिद्ध अन्तर्मुख-बहिर्मुख प्रकाशवाला होनेसे स्वपरका ज्ञायक ऐसा जो मेरा चैतन्य · ।९०। अस्तित्व वास्तवमें द्रव्यका स्वभाव है और वह (अस्तित्व) अन्य साधनसे निरपेक्ष होनेके कारण अनादि-अनन्त होनेसे अहेतुक, एक वृत्ति रूप· ।९६। वास्तवमें द्रव्योसे द्रव्यान्तरकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योकि सर्व द्रव्य स्वभावसिद्ध है (उनकी) स्वभावसिद्धता तो उनको अनादि निधनतासे है। क्योकि अनादि निधन साधनान्तरकी अपेक्षा नही रखता।९८।

प ध /पू /८–९ तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यत स्वत' सिद्धम्। तस्मादनादिनिधनं स्वसहाय निर्विकल्पं च ।८। इत्थ नो चेदसत प्रादुर्भूतिर्निरकुशा भवति। परत' प्रादुर्भावो युतिसिद्धत्व सतोविनाशो वा। ९। =तत्त्व का लक्षण सत् है। सत् ही तत्त्व है। जिस कारणसे कि वह स्वभावसे ही सिद्ध है इसलिए वह अनादि अनन्त है। स्वसहाय है, निर्विकल्प है।८। यदि ऐसा न मानें तो असत्की उत्पत्ति होने लगेगी। तथा परसे उत्पत्ति होने लगेगी। पदार्थ, दूसरे पदार्थके संयोगसे पदार्थ कहलावेगा। सत्के विनाशका प्रसंग आवेगा।९।

दे. कारण/II/१ [वस्तु स्वत अपने परिणमनमें कारण है।]

४. सत्का विनाश व असत्का उत्पाद असम्भव है

पं का./मू./१५ भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो। गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वति। =भाव (सत) का नाश नहीं है। तथा अभाव (असत) का उत्पाद नही है। भाव (सत् द्रव्यों) गुण पर्यायोमें उत्पाद व्यय करते है।१५।

स स्तो./२४ नैवाऽसतो जन्म सतो न नाशो, दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति।४। =जो सर्वथा असत है उसका कभी जन्म नहीं होता और सत्का कभी नाश नहीं होता। दीपक बुझने पर सर्वथा नाशको प्राप्त नहीं होता, किन्तु उस समय अन्धकार रूप पुद्गल पर्यायको धारण किये हुए अपना अस्तित्व रखता है।२४।

पं. ध./पू./१८३ नैवं यत. स्वभावादसतो जन्म न सतो विनाशो वा। उत्पादादित्रयमपि भवति च भावेन भावतया।१८३। =इस प्रकार शंका ठीक नहीं है। क्योंकि स्वभावसे असत्‌की उत्पत्ति और सत्‌का विनाश नहीं होता है किन्तु उत्पादादि तीनोंमें भवनशील रूपसे रहता है।

५. सत् ही जगत्‌का कर्ता-हर्ता है

पं. का./मू./२२ जीवा पुग्गलकाया आयास अत्थिकाइय सेसा। अमया अत्थित्तमया कारणभूदा हि लोगस्स।२२। =जीव पुद्गलकाय आकाश और शेष दो अस्तिकाय अकृत है, अस्तित्वमय है और वास्तवमें लोकके कारणभूत है।२२।

२. सत् विषयक प्ररूपणाएँ

१. सत् प्ररूपणाके भेद

ष. खं. व धवला/१/१,१/सू. ८/१५६ संतपरूवणदाए दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य।८। "न च प्ररूपणायास्तृतीय' प्रकारोऽस्ति सामान्यविशेषव्यतिरिक्तस्यानुपलम्भात्। =सत्प्ररूपणामें ओघ अर्थात् सामान्यकी अपेक्षासे और आदेश अर्थात् विशेषकी अपेक्षासे इस तरह दो प्रकारका कथन है।८। इन दो प्रकारकी प्ररूपणाको छोडकर वस्तुके विवेचनका तीसरा उपाय नहीं पाया जाता, क्योंकि वस्तुमें सामान्य विशेष धर्मको छोडकर तीसरा धर्म नहीं पाया जाता।

२. सत् व सत्त्वमें अन्तर

रा. वा./१/८/१२/४२/२५ नानेन सम्यग्दर्शनादे. सामान्येन सत्त्वमुच्यते किन्तु गतीन्द्रियकायादिषु चतुर्दशसु मार्गणास्थानेषु 'क्वास्ति सम्यग्दर्शनादि, क नास्ति' इत्येवं विशेषणार्थं सद्वचनम्। =इस (सत्) के द्वारा सामान्य रूपसे सम्यग्दर्शन आदिका सत्त्वमात्र नहीं कहा जाता है किन्तु गतिइन्द्रिय न्याय आदि चौदह मार्गणा स्थानोंमें 'कहाँ है, कहाँ नहीं है' आदि रूपसे सम्यग्दर्शनादिका अस्तित्व सूचित किया जाता है।

३. सत् प्ररूपणाका कारण व प्रयोजन

रा वा./१/८/१३/४२/२८ ये त्वनधिकृता जीवपर्याया'। क्रोधादयो ये चाजीवपर्याया वर्णादयो घटादयश्च तेषामस्तित्वाधिगमार्थं पुनर्वचनम्। =अनधिकृत क्रोधादि या अजीव पर्याय वर्णादिके अस्तित्व सूचन करनेके लिए 'सत्' का ग्रहण आवश्यक है।

दे. सत/२/२ गति इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओंमें सम्यग्दर्शनादि कहाँ है कहाँ नहीं है यह सूचित करनेको सत शब्दका प्रयोग है।

पं. का./ता वृ./८/२३/६ शुद्ध जीवद्रव्यस्य या सत्ता सैवोपादेया भवतीति भावार्थ.। =शुद्ध जीव द्रव्यकी जो सत्ता है वही उपादेय है ऐसा भावार्थ है।

४. सारणीमें प्रयुक्त संकेत सूची

अज्ञा.	अज्ञान
अना.	अनाकार, अनाहारक
अनु.	अनुभय
अप.	अपर्याप्त, अपर्याप्ति, अपकायिक
अभ.	अभव्य
अव.	अवधिज्ञान
अवि	अविरत गुणस्थान
अशु.	अशुभ लेश्या आदि
असं.	असंज्ञी, असयम
आ.	आहारक, आहारसंज्ञा
उ.	उत्कृष्ट, उभय
एके.	एकेन्द्रिय
औ.	औदारिक काययोग, औपशमिक सम्य.
का.	कापोत लेश्या, कार्मण
केवल.	केवलज्ञान, केवलदर्शन
क्षयो.	क्षयोपशमिक सम्य.
क्षा.	क्षायिक सम्यग्दर्शन
ज्ञा.	ज्ञान
च.	चतुर्गतिनिगोद
छे.	छेदोपस्थापना चारित्र
ति.	तिर्यंचगति
ते.	तेजोलेश्या (पीत.)
त्र.	त्रसकाय
दे.	देवगति
देश. स.	देशसयम
न.	नरकगति
नि.	नित्यनिगोद
पं.	पंचेन्द्रिय
परि.	परिग्रह, परिहार वि.
प.	पर्याप्ति, पर्याप्त
पृ.	पृथिवीकाय
प्र.	प्रतिष्ठित, प्रत्येक
व.	वनस्पतिकाय
भ.	भव्य
मन:	मन पर्यय, मनोयोग
मनु	मनुष्यगति
मा.	मानकषाय
मि.	मिथ्यात्व
मै.	मैथुनसंज्ञा
यथा.	यथाख्यात
लो.	लोभकषाय
व.	वचनयोग
वै.	वैक्रियकयोग
शु.	शुक्ललेश्या
श्रु.	श्रुतज्ञान
सं.	संज्ञी
सा.	साधारण वनस्पति
सा.	सामायिक, सासादन
सू.	सूक्ष्म, सूक्ष्मसाम्पराय

५. सत् विषयक ओघ प्ररूपणा

ध. २/१,१/४२१-४४८

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
म.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१ जीव सामान्य—(ध २/१,१/४२१-४२३)																							
१		पर्याप्त	१४	७ प.	६,५,४ पर्याप्ति	१०/६,८/७; ६/४	४	४	५	६	११ तीनों मिश्र व कार्मण बिना	३ व अपगत	४ व अकषाय	८	७	४	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ स., अस	२ आहा अना.	२ साकार अनाकार
२		अपर्याप्त	५ (१,२,४,६,१३)	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७/७; ६/५, ४/३	४ असंज्ञा	४	५	६	४ तीनों मिश्र व कार्मण	३व अपगत	४व अकषाय	६ मन, विभंग बिना	४ सामा, छे, यथा, असंयम	४	२ का., शु	६	२ भव्य, अभव्य	५ सम्यग्मिथ्या रहित	२ स असं. अनुभय	२ आहा., अना	२ साकार अनाकार युगपद्, उभय
२ मिथ्यादृष्टि—(ध २/१,१/४२४-४२५)																							
१	१	सामान्य	१ मिथ्या.	१४ प. अप.	६,५,४ प. ६,५,४ अप.	१०/७; ९/७, ८/६; ७/५; ६/४; ४/३	४	४	५	६	१३ आहा. द्वि. बिना	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	६	२ भ, अभ,	१ मिथ्या.	२ स, अस.	२ आहा, अना	२ साकार अनाकार
२	१	पर्याप्त	१ मिथ्या.	७ प.	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७, ६,४	४	४	५	६	१० मन ४, वच ४ औ. १, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	२ सं, असं.	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
३	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या.	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५ ४,३	४	४	५	६	३ औ. मि. वै. मिश्र, कार्म.	३	४	२ कुमति व कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	२ का., शु.	६	२ भव्य, अभ.	१ मिथ्या.	२ स., अस.	२ आहा., अना.	२ साकार अनाकार
३ सासादन सम्यग्दृष्टि—(ध २/१,१/४२६-४२७)																							
१	२	सामान्य	१ सासा.	२ सं. प. सं अप	६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०,७	४	४	१ पंचें	१ त्रस	१३ औ. द्वि बिना	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	६	१ भव्य,	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा अना.	२ साकार अनाकार
२	२	पर्याप्त	१ सासा.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पंचें	१ त्रस	१० मन ४, वच ४ औ. १, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	६	१ भव्य,	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा	२ साकार अनाकार
३	२	अपर्याप्त	१ सासा.	१ सं. अप ७ अप दि० जन्म	६ अपर्याप्ति	७ पंचे अप. के	४	३ नरक बिना	१ पंचें	१ त्रस	३ औ. मि. वै मिश्र, कार्म.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का शु.	६	१ भव्य,	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अनाकार

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
४. सम्यग्मिथ्यादृष्टि—(ध. २/१,१/४२८)																							
१	३	सा.व प. (अप. नहीं है)	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन.४,वच.४ औ.१ व वै.१	३	४	३ तीनों ज्ञान व अज्ञान मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.,	२ साकार अना.
५. असंयत सम्यग्दृष्टि—(ध.२/१,१/४२६-४३१)																							
१	४	सामान्य	१ अवि	२ सं. प., सं. अप.	६ पर्याप्ति, ६ अपर्याप्ति	१० ७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१३ आ.द्वि. के बिना	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असयम	३ चक्षु,, अचक्षु व अवधि	६	६	१ भव्य	३ औप., क्षा., क्षयो	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२	४	पर्याप्त	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१० पर्याप्तिके	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन४,वच४, औ.१, वै.१	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु,अचक्षु, अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा, क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३	४	अपर्याप्त	१ अवि	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७ अप. के	४	४	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मिं, वै मिश्र व कार्मण	२ पु. नपुं	४	३ मति,श्रुत अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	२ का शु.	६	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
६. संयतासंयत—																							
१	५	सा.पर्या.	१ ५ वाँ	१ सं.प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ मनु. ति.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच४ औ. १	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ संयमा-संयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा,	२ साकार अना.
७. प्रमत्त संयत—(ध. २/१,१/४३२)																							
१	६	सा.पर्या.	१ छठाँ	२ सं.प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० प. के ७ अप. के	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच४ औ. १, आहा. २	३	४	४ मति, श्रुत, अव., मनः	३ सामा., छे., परि.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणाविशेष स.	गु. स्था.	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा	उपयोग
८. अप्रमत्त संयत—(ध. २/१,१/४३४)																							
१	७	सा प.	१ ७वाँ	१ सं.प	६ पर्याप्ति	१०	आ. रहित ३	१ मनु.	१ प.	१ त्रस	९ मन.४,वच.४ औ १	३	४	४ मति, श्रुत, अव., मन'	३ सा., छे., परि.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	३ शु	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
९. अपूर्वकरण—(ध. २/१,१/४३५)																							
१	८	पर्याप्त	१ ८वाँ	१ सं.प.	६ पर्याप्ति	१०	आ. रहित ३	१ मनु.	१ पं	१ त्रस	९ मन.४,वच.४ औ. १	३	४	४ मति, श्रुत, अव., मन'	२ सामा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१०. अनिवृत्तिकरण—(ध. २/१,१/४३६–४३८)																							
१	९	पर्याप्त- प्र. भाग	१ ९वाँ	१ स.प.	६ पर्याप्ति	१०	२ मै., परि	१ मनु.	१ प.	१ त्रस	९ मन ४,वच.४ औ. १	३	४	४ मति, श्रुत, अव., मन'	२ सामा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ, क्षा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
२	९	द्वि. भाग	१ ९वाँ	१ स.प	६ पर्याप्ति	१०	१ परि	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४,वच ४ औ. १	० अपगत	४	४ मति, श्रुत, अव., मन	२ सामा., छे	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ, क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३	९	तृ. भाग	१ ९वाँ	१ स.प.	६ पर्याप्ति	१०	१ परि	१ मनु.	१ प.	१ त्रस	९ मन ४,वच.४ औ. १	० अपगत	३ क्रोध रहित	४ मति, श्रुत, अव मन'	२ सामा, छे.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	१ शु	१ भव्य	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा	२ साकार अना.
४	९	चतुर्थ भाग	१ ९वाँ	१ सं.प.	६ पर्याप्ति	१०	१ परि	१ मनु	१ प.	१ त्रस	९ मन ४,वच.४ औ. १	० अपगत	२ मा लो	४ मति, श्रुत, अव, मन'	२ सामा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	१ शु	१ भव्य	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
५	९	पंचम भाग	१ ९वाँ	१ स.प.	६ पर्याप्ति	१०	१ परि	१ मनु.	१ पं	१ त्रस	९ मन.४,वच ४ औ. १	० अपगत	१ लो.	४ मति, श्रुत, अव, मन'	२ सामा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	१ शु	१ भव्य	२ औ, क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा	२ साकार अना

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
स	गुण स्थान	पर्याप्त, अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
११. सूक्ष्म साम्पराय—(ध. २/१,१/४३६)																							
१	१०	पर्याप्त	१ १० वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	१ सू. परि.	१ मनु.	१ प.	१ त्रस.	६ मन४, वच.४ औ. १	० अपगत	१ सूक्ष्म लोभ	४ मति, श्रुत, अव. मन'	१ सूक्ष्म सांप.	३ चक्षु. अचक्षु, अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ. क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा	२ साकार अना.
१२. उपशान्त कषाय—(ध. २/१,१/४४०)																							
१	११	पर्याप्त	१ ११वाँ	१ सं प.	६ पर्याप्ति	१०	० उपशान्त संज्ञा	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	६ मन ४, वच४ औ. १	० अपगत	० अकषाय	४ मति, श्रुत, अव, मन'	१ यथा.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ. क्षा.	१ सञ्ज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१३. क्षीण कषाय—(ध. २/१,१/४४०)																							
१	१२	पर्याप्त	१ १२वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	१ क्षीण संज्ञा	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	६ मन ४, वच४ औ. १	० अपगत	० अकषाय	४ मति, श्रुत अव., मन.	१ यथा.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	१ क्षा.	१ सञ्ज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१४. सयोग केवली—(ध. २/१,१/४४५)																							
१	१३	पर्याप्त	१ १३वाँ	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	४/२ (४/३,२,१ दे. केवली/ ५/१०)	० क्षीण संज्ञा	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	७ मन २, वच२ औ. २, का.१	० अपगत	० अकषाय	१ केवलज्ञान	१ यथा.	१ केवलदर्शन	६	१ शु.	१ भव्य	१ क्षा.	० अनुभय	२ आहा., अना.	२ साकार, अना. युगपत्
१५. अयोग केवली—(ध. २/१,१/४४७)																							
१	१४	पर्याप्त	१ १४वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१ आयु	० क्षीण संज्ञा	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	० अयोग	० अपगत	० अकषाय	१ केवल ज्ञान	१ यथा.	१ केवलदर्शन	६	० अलेश्या	१ भव्य	१ क्षा.	० अनुभय	१ अना.	२ साकार, अना. युगपत

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ															लेश्या						
स.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा	उपयोग
१६. सिद्ध—(ष. खं. ७/२,१/सू./पृ.), (ध. २/१,१/४४८)																							
१			० अपगत	० अपगत	० अपगत	० अपगत	क्षीण संज्ञा	० सिद्ध	० अनि	० अपगत	० अयोग	० अपगत	० अकषाय	१ केवल ज्ञान	० अनु. (२७/२१)	१ केवल दर्शन	० अलेश्या	०	० अनुभय (३४/२२)	१ क्षा.	० अनु ३८-३९/२३	१ अना.	२ साकार, अना. युगपत्

६. सत् विषयक आदेश प्ररूपणा

(ध. २/१,१/४४६-८५५)

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ															लेश्या						
सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१. गति मार्गणा—(ध. २/१,१/४४६-५६८)																							
१ नरक गति—																							
१. नरकगति सामान्य—(ध. २/१,१/४४६-४५६)																							
१		सामान्य	४ (१-४)	२ सं. प सं. अप	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० पर्याप्तके ७ अपर्याप्तके	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच४ वै. २, का. १	१ नपु	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	३ कृ, नी, का	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	४ (१-४)	१ सं प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	९ मन, वचन, वै ४ ४ १	१ नपु	४	६ ३ ज्ञान, ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	१ कृ.	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त	२ (१,४)	१ सं. अ.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	२ वै मि., का.	१ नपु	४	५ ३ज्ञा, कुमति कुश्रुत	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का. शु	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	३ मि., क्षा, क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० पर्याप्तके ७ अपर्याप्तके	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच. ४, वै.२, का १	१ नपुं.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	३ कृ.,का., शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४, वै. १	१ नपुं.	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु., अचक्षु	१ कृ.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुम., कुश्रुत	१ असयम	२ चक्षु., अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
७	२	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ सासा.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४, वै. १	१ नपुं.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	१ कृ.	३ अशु.	१ भव्य	१ सासा।	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
८	३	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४, वै. १	१ नपुं.	४	३ ज्ञान, अज्ञा. मिश्र	१ असयम	२ चक्षु., अचक्षु	१ कृ.	३ अशु.	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
स	गुण स्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
६	४	सामान्य	१ ४ था.	२ स. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० पर्याप्तके ७ अपर्याप्तके	४	१ न.	१ प.	१ त्रस	११ मन४. वच ४, वै २, का.१	१ नपुं	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	३ कृ., का. शु.	३ अशु.	१ भव्य	३ औ., क्षा, क्षयो	१ सज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१०	४	पर्याप्त	१ ४ था.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ प.	१ त्रस	६ मन ४, वचन४,वै.१	१ नपुं	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	१ कृ.	३ अशु.	१ भव्य	३ औ., क्षा, क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
११	४	अपर्याप्त	१ ४ था.	१ स अप	६ अपर्याप्ति	७	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	२ वै मि.,का.	१ नपुं.	४	३ मति,श्रुत अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का, शु	३ अशु.	१ भव्य	२ क्षा, क्षयो.	१ सज्ञी	२ आहा. अना	२ साकार अना.
२. प्रथम पृथिवी—(ध. २/१,१/४५७-४६४)																							
१		सामान्य	४ १-४	२ स. प. स. अप	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० पर्या०के ७ अपर्या०के	४	१ न	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वचन४,वै.२, का. १	१ नपुं	४	६ ३ ज्ञान, ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	३ कृ., का. शु.	१ का.	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा अना	२ साकार अना.
२		पर्याप्त	४ १-४	१ स प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ प.	१ त्रस	६ मन४,वच.४, वै. १	१ नपुं.	४	६ ३ ज्ञान, ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	१ कृ.	१ का	२ भव्य अभव्य	६	१ सज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त	२ १,४	१ स. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ न.	१ प.	१ त्रस	२ वै. मि.,का.	१ नपु	४	५ ३ ज्ञान, कुमति, कुश्रुत	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का. शु.	१ का.	२ भव्य अभव्य	३ क्षा, क्षयो. मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४	१	सामान्य	१ मिथ्या.	२ सं. प सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० पर्या. के ७ अप. के	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच ४, वै. २, का.१	१ नपुं.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	३ कृ., नी., का.	१ का.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच ४ वै.१	१ नपुं.	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	१ कृ.	१ का.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ मंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	३ कृ., नी., का.	१ का.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ सज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
७	२	सामान्य (पर्या. ही)	१ सासा.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ वै. १	१ नपुं.	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	१ कृ.	१ का.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
८	३	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ मिश्र.	१ सं. प	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच ४ वै. १	१ नपुं.	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	१ कृ.	१ का.	१ भव्य	१ मिश्र	१ सज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
९	४	सामान्य	१ अवि.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० पर्या. के ७ अपर्या. के	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ वै.२, का.१	१ नपुं.	४	३ ज्ञान	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	३ कृ., नी., का.	१ का.	१ भव्य	३ क्षा., क्षयो., औ.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१०	४	पर्याप्त	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४, वै. १	१ नपुं.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	१ कृ	१ का	१ भव्य	३ क्षा., क्षयो., औ.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
११	४	अपर्याप्त	१ अवि.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	२ वै.मि., का	१ नपु	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	२ कृ., का.	१ का	१ भव्य	२ क्षा., क्षयो,	१ सज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
स.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा	उपयोग
३. द्वितीय पृथिवी—(ध. २/१,१/४६५-४७०)																							
१		सामान्य	४ १-४	२ सं. प स अप	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० पर्या के ७ अपर्या. के	४	१ न.	१ प.	१ त्रस	११ मन ४, वच ४ वै.२, का १	१ नपु.	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	३ कृ, नी, का	१ का.	२ भव्य, अभव्य	५ क्षा. के बिना	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	४ १-४	१ स. प	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ प.	१ त्रस	९ मन ४, वच ४ वै. १	१ नपु	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	१ कृ	१ का	२ भव्य, अभव्य	५ क्षा. के बिना	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त	१ मिथ्या.	१ स. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ न.	१ पं	१ त्रस	२ वै. मि., का.	१ नपु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ कृ, का	१ का	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा., अना	२ साकार, अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या.	२ स. प स. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० पर्या. के ७ अपर्या के	४	१ न.	१ प.	१ त्रस	११ मन४, वच४ वै. २, का १	१ नपुं.	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	३ कृ, नी, का	१ का.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा अना.	२ साकार, अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या.	१ स. प	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न	१ प.	१ त्रस	९ मन४, वच ४, वै १	१ नपुं	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	१ कृ	१ का.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	२ वै मि., का	१ नपु	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ कृ, का	१ का	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
७	२	सामान्य (पर्या. ही)	१ सासा.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच४, वै. १	१ नपुं	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	१ कृ.	१ का.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
८	३	सामान्य (पर्या ही)	१ मिश्र	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	६ मन ४, वच ४ वै. १	१ नपुं.	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	१ कृ.	१ का.	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
९	४	सामान्य (पर्या. ही)	१ अवि.	१ स प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४ वै. १	१ नपु.	४	३ ज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	१ कृ.	१ का.	१ भव्य	२ औ., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा	२ साकार, अना.
४. तृतीय से सप्तम पृथिवी – (ध. २/१.१/४७०)																							
१		तृतीय पृथिवी			—	—	सर्वत्र द्वितीय पृथिवी वत्							—		—	१ कृ.	२ का., नी.		—	द्वितीय पृ वत्		—
२		चतुर्थ ,,			—	—	,,							—		—	,,	नी.		—	,,		—
३		पंचम ,,			—	—	,,							—		—	,,	नी. कृ.		—	,,		—
४		षष्ठ ,,			—	—	,,							—		—	,,	कृ.		—	,,		—
५		सप्तम ,,			—	—	,,							—		—	,,	कृ.		—	,,		—
२. तिर्यंच गति																							
१. तिर्यंच सामान्य – (ध. २/१.१/४७२-४८२)																							
१		सामान्य	५ १-५	१४	६ प/६ अप, ५ प./५ अप, ४ प./४ अप	१०/७, ९/७, ८/६; ७/५; ६/४; ४/३;	४	१ ति.	५	६	११ मन४, वच४ औ.२, का. १	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	२ असंयम देश सं.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																			
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२	×	पर्याप्त	५ १–५	७ पर्या.	६, ५, ४ पर्याप्ति	१०, ६, ८, ७, ६, ४	४	१ ति.	५	६	६ मन.४, वच.४ औ. १	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	२ असयम देश स	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ सञ्ज्ञी असञ्ज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३	×	अपर्याप्त	३ १,२,४	७ अप	६, ५, ४ अपर्याप्ति	७/७, ६/५, ४/३	४	१ ति.	५	६	२ औ. मि., का	३	४	५ कुमति, कुश्रुत मति, श्रुत, अवधि	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	२ का., शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	४ मि, सा., क्षा., क्षयो.	२ सञ्ज्ञी असञ्ज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार, अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या.	१४	६ प, ६ अप ५ प, ५ अप ४ प, ४ अप,	१०/७, ९/७, ८/६, ७/५, ६/४; ४/३,	४	१ ति.	५	६	११ मन ४, वच ४ औ. २, का. १	३	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ सञ्ज्ञी असञ्ज्ञी.	२ आहा, अना.	२ साकार, अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या.	७ पर्या.	६, ५, ४ पर्याप्ति	१०, ९, ८, ७, ६, ४	४	१ ति	५	६	९ मन.४, वच.४ औ. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असञ्ज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या.	७ अप.	६, ५, ४ अपर्याप्ति	७/७; ६/५, ४/३	४	१ ति.	५	६	२ औ. मि., का.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का., शु.	३ अशु	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ सञ्ज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अना
७	२	सामान्य	१ सासा.	२ स. प. स. अप	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० पर्या. के ७ अप. के	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	११ मन.४, वच.४ औ. २, का. १	३	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य,	१ सासा.	१ सञ्ज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार, अना
८	२	पर्याप्त	१ सासा.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ प.	१ त्रस	९ मन.४, वच.४ औ. १	३	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य,	१ सासा.	१ सञ्ज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
९	२	अपर्याप्त	१ सासा.	१ सं. अप (७ अप.) (दे. जन्म)	६ अपर्याप्ति	७	४	१ ति	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु	३ अशु	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार. अना.
१०	३	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच४ औ १.	३	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
११	४	सामान्य	१ अवि	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० पर्या. के ७ अप. के	४	१ ति	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ औ.२, का १	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना
१२	४	पर्याप्त	१ अवि	१ सं. प	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि. का. १	१ पु.	४	३ मति., श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का. शु.	१ का.	१ भव्य	२ क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
१४	५	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ ५ वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन.४, वच.४ औ. १	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ संयमासंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	२ औ. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

२. पंचेन्द्रिय तिर्यंच—(ध. २/१,१/४८३-४९२)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	५ १-५	४ सं. प., सं. अप. असं. प., असं. अप.	६/५ ६ प., अप. ५ प., अप.	१०/७, ९/७ १०/७ ९/७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच४ औ.२, का.१	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	२ असंयम देश. स.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी, असंज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
स.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२		पर्याप्त	५ १-५	२ स प अस. प	६/५ ६ पर्याप्ति ५ पर्याप्ति	१०/९ १० ९	४	१ ति.	१ प.	१ त्रस	९ मन ४, वच४ औ. १	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	२ असयम देश. सं.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना
३		अपर्याप्त	३ १,२,४	२ स. अप अस.अ.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	७/७ ७ ७	४	१ ति.	१ प.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	३	४	५ कुमति,कुश्रुत ३ ज्ञान	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का, शु	३ कृष्ण	२ भव्य, अभव्य	४ मि., सा., क्षा. क्षयो	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या.	४ स. प. स. अप असं. प. अस. अ	६/५ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति ५ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	१०/७,९/७ १० ७ ९ ७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ औ २, का.१	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या.	२ सं प अस. प	६/५ ६ ५	१०/९ १० ९	४	१ ति.	१ प.	१ त्रस	९ मन४, वच ४, औ. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.,	२ साकार, अना
६	१	अपर्याप्त	१	२ स. अप. असं अ	६/५	७/७ ७ ७	४	१ ति.	१ प.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का शु.	३ कृष्ण	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	२ संज्ञी, असंज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार अना.
७	२	सामान्य	१ सासा.	२ स. प. स अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ ति.	१ प.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ औ.२, का.१	३	४	३. अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार. अना.
८	२	पर्याप्त	० सासा.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच ४, औ १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
९	२	अपर्याप्त	१ सासा.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	२ औ., मि., का.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ [illegible]	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
१०	३	सामान्य (पर्या. ही)	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच ४, औ. १	३	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र.	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनां.
११	४	सामान्य	१ अवि	२ सं. प सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ ति.	१ प.	१ त्रस	११ मन४, वच.४, औ.२, का.१	३	४	३ मति., श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा, क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१२	४	पर्याप्त	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच ४, औ. १	३	४	३ मति., श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	२ औ., मि., का.	१ पु.	४	३ मति., श्रुत., अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का. शु.	१ का.	१ भव्य	२ क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष: म.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	२० प्ररूपणाएँ: गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२२	५	सामान्य (पर्या. ही)	१ ५ वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ पं	१ त्रस	६ मन४, वच४, औ. १	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ देश सं.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	२ औ, क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३ पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिमति—(ध २/१,१/४६३-५००)																							
१		सामान्य	५ १-५	४ सं. प. सं अप असं प असं अप.	६/५ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति ५ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	१०/७; ६/७ १० ७ ६ ७	४	१ ति	१ पं	१ त्रस	११ मन४, वच४, औ २, का १	१ स्त्री	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	२ असंयम देशसं.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	५ क्षा. बिना	२ संज्ञी, असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	५ १-५	२ सं. प असं. प	६/५ ६ पर्याप्ति ५ पर्याप्ति	१०/६ १० ६	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	६ मन ४, वच ४, औ. १	१ स्त्री	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	२ असंयम देश सं	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	५ क्षा. बिना	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त	२ मिथ्या सासा	२ सं अप असं अप.	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	७/७ ७ ७	४	१ ति.	१ पं	१ त्रस	२ औ. मि. का	१ स्त्री	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	२ मिथ्या. सासा	२ संज्ञी, असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	४ सं. प सं अप असं. प असं. अप	६/५ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति ५ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	१०/७, ६/७ १० ७ ६ ७	४	१ ति.	१ पं	१ त्रस	११ मन४, वच४ औ २, का. १	१ स्त्री	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी, असंज्ञी	२ आहा. अना	२ साकार, अना

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	२ सं. प. अस. प.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ पर्याप्ति	१०/६ १० ६	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४ औ १	१ स्त्री	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ सज्ञी, असज्ञी	१ आहा,	२ साकार, अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	२ सं अप अस अप.	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	७/७ ७ ७	४	१ ति	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का	१ स्त्री	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
७	२	सामान्य	१ सासा.	२ सं. प. सं अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ ति	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ औ.२, का.१	१ स्त्री	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४ औ. १	१ स्त्री	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा,	२ साकार, अना.
९	२	अपर्याप्त	१ सासा.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का	१ स्त्री	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
१०	३	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ मिश्र	१ सं प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४ औ. १	१ स्त्री	४	३ ज्ञानाज्ञान. मिश्र	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
११	४	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ प	१ त्रस	६ मन४, वच ४ औ. १	१ स्त्री	४	३ ज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु. अचक्षु. अवधि	६	६	१ भव्य	२ औ. क्षयो	१ सज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
म	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा	भव्य.	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१२	५	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ ५ वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ पं	१ त्रस	९ मन४, वच ४ औ. १	१ स्त्री	४	३ ज्ञान	१ देश स.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	२ औ., क्षयो	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
४ लब्ध्यपर्याप्त तिर्यंच—(ध. २/१,१/५०१)																							
१		सामान्य (अपर्याप्त ही)	१ मिथ्या	२ सं अप असं अप	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	७/७ ७ ७	४	१ ति	१ पं	१ त्रस	२ औ. मि, का	१ नपु	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा, अना	२ साकार, अना,
३ मनुष्य गति—																							
१. मनुष्य सामान्य—(ध. २/१,१/५०२-५१२)																							
१		सामान्य	१४	२ सं प सं अप	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	१३ मन४, वच,४ औ.२, आ.२, का १	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्य	२ भव्य अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना युगपत्
२		पर्याप्त	१४	१ सं. प	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु	१ पं	१ त्रस	१० मन४, वच ४ औ १, आ. १	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्य	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी अनुभय	१ आहा.	२ साकार अना, युगपत्
३		अपर्याप्त	१,२,४, ६,१३	१ सं अप	६ अपर्याप्ति	७	४	१ मनु	१ पं	१ त्रस	३ औ मि, आहा. मि, का	३ अपगत	४ अकषाय	६ विभंग व मनः बिना	४ असंयम सा., छे., यथा	४	२ का. शु.	६	२ भव्य अभव्य	४ मि., सा., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा अना,	२ साकार अना, युगपत्

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
स.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४	१	सामान्य	१ मिथ्या.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४, औ २, का.१	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच ४, औ. १	३	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	२ औ.मि., का	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का.शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
७	२	सामान्य	१ सासा.	२ सं. प. स. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ औ. २, का.१	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य,	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा अना.	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा.,	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४, औ. १	३	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य,	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
९	२	अपर्याप्त	१ सासा.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	२ औ.मि , का.	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का.शु.	३ अशु.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना
१०	३	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ मिश्र	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच४. औ. १	३	४	३ ज्ञानाज्ञान-मिश्र	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
नं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
११	४	सामान्य	१ अवि.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ औ २, का.१	३	४	३ मति. श्रुत, अवधि	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना
१२	४	पर्याप्त	१ अवि.	१ सं प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४ औ. १	३	४	३ मति. श्रुत, अवधि	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ पु.	४	३ मति. श्रुत, अवधि	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का., शु.	६	१ भव्य	२ क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
१४	५	सामान्य (पर्या. ही)	१ ५ वाँ.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच४, औ. १	३	४	३ मति. श्रुत, अवधि	१ देश. स	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना
१५	६-१४	सामान्य (पर्याप्त अप.)	—	—	—	—	—	—	—	→	ओघवत्	←	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—

२. मनुष्य पर्याप्त—(ध. २/१.१/४१२)

नं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१	१-१४	सामान्य पर्याप्त व अपर्याप्त	—	—	—	—	—	—	—	→	ओघवत्	२ [illegible]	←	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—

स	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
			२० प्ररूपणाएँ																				
३. मनुष्यणी—(ध. २/१,१/५१३-५३०)																							
१		सामान्य	१४	२ सं प. स. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४. वच.४. औ.२. का.१	१ स्त्री अपगत	४ अकषाय	७ मनः बिना	६ परि. बिना	४	६	६ अलेश्या	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा., अना.	२ साकार अना.
२		पर्याप्त	१४	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४. वच.४ औ. १	१ स्त्री अपगत	४ अकषाय	७ मनः बिना	६ परि. बिना	४	६	६ अलेश्या	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी अनुभय	१ आहा.	२ साकार अना. युगपत्
३		अपर्याप्त	३ १,२,१३	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ स्त्री अपगत	४ अकषाय	३ कुमति,कुश्रुत केवल	२ असयम यथा.	३ चक्षु, अचक्षु केवल	२ का. शु.	३/१ अशु. ३ शु.१	२ भव्य, अभव्य	३ मि., सा. क्षा.	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा., अना.	२ साकार अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या.	२ सं. प. सं.अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच ४ औ.२, का.१	१ स्त्री	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा., अना	२ साकार अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच ४, औ. १	१ स्त्री	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
नं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	१ स अप	६ अपर्याप्ति	७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ स्त्री	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का शु.	३ अशु	२ भ अभ	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
७	२	सामान्य	१ सासा	२ सं.प. सं.अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु	१ पं	१ त्रस	११ मन ४, वच. ४, औ २, का. १	१ स्त्री	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच. ४, औ. १	१ स्त्री	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ सं. अप	६ अपर्याप्ति	७	४	१ मनु.	१ पं	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ स्त्री	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
१०	३	सामान्य (पर्या. ही)	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं	१ त्रस	९ मन ४, वच. ४ औ १	१ स्त्री	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
११	४	सामान्य (पर्या. ही)	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच. ४ औ. १	१ स्त्री	४	३ मति, श्रुत अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा	२ साकार अना.
१२	५	सामान्य (पर्या. ही)	१ ५ वाँ.	१ सं प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच ४ औ १	१ स्त्री	४	३ मति., श्रुत. अवधि	१ देश. स.	३ चक्षु,अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१३	६	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ ६ ठा.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ प.	१ त्रस	६ मन४,वच.४, औ. १	१ स्त्री	४	३ मति, श्रुत, अवधि	२ सा., छे.	३ चक्षु,अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१४	७	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ ७वाँ.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. बिना	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच ४, औ. १	१ स्त्री	४	३ मति, श्रुत, अवधि	२ सा., छे.	३ चक्षु,अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१५	८	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ ८वाँ.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. बिना	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४, औ. १	१ स्त्री	४	३ मति,श्रुत अवधि	२ सा., छे.	३ चक्षु,अचक्षु, अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ., क्षा.,	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१६	९/i	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ ९वाँ.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	२ मै. परि.	१ मनु.	१ प.	१ त्रस	६ मन४, वच.४, औ. १	१ स्त्री	४	३ मति, श्रुत, अवधि	२ सा., छे.	३ चक्षु,अचक्षु, अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१७	९/ii	"	"	"	"	"	परि.	"	"	"	"	अपगत०	४	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"
१८	९/iii	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"	३ क्रो	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"
१९	९/iv	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"	२ मान लो.	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"
२०	९/v	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"	१ लो.	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
म	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	सञ्ज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	सञ्ज्ञित्व	आहा	उपयोग
२१	१०	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ १०वाँ	१ सं प	६ पर्याप्ति	१०	१ सू परि	१ मनु	१ प.	१ त्रस	६ मन४,वच ४, औ. १	० अपगत	१ सू. लो.	३ मति, श्रुत, अवधि	१ सू सा.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ. क्षा	१ सञ्ज्ञी	१ आहा	२ साकार अना.
२२	११	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ ११वाँ	१ स. प	६ पर्याप्ति	१०	० अस	१ मनु	१ प.	१ त्रस	६ मन४,वच ४, औ. १	० अपगत	० अकषाय	३ मति, श्रुत, अवधि	१ यथा.	३ चक्षु अचक्षु, अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ क्षा	१ सञ्ज्ञी	१ आहा	२ साकार अना.
२३	१२	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ १२वाँ	१ स, प,	६ पर्याप्ति	१०	० अस.	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच ४, औ. १	० अपगत	० अकषाय	३ मति, श्रुत, अवधि	१ यथा	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	१ क्षा	१ संज्ञी	१ आहा	२ साकार अना.
२४	१३	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ १३वाँ	२ स. प स, अप.	६/६ ६पर्याप्ति ६अपर्याप्ति	४/२ ४ २	० अस	१ मनु.	१ पं	१ त्रस	७ मन२, वच २ औ. २, का. १	० अपगत	० अकषाय	१ केवलज्ञान	१ यथा.	१ केवलदर्शन	६	१ शु	१ भव्य	१ क्षा	० अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार, अना. युगपत
२५	१४	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ अयो.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१ आयु.	० अस.	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	० अयोग	० अपगत	० अकषाय	१ केवल	१ यथा.	१ केवलदर्शन	६	० अलेश्य	१ भव्य	१ क्षा	० अनुभय	१ आहा.	२ साकार, अना. युगपत

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४ लब्धपर्याप्त मनुष्य—(ध. २/१,१/५३१)																							
१		अपर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि, का.	१ नपुं	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का शु	३ अशु	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा अना.	२ साकार, अना.
५ आर्य म्लेक्ष खण्डके मनुष्य—(ति. प/४/२९३४–२९४३)																							
१	ओघ	सामान्य	१४	२ सं. प. स.अप. ल.अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७ ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	१३ वै., द्वि. बिना	३ अवेद	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्य	२ भव्य अभव्य	६	१ सज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार अना. युगपत.
२	”	भरतै-रावतके १० क्षेत्र	१४	२ सं. प स.अप ल.अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति ”	१०/७ १० ७ ७	४	१ मनु	१ प.	१ त्रस	१३ वै., द्वि. बिना	३ अवेद	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्य	२ भव्य अभव्य	६	१ सज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार, अना. युगपत्
३	”	विदेहके १६० क्षेत्र	१४	२ स प. सं.अप. ल.अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति ”	१०/७ १० ७ ७	४	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	१३ वै., द्वि. बिना	३ अवेद	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्य	२ भव्य अभव्य	६	१ सज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार, अना. युगपत्.
४	”	विद्याधर (विद्या सहित)	५ १–५	२ सं. प. सं.अप. ल.अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति ”	१०/७ १० ७ ७	४	१ मनु.	१ प.	१ त्रस	११ मन४, वच४ औ.२, का.१	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	२ असंयम देश सं	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	६	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार, अना. युगपत्
५	”	विद्याधर (विद्या छोड देनेपर)	१४	२ सं प स.अप. ल.अप.	६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति ”	१०/७ १० ७ ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	१३ वै., द्वि. बिना	३ अवेद	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्य	२ भव्य अभव्य	६	२ संज्ञी असज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार अना. युगपत.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा.	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
६	मिथ्या.	कर्म-भूमिज	१ मिथ्या.	३ सं प स अप ल अप	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति "	१०/७ १० ७ ७	४	१ मनु.	१ प	१ त्रस	११ मन४, वच४ औ. २, का. १	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा अना.	२ साकार अना
७	"	अन्त-र्द्वीपज	४ १–४	२ स प. स अप	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु	१ पं	१ त्रस	११ मन४, वच४ औ. २. का १	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	६	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा. अना	२ साकार अना.
८	मिथ्या.	भोग भूमिज	४ १–४	२ स प स अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु.	१ पं	१ त्रस	११ मन४, वच. ४, औ. २, का १	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा. अना	२ साकार अना.

४ देवगति—

१. देव सामान्य—(ध.२/१,१/५३१-५४३)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा.	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१	१-४	सामान्य	४ १–४	२ स. प स अप	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ प.	१ त्रस	११ मन४, वच ४, वै. २, का १	२ स्त्री पु.	४	६ ३ अज्ञान ३ ज्ञान	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा, अना,	२ साकार अना.
२	१-४	पर्याप्त	४ १–४	१ स प	६ पर्याप्ति	१० १०	४	१ देव	१ प.	१ त्रस	९ मन४, वच. ४, वै. १	२ स्त्री पु	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
मं.	गुण स्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा	उपयोग
३	१,२ ४	अपर्याप्त	३ १,२,४	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	२ स्त्री पु	४	५ मति. श्रुत, अव, कुमति, कुश्रुत	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र विना	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	२ सं. प सं. अप	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच. ४ वै. २, का. १	२ स्त्री पु	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या.	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच ४, वै १	२ स्त्री पु.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	३ शुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	१ आहा	२ साकार अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या.	१ स. अप	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	२ स्त्री पु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का शु	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
७	२	सामान्य	१ सासा.	२ स प. सं अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच. ४, वै २, का. १	२ स्त्री पु	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा., अना	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा.	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच. ४, वै. १	२ स्त्री पु	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	३ शुभ	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	सञ्ज्ञित्व	आहा.	उपयोग
९	२	अपर्याप्त	१ सासा.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै मि., का.	२ स्त्री पु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	६	१ भव्य	१ सासा	१ सञ्ज्ञी	२ आहा अना	२ साकार, अना
१०	३	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच ४, वै. १	२ स्त्री पु	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु.	६	३ शुभ	१ भव्य,	१ मिश्र	१ सञ्ज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना
११	४	सामान्य	१ अवि.	२ स. प. स. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच, ४, वै. २ का. १	२ स्त्री पु.	४	३ मति, श्रुत अवधि	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ सञ्ज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
१२	४	पर्याप्त	१ अवि	१ स प	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच, ४, वै. १	२ स्त्री पु	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असयम	३ चक्षु., अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य,	३ औ., क्षा. क्षयो	१ सञ्ज्ञी	१ आहा	२ साकार, अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि	१ सं अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	१ पु	४	३ मति, श्रुत अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का. शु.	२ शुभ	१ भव्य,	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ सञ्ज्ञी	२ आहा अना	२ साकार, अना

२. भवनत्रिकदेव—(ति.प /२/५४३-५५०); (ध. २/१,१/१८३-१९३)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	सञ्ज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१	१-४	सामान्य	४ १-४	२ स प स. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ प.	१ त्रस	११ मन४, वच ४, वै. २, का. १	२ स्त्री पु.	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु. अवधि	६	४ अशु तेज	२ भव्य अभव्य	५ क्षा. बिना	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अनाकार

मार्गणाविशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा	उपयोग
२		पर्याप्त	४ १–४	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच ४, वै. १	२ स्त्री पु	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	१ तेज	२ भव्य, अभव्य	५ क्षा, बिना	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त	२ १–२	१ स. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	२ स्त्री पु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु	२ भव्य, अभव्य	२ मिथ्या. सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या.	२ सं. प. स. अप	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं	१ त्रस	११ मन ४, वच ४, वै. २, का. १	२ स्त्री पु.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	४ अशु तेज	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच. ४, वै. १	२ स्त्री पु.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ तेज	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	१ आहा	२ साकार, अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	२ स्त्री पु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का शु	३ अशु	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
७	२	सामान्य	१ सासा.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच. ४, वै. २, का. १	२ स्त्री पु.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	४ अशु तेज	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच ४, वै. १	२ स्त्री पु.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ तेज	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
नं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ स. अप	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का	२ स्त्री पु	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु	३ [illegible]	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार, अना.
१०	३	सामान्य (पर्या. ही)	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच, ४, वै. १	२ स्त्री पु.	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र.	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ तेज	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
११	४	सामान्य (पर्या. ही)	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच, ४, वै. १	२ स्त्री पु.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	१ तेज	१ भव्य	२ औ., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३. सौधर्म ऐशान देव—(ध. २/१,१/५५१-५६०)																							
१		सामान्य	४ १-४	२ सं. प. सं. अप	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच, ४, वै. २, का. १	२ स्त्री पु.	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	३ का. शु. ते.	१ तेज	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	४ १-४	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच ४, वै. १	२ स्त्री पु.	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	१ तेज	१ तेज	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त	३ १,२,४	१ सं. अप	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का	२ स्त्री पु.	४	५ ३ ज्ञान कुमति, कुश्रुत	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	२ का शु	१ तेज	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
म.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	२ स. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच. ४, वै.२, का १	२ स्त्री. पु.	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु., अचक्षु	३ ते. प. शु.	१ ते	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ प.	१ त्रस	६ मन४, वच.४, वै. १	२ स्त्री. पु.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	१ ते.	१ ते.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	१ स. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	२ स्त्री. पु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	२ का. शु	१ ते.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ सज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
७	२	सामान्य	१ सासा.	२ सं. प. स. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच. ४, वै.२. का.१	२ स्त्री. पु.	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु., अचक्षु	३ का. शु. ते	१ ते.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४, वै. १	२ स्त्री. पु.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	१ ते.	१ ते.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा., अना.	२ साकार, अना.
९	२	अपर्याप्त	१ सासा.	२ सं अप	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि, का.	२ स्त्री. पु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	२ का शु.	१ ते	१ भव्य	१ सासा.	१ सज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
स	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१०	३	सामान्य (पर्या. ही)	१ मिश्र.	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	६ मन ४, वच ४, वै. १	२ स्त्री पु.	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	१ ते	१ ते	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
११	४	सामान्य	१ अवि.	२ सं. प. स. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ प.	१ त्रस	११ मन ४, वच, ४, वै. २, का १	२ स्त्री पु	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	३ का शु. ते	१ ते.	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ सञ्ज्ञी	१ आहा	२ साकार, अना
१२	४	पर्याप्त	१ अवि	१ स. प	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	६ मन ४, वच ४, वै १	२ स्त्री पु.	४	३ मति, श्रुत, अव.	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	१ ते.	१ ते.	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ सञ्ज्ञी	१ आहा	२ साकार, अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि.	१ स अप	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै मि., का.	१ पु.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	२ का शु	१ ते.	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ सञ्ज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार, अना
४ सनत्कुमार माहेन्द्र देव—(ध २/१,१/५६१-५६३)																							
१		सामान्य	४ १-४	२ स. प स. अप	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच ४, वै. २ का. १	१ पु	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	३ का. शु ते	२ ते. उ प. ज	२ भव्य, अभव्य	६	१ सञ्ज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	४ १-४	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	६ मन ४, वच. ४, वै १	१ पु	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	२ ते. प.	२ ते उ प ज	२ भव्य, अभव्य		१ संज्ञी	२ आहा,	२ साकार, अना
३		अपर्याप्त	३ १,२,४	१ स अप	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै.मि., का	१ पु	४	५ ३ ज्ञान कुमति, कुश्रुत	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	२ का शु.	२ ते पद्म	२ भव्य. अभव्य	५ मिश्र बिना	१ सञ्ज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
नं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
५. ब्रह्मसे महाशुक्र तकके देव—(ध २/१.१/५६३)																							
१		सामान्य	—	—	—	—		—	—	→	सनत्कुमार माहेन्द्रवत्			←	—	—	३ का.शु.म.पद्म	१ म पद्म	→	सनत्कुमार माहेन्द्रवत्		←	—
२		पर्याप्त	—	—	—	—		—	—	→	,,	,,		←	—	—	१ पद्म	१ पद्म	→	,,	,,	←	—
३		अपर्याप्त	—	—	—	—		—	—	→	,,	,,		←	—	—	२ का. शु.	१ म. पद्म	→	,,	,,	←	—
६. शतार सहस्रार—(ध. २/१.१/५६४)																							
१		सा., प., न. अप.	सर्वत्र सनत्कुमारवत् / केवल लेश्यामें विशेष है (द्रव्य लेश्या—सामान्य में कापोत, शुक्ल तथा मध्यम पद्म ये तीन। पर्याप्त में मध्यम पद्म। अपर्याप्त में कापोत तथा शुक्ल ये दो। भावलेश्या—सामान्य पर्याप्त तथा अपर्याप्त तीनों में केवल १ मध्यम पद्म।)																				
७. आनतसे अच्युत—(ध. २/१.१/५६४)																							
१	~	सा. प., न. अप.	सर्वत्र सनत्कुमारवत् / लेश्यामें विशेष है। (द्रव्य लेश्या—सामान्य में कापोत शुक्ल तथा मध्यम शुक्ल ये तीन। पर्याप्त में मध्यम शुक्ल। अपर्याप्त में कापोत तथा शुक्ल ये दो। भाव लेश्या—सामान्य पर्याप्त तथा अपर्याप्त तीनों में उत्कृष्ट पद्म और जघन्य शुक्ल ये दो।)																				
८. नव अनुदिश व पंच अनुत्तर—																							
१		सामान्य	१ अवि	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच ४, वै.२ का. १	१ पु.	४	३ मति, श्रुत अवधि	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	३ का. शु. उ.शु	१ उ. शु.	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
२		पर्याप्त	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच ४, वै. १	१ पु.	४	३ मति, श्रुत अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	१ उ. शु	१ उ. शु.	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष स.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३		अपर्याप्त	१ अवि	१ स.अप	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का	१ पु.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	२ का. शु.	१ उ. शु.	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ सञ्ज्ञी	२ आहा, अना	२ साकार अना.
९. देव पुरुष वेदी—(ध. २/१,१/५६०)																							
सर्व विकल्प					→ देवोंके सर्वआलापोंवत ←						—	१ पु.		—	→	देवोंके सर्व आलापों वत ←					—	—	
१० देवियाँ—(ध. २/१,१/५५०,५६०)																							
१		सा. पर्याप्त	—	—	→ सौधर्म या भवनत्रिकवत ←						—	१ स्त्री		—	→	सौधर्म या भवनत्रिक वत				५ ← क्षा. बिना	—	—	—
२		अपर्याप्त	—	—	→	"	"		←		—	१ स्त्री.		—	→	"		"		२ मिथ्या सासा	←	—	—

२. इन्द्रिय मार्गणा—

१. एकेन्द्रिय

१. एकेन्द्रिय सामान्य—(ध. २/१,१/५६६-५७१)

स.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	४ बा. प. बा अप. सू. प. सू. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एके.	५ त्रस बिना	३ औ २, का.१	१ नपु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या. (सासा.) दे जन्म/४	१ असञ्ज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
क्र.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२		पर्याप्त	१ मिथ्या.	२ बा.प. सू. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एके.	५ त्रस बिना	१ औ.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त नि.अप.	१ मिथ्या. (सासा.) (दे. जन्म/४)	२ बा. अप. सू. अप	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एके.	५ त्रस बिना	२ औ.मि., का.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या (सासा.) दे, जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२. बादर एकेन्द्रिय—																							
१		सामान्य	१ मिथ्या. (सासा.) (दे. जन्म/४)	२ बा. प. बा.अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एके.	५ त्रस बिना	३ औ.२, का.१	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या.	१ बा. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एके.	५ त्रस रहित	१ औ.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	६	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ असज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त नि.अप.	१ मिथ्या. (सासा.) (दे. जन्म/४)	१ बा. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एके.	५ त्रस रहित	२ औ.मि., का.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	१ असज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
३. सूक्ष्म एकेन्द्रिय—(ध. २/१,१/ ५७३-५७४)																							
१		सामान्य	१ मिथ्या. (सासा.) (दे. जन्म/४	२ सू. प. सू. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एके.	५ त्रस रहित	३ औ २, का.१	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																					
स.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सू. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एके.	५ त्रस रहित	१ औ.	१ नपु	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	१ का.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा अना.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	१ सू. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एके.	५ त्रस रहित	२ औ मि, का	१ नपु.	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	अचक्षु	२ का. शु	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२. द्वीन्द्रिय—(ध. २/१,१/५७६-५७७)																							
१		सामान्य	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	२ द्वी. प द्वी. अप.	५/५ ५ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	६/४ ६ ४	४	१ ति.	१ द्वी.	१ त्रस	४ औ. २, का. १ अनुभय वच	१ नपु.	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	६	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ द्वी. प.	५ पर्याप्ति	६	४	१ ति.	१ द्वी.	१ त्रस	२ औ १ व अनुभय वच	१ नपुं.	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा	२ साकार अना
३		अपर्याप्त	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	१ द्वी.अप	५ अपर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ द्वी.	१ त्रस	२ औ.मि., का	१ नपु.	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना
३. त्रीन्द्रिय—(ध. २/१,१/५७८-५७९)																							
१		सामान्य	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	२ त्री प. त्री अप.	५/५ ५ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	७/५ ७ ५	४	१ ति	१ त्री.	१ त्रस	४ औ. २, का १ अनुभय वच.	१ नपुं	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा	उपयोग
२		पर्याप्ति	१ मिथ्या	१ त्री. प.	५ पर्याप्ति	७	४	१ ति.	१ त्री.	१ त्रस	२ औ. वच.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्ति (दे. जन्म/४)	१ मिथ्या (सासा)	१ त्री. अप.	५ अपर्याप्ति	५	४	१ ति.	१ त्री.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या. (सासा) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अनाकार

४. चतुरिन्द्रिय—(ध. २/१,१/५८०-५८१)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा	उपयोग
१		सामान्य (दे. जन्म/४)	१ मिथ्या (सासा)	२ चतु. प. चतु. अ.	५/५ ५ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	८/६ ८ ६	४	१ ति.	१ चतु.	१ त्रस	४ औ २, का. १ अनुभय वच.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या. (सासा) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अनाकार
२		पर्याप्ति	१ मिथ्या	१ चतु. प.	५ पर्याप्ति	८	४	१ ति.	१ चतु.	१ त्रस	२ औ. अनुभयवच.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	३ शुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्ति (दे. जन्म/४)	१ मिथ्या (सासा)	१ चतु.-अप.	५ अपर्याप्ति	६	४	१ ति.	१ चतु.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या (सासा) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ															लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
५. पंचेन्द्रिय—																							
१. पंचेन्द्रिय सामान्य—(ध.२/१,१/५८२-५८७)																							
१		सामान्य	१४ १-१४	४ सं. प. स. अप असं. प असं. अप.	६/६; ५/५ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति ५ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	१०/७; ९/७ १० ७ ९ ७	४ असंज्ञा	४	१ पं.	१ त्रस	१५ अयोग	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्या	२ भव्य, अभव्य	६	२ सञ्ज्ञी असञ्ज्ञी अनुभय	२ आहा, अना	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१-१४	२ सं. प. असं. प	६/५ ६ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	१०/९ १० ९	४ असंज्ञा	४	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच. ४ औ. १, वै. १ आ. १, अयोग	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्या	२ भव्य, अभव्य	६	२ सञ्ज्ञी असञ्ज्ञी अनुभय	१ आहा.	२ साकार, अना. युगपत्
३		अपर्याप्त	५ १,२,४, ६,१३	२ सं. अप. असं. अप.	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	७/७ ७ ७	४ असंज्ञा	४	१ पं.	१ त्रस	४ औ. मि., वै. मि., आ. मि., का.	३ अपगत	४ अकषाय	६ विभग, मन. बिना	४ सा., छे. यथा., असंयम	४	२ का शु	६ अलेश्या	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	२ सञ्ज्ञी असञ्ज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	४ सं. प. सं. अप. असं. प. असं. अप	६/५ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति ५ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	१०/७; ९/७ १० ७ ९ ७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि बिना	३	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ सञ्ज्ञी असञ्ज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	२ सं. प. असं. प.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ पर्याप्ति	१०/९ १० ९	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच. ४, औ. १, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	२ सं. अप. असं. अप.	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	७/७ ७ ७	४	४	१ पं.	१ त्रस	३ वै. मि., औ. मि. का.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
७	२-१४	—	—	—	—	—	—	—	—	—	→ मूलओघवत् ←			—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
२. संज्ञि पंचेन्द्रिय—(ध २/१,१/५८७)																							
—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	→ मूल ओघवत् ←			—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
३. असंज्ञि पंचेन्द्रिय—(ध. २/१,१/५८७-५८८)																							
१		सामान्य	१ मिथ्या	२ अस. प. असं. अप.	५/५ ५ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	९/७ ९ ७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	४ अनुभयवच, औ. २, का. १	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ असं प.	५ पर्याप्ति	९	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	२ अनुभय वच. औ. १	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३		अपर्याप्त	१ मिथ्या (सासा.)	१ असं. अप.	५ अपर्याप्ति	७	४	१ ति.	१ प	१ त्रस	२ औ. मि, का.	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का शु.	३ अशु.	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या (सासा.) दे जन्म/४	१ असज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

(दे. जन्म/४)

४. पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त—(ध. २/१,१/५८९-५९०)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	१ मिथ्या	२ स. अप. असं. अप	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	७/७ ७ ७	४	२ मनु. ति.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	२ का शु	३ अशु.	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		संज्ञि अप.	१ मिथ्या	१ स. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	२ मनु. ति	१ पं.	१ त्रस	२ औ मि, का.	१ नपुं.	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	२ का. शु	३ अशु.	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा , अना.	२ साकार, अना.
३		असंज्ञि अप	१ मिथ्या	१ असं. अप.	५ अपर्याप्ति	७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का	१ नपुं.	४	२ कुमति कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.

३. काय मार्गणा-

१. षट् काय सामान्य—(ध. २/१,१/६०१-६०३)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	१४ १–१४	५७	६/६; ५/५ ४/४ ६,५,४ प. ६,५,४ अप	१०/७; ९/७ ८/६; ७/५ ६/४; ४/३ ४/२, १	४ क्षीणसंज्ञा	४	५	६	१५ अयोग	३ अपगतवेद	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्या	२ भव्य, अभव्य	६	२ सज्ञी असज्ञी अनुभय	२ आहा., अना.	२ साकार, अना. युगपत्
२		पर्याप्त	१४ १–१४	१९	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९/८,७/६ ४/४, १	४ क्षीणसंज्ञा	४	५	६	११ मन४, वच.४, औ १, वै. १ आ. १	३ अपगतवेद	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्या	२ भव्य, अभव्य	६	२ सज्ञी असज्ञी अनुभय	१ आहा.,	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३	४	अपर्याप्त	५ १,२,४, ६, १३	३८	६, ५, ४ अपर्याप्ति	७/७, ६/५ ४/३; २	४ क्षीण	४	५	६	४ औ. मि. वै मि. आ. मि. का.	३ अवेद	४ अकषाय	६ विभंग, मनः बिना	४ सा., छे. यथा असंयम	४	२ का. शु.	६ अलेश्या	२ भव्य अभव्य	५ मिश्र बिना	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.

२. पृथिवी काय

१. सामान्य—(ध. २/१,१/६०४-६०७)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	१ मिथ्या (सासा) (दे जन्म/४)	४ बा. प. बा. अप. सू. प. सू. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३ ४ ४	४	१ ति.	१ एकें.	१ पृ.	३ औ. २, का. १	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशु	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या (सासा) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	२ बा. प. सू. प.	४ पर्याप्ति पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें.	१ पृ.	१ औ.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशु	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	२ बा. अप. सू. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ पृ	२ औ. मि, का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का शु.	३ अशु	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या (सासा) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा. अना	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
स	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य.	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२. बादर पृथ्वी काय—(ध २/१.१/६०७-६०६)																							
१		सामान्य (दे. जन्म/४)	१ मिथ्या सामा	२ बा. प बा. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एकें	१ पृ.	३ औ. २, का. १	१ नपुं.	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	६	३ अशु	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या (सासा) (दे., जन्म/४)	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ बा. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें	१ पृ.	१ औ.	१ नपुं.	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	६	३ अशु	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त ल. अप. नि. अप. (दे. जन्म/४)	१ मिथ्या (सासा)	१ बा. अप	४ पर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें	१ पृ	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	२ का शु.	३ अशु	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
३. सूक्ष्म पृथ्वी काय- (ध. २/१.१/६०८-६०६)																							
१		सामान्य	१ मिथ्या	२ सू. प. सू. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एकें	१ पृ	३ औ. २, का. १	१ नपुं.	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	२ का शु.	३ अशु	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सू. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एके	१ पृ	१ औ.	१ नपुं	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	१ का	३ अशु	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना
३		अपर्याप्त (ल. अप)	१ मिथ्या	१ सू. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें	१ पृ	२ औ मि., का.	१ नपुं	४	२ कुमति कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु	३ अशु	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष		२० प्ररूपणाएँ																				
गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२ अप्कायिक																						
१ अप्कायिक सामान्य—(ध. २/१.१/६०६-६१०)																						
१	सामान्य	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	४ बा. प. सू. प. बा. अप. सू. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति " " ४ अपर्याप्ति " "	४/३ ४ ३ ४ ३	४	१ ति.	१ एकें.	१ अप.	३ औ. २, का. १	१ नपुं.	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
२	पर्याप्त	१ मिथ्या	२ बा. प. सू. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें.	१ अप.	१ औ.	१ नपुं	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३	अपर्याप्त नि अप.	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	२ बा. अप. सू. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ अप.	२ औ. मि., का.	१ नपुं	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	१ असंज्ञी	२ आहा. अना	२ साकार अना.
२. बादर अप्कायिक—(ध. २/१,१/६०६)																						
१	सामान्य	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	२ बा. प. बा. अप.	४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एकें.	१ अप.	३ औ. २, का. १	१ नपुं	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२	पर्याप्त	१ मिथ्या	१ बा. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें.	१ अप.	१ औ.	१ नपुं	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ															लेश्या						
सं	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३		अपर्याप्त ल. अप नि॰अप.	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	१ बा. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ अप.	२ औ. मि., का.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	२ का. शु	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	१ असंज्ञी	२ आहा. अना	२ साकार, अना.
३. सूक्ष्म अप्कायिक—																							
१		सामान्य	१ मिथ्या	२ सू. प. सू. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एकें.	१ अप.	३ औ. २, का. १	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	२ का. शु	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सू. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें.	१ अप.	१ औ.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	१ का.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त ल. अप.	१ मिथ्या	१ सू. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ अप.	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य. अभव्य	१ मिथ्या	२ असंज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार, अना
३. तेज कायिक—																							
१. तेज कायिक सामान्य—(ध. २/१,१/६१०)																							
१		सामान्य	१ मिथ्या	४ बा. प. सू. प. बा. प. सू. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति " " ४ अपर्याप्ति " "	४/३ ४ ३ ४ ३	४	१ ति.	१ एकें.	१ तेज	३ औ. २, का. १	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	२ का. शु. ते.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	२ बा. प. सू. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें.	१ तेज	१ औ.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	१ तेज	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
स.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३		अपर्याप्त	१ मिथ्या	२ बा. अप. सू. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एके.	१ तेज	२ औ. मि., का.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	२ का., शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२. बादर तेजस् कायिक—(ध. २/१.१/६११)																							
१		सामान्य	१ मिथ्या	२ बा. प., बा अप.	४ ४ पर्याप्ति ४अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति	१ एके.	१ तेज	३ औ. २, का. १	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	३ का शु. ते.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ बा. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एके.	१ तेज	१ औद.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	१ तेज	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त (ल.अप.)	१ मिथ्या	१ बा अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एके.	१ तेज	२ औ. मि., का.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का., शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
३. सूक्ष्म तेजस्कायिक—(ध. २/१,१/६११)																							
१		सामान्य	१ मिथ्या	२ सू. प. सू अप.	४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एके.	१ तेज	३ औ. २, का. १	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या,	१ सज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सू. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एके.	१ तेज	१ औ.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ का.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असज्ञी	१ आहा	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त ल. अप.	१ मिथ्या	१ सू. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एके.	१ तेज	२ औ. मि., का.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	२ का. शु	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
नं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४. वायु कायिक—																							
१. वायु कायिक सामान्य—																							
१		सामान्य	१ मिथ्या	४ बा. प. सू. प. बा. अप सू. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति " " ४ अपर्याप्ति " "	४/३ ४ " ३ "	४	१ ति.	१ एकें.	१ वायु.	३ औ.२, का.१	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	४ का. शु. गो मूत्र मूंगा	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	२ बा. प. सू. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति	१ एकें.	१ वायु.	१ औद.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	३ का. गो मूत्र मूंगा	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त	१ मिथ्या	२ बा. अप. सू. अप	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वायु.	२ औ. मि., का.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२. बादर वायु कायिक—																							
१		सामान्य	१ [illegible]	२ [illegible] बा अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वायु.	३ औ.२, का.१	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	४ का. शु. गो मूत्र मूंगा	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ बा. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें.	१ वायु.	१ औद.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	२ गो मूत्र मूंगा	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
नं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३		अपर्याप्त (ल.अप.)	१ मिथ्या	१ बा. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वायु.	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का., शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ सञ्ज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार. अना.
३. सूक्ष्म वायुकायिक—(ध० २/१,१/६११)																							
१		सामान्य	१ मिथ्या	२ सू. प. सू. अप	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वायु.	३ औ.२, का.१	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ असञ्ज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सू. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें.	१ वायु.	१ औ.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ का.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ असञ्ज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त (ल.अप.)	१ मिथ्या	१ सू. अप	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वायु.	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ असञ्ज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार. अना.
५. वनस्पति काय—																							
१ वनस्पति सामान्य—(ध. २/१,१/६१२-६१४)																							
१		सामान्य (दे. जन्म /४)	१ मिथ्या (सासा.)	१२ साध.८ प्रत्ये.४	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वन.	३ औ.२, का.१	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या (सासा.) (दे. जन्म /४)	१ असञ्ज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.

संकेत— साधा. = साधारण ; प्रत्ये. = प्रत्येक ; प्रति. = प्रतिष्ठित ; अप्रति. = अप्रतिष्ठित

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
स.	[illegible]	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	६ साधा.४ प्रत्ये.२	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें.	१ वन.	१ औ.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त नि. अप. (दे. जन्म/४)	१ मिथ्या (सासा.)	६ साधा.४ प्रत्ये.२	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वन.	२ औ.मि.,का.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.

२. प्रत्येक वनस्पति प्रति. अप्रति.—(ध. २/१,१/६१४-६१६)　　संकेत— प्र = प्रतिष्ठित प्रत्येक; अप्र. = अप्रतिष्ठित प्रत्येक।

स.	[illegible]	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य (दे. जन्म/४)	१ मिथ्या (सासा.)	४ प्र. प. अप्र प. प. अप. अप्र.अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ,, ,, ४ अपर्याप्ति ,, ,,	४/३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वन.	३ औ २, का. १	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	२ प्र. प. अप्र. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें.	१ वन.	१ औद.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त नि.अप. (दे जन्म/४)	१ मिथ्या (सासा.)	२ प्र. अप. अप्र.अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वन.	२ औद. मि. १, का. १	१ नपुं	४	२ कुमति कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.

३ साधारण वनस्पति सामान्य —(ध. २/१,१/६१७-६२१)　　संकेत— नि = नित्यनिगोद, च = चतुर्गतिनिगोद।

स.	[illegible]	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य बा. सू.	१ मिथ्या	८ ४ प. ४ अप.	४/४ ४ पर्या. ४ अप.	४/३ ४ ३	४	१ ति	१ एके.	१ वन.	३ औ.२, का.१	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२		पर्याप्त (बा सू.)	१ मिथ्या	४	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें	१ वन.	१ औद.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त बा. सू	१ मिथ्या	४	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें	१ वन.	२ औ. मि., का.१	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना	२ साकार, अना.
१		बा. सामान्य	१ मिथ्या	४ नि. प च. प. नि. अप. च. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ,, ,, ४ अपर्याप्ति ,, ,,	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एकें	१ वन.	३ औ.२, का.१	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		बा. पर्याप्त	१ मिथ्या	२ नि. प नि. अप.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें	१ वन.	१ औद.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत,	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		बा. अपर्याप्त	१ मिथ्या	२ नि. अप. च. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें	१ वन.	२ औ. मि., का.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
१		सू. सामान्य	१ मिथ्या	४ नि. प. च. प. नि. अप. च. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ,, ,, ४ अपर्याप्ति ,, ,,	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एकें	१ वन.	३ औ.२, का.१	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
स.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२		सू. पर्याप्त	१ मिथ्या	२ नि. प. च. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति	१ एकें.	१ वन.	१ औद.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	१ का	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
३		सू अपर्याप्त	१ मिथ्या	२ नि. अप. च. अप	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वन.	२ औ. मि., का.	१ नपुं	४	२ कुमति. कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अनाकार
१		चतुर्गति व नित्य निगोद साधारण ना सू. प. अप.	—	—	—	—	—	—	—	—	→ सर्वत्र बादर व सूक्ष्म साधारण वनस्पतिवत् ←						—	—	—	—	—	—	—
२		ल. अप	१ मिथ्या	१ अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वन.	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत,	१ असयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार

६. त्रस कायिक—(ध. २/१,१/६२१-६२८)

स.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	१–१४	१० द्वी. त्री चतु. असं, स. प., अप.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	१०/७; ९/७, ८/६, ७/५; ६/४, ४/२, १	४ असंज्ञा	४	४ द्वी. त्री. चतु. पं.	१ त्रस	१५ अयोग	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्य	२ भव्य, अभव्य	६	२ सज्ञी, असंज्ञी अनुभय	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार युगपत्
२		पर्याप्त	१–१४	५ द्वी. त्री. चतु. प. अप. प.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ पर्याप्ति	१०, ९, ८, ७, ६, ४, १	४ असंज्ञा	४	४ द्वी. त्री. चतु. पं.	१ त्रस	११ मन४, वच, ४, औ. २, का. १ अयोग	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्य	२ भव्य, अभव्य	६	२ सज्ञी असंज्ञी अनुभय	१ आहा.	२ साकार, अनाकार युगपत्

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३		अपर्याप्त	५ १,२,४ ६,१३	५ द्वी. त्रि चतु. सं.असं. अप	६/५ ६पर्याप्ति ५अपर्याप्ति	७,७,६,५, ४,२	४ असंज्ञा	४	४ द्वी. त्री. चतु. पं.	१ त्रस	४ औ. मि., वै. मि., आ. मि., का.	३ अपगत	४ अकषाय	६ विभंग, मन: बिना	४ सा., छे. यथा, असंयम	४	२ का. शु	६	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार युगपत्
४	द्वी., त्री., चतु., संज्ञि, असंज्ञिके सर्व आलाप — — — — → दे. पीछे इन्द्रिय मार्गणा सम्बन्धी सर्व आलाप ← — — — — — — — —																						
५	१	सामान्य	१ मिथ्या	१० द्वी. त्री. चतु. सं. अस प. अप.	६/५ ६पर्याप्ति ५अपर्याप्ति	१०/७; ९/७, ८/६; ७/५ ६/४	४	४	४ द्वी. त्री चतु. पं	१ त्रस	१३ आहा. द्वि. बिना	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार
६	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	५ द्वी. त्री. चतु. सं. असं. प.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	१०,९,८,७, ६	४	४	४ द्वी. त्री. चतु. पं.	१ त्रस	१० मन४, वच४, औ. १, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
७	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	५ द्वी. त्री चतु. सं. असं. अप.	६/५ ६पर्याप्ति ५अपर्याप्ति	७,७,६,५ ४	४	४	४ द्वी. त्री. चतु. पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि., का.	३	४	३ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार
८	२-१४	सामान्य	प. अप.	—	—	—	—	—	—	—	→ मूल ओघवत् ←				—	—	—	—	—	—	—	—	—
९	१	ल. अप.	१ मिथ्या	५ द्वी. त्री. चतु. सं. अस. अप.	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	७/७, ६/५ ४	४	२	४ द्वी. त्री. चतु. पं.	१ त्रस	२ औ. मि, का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
७. अकायिक—(ध २/१.१./६२७)																							
१		सामान्य	अतीत गुण	अतीत जीव. समास	अतीत पर्याप्ति	अतीत प्राण	क्षीण संज्ञा	अतीत गति	अतीत इन्द्रिय	अतीत काय	अयोग	अपगतवेद	अकषाय	केवल ज्ञान	अतीत संयम	केवल दर्शन	अलेश्य	अलेश्य	अतीत भव्या-भव्य	क्षा.	अतीत संज्ञी असंज्ञी	अना.	२ साकार, अनाकार युगपत्
४. योगमार्गणा—																							
१. मनोयोग—																							
१. मनोयोग सामान्य—(ध. २/१.१/६२९-६३४)																							
१		सामान्य (पर्याप्त ही)	१-१३	१ सं प.	६ पर्याप्ति	१०	४ असंज्ञा	४	१ पं.	१ त्रस	४ मनोयोग	३ अपगत वेद	४ अकषाय	८	७	४	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी, अनुभय	१ आहा	२ साकार, अनाकार युगपद
२	१	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ मिथ्या	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	४ मनो.	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
३	२	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	४ मनो.	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
४	३	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	४ मनो.	३	४	३ ज्ञानाज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु . अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
सं	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
५	४	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	४ मनोयोग	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा.; क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
६	५	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ ५ वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति मनु.	१ पं.	१ त्रस	४ मनोयोग	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ देश सं.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
७	६	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ प्रमत्त	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	४ मनोयोग	३	४	४ मति, श्रुत, अव., मन:	३ सा., छे. परि.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा, क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
८	७-१२	सामान्य (पर्याप्त ही)	६ ७-१२	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	—	—	—	—	४ मनोयोग	—		यथा योग्य	मूल ओघ वत्		—	—	—	—	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
९	१३	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ सयोग	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	० असंज्ञा	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	२ सत्य, अनुभय	० अपगत	० अकषाय	१ केवलज्ञान	१ यथा	१ केवलदर्शन	६	१ शुभ	१ भव्य	१ क्षा.	० अनुभय	१ आहा.	२ साकार, अना. युगपद

१. मनोयोग विशेष—(ध. २/१,१/६३३-६३४)

सं	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सत्य-मनो पर्याप्त ही	१३	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४ असंज्ञा	४	१ पं.	१ त्रस	१ सत्यमन	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी अनुभय	१ आहा.	२ साकार, अनाकार, युगपद
२		"	१-१३	← — —	— मूलोघवत्	—	—	→			१ सत्यमन			← —	— मूलोघवत्	—	—	→					

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३		असत्य-मन (पर्याप्त ही)	१२ १–१२	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४ असंज्ञा	४	१ पं.	१ त्रस	१ मृषामन	३ अपगत	४ अकषाय	७ केवल बिना	७	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
४		,,	—	—	→	मूलोघवत्	←	—	—	—	१ मृषामनो	—	—	—	→	मूलोघवत्	←	—	—	—	—	—	—
५		उभय सामान्य विशेष	१२ १–१२	—	→	मूलोघवत्	←	—	—	—	१ सत्यमृषा	—	—	—	→	मूलोघवत्	←	—	—	—	—	—	—
६		अनुभय सामान्य विशेष	१३ १–१३	—	→	मूलोघवत्	←	—	—	—	१ असत्यमृषा	—	—	—	→	मूलोघवत्	←	—	—	—	—	—	—

२. वचन योग—(ध. २/१,१/६३५-६३६)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य (पर्याप्त ही)	१३ १–१३	५ द्वी., त्री. चतु. सं. असं. प.	६/५	६,७,८,९,१०	४ असंज्ञा	४	४ एकें. बिना	१ त्रस	४ वचन	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्य	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी,	१ आहा.	२ साकार अना.
२	१	,,	१ मिथ्या	५ द्वी., त्री. चतु. पं. अस. प.	६/५	१०,९,८,७,६	४	४	४ एकें. बिना	१ त्रस	४ वचन	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																			
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३	१-१३	सामान्य (पर्याप्त ही)	१२ २-१२	—	→ मनोयोगी वत्		←	—	—	—	४ वचन योग	—	—	→	मनोयोगी वत्		←	—	—	—	—	—	—
४	१३	,,	—	—	→ मनोयोगी वत्		←	—	—	—	२ सत्य,अनुभय	—	—	→	मनोयोगी वत्		←	—	—	—	—	—	—
५		सत्य वचन	—	—	→ सत्य मनो योगी वत्		←	—	—	—	१ सत्य वचन	—	—	→	सत्य मनोयोगी वत्			←	—	—	—	—	—
६		मृषा वचन	—	—	→ मृषा मनो योगी वत्		←	—	—	—	१ मृषा वचन	—	—	→	मृषा मनोयोगी वत्			←	—	—	—	—	—
७		उभय वचन	—	—	→ उभय मनोयोगीवत्		←	—	—	—	१ उभय वचन	—	—	→	उभय मनोयोगी वत्			←	—	—	—	—	—
८		अनुभय वचन	—	—	अनुभय मनोयोगी वत्.			—	—	—	१ अनुभय वच.	—	—	→	अनुभय मनोयोगी वत.			←	—	—	—	—	—

३. काय योग

१. काय योग सामान्य—(ध. २/१,१/६३७-६४६)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	१३ १-१३	१४	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७; ९/७; ८/६; ७/५; ६/४; ४/३; ४/२	४ असंज्ञा	४	५	६	७ काय	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार अना. युगपत्
२		पर्याप्त	१३ १-१३	७ प.	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९, ८;७ ६,४,४	४ असंज्ञा	४	५	६	३ औ, वै.,आ.	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	१ आहा.	२ साकार अना. युगपत्

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३		अपर्याप्त	५ १,२,४ ६,१३	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६, ५,४,३,२	४ असंज्ञा	४	५	६	३ औ. मि., वै. मि., आ. मि.	३ अपगत	४ अकषाय	६ विभग व मन बिना	४ सा., छे. यथा, असंयम	४	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार अना. युगपत
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	१४ ७ प. ७ अप.	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७; ९/७; ८/६; ७/५; ६/४; ४/३	४	४	५	६	५ औ. २, वै. २ का. १	३	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	७ प.	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८/७, ६,४	४	४	५	६	३ औ १, वै. १, का. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्त	७,७,६,५, ४,३	४	४	५	६	३ औ. मि., वै. मि का.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	६	१ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
७	२	सामान्य	१ सासा	२ स. प. सं. अप	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	४	१ प.	१ त्रस	५ औ. २, वै. २, का १	३	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य, अभव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	२ औ, वै.	३	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य,	१ सासा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ स. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि., का.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु	६	१ भव्य,	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ															लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१०	३	पर्याप्त ही	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	२ औ., वै.	३	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
११	४	सामान्य	१ अवि.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	४	१ पं.	१ त्रस	५ औ.२, वै.२ का. १	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु., अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा, क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१२	४	पर्याप्त	१ अवि.	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	२ औ., वै.	३	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ चक्षु., अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा, क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	४	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि., का.	३	४	३ मति., श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ चक्षु., अचक्षु अवधि	२ का. शु.	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१४	५	पर्याप्त ही	१- ५वाँ	१ सं. प	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति. मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ औ.	३	४	३ मति., श्रुत. अवधि	१ देशसं.	३ चक्षु., अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१५	६	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ प्रमत्त	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	३ औ.१, आ.२,	३	४	४ मति., श्रुत, अव, मन:	३ सा., छे, परि.	३ चक्षु., अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

स.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा	उपयोग
१६	७	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ ७वाँ	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. रहित	१ मनु.	१ पं	१ त्रस	१ औ.	३	४	४ केवल बिना	३ सा, छे परि	चक्षु अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ सञ्ज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१७	८-१२	सामान्य (पर्याप्त ही)	५ ८-१२	१ स. प	→	मूलोघवत्	←	—	—	—	१ औ.	—	—	—	→	मूलोघवत्	←	—	—	—	—	—	—
१८	१३	सामान्य	१ सयो	१/२ स. प. प. अप	६ पर्याप्ति अपर्याप्ति	४/२ ४ २	० असंज्ञा	१ मनु.	१ प.	१ त्रस	३ औ.२, का.१	० अवेद	० अकषाय	१ केवल	१ यथा	१ केवल दर्शन	६	१ शु	१ भव्य	१ क्षा.	० अनुभय	२ आहा., अना.	२ साकार अना युगपत्

२. औदारिक काययोग—

स.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा	उपयोग
१		पर्याप्त ही	१३ १-१३	७ प	६, ५, ४ पर्याप्ति	१०,९,८,७, ६, ४	४ असंज्ञा	२ ति. मनु.	५	६	१ औ.	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६	२ भव्य अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	१ आहा	२ साकार अना.
२	१	पर्याप्त ही	१ मिथ्या	७ प.	६, ५, ४ पर्याप्ति	१०,९,८,७, ६, ४	४	२ ति. मनु.	५	६	१ औ.	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ सञ्ज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३	२	पर्याप्त ही	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति. मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ औ.	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा.	१ सञ्ज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४	३	पर्याप्त ही	१ मिश्र	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति. मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ औद.	३	४	३ ज्ञानाज्ञान	१ असयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
५	४	पर्याप्त ही	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति. मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ औद.	३	४	३ मति, श्रुत. अव.	१ असंयम	३ चक्षु., अचक्षु, अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
६	५-१२	पर्याप्त ही	—	—	→ काययोग सामान्य वत ←			—	—	—	१ औद.	—	—	—	—	→ काययोग सामान्य वत ←			—	—	—	—	
७	१३	पर्याप्त ही	१ अयो.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	४	० असंज्ञा	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ औ.	० अवेद	० अकषाय	१ केवल	१ यथा.	१ केवल	६	१ शु.	१ भव्य	१ क्षा.	० अनुभय	१ आहा.	२ साकार अना. युगपत्

३. औदारिक मिश्र काययोग—(ध. २/१,१/६५३-६६१)

सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		अपर्याप्त ही	४ १,२ ४, १३	७ अप.	६, ५, ४ अपर्याप्ति	७,७,६,५ ४,३,२	४ असंज्ञा	२ मनु. ति	५	६	१ औ. मि.	३ अपगत	४ अकषाय	६ विभंग, मन. बिना	२ असंयम यथा.	४ चक्षु. रहित३ दे. दर्शन/७/३	१ का	६	२ भव्य, अभव्य	४ मि., सा. क्षा. क्षयो.	२ संज्ञी असज्ञी अनुभय	१ आहा.	२ साकार अना. युगपत्
२	१	अपर्याप्त ही	१ मिथ्या	७ अप.	६, ५, ४ अपर्याप्ति	७, ७, ६, ५, ४ ३	४	२ मनु. ति.	५	६	१ औ. मि.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	१ का	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असज्ञी	१ आहा	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३	२	अपर्याप्त ही	१ सासा	१ सं. अप	६ अपर्याप्ति	७	४	२ ति. मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ औ. मि.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	१ का.	३ अशु.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
४	४	अपर्याप्त ही	१ अवि.	१ स. अप.	६ अप.	७	४	२ ति. मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ औ. मि.	१ पु	४	३ कुमति, कुश्रुत अवधि	१ असंयम	२ अचक्षु अवधि	१ का.	६	१ भव्य	२ क्षा क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
५	१३	अपर्याप्त ही	१ सयो.	१ स. अप.	६ अपर्याप्ति	२ या ४ (दे केवली)	० क्षीणसंज्ञा	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ औ. मि.	० अपगत	० अकषाय	१ केवल	१ यथा.	१ केवल.	१ का.	१ शु.	१ भव्य	१ क्षा.	० अनुभय	१ आहा.	२ साकार अना युगपत्
४ वैक्रियक काययोग—(ध. २/१.१/६६१–६६४)																							
१		पर्याप्त ही	४ १-४	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ नरक देव	१ पं.	१ त्रस	१ वै.	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
२	१	पर्याप्त ही	१ मिथ्या	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ नरक देव	१ पं.	१ त्रस	१ वै.	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३	२	पर्याप्त ही	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ नरक देव	१ पं.	१ त्रस	१ वै.	३	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
४	३	पर्याप्त ही	१ मिश्र	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ नरक देव	१ प.	१ त्रस	१ वै.	३	४	३ ज्ञानाज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ सज्ञी	१ आहा	१ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ															लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
५	४	पर्याप्त ही	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ नरक देव	१ प.	१ त्रस	१ वै.	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
५. वैक्रियिक मिश्र काययोग —(ध. २/१,१/६६४-६६६)																							
१		अपर्याप्त ही	३ १,२,४	१ स. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	२ नरक देव	१ प.	१ त्रस	१ वै. मि.	३	४	५ ३ ज्ञान, कुमति कुश्रुत	१ असंयम	२ अचक्षु अवधि	१ का.	६	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र विना	१ संज्ञी	१ आहा	२ साकार अना.
२	१	अपर्याप्त ही	१ मिथ्या	१ स. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	२ नरक देव	१ प.	१ त्रस	१ वै. मि.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	१ का.	६	२ भव्य. अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना
३	२	अपर्याप्त ही	१ सासा.	१ सं. अप	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	१ वै. मि.	२ स्त्री पु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ का.	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
४	४	अपर्याप्त ही	१ अवि	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	२ नरक देव	१ पं.	१ त्रस	१ वै. मि.	२ पु. नपुं.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	२ अचक्षु अवधि	१ का.	४ का. शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ सज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
६. आहारक काययोग—(ध. २/१,१/६६७)																							
१		पर्याप्त ही	१ प्रमत्त	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ आहा.	१ पु.	४	३ मति, श्रुत. अवधि	२ सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	१ शु.	३ शुभ	१ भव्य	२ क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
७. आहारक मिश्र काययोग—(ध. २/१,१/६६८)																							
१		अपर्याप्त ही	१ प्रमत्त	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ आ. मि.	१ पु.	४	३ मति, श्रुत अवधि	२ सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	१ का.	३ शुभ	१ भव्य	२ क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
८. कार्मण काययोग—																							
१		सामान्य	४ १,२,४ १३	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६ ५,४,३,२	४ असंज्ञा	४	५	६	१ कार्मण	३ अपगत	४ अकषाय	६ विभग, मन. बिना	२ असंयम यथा	३ चक्षु बिना दे. दर्शन/ ७/३	१/६ शु. सर्व	६	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	१ अना.	२ साकार अना.
२	१	अपर्याप्त ही	१ मिथ्या	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५, ४,३	४	४	५	६	१ कार्मण	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ शु.	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ स अस.	१ अना.	२ साकार अना.
३	२	अपर्याप्त ही	१ सासा	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१ कार्मण	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	२ असंयम,	१ अचक्षु	१ शु.	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	१ अना.	२ साकार अना.
४	४	अपर्याप्त ही	१ अवि.	१ स. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१ कार्मण	२ नपुं पु.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	२ अचक्षु अवधि	१ शु.	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ अना.	२ साकार, अना
५	१३	अपर्याप्त ही	१ सयो.	१ स. अप.	६ अपर्याप्ति	७	० असंज्ञा	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	१ कार्मण	० अपगत	० अकषाय	१ केवल	१ यथा.	१ केवल	१/६ शु. सर्व	१ शु.	१ भव्य	१ क्षा.	० अनुभय	१ अना.	२ साकार, अना. युगपत्

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
५. बेदमार्गणा—																							
१. स्त्री बेद—(ध. २/१,१/६७३-६८४)																							
१		सामान्य	६ १-६	४ सं. प. असं. प. सं. अप. असं. अप.	६/५ ६ पर्या. ५ ,, ६ अप. ५ ,,	१०,६,७ १० ६ ७ ७	४	३ ति. मनु. देव	१ प	१ त्रस	१३ आ. द्वि. बिना	१ स्त्री	४	६ केवल, मन: बिना	४ असंयम देश सं. सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अना.
२		पर्याप्त	६ १-६	२ सं. प. असं. प	६/५ ६ पर्याप्ति ५ ,,	१०/६ १० ६	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच. ४ औ. १, वै. १	१ स्त्री	४	६ केवल, मन: विना	४ असंयम देश सं. सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असज्ञी	१ आहा.,	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त	२ १,२	२ सं. अप. असं. अप.	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ ,,	७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	३ औ मि., वै. मि. का.	१ स्त्री	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु.	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	२ मिथ्या सासा	२ सज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	४ सं. प असं. प. सं. अप अस. अप.	६/५ ६ पर्या. ५ ,, ६ अप. ५ ,,	१०,६,७ १० ६ ७ ७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. रहित	१ स्त्री	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्य.	२ संज्ञी असज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	२ सं प. असं. प.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ ,,	१०/६ १० ६	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच ४ औ. १, वै. १	१ स्त्री	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या.	२ सज्ञी असंज्ञी	१ आहा.,	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
स.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	सयम	दर्शन	द्र.	भा	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	२ स. अप असं. अप.	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ "	७/७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि वै. मि., कार्मण	१ स्त्री	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना	२ साकार, अना.
७	२	सामान्य	१ सासा	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्या ६ अप.	१०/७ १० ७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि रहित	१ स्त्री	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा अना	२ साकार अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच. ४ औ. १, वै. १	१ स्त्री	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ सं. अप.	६ अपर्या.	७	४	३ नरक रहित	१ प.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि. का.	१ स्त्री	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का शु.	३ अशु.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
१०	३	पर्याप्त ही	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच. ४, औ. १, वै. १	१ स्त्री	४	२ ज्ञानाज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
११	४	पर्याप्त ही	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच ४, औ. १. वै. १	१ स्त्री	४	३ मति, श्रुत अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ, क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१२	५	पर्याप्त. ही	१ ५वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति मनु.	१ प.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	१ स्त्री	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ देश सं.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा.; क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१३	६	पर्याप्त ही	१ प्रमत्त	१ सं. प	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	१ स्त्री	४	३ मति, श्रुत, अवधि	२ सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१४	७	पर्याप्त ही	१ ७वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ रहित	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	१ स्त्री	४	३ मति, श्रुत, अवधि	२ सा., छे	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा, क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१५	८	पर्याप्त. ही	१ ८वाँ	१ सं. प	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. रहित	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	१ स्त्री	४	३ मति, श्रुत, अवधि	२ सा., छे.	३ चक्षु अचक्षु अवधि	६	१ शुभ	१ भव्य	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१६	९	पर्याप्त ही	१ ९वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	२ मै. परि.	१ मनु.	१ प.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	१ स्त्री	४	३ मति, श्रुत, अवधि	२ सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	१ शुभ	१ भव्य	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

२. पुरुष वेद—(ध. २/१,१/६८२-६८७)

सं	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	९ १-९	४ सं. प. असं. प स. अप. असं. अप.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ ,, ६ अपर्याप्ति ५ ,,	१०, ९, ७ १० ९ ७ ७	४	३ नरक रहित	१ प	१ त्रस	१५	१ पु.	४	७ केवल रहित	५ सू., यथा रहित	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२		पर्याप्त	६ १–६	१ सं. प. असं. प	६/५ ६ पर्याप्ति ५ ,,	१०/६ १० ६	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ औ.१, वै. १ आ. १	१ पु.	४	७ केवल बिना	५ सू. यथा रहित	३ चक्षु. अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
३		अपर्याप्त	४ १, २, ४ ६	२ स. अप. असं. अप.	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ ,,	७/७ ७ ७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	४ औ. मि., वै मि., आ. मि.; का	१ पु	४	५ कुमति, कुश्रुत ३ ज्ञान	३ असंयम सा., छे.	३ चक्षु अचक्षु अवधि	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना	२ साकार. अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	४ स. प असं. प. सं. अप असं. अप.	६/५ ६ पर्या. ५ ,, ६ अप ५ ,,	१०, ६, ७ १० ६ ७ ७	४	३ नरक रहित	१ प.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. बिना	१ पु.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार. अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	२ सं. प असं, प	६/५ ६ पर्या ५ ,,	१०/६ १० ६	४	३ नरक रहित	१ प.	१ त्रस	१० मन४, वच ४ औ.१, वै.१	१ पु	४	३ कुमति, कुश्रुत, विभंग	१ असंयम	२ चक्षु अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	२ सं. अप. असं. अप.	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ ,,	७/७ ७ ७	४	३ नरक रहित	१ प.	१ त्रस	३ औ. मि. वै. मि. कार्मण	१ पु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
७	२,३	सा. प. अप.	—	→	मूलोघवत्	←		३ नरक रहित	—	—		१ पु.	—	—	→	मूलोघवत्	←	—	—	—	—	—	—
८	४-६	सा. प. अप.	—	→	मूलोघवत्	←		—	—	—		१ पु	—	—	→	मूलोघवत्	←	—	—	—	—	—	—
३. नपुंसक वेद—(ध. २/१,१/६८८-६६८)																							
१		सामान्य	९ १-९	१४ प. अप	६/५/४ पर्या.; अप.	१०/७; ९/७ ८/६; ७/५ ६/४; ४/३	४	३ देव रहित	५	६	१३ आ. द्वि. बिना	१ नपुं.	४	६ केवल, मन. बिना	४ असंयम देश सं. सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	९ १-९	७ प.	६/५/४ पर्याप्ति	१०,९,८ ७/६, ४	४	३ देव रहित	५	६	१० मन ४, वच. ४ औ. १, वै. १	१ नपुं.	४	६ केवल, मन: बिना	४ असंयम देश सं. सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त	३ १,२,४	७ अप.	६/५/४ अप.	७,७,६,५,४,३	४	३ देव रहित	५	६	३ औ. मि., वै. मि. का.	१ नपुं.	४	५ कुमति, कुश्रुत ३ ज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य अभव्य	४ मि., सासा क्षा. क्षयो.	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आ. अना.	२ साकार. अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	१४ प. अप.	६/५/४ पर्या. अपर्या.	१०/७; ९/७ ८/६; ७/५ ६/४. ४/३	४	३ देव रहित	५	६	१३ आ. द्वि. बिना	१ नपुं.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार. अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा	उपयोग
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	७ प.	६/५/४ पर्याप्ति	१०,६,८,७ ६/४	४	३ देव रहित	५	६	१० मन ४, वच,४ औ. १, वै, १	१ नपु	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ सज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	७ अप	६/५/४ अपर्याप्ति	७,७,६,५,४,३	४	३ देव रहित	५	६	३ औ. मि., वै मि., का	१ नपुं	४	२ कुमति कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असज्ञी	२ आहा, अना,	२ साकार अना
७	२	सामान्य	१ सासा	२ स. प, स. अप,	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	३ देव रहित	१ प.	१ त्रस	१२ मन ४, वच.४ औ. २, वै. १, का १	१ नपुं	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा.	१ सज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार अना
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ स. प	६ पर्याप्ति	१०	४	३ देव रहित	१ प.	१ त्रस	१० मन ४, वच.४ औ. १, वै. १	१ नपु	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा	१ सज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना,
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ स. अप	६ अपर्याप्ति	७	४	२ ति. मनु.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ [illegible]	१ भव्य	१ सासा	१ सज्ञी	२ आहा अना	२ साकार अना,
१०	३	पर्याप्त ही	१ मिश्र	१ स. प	६ पर्याप्ति	१०	४	३ देव रहित	१ पं	१ त्रस	१० मन ४, वच.४ औ. १, वै. १,	१ नपुं.	४	३ ज्ञानाज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा,	२ साकार अना.
११	४	सामान्य	१ अवि.	२ सं. प, सं. अप	६ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१२ मन ४, वच ४ औ. १, वै २, का. १	१ नपु.	४	३ मति., श्रुत अवधि	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ, क्षा क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा, अना,	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष: स.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	२० प्ररूपणाएँ: गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१२	४	पर्याप्त	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच ४, औ. १, वै. १	१ नपुं	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि.	१ सं. प.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ नरक	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	१ नपुं	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का. शु.	१ का.	१ भव्य	२ क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
१४	५	पर्याप्त ही	१ ५वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति., मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	१ नपुं	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१५	६-९	पर्याप्त ही	—	—	→	स्त्रीवेदीवत्	←	—	—	—	—	१ नपुं	—	—	→	स्त्रीवेदीवत्	←	—	—	—	—	—	—

४. अपगत वेद—(ध. २/१,१/६६६)

स.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१	९–१४ [illegible]	सामान्य	६ ९-१४	२ सं. प. सं. अप. अतीत	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति अतीत	१०/४; २/१ १०/४ २/१ अतीत	१ परि. असंज्ञा	१ मनु. सिद्ध	१ पं. अनिन्द्रिय	१ त्रस अकाय	११ मन४, वच ४. औ. २, का. १ अयो.	० अपगत	४ अकषाय	५ ज्ञान	४ सा., छे., सू. यथा. अनुभय	४	६	१ अलेश्य	१ भव्य अनुभय	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.

६. कषाय मार्गणा

१. क्रोध कषाय—(ध. २/१,१/७००-७१२)

स.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	९ १-९	१४ ७ पर्याप्त ७ अपर्याप्त	६/५/४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७; ९/७; ८/६; ७/५; ६/४; ४/३	४	४	५	६	१५	३ [illegible]	१ क्रो.	७ केवल के बिना	५ सू. यथा के बिना	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२		पर्याप्त	६ १–६	७ प.	६/५/४ पर्याप्ति	१०,६,८,७, ६,४	४	४	५	६	११ मन ४, वच.४ औ. १, वै. १ आ.१	३ नपुंसक	१ क्रो.	७ केवल बिना	५ सू. यथा. के बिना	३ चक्षु. अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार. अना.
३		अपर्याप्त	४ १,२,४ ६	७ अप.	६/५/७ अपर्याप्ति	७,७,६,५ ४,३	४	४	५	६	४ औ. मि., वै. मि., आ. मि. का.	३	१ क्रो.	५ कुमति,कुश्रुत ३ ज्ञान	३ असंयम सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	७ प. अप.	६/५/४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/६;६/७; ८/६; ७/५; ६/४; ४/३	४	४	५	६	१३ आ. द्वि. बिना	३	१ क्रो.	३ कुमति,कुश्रुत विभंग	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	७ प.	६/५/४ पर्याप्ति	१०,६,८,७, ६,४	४	४	५	६	१० मन४,वच,४, औ. १, वै. १	३	१ क्रो.	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
६	१.	अपर्याप्त	१ मिथ्या	७ अप.	६/५/४ अपर्याप्ति	७,७,६,५,४,३	४	४	५	६	३ औ. मि., वै. मि., का.	३	१ क्रो.	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
७	२	सामान्य	१ सासा	२ सं. प. सं अ.	६/६ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. बिना	३	१ क्रो.	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार. अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	सयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच. ४ औ. १, वै. १	३	१ क्रो.	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य,	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना,
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि. वै. मि., कार्मण	३	१ क्रो.	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	६	१ भव्य	१ सासा	१ सञ्ज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार अना,
१०	३	पर्याप्त ही	१ मिश्र	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच ४, औ. १, वै. १	३	१ क्रो.	३ ज्ञानाज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना,
११	४	सामान्य	१ अवि	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. बिना	३	१ क्रो.	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो,	१ सञ्ज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार, अना,
१२	४	पर्याप्त	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच, ४, औ. १, वै. १	३	१ क्रो.	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो,	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि.	१ सं. अप	६ अपर्याप्ति	७	४	४	१ पं.	१ त्रस	३ औ मि., वै. मि. का.	३	१ क्रो.	३ मति, श्रुत अवधि	१ असयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का. शु.	६	१ भव्य	३ औ, क्षा. क्षयो,	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना,

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाए																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१४	५	पर्याप्त ही	१ ५वाँ	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति. मनु	१ प.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	३	१ क्रो.	३ मति, श्रुत, अवधि	१ देश सं.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा, क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना	२ साकार, अना.
१५	६	पर्याप्त ही	१ प्रमत्त	२ सं. प. सं. अप	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ औ.१, आ.२	३	१ क्रो.	४ मति, श्रुत, अवधि, मनः	३ सा., छे. परि.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा, क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१६	७	पर्याप्त ही	१ ७वाँ	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. रहित	१ मनु	१ प.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	३	१ क्रो	४ मति, श्रुत, अवधि, मन.	३ सा., छे, परि.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१७	८	पर्याप्त ही	१ ८वाँ.	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ रहित	१ मनु	१ प.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	३	१ क्रो	४ मति., श्रुत, अवधि, मन	२ सा, छे.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	१ शुभ	१ भव्य	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१८	९/I	पर्याप्त ही	१ ९वाँ प्रसमय	१ स. प	६ पर्याप्ति	१०	२ मै. परि	१ मनु.	१ प.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	३	१ क्रो	४ मति, श्रुत, अवधि, मन	२ सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	१ शुभ	१ भव्य	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१९	९/II	पर्याप्त ही	१ ९वाँ द्वि.समय	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	१ परि	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	० अपगत	१ क्रो.	४ मति, श्रुत, अवधि, मनः	२ सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	१ शुभ	१ भव्य	२ औ. क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुणस्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२. मान कषाय—(ध. २/१,१/७१२)																							
१-१६ तक सर्व आलाप—					—	→ क्रोध कषायवत्			←	—	—		१ मान	—	—	→ क्रोध कषायवत्			←	—	—	—	—
३. माया कषाय—(ध. २/१,१/७१२)																							
१-१६ तक सर्व आलाप—					—	→ क्रोध कषायवत्			←	—	—		१ मान	—	—	→ क्रोध कषायवत्			←	—	—	—	—
४. लोभ कषाय—(ध. २/१,१/७१२)																							
१		सामान्य	१० १-१० *	१४ प. अप.	६/५/४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/६,६/७ ८/६; ७/५; ६/४; ४,३	४	४	५	६	१५	३ अपगत	१ लोभ	७ केवल बिना	६ यथा. बिना	३ केवलके बिना	६	६	२ भव्य अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.

नोट—२-१६ सर्व आलाप क्रोध कषायवत् जानना। विशेषता यह है कि पर्याप्त आलापोंमें गुणस्थान, कषाय व संयमकी प्ररूपणा लोभ सामान्यवत् जाननी। अपर्याप्तोंमें कषाय तो लोभवत् कहनी पर गुणस्थान व संयम क्रोधवत् जानना।

५. अकषायी—(ध. २/१,१/७१३)

सं.	गुणस्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	४ ११-१४ अतीत	२ सं. प. सं. अप. अतीत	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति अतीत प.	१०, ४/२ १ अतीत प्रा.	० क्षीणसंज्ञा	१ मनु. सिद्ध	१ पंचें. अतीन्द्रिय	१ त्रस अकाय	११ मन४, वच,४ औ.२, का.१ अयोग	० अपगत	० अकषाय	५ मति, श्रुत. अव., मनः, केवल	१ यथा. अनुभय	४	६	१ शु. अलेश्य	१ भव्य अनुभय	२ औ. क्षा.	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार, अना. युगपत्

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा	उपयोग
७. ज्ञान मार्गणा																							
१. मतिश्रुत अज्ञानी—(ध. २/१,१/७१४-७२०)																							
१		सामान्य	२ १,२	१४	६/५/४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७; ९/७; ८/६; ७/५; ६/४; ४/३	४	४	५	६	१३ आ. द्वि. बिना	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	२ मि., सासा	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार, अनाकार
२		पर्याप्त	२ १,२	७ प.	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७, ६,४	४	४	५	६	१० मन४, वच,४ औ.१ वै. १	३	४	२ कुमति कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु.	६	६	२ भव्य, अभव्य	२ मि., सासा	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा. अना.	२ साकार, अनाकार
३		अपर्याप्त	२ १,२	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५, ४,३	४	४	५	६	३ औ मि, वै. मि, कार्मण	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	६ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु.	२ का., शु	६	२ भव्य, अभव्य	२ मि., सासा	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अनाकार
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	१४	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७; ९/७ ८/६; ७/५ ६/४; ४/३	४	४	५	६	१३ आ द्वि. बिना	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार, अनाकार
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या.	७ अप.	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७, ६, ४	४	४	५	६	१० मन४, वच ४ औ.१, वै.१	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु,	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५ ४,३	४	४	५	६	३ औ. मि., वै. मि. का.	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु,	२ का. शु	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार, अनाकार

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएं																				
नं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
७	२	सामान्य	१ सासा	२ स. प. सं. अप	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०,७ १० ७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. बिना	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१०. मन ४, वच.४ औ. १, वै. १	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ स. अप	६ पर्याप्ति	७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि. कार्मण	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	२ का. शु.	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
२. विभंग ज्ञान—(ध. २/१,१/७२१-७२२)																							
१		पर्याप्त हो	२ १,२	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच.४ औ. १, वै. १	३	४	१ विभंग	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	२ मिथ्या सासा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना
२	१	पर्याप्त हो)	१ मिथ्या	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच. ४ औ. १, वै. १	३	४	१ विभंग	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३	२	पर्याप्त हो	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच.४ औ. १, वै. १	३	४	१ विभंग	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा	उपयोग
३. मतिश्रुत ज्ञान—(ध २/१,१/७२३-७२६)																							
१		सामान्य	६ ४-१२	२ सं. प स. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०,७ १० ७	४	४	१ प.	१ त्रस	१५	३	४	२ मति, श्रुत.	७	३ केवल के बिना	६	६	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा अना.	२ साकार अनाकार
२		पर्याप्ति	६ ४-१२	१ सं प.	६	१०	४ ओघवत्	४	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच ४ वै १, औ. १ आ १	३ ओघवत्	४ ओघवत्	२ मति, श्रुत.	७	३ केवल के बिना	६	६	१ भव्य	३ औ. क्षा, क्षयो,	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अनाकार
३		अपर्याप्ति	२ अवि प्रमत्त	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	४	१ प.	१ त्रस	४ वै मि, औ. मि, आ. मि, का	२ पु. नपु	४	२ मति, श्रुत,	३ असयम सा. छेदो.	३ केवल के बिना	२ का शु	६	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो,	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अनाकार
४	४	सामान्य	१ अवि.	२ सं. प स अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	४	१ प	१ त्रस	१३ आ. द्वि., बिना	३	४	२ मति, श्रुत,	१ असंयम	३ केवल के बिना	६	६	१ भव्य	३ औ क्षा. क्षयो,	१ संज्ञी	२ आहा अना,	२ साकार, अनाकार
५	४	पर्याप्ति	१ अवि.	१ स. प.	६	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच ४ औ. १, वै. १	३	४	२ मति, श्रुत	१ असयम	३ केवल के बिना	६	६	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो,	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
६	४	अपर्याप्ति	१ अवि.	१ स. अप.	६	७	४	४	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि, वै. मि., कार्मण	२ पु नपुं	४	२ मति, श्रुत	१ असयम	३ केवल के बिना	२ का. शु.	६	१ भव्य,	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
७	५-१२	सामान्य प. अप.	५-१२	→	→	ओघवत्	←	←	—	—	—	—	—	२ मति, श्रुत	→	→ ओघवत्	←	←	—	—	—	—	—

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
नं.	गुण स्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४. अवधिज्ञान—(ध.२/१,१/७२६)																							
		सर्व आलाप	—	—	—	—	मतिश्रुत वत			—	—	—	—	१ अवधि.	—	—	मति श्रुतवत्			—	—	—	—
५. मनःपर्यय ज्ञान— (ध. २/१,१/७२७)																							
१		पर्याप्ति ही	७ ६-१२	१ सं. प.	६	१०	४ असंज्ञा	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच,४ औ. १	१ पु.	४ अकषाय	१ मनः	४ सा., छे., सू., यथा	३ केवल के बिना	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
२		६-१२	सर्व आलाप	—	← ओघवत →				—	—	—	—	—	१ मनः	४ परिहार रहित	← ओघवत →						—	—
६. केवलज्ञान—(ध. २/१,१/७२७)																							
१		सामान्य	२ १३,१४ अतीत	२ पर्या. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	४/२,१ अतीत	० असंज्ञा	१ मनु. सिद्ध	१ पं. अतीत	१ त्रस अकाय	७ मन २, वच२ औ. २, का, १ अयोग	० अपगत	० अकषाय	१ केवल	१ यथा., अनुभय	१ केवल	६	१ शु. अलेश्य	१ भव्य अनुभय	१ क्षा.	० अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार, अना. युगपत्

८. संयम मार्गणा

१. संयम सामान्य—

नं.	गुण स्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	९ ६-१४	२ सं. प. सं. अप.	६,६ ६ पर्या. ६ अप.	१०/७ ,४/२ १	४ असंज्ञा	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ वै. द्वि. बिना अयोग	३ अपगत	४ अकषाय	५ मति, श्रुत., अव., मनः केवल	५ सा., छे., परि., सू., यथा	४	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार, अना. युगपत्

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२	६	सामान्य	१ ६	२ म. प स अप	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच.४ औ १, आ २	३	४	४ मति, श्रुत अव., मन	३ सा., छे परि.	३ केवल बिना	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा	२ साकार, अना
३	७	सामान्य	१ ७ वा	१ स प.	६	१०	३ आ बिना	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच.४ औ. १	३	४	४ मति, श्रुत, अवधि, मन	३ सा. छे परि.	३ केवल बिना	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो	१ संज्ञी	१ आहा	२ साकार अना.
४	८-१४	सर्व आलाप	—	—		←	मूलोघवत्	→			—	—	—	—	—	←			मूलोघवत्	→		—	—

२. सामायिक संयम—(ध. २/१,१/७३३)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१	६-९	सामान्य	४ ६-९	२ सं. प, सं. अप	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच ४ औ १, आ २	३	४ कषाय	४ मति, श्रुत, अवधि, मन.	२ सासा	३ केवल बिना	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
२	६-९	सर्व आलाप	—	—	←		मूलोघवत्	→			—	—	—	—	१ सामा	←			मूलोघवत्	→		—	—

३. छेदोपस्थापना संयम—(ध. २/१.१/७३३)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१	६-९	सर्व आलाप	—	—	←		सामायिक संयम वत्			→	—	—	—	—	१ छेदो.	←			सामायिक संयम वत्			→	—

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४. परिहार विशुद्धि संयम—																							
१		सामान्य	२ ६,७	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ प.	१ त्रस	९ मन४, वच.४, औ. १	१ पु.	४	३ मति, श्रुत अवधि	१ परिहार	३ केवल बिना	६	३ शुभ	१ भव्य.	२ क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
२	६,७	सर्व आलाप			← मूलोघवत्					→	९ मन४, वच.४, औ. १	१ पु.		३ मति, श्रुत अवधि	१ परिहार	→ मूलोघवत्		←		२ क्षा. क्षयो.	→ मूलोघवत्		←
५ सूक्ष्म साम्पराय संयम—(ध. २/१,१/७३५)																							
		पर्याप्त ही	१ १०वाँ.	—	← मूलोघवत्					→	—	—	—	——	—	—	← मूलोघवत्				→	—	—
६. यथाख्यात संयम—(ध. २/१,१/७३५)																							
१	११-१४	सामान्य	४ ११-१४	२ सं. प. सं.अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०,४/२,१	० क्षीणसंज्ञा	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ औ.२, का १	० अपगतवेद	० अकषाय	५ ज्ञान	१ यथा	४	६	१ शु. अलेश्य	१ भव्य	२ औ. क्षा.	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार अना. युगपत्
२	११-१४	सर्व	—	—	← मूलोघवत्					→	—	—	—	—	—	—	← मूलोघवत्				→	—	—
७. असंयम—(ध २/१,१/७३६-७३७)																							
१		सामान्य	४ १-४	१४	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७, ९/७, ८/६; ७/५, ६/४; ४/३;	४	४	५	६	१३ आ. द्वि. बिना	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ केवल बिना	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
मं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२		पर्याप्त	४ १-४	७ प.	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७,६ ४	४	४	५	६	१० मन४, वच ४, औ.१ वै १	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ केवल बिना	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार. अनाकार
३		अपर्याप्त	३ १,२,४	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५, ४,३	४	४	५	६	३ औ. मि., वै. मि ,का.	३	४	५ कुमति,कुश्रुत ३ ज्ञान	१ असयम	३ केवल बिना	२ का. शु	६	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार. अनाकार
८	संयमासयम—																						
१		पर्याप्त ही	१ ५वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति मनु	१ पं	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ देश सं.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा; क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
९.	दर्शन मार्गणा																						
१.	चक्षु दर्शन—(ध २/१,१/७३८-७४३)																						
१		सामान्य	१२ १-१२	६ चतु स असं.के प. अप.	६/५ ६,५ पर्या. ६,५ अप.	१०/७, ९/७ ८/६	४ असंज्ञा	४	२ चतु.पं.	१ त्रस	१२ मन४, वच ४, औ. १, वै. १ आ.२ दे. दर्शन/७/३	३ अपगत	४ अकषाय	७ केवलके बिना	७	१ चक्षु.	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार
२		पर्याप्त	१२ १-१२	३ चतु सं. अस. प.	६/५ पर्या.	१०,९,८	४ असंज्ञा	४	२ चतु प.	१ त्रस	११ मन ४, वच.४ औ.१ वै.१ आ १	३ अपगत	४ अकषाय	७ केवलके बिना	७	१ चक्षु.	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
३		अपर्याप्त	४ १,२,४ ६	३ चतु. सं. अस. अप.	६/५ अपर्याप्ति	७,७,६	४	४	२ चतु. प.	१ त्रस	१ आ. मि.,	३	४	५ कुमति,कुश्रुत ३ ज्ञान	३ असंयम सा., छे.	१ चक्षु.	२ का शु.	६	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ सा. अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	६ चतु सं असं.पं अप.	६,५ पर्या, अप.	१०/७; ९/७, ८/६,	४	४	२ चतु.पं.	१ त्रस	१० मन४, वच ४ औ १ वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असयम	१ चक्षु.	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ सञ्ज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अनाकार

मार्गणा विशेष सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा	भव्य	सम्य॰	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	३ चतु॰ स. असं. प.	६,५ पर्याप्ति	१०,६,८	४	४	२ चतु. पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४, औ. १, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	१ चक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	३ चतु. सं., असं. अप.	६,५ अपर्याप्ति	७,७,६	४	४	२ चतु. पं.	१ त्रस	—	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ चक्षु	२ का. शु.	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार, अना.
	२,४	२ सा, अवि			← मूलोघवत् →				—	—	—	—	—	— —	—	—	←			मूलोघवत्	→		—
७	४-१२ सर्व आलाप			—	← मूलोघवत् →				—	—	—		—	—	—	१ चक्षु	—	←		मूलोघवत्	→		—

२. अचक्षु दर्शन—(ध. २/१,१/७४३-७४७)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा	भव्य	सम्य॰	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	१२ १-१२	१४	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७; ९/७, ८/६ ७/५ ६/४, ४/३	४ असंज्ञा	४	५	६	१५	३ अपगत	४ अकषाय	७ केवल के बिना	७	१ अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१२ १-१२	७ पर्याप्त	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७,६ ४	४ असंज्ञा	४	५	६	११ मन४, वच ४, वै.१, औ.१, आ. १	३ अपगत	४ अकषाय	७ केवलके बिना	७	१ अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त	४ १,२,४, ६	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५,४,३	४	४	५	६	४ औ. मि., वै. मि., आ.मि., कार्मण	३	४	५ कुमति, कुश्रुत ३ ज्ञान	३ असंयम सा., छे.	१ अचक्षु	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
स	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	१४	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७, ९/७, ८/६, ७/५, ६/४, ४/३	४	४	५	६	१३ आ. द्वि बिना	३	४	१ अज्ञान	१ असयम	१ अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ सज्ञी असज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	७ पर्याप्त	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७,६,४	४	४	५	६	१० मन४, वच ४, औ १, वै १	३	४	३ अज्ञान	१ असयम	१ अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ सज्ञी असज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	७ अपर्याप्त	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५,४,३	४	४	५	६	३ औ. मि, वै. मि, कार्मण	३	४	३ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	१ अचक्षु	२ का शु.	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ सज्ञी असज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
७	२-१२	सर्व आलाप	←			मूलोघवत			→	—	—	—	—	—	—	१ अचक्षु	←			मूलोघवत		→	—
३ अवधि दर्शन—(ध २/१,१/७४८-७५०)																							
१		सामान्य	९ ४-१२	२ स. प स अप	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४ असंज्ञा	४	१ पं.	१ त्रस	१५	३ अपगत	४ अकषाय	४ मति, श्रुत, अव., मन	७	१ अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा क्षयो.	१ सज्ञी	२ आहा अना.	२ साकार अना.
२		पर्याप्त	९ ४-१२	१ स. प	६ पर्याप्ति	१०	४ असंज्ञा	४	१ पं	१ त्रस	११ मन४, वच ४ वै १ औ. १ आ १	३ अपगत	४ अकषाय	४ मति, श्रुत, अव., मन	७	१ अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त	२ ४, ६	१ स अप	६ अपर्याप्ति	७	४	४	१ पं.	१ त्रस	४ औ. मि. वै. मि. आ. मि., कार्मण	२ पु नपुं	४	३ मति, श्रुत. अवधि	३ असयम सा., छे.	१ अवधि	२ का, शु	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ सज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार अना

मार्गणा विशेष सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४	४-१२	सर्व आलाप	—	←		अवधिज्ञानवत्				→	—	—	—	३ मति, श्रुत, अवधि	—	१ अवधि	←		अवधिज्ञानवत्			→	—

४. केवल दर्शन—(ध. २/१,१/७५०)

मार्गणा विशेष सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१	१३,१४	सर्व आलाप	—	←		केवलज्ञानवत्				→	—	—	—	—	—	←			केवलज्ञानवत्			→	—

१०. लेश्या मार्गणा—

१. कृष्ण लेश्या— (ध. २/१,१/७५०-७५६)

मार्गणा विशेष सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	४ १-४	१४	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/६;६/७, ८/६; ७/५ ६/४; ४/३	४	४	५	६	१३ आ. द्वि. बिना	३	४	६ अज्ञान ३ ज्ञान ३	१ असयम	३ केवल बिना	६	१ कृ	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना
२		पर्याप्त	४ १-४	७ पर्या	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७ ६,४	४	३ देव रहित	५	६	१० मन ४, वच.४ औ. १, वै. १.	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ केवल बिना	६	१ कृ.	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त	३ १,२,४	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५,४,३	४	४	५	६	३ औ. मि., वै. मि., का.	३	४	५ कुमति, कुश्रु ३ ज्ञान	१ असयम	३ केवल बिना	२ का. शु.	१ कृ.	२ भव्य, अभव्य	३ मि., सा. क्षयो.	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	१४	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७, ९/७, ८/६; ७/५; ६/४; ४/३	४	४	५	६	१३ आ. द्वि बिना	३	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अच	६	१ कृ.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
स.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा	उपयोग
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	७ पर्याप्त	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७,६,४	४	३ देव रहित	५	६	१० मन४, वच ४ औ.१, वै.१	३	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	१ कृ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	७ अप	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५,४,३	४	४	५	६	३ औ. मि. वै. मि. कार्मण	३	४	२ कुमति, कुश्रु	१ असयम	२ चक्षु अचक्षु	२ का. शु.	१ कृ.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ सज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
७	२	सामान्य	१ सासा	२ स. प. स. अप.	६ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	४	१ प.	१ त्रस	१३ आ द्वि. बिना	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु अचक्षु	६	१ कृ.	१ भव्य	१ सासा	१ सज्ञी	२ आहा अना.	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ स प	६ पर्याप्ति	१०	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच ४ औ.१, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु अचक्षु	६	१ कृ.	१ भव्य	१ सास.	१ सज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ स. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	३ नरक रहित	१ प.	१ त्रस	३ औ. मि., वै मि, कार्मण	३	४	२ कुमति, कुश्रु	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	२ का. शु.	१ कृ	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा अना	२ साकार, अनाकार
१०	३	पर्याप्त ही	१ मिश्र	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच ४ औ.१, वै १	३	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ कृ.	१ भव्य	१ मिश्र	१ सज्ञी	१ आहा	२ साकार, अना.
११	४	सामान्य	१ अवि	२ स. प. सं अप	६/६ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१२ मन४, वच ४ औ. २, वै. १ कार्मण १	३	४	३ मति, श्रु. अवधि	१ असयम	३ चक्षु., अचक्षु अवधि	६	१ कृ.	१ भव्य	३ औ, क्षा. क्षयो.	१ सज्ञी	२ आहा अना.	२ साकार, अना

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
स.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१२	४	पर्याप्त	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४, औ. १, वै. १	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असयम	३ केवल बिना	६	१ कृ.	१ भव्य	३ औ., क्षा क्षयो	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि	१ स अ.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	२ औ, मि., का.	१ पु	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असयम	३ केवल बिना	२ का शु.	१ कृ	१ भव्य	१ क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

२. नील लेश्या—(ध. २/१,१/७५६)

स.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१	१-४	सर्व आलाप	—	—	—	←——	कृष्ण लेश्या वत्				——→		—	—	—	—	१	१ नील	—	←—— कृष्ण लेश्या वत्			——→

३. कापोत लेश्या—(ध २/१,१/७५६-७६८)

स.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	४ १-४	१४	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७, ९/७ ८/६; ७/५; ६/४; ४/३	४	४	५	६	१३ आ. द्वि. के बिना	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असयम	३ केवल बिना	६	१ का.	२ भव्य अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
२		पर्याप्त	४ १-४	७ पर्या	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७, ६,४	४	३ देव रहित	५	६	१० मन ४, वच.४ वै १, औ.१	३	४	६ ३ अज्ञान ३ ज्ञान	१ असयम	३ केवल बिना	६	१ का.	२ भव्य अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त	३ १,२,४	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५,४,३	४	४	५	६	३ औ. मि., वै. मि., कार्मण	३	४	५ कुमति, कुश्रु. ३ ज्ञान	१ असयम	३ केवल बिना	२ का. शु.	१ का.	२ भव्य, अभव्य	४ मि., सा. क्षा., क्षयो.	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
म.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	१४	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०,९,८,७,६,४ ७,७,६,५,४,३	४	४	५	६	१३ आ द्वि. के बिना	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ का.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ सञ्ज्ञी असञ्ज्ञी	२ आहा अना	२ साकार, अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	७ पर्या	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७,६,४	४	३ देव रहित	५	६	१० मन४, वच ४, औ १, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ का	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	७ अप	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५,४,३	४	४	५	६	३ औ. मि वै. मि, कार्मण	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का शु	१ का.	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
७	२	सामान्य	१ सासा	२ सं प. स. अप	६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	४	१ प.	१ त्रस	१३ आ. द्वि रहित	३	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ का	१ भव्य	१ सासा.	१ सज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ सं. प	६ पर्याप्ति	१०	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच.४ औ १, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ का	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार. अना
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ सं, अप	६ अपर्याप्ति	७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	३ औ मि., वै मि. का.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का शु.	१ का.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
०	३	पर्याप्त ही	३ मिश्र	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४, औ. १, वै. १	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ का.	१ भव्य	१ मिश्र	१ सञ्ज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																					
नं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
११	४	सामान्य	१ अवि	२ सं. प. सं. अप.	६ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०,७	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. रहित	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	६	१ का.	१ भव्य	३ क्षा., क्षयो., औप.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१२	४	पर्याप्त	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४ औ.१, वै.१	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असयम	३ केवल बिना	६	१ का.	१ भव्य	३ औ., क्षा.; क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि. कार्मण	२ पु. नपुं	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	२ का. शु.	१ का.	१ भव्य	२ क्षा., क्षयो.,	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना
४. तेज लेश्या—(ध. २/१,१/७६८-७७६)																							
१		सामान्य	७ १-७	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१५	३	४	७ केवल ज्ञान रहित	५ सू., यथा रहित	३ केवल बिना	६	१ ते.	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
२		पर्याप्त	७ १-७	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ औ.१, वै.१ आ. १	३	४	७ केवल ज्ञान रहित	५ सू.,यथा. रहित	३ केवल बिना	६	१ ते.	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना
३		अपर्याप्त	१,२,४, ६	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	२ देव मनु.	१ पं.	१ त्रस	४ औ. मि., वै. मि., आ मि., कार्मण	२ पु. नपुं.	४	५ कुमति,कुश्रुत ३ ज्ञान	३ असंयम सा., छे.	३ केवल बिना	२ का. शु.	१ ते.	२ भव्य अभव्य	५ मिश्र बिना	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ															लेश्या						
स.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	२ स प. स. अप	६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०.७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१२ मन४, वच.४ औ.१, वै.२, कार्मण	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	१ ते.	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा. अना	२ साकार, अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४ औ.१, वै.१	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	१ ते.	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	१ आहा	२ साकार, अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	१ स. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., कार्मण	२ पु. स्त्री	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का शु.	१ ते	१ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा अना.	२ साकार अना.
७	२	सामान्य	१ सासा	२ सं. प. सं. अप.	६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१२ मन४, वच.४ औ.१, वै.२ कार्मण	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	१ ते.	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ सं. प	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४ औ.१, वै.१	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	१ ते.	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ सं. अप	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., कार्मण	२ स्त्री पु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का, शु.	१ ते.	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१०	३	पर्याप्त ही	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४ औ १, वै.१,	३	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ ते.	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
११	४	सामान्य	१ अवि	२ सं. प. स. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि., रहित	३ प.	४ त्रस	३ मति, श्रुत. अ३धि	१ असयम	३ केवल बिना	६	१ ते.	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा अना	२ साकार, अना.
१२	४	पर्याप्त	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच.४ औ. १, वै. १	३	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असयम	३ केवल बिना	६	१ ते.	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	२ देव मनु	१ प.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि., कार्मण	१ पु	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	२ का. शु.	१ ते	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अनाकार
४१	५	पर्याप्त ही	१ ५वाँ.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति. मनु	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच.४ औ. १	३	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ देश स	३ केवल बिना	६	१ ते.	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा	२ साकार, अनाकार
१५	६	पर्याप्त ही	१ प्रमत्त	२ सं. प स. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४, औ. १	३	४	४ मति, श्रुत. अवधि, मनः	३ सा. छेदो. परि.	३ केवल बिना	६	१ ते.	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
१६	७	पर्याप्त ही	१ अप्रमत्त	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. रहित	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४, औ. १	३	४	४ मति, श्रुत. अवधि, मनः	३ सा., छे. परि.	३ केवल बिना	६	१ ते.	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण.	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
५. पद्मलेश्या—(ध २/१,१/७७६-७७८)																							
१		सामान्य	७ १-७	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१५	३	४	७ केवल ज्ञान बिना	५ दे.सं., सा., छे. परि. असं	३ केवल बिना	६	१ पद्म	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अनाकार
२		पर्याप्त	७ १-७	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच ४ औ. १ वै १ आ. १	३	४	७ केवल ज्ञान बिना	५ दे सं, सा. छे परि. असं	३ केवल बिना	६	१ पद्म	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अनाकार
३		अपर्याप्त	४ १,२,४ ६	१ सं. प.	६ अपर्याप्ति	७	४	२ देव मनु.	१ पं.	१ त्रस	४ औ. मि., वै. मि. आ. मि., का	१ पु.	४	५ कुमति, कुश्रु, ३ ज्ञान	३ असंयम सा., छे.,	३ केवल बिना	२ का शु.	१ पद्म	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र रहित	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१२ मन ४, वच ४, औ. १ वै २ कार्मण	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु,	६	१ पद्म	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच ४, औ. १ वै १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	१ पद्म	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., कार्मण	१ पु.	४	२ कुमति, कुश्रु	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु,	२ का. शु.	१ पद्म	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
७	२	सामान्य	१ सासा	२ सं. प. सं. अप	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१२ मन ४, वच.४ औ. १, वै. २ का.	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	१ पद्म	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा.	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच, ४ औ. १, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	१ पद्म	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., कार्मण	१ पु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	२ का. शु.	१ पद्म	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१०	३	सामान्य (पर्या. ही)	१ मिश्र	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच. ४ औ. १, वै. १	३	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ पद्म	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना
११	४	सामान्य	१ अवि	२ सं. प, सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. रहित	३	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	१ पद्म	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१२	४	पर्याप्त	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच, ४ औ. १, वै. १	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	६	१ पद्म	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि	१ स. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	२ देव मनु	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि. कार्मण	१ पु.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	२ का. शु.	१ पद्म	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा	उपयोग
१४	५	पर्याप्त ही	१ ५ वाँ	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ मनु. ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच, ४ औ. १	३	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ देश सं.	३ केवल बिना	६	१ पद्म	१ भव्य	३ औ. क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१५	६	पर्याप्त ही	१ प्रमत्त	१ स. प. स. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच ४ औ. १, आ. २	३	४	४ मति, श्रुत अव., मन.	३ सा, छे. परि.	३ केवल बिना	६	१ पद्म	१ भव्य	३ औ. क्षा., क्षयो	१ संज्ञी	१ आहा	२ साकार, अनाकार
१६	७	पर्याप्त ही	१ ७ वाँ	१ स. प	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. रहित	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच, ४ औ. १	३	४	४ मति, श्रुत, अवधि, मनः	३ सा, छे परि	३ केवल बिना	६	१ पद्म	१ भव्य	३ औ क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार

६. शुक्ल लेश्या—(ध २/१,१/७९०-८०१)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा	उपयोग
१		सामान्य	१३ १-१३	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७, ४/२, १०, ४, ७, २	४ असंज्ञा	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१५	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	१ शु.	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार, अनाकार
२		पर्याप्त	१३ १-१३	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०, ४	४ असंज्ञा	३ नरक रहित	१ पं	१ त्रस	११ मन४, वच, ४ औ. १, वै. १ आ १	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	१ शु.	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी अनुभय	१ आहा.	२ साकार, अनाकार